॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१००

हिन्दी-

वेदान्तपरिभाषा

व्याख्याकारः-

श्री गजाननशास्त्री मुसलगांवकर

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१००
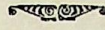
श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरचिता

वेदान्तपरिभाषा

सविवरण 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकार:
वेदान्त-मीमांसाचार्य-
श्रीगजाननशास्त्री मुसलगांवकर एम. ए.
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२०

मूल्य : १०-००

Phone : 3076

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
100

VEDĀNTAPARIBHĀṢĀ

By

S'RĪ DHARMARĀJĀDHWARĪNDRA

WITH

NOTES AND 'PRAKĀŚA' HINDĪ COMMENTARY

OF

S'RĪ GAJĀNAN S'ĀSTRĪ MUSALGAONKAR
M. A., Vedāntamīmāṅsācārya
Lecturer, Sanskrit College, B. H. U.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
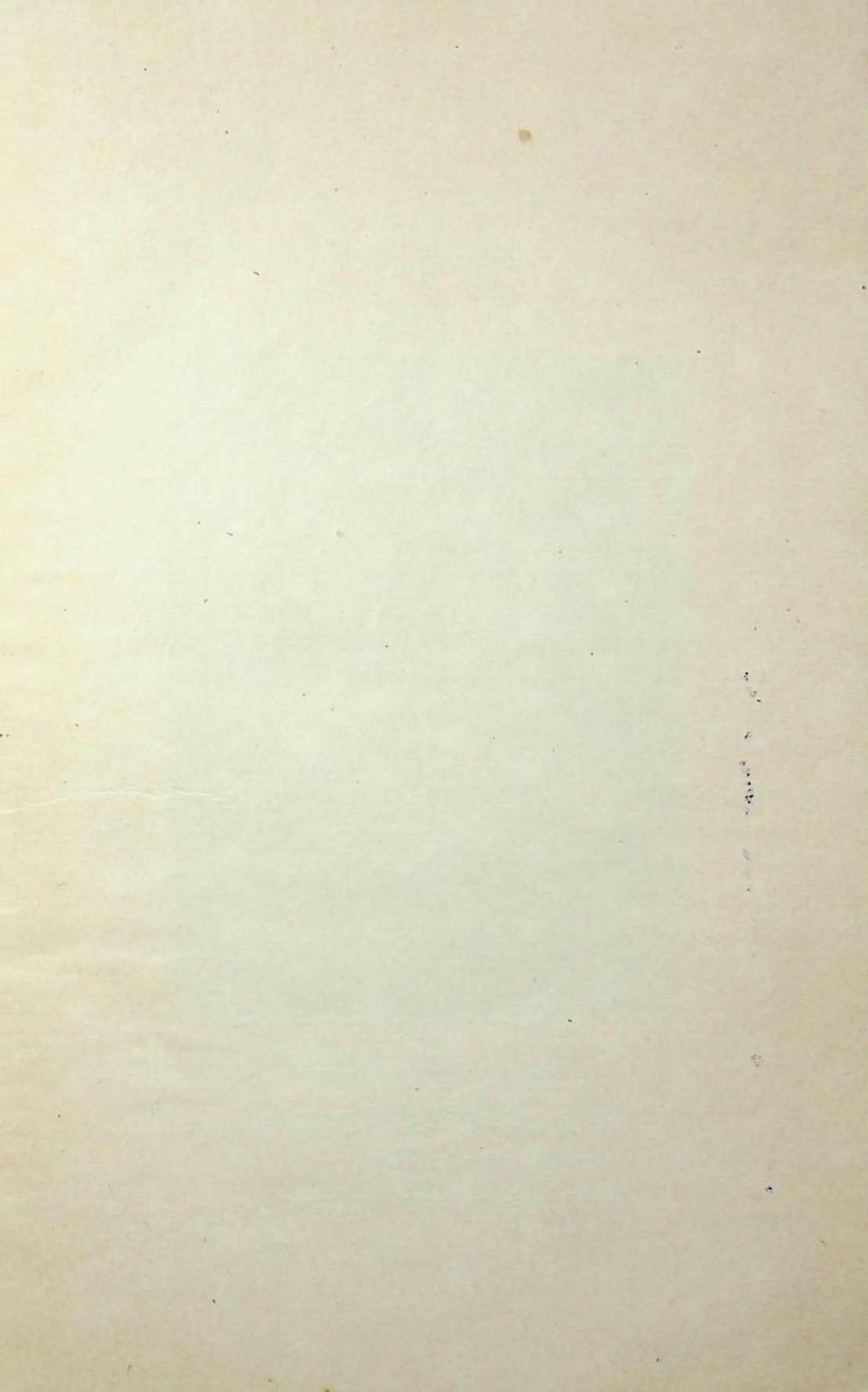
पूजनीय–पितृचरण

सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, शास्त्ररत्नाकर

म० म० श्री सदाशिव शास्त्री मुसलगांवकर

भू० पू० प्रिंसिपल

गवर्नमेण्ट सं० कालेज ग्वालियर (म० प्र०)

प्रातःस्मरणीय

तथा

सादर अभिवादनीय

करुणावरुणालय

श्रीमातृ-पितृचरणों में

सादर

समर्पित

श्रीगुरुचरणानामाशीर्वचनम्

❀ श्रीगुरुः शरणम् ❀

आयुष्मता श्रीगजाननशास्त्रिणा निर्मिता वेदान्तपरिभाषाव्याख्या प्रकाशाख्या तत्र तत्र मयाऽवलोकिता। अनेन अद्वैतवेदान्ते प्रविविक्षूणां छात्राणां महानुपकारः सम्भाव्यते। भगवतो विश्वनाथस्य कृपया एतादृशे-नास्य कार्येणोत्तरोत्तरमुन्नतिर्भवत्वित्याशिषा संवर्धयामि।

श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविडः
[सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्ररत्नाकर-पण्डितराज-पद्मभूषणादिविविधविरुदावलिविभूषितः, सांगवेद-विद्यालययाध्यक्षः, वाराणसेय-संस्कृतविश्वविद्यालयस्य सम्मानित-प्राध्यापकश्च।]

श्रीहरिरामशुक्लः
[सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य सांख्ययोगविभागाध्यक्षः। (साङ्गवेदविद्यालयस्य भूतपूर्वप्राध्यापकः।)]

(३)

विद्वन्मूर्धन्य स्वामी योगीन्द्रानन्द जी महाराज

(अध्यक्ष : उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी)

प्रायः सभी दर्शनों की परिभाषाओं को सुस्पष्ट करने के लिए परिभाषा ग्रन्थों की रचना की गई है। ऐसे ग्रन्थों में "वेदान्त-परिभाषा" का प्रमुख स्थान है। यह अपने कार्य में सर्वाधिक सफल माना जाता है। ग्रन्थ की सफलता ग्रन्थकार की योग्यता पर निर्भर होती है। इस महान् ग्रन्थ के रचयिता श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि के प्रकाण्ड विद्वान थे। श्रीगंगेशोपाध्याय के "चिन्तामणि" ग्रन्थ पर इन्होंने एक ऐसी विशिष्ट व्याख्या लिखी थी, जिसमें पूर्ववर्ती दश टीकाओं का मानमर्दन किया गया था। इसका कुछ अंश गायकवाड़ पुस्तकालय में सुरक्षित पाया गया है।

ग्रन्थकार के समकक्ष विद्वान् की व्याख्या में ही ग्रन्थ का हृदय खुला करता है। प्रकृत हिन्दी व्याख्या के लिए गर्व एवं उदात्तस्वर से कहा जा सकता है कि यह वेदान्त-परम्परा की एक ठोस कृति है। समग्र व्याख्या मैंने देखी है। कई स्थलों पर सचमुच मूल से भी अधिक विषय का प्रतिपादन किया गया है। हिन्दी जगत में ऐसी अनुपम और अमूल्य रचना प्रस्तुत करने के लिए मैं न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि के प्रख्यात मर्मज्ञ पण्डित प्रवर श्री गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर को अनन्त धन्यवाद देता हूँ।

—योगीन्द्रानन्द

प्राक्कथन

भारतीय दर्शनों का प्रारम्भकाल वेदों के प्रादुर्भावकाल से शुरू होता है। विद्वान् ऐतिहासिक ज्यौतिष आदि प्रमाणों द्वारा ऋग्वेद का प्रादुर्भावकाल ईसा की उत्पत्ति के पूर्व पाँच हजार वर्षों से दस हजार वर्षों तक मानते हैं। दर्शनों का काल भी उतना ही प्राचीन मानना उचित है क्योंकि ऋग्वेद में ही अनेक जगह (इस समय परस्पर विभिन्न) अनेक दर्शनों के स्रोत मूल अवस्था में उपलब्ध होते हैं। वे ही यजुर्वेद, अथर्ववेद एवं अनेक ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदों द्वारा अब्र समुद्र के समान गम्भीर और समृद्ध हो गए हैं। उनका प्रवाह धर्म, देश, काल, जाति आदि भेदों से अवरुद्ध न होता हुआ, मनुष्य मात्र को शान्ति, आनन्द, ज्ञान, करुणा और सर्वात्मभावदर्शन आदि के अनेक अमूल्य उपदेश देता हुआ सर्वदा अखण्ड रूप से बहता ही रहेगा। अतः वे उपदिष्ट तत्त्व मनुष्य मात्र के लिये सर्वदा आचरणीय और प्रचारणीय हैं।

ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र कुछ दर्शनों के मूल स्रोतों का सूचक है, वह मन्त्र इस प्रकार है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
>
> १,१६४,२०

संसार रूप वृक्ष पर मित्रभूत दो पक्षी बैठे हैं जीव तथा ईश्वर, एक सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है और दूसरा विषयों का उपभोग न करता हुआ केवल संसार का नियन्त्रण—शासन—करता है। यही मन्त्र शङ्कराचार्यादि द्वारा उपबृंहित अद्वैत दर्शन को छोड़कर सभी दर्शनों का मूल स्रोत है। इसके और उपनिषद् एवं श्रीभगवद्व्यासविरचित ब्रह्मसूत्रादि के आश्रय से अनेक वादियों ने अपने-अपने द्वैतादि दर्शन खड़े किये हैं।

ऋग्वेद में वागाम्भृणीसूक्त दशम मण्डल में आता है, उसमें सर्वत्र एक तत्त्व का अनुभव करने के बाद की स्थिति का वर्णन मिलता है। उसका प्रारम्भ इस प्रकार है—

> अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
>
> १०।१२५।१

इसी प्रकार सर्वत्र एक आत्मतत्त्व का अनुभव करनेवाले ऋषि गौतमवामदेव का एक सूक्त है जिसका प्रारम्भ इस प्रकार है—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।

४।२६।१

यह ऋग्वेद सूक्त श्रीभगवान् व्यासविरचित ब्रह्मसूत्र द्वारा पल्लवित, श्रीगौड़पादाचार्यरचित माण्डुक्यकारिका द्वारा पुष्पित एवं श्रीशंकराचार्य रचित भाष्य द्वारा सुफलित दर्शनमूर्धन्य अद्वैतदर्शन का मूलस्रोत है, ऐसा कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। एवंच हमारे कहने का भाव यह है कि अनेक दर्शन रूप प्रासादों की भित्तियाँ एवं ईंट-प्रस्तरादि के समान तत्त्व समूह सर्वप्रथम प्रकट हुए ऋग्वेदादि ग्रन्थों में बीज रूप से मिलते हैं; अतएव ऋग्वेदादिकों के समान हमारे वर्तमान दर्शन भी मूलतः सूत्र रूप से अति प्राचीन हैं, अस्तु।

शाङ्करदर्शन को दर्शनों में मूर्धन्यभूत कहने का हमारा तात्पर्य यह है कि सर्वतः सब प्रकार से भेद एवं तन्मूलक भयादिकों को मिटानेवाला अद्वैत-दर्शन को छोड़कर दूसरा दर्शन नहीं है। "द्वितीयाद्वै भयं भवति"।

इस शांकरदर्शन के तत्त्वों का विशद विवरण, एवं उसके ऊपर किये हुए अनेक आक्षेपों का निराकरण करने वाले अनेक ग्रन्थ, जैसे भामती, विवरण, संक्षेपशारीरक, सिद्धान्तलेश, चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि, खण्डनखण्डखाद्य आदि-आदि सैकड़ों ग्रन्थ विशिष्ट विद्वानों ने बनाये हैं। थोड़े में एवं सरल रीति से बोध हो इस हेतु साक्षात् श्रीशंकराचार्यजी के बनाये हुए छोटे-छोटे उपदेशसाहस्री, तत्त्वबोध, आत्मबोध, वाक्यवृत्ति आदि ग्रन्थ एवं श्रीविद्यारण्यविरचित पञ्चदशी, वैयासिकन्यायमाला आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं, एवं जिज्ञासुओं का उपकार करने वाले हैं। इन ग्रन्थों से अधिकारी एवं कुछ व्युत्पन्न जिज्ञासु लाभ उठा सकते हैं, श्रीशङ्कराचार्यजी के तत्त्वबोध आदि छोटे ग्रन्थों से तो अव्युत्पन्न शंकारहित परन्तु जिज्ञासु अवश्य ही लाभ उठा सकता है इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं, बल्कि शास्त्रार्थ के अंशों को छोड़कर केवल प्रमेय पदार्थों के वर्णनपरक ग्रन्थ खास शंकारहित अधिकारी, अव्युत्पन्न एवं जिज्ञासुओं के लिये ही परम दया से श्रीशंकराचार्य जी ने बनाये हैं।

परन्तु जो अनेक शास्त्रार्थों द्वारा सिद्ध प्रमेय तत्त्वों को युक्ति एवं उपपत्ति से अनेक शंकाओं के निरासपूर्वक जानना चाहता है उसके लिये सर्वत्र प्रचलित अतः प्रसिद्ध तीन ग्रन्थ हैं—श्रीविद्यारण्यरचित पंचदशी, श्रीसदानन्दकृत वेदान्तसार एवं श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्ररचित वेदान्तपरिभाषा। उनमें पञ्चदशी श्लोकबद्ध तथा कुछ शास्त्रार्थयुक्त होने से प्राथमिक जिज्ञासुओं के लिये कुछ कठिन मालूम होती है, वेदान्तसार एवं वेदान्तपरिभाषा ये दो

ग्रन्थ शंकालु, एवं कुछ व्युत्पन्न जिज्ञासुओं के लिये अधिक उपयुक्त हैं। वेदान्तसार और वेदान्तपरिभाषा की तुलना हम मीमांसा के ग्रन्थ मीमांसा-परिभाषा या अर्थसंग्रह या आपदेवी या व्याकरण की लघुकौमुदी एवं सिद्धान्तकौमुदी के साथ कर सकते हैं। मीमांसापरिभाषा या अर्थसंग्रह द्वारा कुछ मीमांसा के पदार्थों का बोध होकर आगे विशिष्ट बोध एवं शास्त्रार्थ-ज्ञान के लिये जिस प्रकार आपदेवी उपयुक्त होती है, जिस प्रकार लघुकौमुदी द्वारा बोध होने पर व्याकरण का विशेष शास्त्रार्थयुक्त बोध सिद्धान्तकौमुदी द्वारा होता है, उसी प्रकार वेदान्तसार द्वारा कुछ वेदान्त-प्रमेयों एवं शास्त्रार्थ का बोध होने पर अनेक शंका-निराकरणपूर्वक विशिष्ट प्रमेयों का एवं शास्त्रार्थ-पद्धति का बोध वेदान्तपरिभाषा से होता है। अतएव प्रायः वेदान्तसार के पठन-पाठन के बाद वेदान्तपरिभाषा का पठन-पाठन शुरू करते हैं।

वेदान्तपरिभाषा में अनेक अपूर्व विषयों—प्रायः जो वेदान्तसार एवं पंचदशी में नहीं मिलते हैं—का बड़े अच्छे ढंग से एवं युक्तियों से विचार किया है, जैसे—मन के इन्द्रियत्व का निराकरण, जातिरूप तत्त्व का निराकरण, वृत्ति के चार भेद, 'सोयम्' इस ज्ञान के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का उपपादन, भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय रजतपदार्थ की उत्पत्ति, प्रातिभासिक और व्यावहारिक रूप से पदार्थों के भेद का वर्णन, ब्रह्म के द्रव्यरूपत्व का निराकरण, वाक्यों में लक्षणा वृत्ति की सिद्धि, सिद्धार्थबोधक वाक्यों का प्रामाण्य, वेदों का नित्यत्व, शब्द के केवल आकाशगुणत्व का निराकरण, सृष्टि की उत्पत्ति का एवं प्रलय का विचार, प्रलयभेद आदि-आदि पदार्थों का अनेक युक्तियों द्वारा रोचक ढंग से निरूपण किया है।

वेदान्तपरिभाषा पर संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनेक टीकाएँ मिलती हैं, जैसे—आशुबोधिनी व्याख्या (कलकत्ता रामायणयन्त्र मुद्रित), पदार्थमञ्जूषाव्याख्या (बड़ौदा गुजरात) तथा पञ्चानन भट्टाचार्यकृत परिभाषासंग्रह-व्याख्या, आदि-आदि व्याख्यायें संस्कृत में विद्यमान हैं। श्रीसूर्यनारायण शास्त्री आदि ने अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है। हिन्दी में स्वामी श्रीगोविन्दसिंह का बनाया अनुवाद भी मिलता है। श्रीगोविन्दसिंह का हिन्दी में वेदान्त-परिभाषा का अनुवाद है अवश्य, और उससे जिज्ञासु जनता का उपकार भी होता है, परन्तु अब वह पुस्तक दुर्लभप्राय हो गयी है, उसके अनुवाद की भाषा भी कुछ पुराने ढंग की है एवं उसमें आवश्यक स्थलों पर विशेष विवरण की भी अपेक्षा है, अतः एक ऐसी व्याख्या की अत्यन्त आवश्यकता थी, जिसमें सरल हिन्दीभाषा प्रयुक्त हो, मूल ग्रन्थ का अर्थ कहीं छोड़ा न गया हो, अनुवाद सरल हो एवं आवश्यक कठिन स्थलों पर विशद किन्तु

सरल विवरण हो। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर हाल ही में पूर्वोत्तरमीमांसाचार्य एम० ए० श्री पण्डित गजाननशास्त्री मुसलगांवकर, (प्राध्यापक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने बड़ी योग्यता से वेदान्तपरिभाषा की सरल हिन्दी व्याख्या की है। उन्होंने मूलग्रन्थ को कहीं भी छोड़ा नहीं है, एवं आवश्यक कठिन स्थलों पर बड़े विस्तार से स्वतंत्र विवरण भी लिखा है, जिससे मूल ग्रन्थ का अभिप्राय समझने में बड़ी सरलता होगी। कहीं-कहीं विवरण बहुत लंबा हुआ है परन्तु शास्त्रीय शब्दों से परिपूर्ण एवं वेदान्त जैसे कठिन विषय के प्रतिपादन में विस्तृत विवरणों की आवश्यकता होती ही है। कहीं-कहीं हिन्दी विवरण में अनेक स्थलों पर शंकाएं उत्पन्न कर उनका समाधान भी अपने ढंग से किया गया है, जिससे मूल ग्रन्थ का अभिप्राय विशद रूप से समझने में सहायता मिलती है। इस प्रकार हिन्दी टीकाकार प्रा० श्री गजानन शास्त्री जी ने बड़ी योग्यता से अपना काम निभाया है, जिससे हिन्दी में वेदान्त-परिभाषा पर अच्छी टीका की जो कमी थी वह पूरी हो गई है। इस ग्रन्थ की सहायता से परीक्षार्थी छात्रों का एवं संस्कृत न जानने वाले परन्तु वेदान्त में रुचि रखनेवाले जिज्ञासुओं का भी बड़ा उपकार होगा। छात्रों एवं जिज्ञासु जनता से मेरा अतिस्नेह सहित अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ को अपनाकर ग्रन्थकर्ता के परिश्रम को सफल करें।

अधिक आश्विन व० ९।२०२०
ता० ११।१०।१९६३
वाराणसी

श्रीमदनन्तशास्त्री फडके
व्या० आ०, मी० तीर्थ, वेदान्तकेसरी,
भूतपूर्व अध्यक्ष : इतिहास-पुराण-विभाग
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय।

दो शब्द

सत्त्वैकमूर्तिः प्रथितः पृथिव्यां श्रीशारदायाः पुरुषावतारः ।
विद्वत्सु राजेश्वरशास्त्रिपादः दद्याद् गुरुः सद्बलमाशिषां मे ॥

विश्वविख्यात-वैदुष्य-श्रीसदाशिव-शास्त्रिणाम् ।
पुत्रोऽयं मुसल-ग्रामकरोपाह्वो गजाननः ॥
राष्ट्रभाषां समाश्रित्य लोककल्याणकाम्यया ।
वेदान्त-परिभाषाया व्याख्यानं कुरुते मुदा ॥

वेदान्त-परिभाषा का सविवरण मूलार्थ सहित हिन्दी संस्करण, विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को लक्ष्य में रखकर तैयार किया गया है। इस ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन आसेतु-हिमाचल हो रहा है, एवं अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी यह निर्धारित है। तथापि इस ग्रन्थ का ऐसा कोई संस्करण अभी तक उपलब्ध नहीं था, जो हिन्दी के माध्यम से—अध्ययनशील जिज्ञासुओं की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके।

व्याख्या लिखते समय वेदान्त-परिभाषा के प्रायः सभी संस्करणों का यथेष्ट उपयोग किया गया है। विवादग्रस्त विषयों को सुलझाने तथा सरलता के साथ विषय-विवेचन के लिये इन संस्करणों से विशेष सहायता प्राप्त हुई है—म० म० श्री अनन्तकृष्ण शास्त्रीकृत व्याख्या (कलकत्ता), श्री शिवदत्तकृत अर्थदीपिका व्याख्या (चौखम्बा, वाराणसी), शिखामणि-मणिप्रभा व्याख्या, प्रकाशिका व्याख्या, स्वामी गोविन्दसिंहजी निर्मित आर्यभाषाविवृति, आचार्य भक्त श्री विष्णुशास्त्रीजी का वेदान्तपरिभाषार्थ, वेदान्तपरिभाषा का श्री एस० माधवानन्द कृत आंग्ल अनुवाद और वेदान्तपरिभाषा का श्री सूर्यनारायण शास्त्रिकृत आंग्ल अनुवाद। उपर्युक्त प्रथितकीर्ति महानुभाव लेखकों की अनुपम कृतियों से जो सहायता प्राप्त हुई है, तदर्थ इन उपकारक लेखकों का मैं अत्यन्त आभारी एवं चिर-ऋणी हूँ। इनके लिये वाचिक धन्यवाद-अर्पण करना भी मुझे न्यून प्रतीत हो रहा है। अतः कृतज्ञता के सुरभित पुष्पों को उपर्युक्त विद्वानों के चरणों पर चढ़ाकर मैं स्वयं अपने को धन्य मान रहा हूँ।

इस व्याख्या का प्रकाशन होने तक अनेक विघ्न-बाधाएँ बीच-बीच में आती रहीं, जिससे व्याख्या के तैयार रहने पर भी प्रस्तुत आकार पाने में उसे बहुत विलम्ब लगा। विघ्न-बाधाओं के समय-समय पर होनेवाले विविध

प्रहारों से आहत एवं जर्जरित होने पर भी मेरी उत्साहहीनता एवं निराशा को हटाकर मुझे कर्मठ बनाने में जिनका सतत प्रयत्न रहा उनमें सर्वप्रथम मेरे परमपूज्य पितृचरण हैं, जिनकी सतत प्रेरणा और आशीर्वाद से ही यह ग्रन्थ लिखा गया और प्रकाशित हो पाया।

इसी प्रकार आदरणीय सुश्री कु० विमला कपूर, एम० ए०, बी० टी०, प्राध्यापिका, प्रेम-विद्यालय दयालबाग आगरा हैं, जिनकी सभी तरह की सहायता, तथा निरन्तर प्रेरणा, एवं स्नेहपूर्ण उचित सुझावों का ही यह परिपक्व मधुर फल है जो ग्रन्थ के आकार में प्रकट हो रहा है।

साथ ही मैं अपने उन सहज बन्धुओं को भी याद किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने लेखन, प्रूफ संशोधन, प्रेसकापी आदि आवश्यक कार्यों में समय-समय पर सहायता तथा उत्तम सूचनाएँ देकर मुझे यश का पात्र बनाया है। उनका नाम-निर्देश कर उन्हें धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ—

श्री वेणीमाधव शास्त्री मुसलगांवकर, काव्यतीर्थ, साहित्यशास्त्री, साहित्यरत्न, डॉ० श्री० केशवराव मुसलगांवकर, एम० ए०, डी० फिल्०, बी० एड्०, सा० रत्न, पं० प्र० श्रीकृष्णशास्त्री मोकाटे, व्या० आचार्य, न्याय-वेदान्तशास्त्री, प्राध्यापक, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पं० प्र० श्री सीताराम शास्त्री कारखेडकर, धर्मशास्त्राचार्य, मेरे अभिन्न सुहृद् पं० प्र० श्री शिवदत्त चतुर्वेदी, एम० ए०, साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पं० प्र० नारायणशास्त्री चिरपुटकर एम० ए०, न्यायाचार्य, तर्कतीर्थ पं० प्र० श्री महादेव दिवाकरशास्त्री कुरलकर, इन्दौर, तथा मेरे प्रिय मित्रवर पं० प्र० श्री मूलशंकर व्यास, वेदान्ताचार्य, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

उक्त विद्वानों ने समय-समय पर सुन्दर सुझाव दिये हैं। इन सहृदय सुहृद्वरों ने निर्व्याज परिश्रम कर मुझे यशोभाजन बनाने में कोई कसर नहीं रक्खी। अतः इन सभी को यथायोग्य भक्तिपुरःसर प्रणाम एवं हार्दिक सस्नेह धन्यवाद समर्पण करते हुए अपनी कृतज्ञता को प्रकट कर रहा हूँ।

ग्रन्थ का सम्पूर्ण कलेवर तैयार हो जाने पर भी वह रमणी के तिलकशून्य भाल की तरह कुछ खटकता ही रहा, तब मैंने अपने मीमांसा के प्रारंभिक गुरुवर पूज्यचरण प्रथितकीर्ति श्री अनन्तशास्त्री फडके महोदय से संकोच और भय, एवं विनय के साथ इस पर कुछ लिखने की प्रार्थना की। परम दयालु गुरुवर ने केवल एक बार की प्रार्थना से ही मेरे मनोरथ को पूर्ण करने का आश्वासन दिया, और एक-दो दिनों में ही एक छोटा-सा,

सुन्दर सारगर्भित 'प्राक्कथन' लिख दिया, जिससे ग्रन्थ की शोभा बढ़ गई, तदर्थ उन्हें धन्यवाद देने की अपेक्षा, उनकी इस शिष्यवत्सलता से मैं स्वयं आप्यायित होने के कारण उन्हें प्रणाम कर स्वयं अपने को ही धन्य समझ रहा हूँ।

अन्त में चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी के उदीयमान सञ्चालक गुप्त-कुलभूषण बन्धुद्वय श्री मोहनदास जी गुप्त तथा श्री विट्ठलदास जी गुप्त प्रभृति स्नेहभाजन सभी प्रकाशक बन्धुओं एवं मुद्रक बन्धुओं को अनेकानेक धन्यवाद हैं, जिनके सत्प्रयत्न से यह संस्करण जनता-जनार्दन के कर-कमलों तक पहुँच रहा है।

—स्नेह-प्रार्थना—

प्रमादेनाप्रबोधेनाऽयुक्तश्चेल्लिखितं यदि।
परिशोध्य तदस्मासु दयां कुर्वन्तु साधवः॥

—गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

विद्वानों की दृष्टि में

(१)

महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

वाचस्पति (का० हि० वि० वि०), साहित्य-
वाचस्पति (हि० सा० स०) भारतशासन
द्वारा सम्मान-पत्र-प्राप्त ।

सम्मानित प्राध्यापक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर के द्वारा विरचित 'वैदान्तपरिभाषा' की 'प्रकाश' नाम की हिन्दी भाषामयी व्याख्या के कुछ अंशों को मैंने सुना। व्याख्याकार ने 'वैदान्तपरिभाषा' में कहे हुए अर्थों को बहुत विस्तार से समझाया है। इससे अल्पबुद्धिवाले लोगों की समझ में भी वैदान्त-परिभाषा के गूढ तत्त्व भली भाँति आ सकते हैं। वास्तव में 'वैदान्तपरिभाषा' छोटा सा ग्रन्थ होने पर भी अत्यन्त जटिल है। इस पर ऐसी ही विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता थी। उस आवश्यकता को व्याख्याकार श्रीगजानन शास्त्री ने पूर्ण किया है और अपनी व्याख्या द्वारा इस जटिल ग्रन्थ को भी सब के लिए सुबोध बनाने का यत्न किया है, इस यत्न में वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

मैं इस व्याख्या के संस्कृतप्रेमी जनता में पूर्ण प्रचार होने की आशा रखता हूँ।

—गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

विद्वन्मूर्द्धन्य वे० सु० रामचन्द्रशास्त्री

(प्रिंसिपल, संस्कृत कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

अद्वैतवेदान्तशास्त्रं प्रविविक्षूणां सौलभ्याय धर्मराजाध्वरीन्द्रनाम्ना पण्डितपुण्डरीकेण वेदान्तपरिभाषा व्यरचि यत्रोपनिषदां ब्रह्मसूत्रभाष्यादीनाञ्चाध्ययनोपयोगिनो बहवो विषया न्यरूप्यन्त। पठनसम्प्रदायोऽस्या आसेतोराच हिमाद्रेस्सर्वत्र दरीदृश्यते। सन्ति चास्या व्याख्यास्संस्कृतभाषामय्यो विस्तृतास्संक्षिप्ताश्च मुद्रणपथं प्रापिताः।

छात्रमनोरञ्जिनी हिन्दीभाषामयी काचन व्याख्या वेदान्तपरिभाषाया मन्मित्रवरैः काशीहिन्दूविश्वविद्यालये मीमांसाप्राध्यापकैश्श्रीगजाननशास्त्रिमुसलगांवकरमहोदयै रचिता तत्र तत्र मया पर्यशील्यत। या मूलानुसारिणी तत्तात्पर्यप्रकाशिनी छात्रवर्गस्योपकारिणी चेत्यभिप्रैमि।

—वे० सु० रामचन्द्रशास्त्री

विषय-विन्यास

प्रत्यक्ष-परिच्छेदः

अनुमान-परिच्छेदः

उपमान-परिच्छेदः

आगम-परिच्छेदः

अर्थापत्ति-परिच्छेदः

अनुपलब्धि-परिच्छेदः

विषय-परिच्छेदः

प्रयोजन-परिच्छेदः

॥ श्रीः ॥

वेदान्तपरिभाषा

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

प्रत्यक्षपरिच्छेदः

यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः ।
तं नौमि परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम्[1] ॥ १ ॥

अन्वयः—यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः (भवन्ति) तं सच्चिदानन्दविग्रहं परमात्मानं नौमि ।

अर्थ—जिसके अविद्यापरिणाम से आकाशादि भूत और उनके समस्त स्थूल सूक्ष्म विकार (चराचर शरीर) उत्पन्न होते हैं, उस सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ ।

विवरण—'वेदान्तपरिभाषा' वेदान्तशास्त्र का प्रकरण ग्रन्थ है । धर्मराजाध्वरीन्द्र, इसके रचयिता हैं । ग्रन्थ के आरंभ में प्रथम श्लोक के द्वारा ग्रन्थकार ने परमात्मा को नमस्कार रूप मंगलाचरण किया है । आरंभ किये हुए कार्य की निर्विघ्नतया समाप्ति के लिये आस्तिक जन मंगलाचरण किया करते हैं—यह एक शिष्टाचार है । वेदज्ञानपूर्वक वेदोक्त धर्म का अनुष्ठान करने वालों को शिष्ट कहते हैं इसलिये शिष्ट लोग धर्मबुद्धि से जिसे करते हों वह आचार वेदमूलक कहलाता है अतः कार्य के आरंभ में मंगलाचरण करने का शिष्टाचार भी वेदमूलक है । आस्तिक ग्रन्थकार ग्रन्थ के आरंभ में 'अपना ग्रन्थ निर्विघ्नतया समाप्त हो, गुरुशिष्यों के अध्ययनाध्यापन द्वारा उसका सम्प्रदाय दीर्घकाल तक चलता रहे' इत्यादि आशय से मंगलाचरण किया करते हैं । प्रकृत ग्रन्थकार ने भी इसी आशय से पद्यमय मंगलाचरण करके, विद्वानों की अपने ग्रन्थ के अवलोकन में प्रवृत्ति कराने के लिये उस मंगलाचरण द्वारा विषय और प्रयोजन रूप दो अनुबन्धों को भी प्रदर्शित किया है । 'तं परम् आत्मानं नौमि' उस पर—आत्मा को मैं नमस्कार करता हूँ उपर्युक्त श्लोक में यह मुख्य वाक्य है । अवशिष्ट पदों में से 'यदविद्या-

---

१. लक्षणम् इति पाठान्तरम् ।

विलासेन भूतभौतिकसृष्टयः' ये पद परमात्मा का तटस्थलक्षण सूचित करते हैं और 'सच्चिदानन्दविग्रहम्' यह पद स्वरूप लक्षण को बता रहा है। 'यदविद्याविलासेन' जिस परमात्मा की शक्तिभूत माया के परिणाम से आकाशादि भूत और उन भूतों के शरीरेन्द्रियादि कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं (जो परमात्मा भूत भौतिक कार्यों के उत्पत्त्यादिकों का विवर्तोपादान है) उस परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ।

इसी तरह सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ। 'सत्, चित् और आनन्द' इन तीन पदों से शून्यवादी बौद्ध, प्रधानकारणवादी सांख्य, और परमाणुकारणवादी वैशेषिकों के मत का निरसन किया गया है।

जगत्कारण ब्रह्म, सत् है, क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छां. उ. ६–१) यह सब जगत् , उत्पत्ति से पूर्व सद् ब्रह्मरूप था, ऐसी श्रुति है। उसी तरह 'कथमसतः सज्जायेत' असत् से (शून्य से) सद्रूप जगत् कैसे उत्पन्न होगा ? (छां. उ. ६–२)। शून्यवाद का निषेध करनेवाली यह साक्षात् श्रुति है। इसके अतिरिक्त बौद्ध भी जगत् को अलीक रूप से स्वीकार करते हैं। किन्तु कोई भ्रम बिना अधिष्ठान के नहीं होता। इसलिये 'जगत्कारण, शून्य है' यह कथन युक्तिरहित है।

'सन्मूलाः सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः' यह सब कार्य (सृष्टि) 'सन्मूल' है—सत् ही सब प्रजाओं का मूल है। (छां. उ. ६·८) इत्यादि अन्यान्य अनेक श्रुतियां, शून्यवाद के विरोध में हैं।

'अचेतन (जड) जगत् का कारण जड प्रधान, और जड परमाणु हैं,' ऐसा क्रमशः सांख्य और वैशेषिक कहते हैं। परन्तु 'तदैक्षत' (छां. ४-२६) 'सोऽकामयत' (तै. ११६) 'आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. १६२) इत्यादि श्रुतियों से जगत्कारण, विज्ञान और आनन्द रूप है—यह निश्चय होता है, इस प्रकार प्रधानकारणवादी और परमाणुकारणवादी सांख्य तथा वैशेषिकों का निरसन हो जाता है। 'परमात्मानम्' इन पदों में से 'आत्मानम्' पद से परमेश्वर के तटस्थत्व (तटस्थता) का निरसन किया है। तटस्थ का अर्थ है आत्मा से पृथक्। परमेश्वर आत्मा से पृथक् नहीं है किन्तु वह, आत्मा ही है। इस बात को 'आत्मानम्' पद से सूचित करके 'परम्' विशेषण से देह, प्राण, मन, बुद्धि और सुषुप्ति के आनन्द प्रभृति पांच कोशों से पृथक् 'अन्तर्यामी आत्मा' है—यह अर्थ अभिव्यक्त किया गया है। 'अन्तर्यामी' यह 'परमात्मा' पद का वाच्यार्थ है, और पर (माया संबंध-रहित = माया से विलक्षण) 'आत्मा' ब्रह्म (शुद्ध चित्) यह लक्ष्यार्थ है। अर्थात् ग्रन्थकार ने पर और अपर दोनों प्रकार की आत्माओं का वन्दन किया है

और उसके द्वारा जीव ब्रह्म का सन्दिग्ध (जो प्रत्यक्ष या अनुमानसे अज्ञात है) ऐक्य, इस ग्रन्थ का विषय है, और अज्ञाननिवृत्ति या आनन्दावाप्ति, प्रयोजन है—यह सूचित किया है।

इस प्रकार प्रथम श्लोक में परापर ब्रह्मरूप इष्ट देवता को वन्दन कर 'गुरुप्रसादात् परमार्थलाभः' इत्यादि वचन से 'गुरुप्रसाद', ब्रह्मविद्या प्राप्ति में अन्तरङ्ग साधन है—यह प्रतीत होता है। अतः ग्रन्थारंभ में गुरु की पूजा अवश्य की जानी चाहिये। इस आशय से प्रथमतः परम गुरु को ग्रन्थकार प्रणाम करते हैं।

यदन्तेवासिपञ्चास्यैर्निरस्ता भेदिवारणाः ।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्रं परमं गुरुम् ॥ २ ॥

अन्वयः—यदन्तेवासिपञ्चास्यैः भेदिवारणाः निरस्ताः तं यतीन्द्रं नृसिंहाख्यं परमं गुरुं प्रणौमि।

अर्थ—जिनके शिष्यरूपी सिंहों ने भेदवादी गजों का निवारण किया है, उन यतिश्रेष्ठ नृसिंह नामक परम गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ।

विवरण—जिसे प्रणाम किया जाय उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करनी चाहिए। इसलिये ग्रन्थकार अपने परम गुरु चरणों का द्वैत निरसनपूर्वक अद्वैत प्रस्थापन रूप कार्य, इस श्लोक में कैमुतिक न्याय से अभिव्यक्त करते हैं। अन्तेवासी का अर्थ है—जिनका गुरु के समीप रहने का शील है, अर्थात् शिष्य। जिनके अन्तेवासि रूप सिंहों ने, भेदवादीरूप गजों का निरसन किया, उन परम गुरुचरणों को मैं प्रणाम करता हूँ। यति का अर्थ है यत्नशील परमहंस परिव्राजक, उनमें श्रेष्ठ ऐसे 'नृसिंह, नाम के परम गुरु (गुरु के गुरु) को मैं शरीर, वाणी, और मन के प्रणिधान (नम्रता व एकाग्रता) से प्रणाम करता हूँ।

जिन परम गुरु के शिष्यों ने ही द्वैतवाद का खण्डन किया उन गुरु की योग्यता का वर्णन क्या किया जाय! व्यवहार में भी गुरु की योग्यता, शिष्यों से अभिव्यक्त हुआ करती है। अतः ग्रन्थकार के लिए परम गुरु सर्वथा वन्द्य हैं।

इस श्लोक में 'अन्तेवासिपञ्चास्यैः' बहुवचन का प्रयोग किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के परम गुरु के अनेक विद्वान् शिष्य थे। तथापि इस शब्द का प्रयोग अपने विद्यागुरु के ही उद्देश्य से किया है, क्योंकि अग्रिम श्लोक में विद्यागुरु का 'जगद्गुरून्' ऐसा बहुवचन से उल्लेख किया है। इससे बहुवचन यहां आदरार्थ है—ऐसा व्यक्त होता है। अपने विद्यागुरु को 'पंचास्य' कहकर ग्रंथकार ने अपना अधिकार भी व्यक्त किया है।

वैदिक सम्प्रदाय में वंश दो प्रकार से माना जाता है, एक विद्या द्वारा और दूसरा जन्म द्वारा (एक शिष्य, प्रशिष्य, प्रप्रशिष्य और दूसरा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इत्यादि)।

ग्रन्थकार के परम गुरु नृसिंह, उनके शिष्य सिंह और उनके ही विद्यावंश में पैदा हुआ मैं भी सिंह ही हूँ। इसलिये द्वैतवाद का निरसन करने में मैं समर्थ हूँ—यह बात ग्रन्थकार ने यहाँ ध्वनित की है।

'भेदिवारणाः' जीव और ईश्वर में भेद, जड और ईश्वर में भेद, जीवों का परस्पर भेद, जड और जीव में भेद, और जडों का परस्पर भेद—पाँच प्रकार के इस भेद को जो लोग सत्य मानते हैं वे भेदी (द्वैतवादी) हैं, उन्हें गज का रूपक देकर अभेदवादी सिंह से वे भेदवादी निरस्त हैं। अर्थात् अभेदवादियों ने उनके भेदवाद का निरसन किया है। यहाँ दृष्टान्त के अनुसार 'निरसन' शब्द से 'नाश' अर्थ विवक्षित न होकर लक्षणा से 'उनके मत का असारत्व व्यक्त करके उनसे अद्वैत सिद्धान्त का ग्रहण करवाया' इतना ही अर्थ समझना चाहिए।

इस प्रकार ग्रन्थकार, परमगुरु को प्रणाम करके अग्रिम श्लोक में प्रत्यक्ष विद्यागुरु को वन्दन करते हैं।

श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् वेलाङ्गुडिनिवासिनः।
जगद्गुरूनहं वन्दे सर्वतन्त्रप्रवर्तकान्॥ ३॥

अन्वयः—अहं सर्वतन्त्रप्रवर्तकान् वेलाङ्गुडिनिवासिनः श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् जगद्गुरून् वन्दे।

अर्थ—वेलाङ्गुडि ग्राम में रहने वाले, समस्त शास्त्रों का अध्यापन करनेवाले श्रीमद् वेङ्कटनाथ नामक जगद् गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ।

विवरण—'सर्वतन्त्रप्रवर्तकान्' अध्यापन के द्वारा सर्वशास्त्रों के प्रवर्तक—इस विशेषण से अपने विद्यागुरु की योग्यता को प्रकट किया है। 'जगद्गुरून्' विशेषण से भी परमतखण्डनपूर्वक स्वसिद्धान्तस्थापन करने का सामर्थ्य सूचित किया है। इन तीन श्लोकों में व्यावहारिक कल्पित भेद का ग्रहण करके अपनी इष्टदेवता, परमगुरु और विद्यागुरु को प्रणाम किया है, क्योंकि अद्वैतवाद में वन्द्यवन्दकभाव सम्भव नहीं।

अब ग्रन्थकार अपने चिकीर्षित ग्रन्थ का ग्राह्यत्व तथा श्रद्धेयता सूचित करने के लिए और अपने यश के प्रदर्शनार्थ अपनी विविध ग्रन्थों की रचना को प्रदर्शित कर चिकीर्षित ग्रन्थ की प्रतिज्ञा करते हैं—

येन चिन्तामणौ टीका दशटीकाविभञ्जिनी।
तर्कचूडामणिर्नाम कृता विद्वन्मनोरमा॥ ४॥

ब्रह्म[1] बोधाय मन्दानां वेदान्तार्थावलम्बिनी ।
धर्मराजाध्वरीन्द्रेण परिभाषा वितन्यते ॥ ५ ॥

अन्वयः—येन चिन्तामणौ दशटीकाविभञ्जिनी विद्वन्मनोरमा तर्कचूडामणिः नाम टीका कृता (तेन) धर्मराजाध्वरीन्द्रेण मन्दानां ब्रह्मबोधाय वेदान्तार्थावलंबिनी परिभाषा वितन्यते ।

अर्थ—जिसने 'तत्त्वचिन्तामणि' नाम के ग्रन्थ पर दस टीकाओं का खण्डन करने वाली और विद्वानों को आह्लाद देनेवाली 'तर्कचूडामणि' नाम की टीका की, उसी धर्मराजाध्वरीन्द्र के द्वारा मन्दजनों के तत्त्व (ब्रह्म) बोधार्थ–वेदान्त के अर्थ का अवलम्बन करने वाली यह परिभाषा (वेदान्तपरिभाषा) की जाती है।

विवरण—वेदान्त के इस प्रकरण ग्रन्थ का विशेषतः नैयायिकों के मत की निःसारता को उन्हीं की प्रक्रिया के द्वारा प्रदर्शित करने के लिए आरम्भ किया गया है । इसलिए ग्रन्थकार न्याय शास्त्र में अपना अधिकार प्रदर्शित करने के लिये स्वरचित पूर्व ग्रंथ का निर्देश कर रहे हैं । प्रसिद्ध नैयायिक गंगेशोपाध्याय ने न्याय शास्त्र पर 'तत्त्वचिन्तामणि' नाम का सुप्रसिद्ध ग्रंथ लिखा है । इन्हीं से नवीन न्याय प्रवृत्त हुआ । इनसे पूर्व के नैयायिकों को प्राचीन या जरन्नैयायिक कहते हैं । उनके मत को प्राचीन न्याय मत कहते हैं । आजकल प्राचीन न्याय मत की अपेक्षा नवीन न्याय का ही अध्ययनाध्यापन अधिकता से चलता है । इस नवीन न्याय ग्रंथ पर टीका, उपटीका, प्रकरण ग्रन्थ इत्यादिकों की रचना होने से उसका बहुत बड़ा विस्तार हुआ है । इस ग्रन्थ पर ग्रन्थकार ने दस टीकाओं का खण्डन करने वाली चूडामणि नाम की विद्वन्मान्य टीका लिखी है । यह कहकर न्यायशास्त्र में अपना अधिकार तथा उस ग्रन्थ का महत्त्व और विद्वन्मान्यतादि तीन गुणों को प्रदर्शित किया है । इससे ग्रंथकार के विद्यागुरु की योग्यता प्रकट होती है । ग्रन्थकार स्वयं महानैयायिक होते हुए भी वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे । अतएव न्यायशास्त्र पर विद्वन्मान्य ग्रन्थ लिखकर भी अपनी कृतकृत्यता न मानकर मन्दबुद्धि, आलसी लोगों को भी सुगमता से तत्त्वज्ञान कराने के लिये वेदान्त के मुख्य तथा अवान्तर प्रतिपाद्य विषयों का प्रतिपादन करने के लिये इस ग्रंथ का प्रारम्भ किया है । बुद्धिमान् तथा निरलस लोगों को सूत्रभाष्यादि ग्रन्थों के अभ्यास से तत्त्वबोध होता है । उन्हें इस ग्रंथ की ऐसी आवश्यकता नहीं है । तथापि 'मैं इस ग्रन्थ को मन्दबुद्धियों पर अनुग्रह करने के हेतु लिख रहा हूँ' यह कहकर ग्रन्थकार ने प्राचीन आकर-ग्रंथों के विषय में अपना आदर अभिव्यक्त करके वेदान्तसारादि अन्यान्य संक्षिप्त ग्रंथों से,

---

१. तेन–इति पाठान्तरम् ।

समस्त वेदान्त के तात्पर्यार्थ–प्रतिपादक इस ग्रन्थ का विषय गतार्थ नहीं हो पाया है, यह भी सूचित किया है। इस ग्रन्थ में वेदान्त की प्रक्रिया से प्रमाण प्रमेयादि पदार्थों का निरूपण किया गया है। इसलिए इस ग्रन्थ को 'परिभाषा' अन्वर्थ नाम दिया गया है। 'वेदान्तार्थावलम्बिनी' विशेषण से यह परिभाषा स्वकपोलकल्पित न होकर वेदान्त (उपनिषद्) के प्रतिपाद्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाली है। उपनिषदों का मूल आधार होने से उस परिभाषा की प्रामाणिकता ध्वनित होती है।

'बोधाय' पद से तत्त्वज्ञान रूप प्रयोजन (फल) शब्द से साक्षात् कहा है। इस प्रकार पूर्वोक्त पाँच श्लोकों से इष्ट देवता, परमगुरु, और साक्षात् गुरु को प्रणाम करके 'वेदान्त परिभाषा' ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। अब इस चिकीर्षित ग्रन्थ की शारीरक मीमांसा से संगति सूचित करने के लिए प्रथमतः इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य बताते हैं—

इह खलु धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थः 'न स पुनरावर्त्तते' छा० ८–१५–१ इति श्रुत्या तस्य नित्यत्वावगमात्। इतरेषां त्रयाणां प्रत्यक्षेण, 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' छा० ८–१–६ इत्यादिश्रुत्या चानित्यत्वावगमात्। स च ब्रह्म-ज्ञानात् इति ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते॥

अर्थ—इस श्लोक में तथा वेदों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों में से मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है—यह प्रसिद्ध है। क्योंकि—"वह आत्मज्ञ पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेता" छा० उ० ८।१५ इस श्रुति से मोक्ष की नित्यता ज्ञात होती है। उसी प्रकार मोक्ष के अतिरिक्त अन्य (धर्म, अर्थ, काम) तीन पुरुषार्थों की अनित्यता प्रत्यक्ष से तथा श्रुति से ज्ञात होती है। उस विषय में दृष्टान्त "जैसे इस लोक में कृष्यादि कर्म से संपादन किया हुआ धान्यादि, लोक (फल) क्षीण होता है, उसी तरह परलोक में पुण्यरूप अदृष्ट से संपादन किया हुआ स्वर्गादिलोक भी क्षय को प्राप्त होता है।" छा० उ० ८।१। यह श्रुति दृष्टान्त द्वारा धर्म के फल की अनित्यता को बताती है। और अर्थ तथा काम इन दो पुरुषार्थों की अनित्यता प्रत्यक्ष और श्रुति रूप प्रमाणों से अवगत होती है। वह नित्य मोक्ष, ब्रह्मज्ञान रूप साधन से ही प्राप्त होता है। इसलिए इस ग्रन्थ में ब्रह्म, उसका ज्ञान, और उसमें प्रमाण का सविस्तर निरूपण करते हैं।

विवरण—पुरुष जिसे चाहते हैं उसे पुरुषार्थ कहते हैं। आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्त सब जीव, उत्कृष्ट सुख की इच्छा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम साक्षात्

सुख न होकर सुख के साधन हैं और मोक्ष साक्षात् सुख स्वरूप है। इसलिये वही परम (उत्कृष्ट) पुरुषार्थ है।

परम (निरतिशय) अर्थात् जिससे अधिक सुख नहीं और जिसका कभी क्षय नहीं होता ऐसा पुरुषार्थ सुख ही मोक्ष है। मोक्ष की परम पुरुषार्थता '(सः) न च पुनरावर्तते' इस छान्दोग्य श्रुति ने बताई है। (सः) = ब्रह्मज्ञान से मुक्त हुआ जीव, 'पुनः च' अन्य कल्प के आरम्भ में भी 'न आवर्तते' बार बार जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त नहीं होता। यह श्रुति का अर्थ है।

इस प्रकार मोक्ष के परम पुरुषार्थत्व में श्रुत्युक्त हेतु बताकर धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों में नित्यत्व नहीं—इस विषय में भी प्रत्यक्ष और श्रुति इन दो प्रमाणों को दिखाते हैं। अर्थ (वित्त) और काम (पुत्रादि) इनसे पुरुष को सुख होता है। परन्तु ये दोनों सुखसाधन विनाशी हैं। यह, हमें 'अतोऽन्यदार्तम्' नित्य भूमाख्य आत्मा से अन्य समस्त विनाशी हैं, इस श्रुति से और प्रत्यक्ष प्रमाण से भी ज्ञात होता है।

श्रुतिस्मृतिविहित धर्म भी सुख का साधन है, क्योंकि धर्माचरण से पुण्याख्य अदृष्ट अथवा अपूर्व उत्पन्न होता है और उससे मरणोत्तर स्वर्गादि सुख प्राप्त होता है। परन्तु धर्माचरण भी एक प्रकार का कर्म ही है और कर्म से मिलने वाला फल अनित्य होता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। कृषि, राजसेवा आदि कर्मों से मिला हुआ धान्य, धन आदि फल, उपभोग से क्षीण होता है, यह प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार पुण्याचरण से मरणोत्तर संपादन किया हुआ स्वर्गादि फल भी क्षीण होता है। इस तथ्य को 'तद्यथेह' इत्यादि श्रुति से अनुगृहीत हुई–'यत्कृतकं तदनित्यम्' व्याप्ति के द्वारा निश्चित किया जाता है। इस विषय में अनुमान इस प्रकार है :—'स्वर्गादिसुख (पक्ष), अनित्य है (साध्य)। क्योंकि वह धर्मादिसाधनजन्य है (हेतु), कृषि, सेवा आदि साधनों से प्राप्त होनेवाले सुख की तरह (दृष्टान्त)'। परन्तु इस पर मीमांसक, 'अपाम सोमममृता अभूम' 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' हमलोगों ने सोमपान किया और अमृतत्व पाया, चातुर्मास्य याग करनेवाले को कभी क्षीण न होनेवाला पुण्यफल मिलता है, इस श्रुति के आधार से "धर्म, अर्थ और काम की भी नित्यता है (प्रतिज्ञा), क्योंकि उनमें पुरुषार्थत्व है (हेतु), मोक्ष के समान (दृष्टान्त)।"—ऐसा प्रत्यनुमान करते हैं। परन्तु वह अनुमान, पूर्वोक्त श्रुति के द्वारा अनुगृहीत न होने से बाधित होता है। तथाहि—'वह्नि उष्ण है, क्योंकि उसमें पदार्थत्व है, सूर्य के समान' इस अनुमान में 'पदार्थत्व' हेतु जैसे बाधित होता है। क्योंकि जो पदार्थ हो वह उष्ण हो—यह अनुभूत नहीं है। उसी तरह जो पुरुषार्थ हो वह नित्य हो—यह भी अनुभव

के विरुद्ध है। क्योंकि अर्थ = वित्त, पुरुषार्थ है, परन्तु वह नित्य नहीं है। इसलिये सोमपान का 'अमृत' रूप फल, और चातुर्मास्ययाग का 'अक्षय्य सुख' रूप फल, कर्मजन्य होने से परमार्थ (नित्य) नहीं है। किन्तु वह प्रलय काल तक ही रहने वाला है। पूर्वोक्त श्रुति में 'अमृत' और 'अक्षय्य' शब्द इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हैं।

आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते'—भूतों के, प्रलय पर्यन्त रहनेवाले स्थान को (आकल्प स्थायी पदार्थको) 'अमृतत्व' कहते हैं, ऐसा वचन है। इस प्रकार मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है इस बात को सिद्ध कर 'तरति शोकम् आत्मवित्' 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'—"आत्मज्ञ, शोक को तर जाता है। उसी आत्मा को जान कर मनुष्य मृत्यु का उल्लंघन करता है, आत्मलाभ के लिये ज्ञान के सिवाय दूसरा मार्ग नहीं," इत्यादि श्रुतियों के आधार से ब्रह्मज्ञान ही उसका साधन है ऐसा मूल ग्रन्थ के 'स च ब्रह्मज्ञानात्' इन शब्दों से कहा गया है।

'इति'—जबकि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और वह ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होता है ऐसी परिस्थिति में मंदबुद्धि मुमुक्षुजनों पर उपकार करने के लिये ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान में प्रमाण इनका इस ग्रंथ में विस्तार के साथ ग्रन्थकार द्वारा निरूपण किया जाता है।

तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्। तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं, अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्। स्मृतिसाधारणं त्वबाधितविषयज्ञानत्वम्।

अर्थ—'तत्र'—ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और उसमें प्रमाण इनमें प्रमा का जो करण (साधन) वह प्रमाण। प्रमा का अर्थ है यथार्थज्ञान। [कुछ लोग स्मृति ज्ञान को प्रमा नहीं मानते इसलिए यहां प्रथमतः स्मृति में न जाने वाला 'प्रमा' का लक्षण कहते हैं—] अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। [परन्तु कुछ लोग स्मृति ज्ञान को भी प्रमा मानते हैं इसलिए स्मृति तथा अनुभव इन दोनों ज्ञानों के लिए जो साधारण हो ऐसा प्रमा का दूसरा लक्षण करते हैं] अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। यही स्मृति साधारण प्रमा है।

विवरण—'न हि लक्षणप्रमाणाभ्यां विना वस्तुसिद्धिः' —लक्षण और प्रमाण के विना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हुआ करती, ऐसा न्याय है। अतः यहां पर प्रमाण का निरूपण करने के लिए प्रारंभ में ही प्रमाण-लक्षण बताया गया है 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यहां 'प्रमाण' यह लक्ष्य है और 'प्रमाकरण' यह उसका लक्षण है। अब इस लक्षण में पदकृत्य बताते हैं —यहां यह

शंका हो सकती है कि 'करणम्' इतना ही प्रमाण का लक्षण न करके 'प्रमाकरणम्' इतना बड़ा लक्षण क्यों किया है? और 'करण' क्या वस्तु है अर्थात् 'करण' किसे कहते हैं?

उत्तर—'करणं प्रमाणम्' इतना ही यदि प्रमाण का लक्षण किया जाय तो 'दण्डादि' भी घटादिकों का करण हुआ करता है तो दण्डादिकों को भी 'प्रमाण' कहना पड़ेगा अर्थात् प्रमाण का लक्षण दण्ड आदि में अतिप्रसक्त (अतिव्याप्त) होगा। यह अतिव्याप्ति दोष न आने पावे इसलिये 'प्रमा का जो करण, वह प्रमाण है' ऐसा कहना आवश्यक हो जाता है। 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्'। व्यापारवान् होकर किसी कार्य के प्रति जो असाधारण कारण होता है उसे ही 'करण' कहते हैं। 'प्रमाकरणम्' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण है। इस लक्षण में जो प्रमा शब्द है उसका क्या अर्थ है? उत्तर—'प्रमा' का अर्थ है 'यथार्थज्ञान'। यथार्थज्ञान, स्मृति और अनुभव भेद से दो प्रकार का है। परन्तु कुछ लोग प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला जो अनुभव रूप ज्ञान है उसी को 'प्रमा' कहते हैं। स्मृति साक्षात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु प्रत्यक्षादि अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है और संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है। संस्कारों में, प्रमाणत्व न होने से स्मृति को भी प्रमाण नहीं माना जाता। इसलिये इस मत में स्मृति को छोड़ कर केवल अनुभवात्मक प्रमा का 'अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्' यह लक्षण किया गया है। इसमें 'प्रमात्वम्' यह लक्ष्य है और 'अनधिगत-अबाधित-विषयज्ञानत्वम्' यह लक्षण है।

'अनधिगत'—पूर्व ज्ञात न हुआ, 'अबाधित'—दूसरे प्रमाण से (उत्तर ज्ञान से) मिथ्या सिद्ध न होने वाला (बाधित न होने वाला) जो विषय उसका ज्ञान, यही प्रमा कहा जाता है। स्मृति का विषय (जिसका स्मरण होता है वह पदार्थ), पूर्व अधिगत (ज्ञात) हुआ करता है। क्योंकि बिना अनुभव के स्मरण नहीं होता। इसलिये लक्षण में विषय का 'अनधिगत' यह विशेषण लगाने से स्मृति के विषय की व्यावृत्ति हो गई। इसी प्रकार 'शुक्तौ इदं रजतम्' शुक्ति (सीप) में रजत (चांदी) का ज्ञान होता है। इस ज्ञान का विषय रजत है। परन्तु उसका प्रमाण के द्वारा विवेचन किये जाने पर बाध होता है। अतः शुक्ति में होने वाला रजत ज्ञान 'प्रमा' नहीं है। ऐसे बाधित विषय की निवृत्ति करने के लिये लक्षण में विषय का 'अबाधित' यह विशेषण लगाया गया है। अर्थात् 'अनधिगत और अबाधित विषय का जो ज्ञान वह प्रमा' यह स्मृति में घटित न होकर केवल अनुभवात्मक प्रमा का निर्दोष लक्षण है। इस लक्षण

के 'विषयज्ञानत्व' इस शब्द में जो 'ज्ञान' पद है, वह 'प्रमा' का स्वरूप बताने के लिये है। इच्छादि अन्तःकरण वृत्तिरूप नहीं है। इच्छा भी एक प्रकार से अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञान ही है, परन्तु 'अनधिगत' = अज्ञात इस विशेषण से उसका निरसन हो जाता है क्योंकि ज्ञात हुए विषयों में ही इच्छादि उत्पन्न होती हैं।

अथवा चक्षुरादिकों में लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसलिये प्रमा के लक्षण में 'ज्ञान' पद दिया गया है। क्योंकि चक्षुरादिकों में भी घटादिस्फुरण के द्वारा घटादिविषयत्व माना गया है। यहां पर ज्ञान का अर्थ ज्ञप्ति = अनुभव है। इस कारण उसका करण जो अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञान है, उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

पहले बता चुके हैं कि जिस स्मृति का विषय यथार्थ होता है अर्थात् उत्तरज्ञान से बाधित नहीं होता ऐसी स्मृति को भी कुछ लोग प्रमाण मानते हैं। इसलिये 'अबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्' ऐसा दूसरा स्मृतिसाधारण लक्षण किया है। साधारण का अर्थ है अनेक में रहने वाला। 'उत्तर ज्ञान से बाधित न होनेवाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है' यह लक्षण अनुभव और स्मृति इन दोनों ज्ञानों में समान रूप से घटित होता है। इसलिये प्रमा का यह लक्षण स्मृति साधारण है। प्रथमतः 'अयं घटः' यह घट है ऐसा ज्ञान होता है और उसका किसी उत्तर ज्ञान से बाध भी नहीं होता। उस ज्ञान से अन्तःकरण में सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से आगे चलकर कुछ समय के अनंतर उसी घट का स्मरण होता है। इस स्मृति का विषय अबाधित घट होने से यह स्मृति प्रमा है। इसी प्रकार अबाधित घट का ज्ञान भी प्रमा है। परन्तु इसके विपरीत शुक्ति में रजत का ज्ञान होने पर अथवा रज्जु में सर्प का ज्ञान होने पर उसके समीप जाकर क्या सचमुच यह रजत ही है और सर्प ही है इस प्रकार प्रमाण के द्वारा निरूपण करने लगते हैं तब यह रजत न होकर शुक्ति है, और यह सर्प न होकर रज्जु है, यह ज्ञान होता है। इस उत्तर ज्ञान से पहले उत्पन्न हुए रजतज्ञान और सर्पज्ञान बाधित हो जाते हैं, इसलिये ऐसे स्थलों में यह अनुभवरूप ज्ञान बाधित विषय है, प्रमा नहीं है। ऐसे बाधित विषय की कालान्तर में होने वाली स्मृति भी प्रमा नहीं है। इसलिये स्मृति और अनुभव इन दोनों प्रमाओं का 'अबाधित-विषय-ज्ञानत्वम्' यह साधारण लक्षण है। अनुभव और स्मृति ये दोनों ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ भेद से दो प्रकार के हुआ करते हैं। इस लक्षण में भी 'ज्ञान' पद पहले की तरह इच्छादिकों की व्यावृत्ति कराने के लिये है।

प्रश्न—'अयं घटः, अयं घटः यह घट, यह घट, यह घट इस धारावाहिक अनुभव ज्ञान में 'यह घट' यह ज्ञान, दूसरे तीसरे, चौथे आदि सभी ज्ञानों में क्रमशः पूर्व पूर्व ज्ञान विषय है। इसलिए द्वितीयादि ज्ञानों में अधिगतविषयत्व है। इस कारण 'अनधिगतविषयज्ञानत्व' यह पहला लक्षण धारावाहिक प्रमा ज्ञान में अव्याप्त हो रहा है।

नीरूपस्यापि कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिकबुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तत्क्षणाविशेषविषयकत्वेन न तत्राव्याप्तिः।

अर्थ—रूपरहित काल को हम इन्द्रियविषयत्व मानते हैं अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से काल का प्रत्यक्ष होता है। इस कारण धारावाहिक बुद्धि को भी पूर्व-पूर्व ज्ञान का विषय न होनेवाला जो उत्तर-उत्तर द्वितीय, तृतीयादि क्षण तद्विषयकत्व है, अतः धारावाहिक बुद्धि में भी प्रथम लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।

विवरण—'जिस द्रव्य में महत्त्व परिमाण और उद्भूत रूप रहता है वही द्रव्य चक्षु का विषय होता है अर्थात् आँख से दिखाई देता है। यह तार्किकों का सिद्धान्त है। किन्तु 'इस समय घट है' यह अनुभव सभी को होता है। उपर्युक्त वाक्य में 'इस समय' यह पद वर्तमान काल का बोध करा रहा है अर्थात् काल का प्रत्यक्ष होता है यह बात सिद्ध हो रही है। इसलिये द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में महत्त्व और उद्भूत रूप कारण हुआ करता है, यह तार्किकों का सिद्धान्त काल रूप द्रव्य को छोड़कर इतर द्रव्यों के बारे में है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि तार्किकों के कथनानुसार जिसमें महत्त्व और उद्भूत रूप नहीं होते उसका चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता है। परन्तु ऐसा यदि मान लिया जाय तो रूप रहित रूप का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है यह कहना पड़ेगा। परन्तु रूप तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है और उसमें उद्भूत रूप तथा महत्त्व नहीं होता। क्योंकि वैशेषिक लोग 'गुण' में गुण की स्थिति नहीं मानते। 'रूप' गुण है। इसलिये 'रूप' नामक गुण में उद्भूत रूप नामक दूसरा गुण रहता है, यह कदापि नहीं कह सकते। इसी न्याय से रूपरहित काल भी चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है। 'अयं घटः, अयं घटः, अयं घटः', यह धारावाहिक बुद्धि भी, पूर्व-पूर्व ज्ञान का विषय न होने वाला जो उत्तर-उत्तर क्षण उसको विषय करती है। अर्थात् 'यह घट' इस प्रकार प्रथम क्षण में होनेवाले ज्ञान का विषय प्रथम क्षण में स्थित 'घट' होता है। दूसरे तीसरे क्षण में होने वाले ज्ञान का विषय बनने वाला 'घट', पूर्व क्षण के ज्ञान का विषय बने हुए घट से भिन्न है। प्रथम क्षण में जिस

'घट' का ज्ञान हुआ, वह 'घट' प्रथम क्षण के साथ ही निवृत्त हुआ। इस कारण दूसरे क्षण के ज्ञान का विषय बनने वाला 'घट', पूर्व क्षण के ज्ञान का विषय बने हुए घट से पृथक् है। इसी प्रकार तृतीयक्षणीय ज्ञान का विषयभूत 'घट', द्वितीय क्षणिक ज्ञान के विषयभूत घट से भिन्न है। अतः धारावाहिक ज्ञान कितने ही क्षण तक होते रहने पर भी प्रत्येक क्षण के ज्ञान का विषय 'घट' भिन्न-भिन्न होने से धारावाहिक ज्ञान में अधिगतविषयत्व नहीं आ पाता। इसलिये 'अनधिगतज्ञानविषयत्व' यह प्रमा का लक्षण धारावाहिक बुद्धि में भी ठीक घटित हो जाता है इसलिए धारावाहिक बुद्धि में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती है। यह प्रथम क्षण का घट, यह दूसरे क्षण का घट, यह तीसरे क्षण का घट, यह चौथे क्षण का घट इस प्रकार की धारावाहिक बुद्धि के अनेक क्षणों में से प्रत्येक क्षण का विषय (घट) उस-उस क्षण से विशिष्ट होने से भिन्न-भिन्न है। पूर्व क्षण विशिष्ट विषय ही उत्तर क्षण के ज्ञान का विषय नहीं है। इसलिये उसे अधिगत (ज्ञात) नहीं कह सकते। अतः धारावाहिक बुद्धि में 'अनधिगतविषयज्ञानत्व' इस लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। धारावाहिक बुद्धि के, उत्तर-उत्तर क्षण में पूर्व-पूर्व क्षण का विषय ही यदि प्रतीत हुआ होता तो प्रमा का 'अनधिगतविषयत्व' यह लक्षण वहां अव्याप्त हुआ होता, परन्तु वैसा नहीं है, अतः प्रमा के प्रथम लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है।

शंका—'इस समय घट है' इस वाक्य के 'इस समय' शब्द से वर्तमान काल का प्रत्यक्ष हो रहा है, ऐसा यदि कहें तो 'आकाश में बलाका' इस प्रतीति के बल से 'आकाश का प्रत्यक्ष हो रहा है' यह भी आप को कहना पड़ेगा। इस पर कदाचित् आप यह कह दें कि आकाश का प्रत्यक्ष होना तो हमें इष्ट ही है, परन्तु आप ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि आकाश का यदि प्रत्यक्ष हुआ करता तो उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये 'शब्द' जिसका लिङ्ग है ऐसे अनुमान प्रमाण का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु प्रायः सभी वादी आकाश का अस्तित्व, शब्दलिंगक–अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध करते हैं।

इसके अतिरिक्त आकाश का प्रत्यक्ष होता है ऐसा मानने पर 'अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति' आकाश के अप्रत्यक्ष रहने पर भी अज्ञ लोग तलमलिनता आदि का अध्यास करते हैं (ब्र. सू. भाष्य), भाष्य-कार के इस कथन से विरोध होगा। 'रूपरहित रूप के समान ही रूपरहित काल का भी चाक्षुष ज्ञान होना संभव है' यह आपने पहले कहा है। परन्तु महत्त्व और उद्भूत रूप से रहित द्रव्य का चाक्षुष ज्ञान नहीं हुआ करता, हम तार्किकों का यह सिद्धान्त है। इसलिये 'रूपरहित रूप' का जो कि गुण है

चाक्षुष ज्ञान हो सकेगा लेकिन रूपरहित 'काल' का जो कि द्रव्य है, चाक्षुष ज्ञान नहीं हो सकता। यही कारण है कि सामने पड़े हुए चन्दन के टुकड़े को देखकर यह 'सुरभि० (सुगंधि) चन्दन है', इस चाक्षुषज्ञान में 'सौरभ' की परोक्षता और 'चन्दन' की चाक्षुषता जिस प्रकार है उसी प्रकार 'इस समय यह घट' इस वाक्य के 'इस समय' इस काल के अंश में परोक्षता ही है ऐसा समझिये, उसे चाक्षुषता नहीं है। । अर्थात् धारावाहिक बुद्धि में प्रत्येक रूप रहित क्षण को चाक्षुषत्व न होने से ऊपर दिये गये अव्याप्ति दोष की वैसी ही स्थिरता रही।

समाधान—आप सच कह रहे हैं। परन्तु उपर्युक्त समाधान हमने आपके मत के अनुसार दिया था। क्योंकि आपका मत है कि 'रूप रहित रूप चाक्षुष ज्ञान का विषय होता है' तो उसी प्रकार रूपरहित काल, वायु इत्यादि द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष हो सकता है, यह हमारा आशय था। इस पर यदि 'महत्त्व और उद्भूतरूप से रहित द्रव्य का चाक्षुषज्ञान नहीं हुआ करता। परन्तु रूपरहित 'रूप' यह गुण होने से चक्षु का विषय हो सकता है।' ऐसा यदि आपका यह कहना है तो ठीक है। उपर्युक्त समाधान हमारा सिद्धान्तरूप नहीं है। इसलिये उसमें अरुचि प्रकट करते हुए धारा-वाहिक ज्ञान के विषय में हम अपना परम सिद्धान्त बताते हैं—

किञ्च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः, किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावत् घटकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना, वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्। तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमपि तत्र तावत्कालीनमेकमेवेति नाव्याप्तिशङ्काऽपि।

अर्थ—हमारे वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार धारावाहिक ज्ञान में ('यह घट, यह घट', इस प्रकार अनेक क्षणों तक होते रहते एकाकार ज्ञान में) वस्तुतः ज्ञान का (अन्तःकरण की वृत्ति का) भेद ही नहीं है। बल्कि जब तक घटादि एक ही विषय का स्फुरण (अनुभव) होता रहता है तब तक घटादि विषयाकार में परिणत हुई अन्तःकरण वृत्ति एक ही रहती है। एकाकार ज्ञान में अन्तःकरणवृत्ति अनेकाकार हो यह नहीं माना जा सकता। क्योंकि अन्तः-करण की कोई भी वर्तमान वृत्ति, उसके विरुद्ध दूसरी वृत्ति उत्पन्न होने तक स्थायी (स्थिर) रहती है। अर्थात् विरोधी वृत्ति के पैदा होने तक घटादि विषयाकार वृत्ति के एक ही होने से उस स्थिर वृत्ति में प्रतिबिंबित हुआ जो चैतन्य रूप घटादिविषय ज्ञान, वह भी तबतक (जबतक वृत्ति स्थिर है)

एक ही रहता है। इसलिये 'अनधिगतविषयज्ञानत्व' इस प्रमा के लक्षण की धारावाहिक बुद्धिस्थल में अव्याप्ति नहीं हो पाती। धारावाहिक ज्ञान में यदि 'अधिगतज्ञानविषयत्व' होता तो इस लक्षण की उसमें अव्याप्ति हुई होती। धारावाहिक ज्ञान में अनधिगत (अज्ञात) ही घट विषय है, अतः प्रमा का प्रथम लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है।

विवरण—'इस समय यह घट' इस वाक्य के 'इस समय' इस शब्द से वर्तमान क्षण का ज्ञान होता है। अतः काल की भी प्रत्यक्षता है यह निश्चित होता है। इसी कारण से यह कहा था कि—धारावाहिक ज्ञान में प्रत्येक क्षण का विषय भिन्न–अर्थात्पूर्वक्षण का विषय उत्तर क्षण में नहीं—रहने से उत्तरक्षण में विषय ज्ञात नहीं है, अपि तु अज्ञात ही है। इसलिए लक्षण की अव्याप्ति नहीं है यह एक समाधान दिया था। उसपर तार्किक ने कहा था कि वैसा मानने पर 'आकाश में पक्षी' इस प्रतीति से आकाश को प्रत्यक्ष मानना होगा, परन्तु 'आकाश का प्रत्यक्ष होता है' यह कथन वेदान्त सिद्धांत के विरुद्ध है। और 'इस समय यह घट' इस प्रतीति की तरह 'आकाशे पतत्री' आकाश में पक्षी यह प्रतीति भी अनुभव सिद्ध है। इस कारण पूर्वोक्त अव्याप्ति दोष स्थिर रहा। इसलिये काल की प्रत्यक्षता वेदान्त सिद्धान्त के अनुकूल होती हुई भी वेदान्ती अब दूसरी युक्ति से पूर्वोक्त अव्याप्ति का निराकरण करते हैं।

वेदान्त सिद्धान्त, धारावाहिक बुद्धि में ('यह घट' इस प्रकार मुहूर्त भर स्थिर रहने वाले ज्ञान में) ज्ञान का भेद स्वीकार नहीं करता। क्योंकि जब तक एक ही विषय प्रतीत होता रहता है तब तक तदाकार अन्तःकरणवृत्ति भी एक ही रहती है। बिना वृत्ति भेद के ज्ञानभेद नहीं होता। जब तक हम सामने रखे हुए घटादि किसी वस्तु की ओर देखते रहते हैं और उसका ज्ञान होता रहता है तब तक तदाकार हुई एक ही अन्तःकरण वृत्ति रहती है। एक प्रत्यय (ज्ञान) में अनेक वृत्तियों के मानने पर गौरव (दोष) होगा। इस कारण 'यह घट' इस एकाकार प्रवाह ज्ञान में एक अन्तःकरण वृत्ति को मानना सर्वथा युक्त है, और इसी में अतिलाघव है।

शंका—लाघव गुण के लोभ से यदि आप 'अयं घटः' 'यह घट' इस आकार का अनुभव जब तक होता रहता है तब तक एक वृत्ति रहती है ऐसा मानते हों तो गाढ निद्रा लगने तक एक वृत्ति मानने में और भी लाघव होगा, तब जगने से लेकर सुषुप्ति तक एक ही वृत्ति क्यों नहीं स्वीकार करते ?

उत्तर—'अयं घटः' इस वृत्ति के विरुद्ध जो 'अयं पटः' यह दूसरी वृत्ति उत्पन्न होती है, वह पहली वृत्ति को नष्ट करके ही उत्पन्न होती है। 'अयं घटः' यह ज्ञान लगातार दस क्षण तक रहा बाद में 'अयं पटः' यह

दूसरा ज्ञान होगा तो ग्यारहवें क्षण में पहिली घट वृत्ति का नाश करके बारहवें क्षण में वह स्वयं उत्पन्न होगा। जिस क्षण में घटाकार वृत्ति रहेगी उस क्षण में पटाकार वृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये जगने से लेकर सोने तक एक ही वृत्ति रहती है, यह नहीं स्वीकार किया जा सकता। जाग्रत् अवस्था में अन्तःकरण की वृत्तियों का प्रवाह निरंतर चलता रहता है। ये वृत्तियां पूर्व वृत्ति का नाश करके ही उत्पन्न हो सकती हैं। अतः पूर्व वृत्ति दूसरी विरोधी वृत्ति की उत्पत्ति से पूर्वक्षण तक ही स्थिर रहती है, ऐसा हम लोगों का सिद्धान्त होने से सुषुप्ति तक एक ही वृत्ति नहीं रह सकती। वृत्तियों का विरोध उनके विषयों से निश्चित होता है। घटाकार वृत्ति, पटाकार वृत्ति, जलाकार वृत्ति इत्यादि वृत्तियां परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध हैं, क्योंकि उन वृत्तियों के घट, पट, जल इत्यादि विषय भिन्न भिन्न हैं अर्थात् परस्पर विरुद्ध हैं। उदासीनता के समय में भी उदासीनताकार वृत्ति रहती है। अतः वह भी अन्य सब वृत्तियों से विरुद्ध ही है। अखण्डाकार वृत्ति अपनी विरोधिनी अविद्यादि सब वृत्तियों का नाश करके दग्धेन्धनाग्नि की तरह अपना भी नाश कर लेती है। क्योंकि उस वृत्ति में अधिष्ठान ज्ञानत्व है, इसलिये वह अविद्यादि सब वृत्तियों का नाश कर सकती है, और उसे दृश्यत्व होने से अपने को भी नष्ट कर लेती है। अधिष्ठान ज्ञानत्व के रूप से वह नाशक है और दृश्यत्व के रूप से वह नाश्य है।

शंका—धारावाहिक बुद्धि में भिन्न भिन्न ज्ञान नहीं हैं, यह बताने के लिए आपने धारावाहिक वृत्ति की एकता का कथन किया। परन्तु वह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त में चैतन्य को ही ज्ञान शब्द से कहते हैं।

उत्तर—उपर्युक्त कथनानुसार धारावाहिक बुद्धि में वृत्तिभेद नहीं होता अर्थात् जब तक 'अयं घटः' ऐसी एकाकार बुद्धि रहती है तब तक घटाकार अन्तःकरण वृत्ति एक ही रहती है। और उस घटाकार वृत्ति में प्रतिबिंबित हुआ चैतन्यरूप घटादि ज्ञान भी एक ही रहता है। क्योंकि वृत्तिरूप उपाधि का भेद न होने से उस औपाधिक ज्ञान का भी भेद नहीं होता। इसलिये धारावाहिक बुद्धि में 'अनधिगतविषयज्ञानत्व' इस लक्षणांश की अव्याप्ति की शंका भी नहीं है।

इस पर पुनः शंका करते हैं—

ननु सिद्धान्ते घटादेर्मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् तज्ज्ञानं कथं प्रमाणम्।

अर्थ—वेदान्त सिद्धान्त में घटादि पदार्थों को शुक्ति रजत की तरह मिथ्यात्व है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से उनका बाध होता है। तब बाधित होने वाले घटादि मिथ्या विषयों (पदार्थों) के ज्ञान में 'प्रमात्व' कैसे हो सकता है।

विवरण—जिस ज्ञान का विषय बाधित होता है, वह ज्ञान, अप्रमा है। अर्थात् प्रमा नहीं है, यह वेदान्त को भी स्वीकार है। तब प्रमा के प्रथम लक्षण में दिये गये 'अबाधितविषयज्ञानत्व' अंश का घटादिविषयज्ञान तो प्रमारूप से लक्ष्य बन ही नहीं सकता। इसलिये वहां अव्याप्ति की शंका करना और उसका निरसन करना यह दोनों उचित नहीं हैं। इसी आशय से वादी ने यह शंका की थी।

उपर्युक्त शंका का प्रतिज्ञापूर्वक समाधान—

उच्यते। ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां बाधः। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४–१–१५) इति श्रुतेः, न तु संसारदशायां बाधः, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० ४–५–१५) इति श्रुतेः। तथा चाबाधितपदेन संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितमिति न घटादिप्रमायामव्याप्तिः।

तदुक्तम्—

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥ १ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तमित्यर्थः। लौकिकमिति घटादिज्ञानमित्यर्थः।

अर्थ—ब्रह्म साक्षात्कार होने के अनन्तर ही घटादि विषयों का बाध होता है। इस विषय में "जिस तत्त्व साक्षात्कार की दशा में इस ब्रह्मज्ञ के लिये सब आत्मरूप ही हो गया हो, उस दशा में वह 'केन कं पश्येत्' अर्थात् किस करण (इन्द्रिय) से किस विषय को देखेगा" ऐसी श्रुति है। परन्तु संसार दशा में उनका बाध नहीं होता, इस विषय में भी 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' अर्थात् "जिस संसार दशा में मानो द्वैत था, उस दशा में यह इतर (जीव) प्रमाता होकर इतर विषय को देखता है" ऐसी वहीं पर श्रुति है। इसलिए प्रमा के प्रथम लक्षण में स्थित 'अबाधित' पद से संसार दशा का 'अबाधितत्व' अर्थ विवक्षित है। इस कारण लक्षण की घटादिप्रमा में अव्याप्ति नहीं होती। इस विषय में प्राचीन सांप्रदायिकों ने ऐसा कहा है—'आ आत्मनिश्चयात्' = आत्मनिश्चय (ब्रह्मसाक्षात्कार) होने तक देह ही आत्मा है—इस प्रकार का ज्ञान प्रमाणरूप में (प्रामाणिक) माना जाता है, उसी प्रकार यह घटादि

लौकिक पदार्थों का ज्ञान भी 'प्रमा' है। आ आत्मनिश्चयात्–का अर्थ ब्रह्म-साक्षात्कार होने तक, और लौकिकम्' का अर्थ घटादिज्ञान है।

विवरण—घटादि पदार्थों को शुक्तिरजत की तरह बाधितत्व होने से मिथ्यात्व है, तब बाधित होनेवाले घटादिकों के ज्ञान में प्रमात्व कैसे? उन पदार्थों का ज्ञान प्रमा न होने से घटादिज्ञान भी पूर्वोक्त लक्षणों का लक्ष्य नहीं बन सकता। वादी के द्वारा ऐसी शंका करने पर, मूल में 'उच्यते' इस पद से वादी की शंका का समाधान करने की प्रतिज्ञा करके अग्रिम 'ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरम्' इत्यादि ग्रन्थ से सप्रमाण समाधान किया गया है। घटादि व्यावहारिक पदार्थों का ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर ही बाध होता है। शुक्तिरजत की तरह वह संसारदशा में नहीं होता। शुक्ति में रजत का भास संसार दशा में होता है और उसका प्रमाण के द्वारा आलोचन किये जाने पर भासित होने वाले रजत का बाध भी उसी दशा में होता है। इसलिये शुक्तिरूप्य मिथ्या है। परन्तु व्यवहारदशा में बाधित न होने वाले घटादिपदार्थ मिथ्या नहीं हैं। इस लिए उनका ज्ञान 'प्रमा' होने से प्रमा लक्षण का लक्ष्य भी है। इस विषय में 'यत्र तु०' इस श्रुति का आधार दिया गया है। यहाँ 'तु' शब्द के द्वारा अविद्यावस्था की अपेक्षा विद्यावस्था, की विलक्षणता को सूचित करके जिस ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था में तत्त्वज्ञ की दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् आत्मरूप ही हो जाता है, उस अवस्था में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय का भेद ही नहीं रहता, ऐसी स्थिति में वह ज्ञानी किन इन्द्रियादि साधनों से कौन से घटादि विषयों का ग्रहण करेगा। ऐसा कहकर इस श्रुति से परमार्थावस्था में सभी व्यवहारावस्था का बाध हो जाता है, यह सूचित किया गया है परन्तु संसार दशा में घटादि व्यवहारिक पदार्थों का बाध नहीं होता, इसलिए व्यवहार दशा में घटादि पदार्थ मिथ्या नहीं समझे जाते।

संसारदशा में घटादि पदार्थों का बाध नहीं होता इस विषय में 'यत्र हि०' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। जिस संसार दशा में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयादि द्वैत का प्रत्यय होता है, उस द्वैतावस्था में चेतन आत्मा, स्वरूप से च्युत होकर उपाधि लक्षण प्रमाता बन जाता है, और अपने से भिन्न विषयों को देखता है, इस प्रकार इस श्रुति का तात्पर्यार्थ है।

यदि घटादि पदार्थों को त्रैकालिक अबाधितत्व नहीं है, केवल संसारदशा में ही अबाधितत्व है तो प्रमा का पूर्वोक्त लक्षण घटादि प्रमा में अव्याप्त ही रहा, इस शंका का समाधान 'तथाच' इस ग्रंथ से किया है—'संसार दशा में घटादि विषयों का बाध न होने से उनकी प्रमा को लक्ष्य समझा जाता है। अतः पूर्वोक्त लक्षण में प्रतीत होने वाले अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये

लक्षणगत 'अबाधित' पदसे 'संसार दशा में अबाधितत्व' यह अर्थ विवक्षित है। उससे घटादि प्रमा में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। यही समाधान-ग्रन्थ का तात्पर्य है।

'व्यवहारदशा में घटादिज्ञान प्रमा है' अपने (ग्रंथकार ने) इस कथन को पुष्ट करने के लिये प्राचीन साम्प्रदायिक विद्वानों की सम्मति को 'तदुक्तम्' इस ग्रन्थ से प्रदर्शित किया है। "आत्मनिश्चय होने तक 'देह ही आत्मा' यह अनुभव सर्वप्राणिसाधारण है और वह प्रमाण माना जाता है उसी तरह आत्मनिश्चय होने तक सभी लौकिक ज्ञान प्रमाण है" इस प्रकार उस लौकिक वचन का तात्पर्य है।

संसारदशा में भी 'यह मैं' एसा आत्मनिश्चय रहता है, तब 'आत्मनिश्चय होने तक' इस कथन का क्या आशय है? ऐसी शंका यदि किसी को हो तो उसके समाधानार्थ ग्रन्थकार ने 'आ आत्मनिश्चयात्' इन पदों का ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक यह अर्थ बताया है। ब्रह्मसाक्षात्कार का अर्थ है आ ब्रह्म-स्तंबपर्यन्त सब प्राणियों में एकात्मा का अनुभव होना, अर्थात् संसार दशा में 'यह मैं' इस प्रकार का आत्मनिश्चय होना भ्रान्त प्रत्यय है। 'यत्र त्वस्य०' इस पूर्वोक्त श्रुति वचन से यही सिद्धान्त सूचित किया है। 'लौकिकम्' शब्द से 'केवल प्रत्यक्ष प्रमाणजन्य ज्ञान' यह अर्थ न समझा जाय, इसलिए ग्रंथकार ने उसका अर्थ 'घटादिज्ञान' बताया है। ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक' ऐसा कहने से श्लोकस्थ 'लौकिक घटादिज्ञात' इन पदों से 'ब्रह्मा-तिरिक्त सब वस्तुओं का ज्ञान' समझना चाहिये। तब 'ज्योतिष्टोमादिकों में स्वर्गादि इष्ट फलों की साधनता है' इत्यादि ज्ञान के अलौकिक होने पर भी कोई दोष नहीं। क्योंकि 'ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक ब्रह्म भिन्न सब वस्तुओं का ज्ञान प्रमाण है' यह अर्थ स्पष्ट होता है।

यहां तक प्रमाका स्मृतिव्यावृत्त और स्मृति साधारण ऐसा लक्षण बताया। अब उस लक्षण से लक्षित (अवगत) होने वाला जो प्रमा-करण, प्रमाण है वह कितने प्रकार का है, ऐसी आकांक्षा होनेपर प्रमाण के प्रकारों को

बताते हैं—**तानि च प्रमाणानि षट्, प्रत्यक्षानुमानोपमाना-गमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात्।**

अर्थ—ये प्रमाण (यथार्थ ज्ञान प्रमा के साधन अर्थात् करण) छह हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, और अनुपलब्धि।

विवरण—चार्वाक के मतमें केवल 'प्रत्यक्ष' ही एक प्रमाण है। काणाद, वैशेषिक और बौद्ध, के मत में 'प्रत्यक्ष और अनुमान' दो प्रमाण हैं। सांख्य के मत में 'प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द' तीन प्रमाण हैं। नैयायिक के मत में

प्रत्यक्षादि तीन और उपमान' चार प्रमाण हैं। प्राभाकर मीमांसक के मत में पूर्वोक्त चार और अर्थापत्ति' पांच प्रमाण हैं। पौराणिक के मत में पूर्वोक्त पांच और संभव तथा ऐतिह्य' सात प्रमाण हैं। इन सबका निराकरण करने के लिये तथा वे छह प्रमाण कौन से ? ऐसी आकांक्षा होने पर उनका 'प्रत्यक्ष, अनुमान', इत्यादि ग्रंथ से ? उद्देश = (नाम निर्देश) किया है। पौराणिकों के अभिमत सम्भवादि अधिक प्रमाणों का इन छह प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः उन्हें पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।

इन छह प्रमाणों में से 'प्रत्यक्ष' प्रमाण, अन्य सब प्रमाणों का उपजीव्य अर्थात् कारण है, और वह अन्य किसी भी प्रमाण से पूर्व प्रवृत्त होने के कारण ज्येष्ठ भी है। इसलिये ग्रंथकार प्रथमतः 'तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणम्', इत्यादि ग्रन्थ से उसीका निरूपण प्रारंभ करते हैं—

तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ-३-४-१) इति श्रुतेः। अपरोक्षादित्यस्यापरोक्षमित्यर्थः।

अर्थ—उन छह प्रमाणों में से प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। वेदान्त सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमा, चैतन्य ही है। क्योंकि 'यत्साक्षाद-परोक्षाद्ब्रह्म' जो 'साक्षात् अपरोक्षं ब्रह्म', बृ० ३।४।१ यह श्रुति है। मूल श्रुति-वाक्य में 'अपरोक्षात्' ऐसा पंचम्यन्त पाठ होने पर भी उसे 'अपरोक्षम्' ऐसा नपुंसक लिंग प्रथमान्त समझना चाहिये। कारण यह है कि 'साक्षात्' यह शब्द अव्यय होने से सदैव एकसा ही रहेगा, परन्तु 'अपरोक्ष' शब्द ब्रह्म का विशेषण होने से 'अपरोक्षम्' यही उसका रूप समझना चाहिये।

विवरण—'प्रमा करणं प्रमाणम्' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण पहले बताया जा चुका है। अब उन छह प्रमाणों में से प्रत्येक का विशेष लक्षण बताना है। पूर्वोक्त छह प्रमाणों में से 'प्रत्यक्ष प्रमा का जो करण, वह प्रत्यक्ष प्रमाण', यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है। इसमें 'प्रत्यक्ष प्रमाणं' यह लक्ष्य है और 'प्रत्यक्षप्रमायाःकरणम्' यह लक्षण है। अब इस लक्षण में 'प्रत्यक्ष प्रमा का' इतना लंबा कहने के बजाय केवल 'प्रमा का' इतना ही क्यों नहीं कहा ? इस शंका का उत्तर यह है कि 'प्रमा' का अर्थ है यथार्थ ज्ञान, और वह छह प्रकार का है, तब 'प्रमा का करण' इतना ही लक्षण करने पर उसकी अनुमान उपमान इत्यादि अन्य प्रमा करणों में भी अतिव्याप्ति होगी, वह न हो इसलिये 'प्रत्यक्ष प्रमा का' इतना कहना पड़ा।

प्रमा, प्रमाण इत्यादि शब्द और उनके अर्थ के विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रमा और प्रमाण इन दोनों अर्थों में 'प्रत्यक्ष' शब्द का एक

सा ही उपयोग किया जाता है। 'घट' से चक्षुरिन्द्रिय का संनिकर्ष होने पर 'यह घट' इस आकार (स्वरूप) का प्रमात्मकज्ञान होता है। इस ज्ञान (प्रमा) को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। और इस ज्ञान (प्रमा) का करण 'चक्षुरिन्द्रिय' है, उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष शब्द का उपयोग प्रत्यक्ष प्रमा और उसका करण इन दोनों अर्थों में एकसा किया जाता है।

न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष ज्ञान छह प्रकार का बताया गया है। चक्षुः श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला चाक्षुष श्रौत्रादि पांच प्रकार का तथा मनरूप इन्द्रिय से होने वाला मानस प्रत्यक्ष, यह छठा। परन्तु वेदान्तमत में ग्रन्थकार ने 'मन को इन्द्रियत्व नहीं है' ऐसा कहा है इसलिये श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियां पांच ही हैं और उनसे होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी पाँच ही प्रकार का है।

जिस आदमी को, अपने घर के रसोई घर आदि में 'जहां, धुआं होता है वहां अग्नि भी होती है' इस प्रकार व्याप्ति ग्रहण (नित्य संबन्ध का) ज्ञान हुआ हो, वही आदमी कहीं दूर जाकर पर्वतादि स्थल पर मूल से लेकर ऊपर तक जाती हुई आविच्छिन्न धुएँ की रेखा को यदि देखे तो उसे 'जहां-जहाँ धुआं होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है' इस व्याप्ति (संबंध) की याद आ जाती है। तदनंतर उसे 'यह (पदार्थ) वह्निमान् है (इसमें अग्नि है) ऐसा जो ज्ञान (प्रमा) होता है, उसे अनुमिति कहते हैं और उसमें करण (साधन) व्याप्तिज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं।

जिस पुरुष ने अपने गांव में गाय अथवा बैल देखा हो वह कभी बन (जंगल) चला जाय और वहां पर गवय नामक पशु को अपनी आंखों से देखे तो वह मन में कहने लगता है कि मैंने गांव में देखी हुई गाय के आकार जैसा ही इस (गवय) का आकार है, और 'गोसदृशो गवयः' गाय जैसा ही गवय होता है, यह लोगों को कहते हुए भी सुना है, तथा इस पशु का देह गाय या बैल के देह जैसा ही है, इसलिए यही 'गवय' है, इस प्रकार उसे निश्चय (प्रमा) होता है। इसी को उपमिति (प्रमा) कहते हैं। इस प्रमा का करण सादृश्यज्ञान है, उसे उपमान कहते हैं।

'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन संन्ध्या की उपासना करनी चाहिये। इस वैदिक वाक्य को और 'गाय के बछड़े को बांधो' इस लौकिक वाक्य को श्रोत्रेन्द्रिय से सुनकर जो शब्दार्थज्ञान उत्पन्न होता है उसे शाब्दी प्रमा कहते हैं। और वैदिक अथवा लौकिक तात्पर्ययुक्त वाक्य ज्ञान उसका कारण है। वाक्य का उच्चारण करने वाले पुरुष ने जिस विवक्षित अर्थ से वाक्य का उच्चारण किया हो, उस अर्थ में उस वाक्य का तात्पर्य रहता है। ऐसे तात्पर्य युक्त वाक्य का ज्ञान ही शाब्दी प्रमा का कारण है। वाक्य ज्ञान को ही शब्द प्रमाण कहते हैं।

'प्रत्यक्ष' शब्द की तरह 'अर्थापत्ति 'शब्द का भी प्रभा और प्रमाण इन दोनों अर्थों में समान (साधारण) प्रयोग किया जाता है जैसे—(पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते) 'यह मोटा ताजा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता' यह वाक्य सुनने पर देखी हुई अथवा सुनी हुई देवदत्त की मुटाई रात्रि भोजन के अभाव में असंभव है इस कारण उसकी मुटाई के ज्ञान होने के अनन्तर पैदा होने वाली 'रात्रौ भुङ्क्ते' यह रात में अवश्य भोजन करता है, जो प्रमा (ज्ञान) है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। और उस प्रमा को उत्पन्न करने वाले पुष्टत्वज्ञान रूप करण को भी अर्थापत्ति कहते हैं।

घट से रहित (खाली) स्थान पर घटाभाव रूप जो विलक्षण प्रमा (ज्ञान) होती है उसे अभाव प्रमा (अभाव का अनुभव) कहते हैं। घट की अनुपलब्धि (घट का अनुभव न होना) यही उस अनुपलब्धि रूप प्रमा का करण है। इस विवेचन से यह स्पष्टतया समझ में आ सकता है कि 'प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) प्रत्यक्ष-प्रमा का करण है और व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, शब्दज्ञान, पुष्टत्वादिज्ञान तथा अभावज्ञान यह सब यथा क्रम अनुमिति, उपमिति शाब्दअर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इन प्रमाओं के करण हैं।

शंका—प्रत्यक्षेतर पांच प्रमाओं में प्रत्यक्ष करण की अतिव्याप्ति न होने पाय यही उद्देश्य यदि 'प्रमायाः करणम्' न कह कर 'प्रत्यक्ष प्रमायाः' के कहने में हो तो 'प्रत्यक्ष ज्ञान करणं प्रत्यक्ष प्रमाणम्' इतना ही लक्षण किया जाय। लक्षण में 'प्रमा' शब्द के निवेश करने की आवश्यकता नहीं।

समाधान—सीप में रजत (चांदी) का ज्ञान होना भले ही भ्रम हो परन्तु वह प्रत्यक्ष ज्ञान है और उसका साधन 'साक्षी' है। उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की अतिव्याप्ति न होने पावे इसलिये लक्षण में 'प्रमा' शब्द के निवेश करने की आवश्यकता है। 'शुक्तिरजत ज्ञान' यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान है तथापि उसका विषय (शुक्तिरजत) बाधित होने वाला है इसलिये वह 'प्रभा' नहीं है। यही कारण है कि प्रमा के लक्षण में 'अबाधित विषय ज्ञानत्व' इन पदों की योजना की है।

शंका—'प्रत्यक्ष प्रमा' शब्द का अर्थ क्या है? 'इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्ष प्रमात्वम्' इन्द्रिय से पैदा होने वाला ज्ञान—प्रत्यक्ष प्रमा है, ऐसा यदि कहें तो यह -- भूलना नहीं होगा कि वेदान्त के सिद्धान्त में 'मन' की इन्द्रियों में गिनती नहीं है। तथापि सुख दुःखादिकों का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव होता है तब 'इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं' इस प्रत्यक्षलक्षण की सुखादिप्रत्यक्ष प्रमा में अव्याप्ति होती है क्योंकि आपके मत से सुखादिज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी इन्द्रियजन्य नहीं है। यदि हम दूसरे प्रकार से ऐसा कहें—अनुमिति, शब्द,

अर्थापत्ति, अनुपलब्धि ये पांचों प्रमाएं क्रम से व्याप्तिज्ञान, सादृश्य ज्ञान, तात्पर्यवत्पदज्ञान, अनुपलब्धिज्ञान इन पांच ज्ञानों से पैदा होती हैं। इसलिए परिशेषन्याय से 'ज्ञानाजन्यं ज्ञानं' ज्ञान से उत्पन्न न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण करें तो दूसरों के मत से 'सभी प्रत्यक्ष ज्ञान ईश्वर ज्ञान जन्य होने से इस दूसरे लक्षण पर भी अव्याप्ति दोष आता है।

इस अव्याप्तिदोष का निवारण करने के लिये 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं'—ज्ञान जिसका करण नहीं हो ऐसा ज्ञान—प्रत्यक्ष प्रमा है' ऐसा लक्षण करें तो अनुभव, संस्कार को उत्पन्न करके क्षीण हो जाता है, 'तब अनुभवज्ञान स्मृतिज्ञान का करण नहीं हैं। अनुभव और स्मृति की प्रक्रिया इस प्रकार है—

पूर्वानुभूत पदार्थ के संस्कार, मन में स्थिर रहते हैं। अदृष्टवशात् संनिकर्षादि निमित्तों के कारण संस्कारों के उद्बुद्ध होनेपर पूर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति होती है। कुछ लोग अबाधित पूर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति को भी प्रमा नहीं कहते हैं। उनके मत में 'ज्ञानाकरणकज्ञान' ज्ञान जिसका करण नहीं है ऐसा ज्ञान ही प्रत्यक्षप्रमा है, इस लक्षण के अनुसार स्मृति भी संस्कारजन्य होने से प्रमा कोटि में आवेगी। कारण यह है कि अनुभवरूप-ज्ञान का संस्कार में ही क्षय हो जाने से वह अनुभवज्ञान, स्मृति का कारण नहीं बन सकता इसलिये 'ज्ञानाकरणक ज्ञान' इस प्रत्यक्ष प्रमा लक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि स्मृति के प्रमा न होने पर भी उसमें प्रत्यक्ष प्रमा का लधण घटित हो रहा है।

इस दोष का भी निवारण करने के लिये—'स्मृति का करण अनुभव-ज्ञान ही है, संस्कार तो उसका अवान्तर व्यापार है। इस व्यापार से युक्त अनुभव में स्मृतिकी कारणता सिद्ध होने से 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्'—व्यापार से युक्त जो असाधारण कारण वह करण है' यह करण का लक्षअ अनुभव में है, अतः अनुभवज्ञान स्मृति का करण होने से 'ज्ञानाकरणकं' यह लक्षण स्मृति में अतिव्याप्त नहीं है, क्योंकि स्मृति ज्ञान करणक है। यदि ऐसा कहें तो स्मृतिज्ञान जिसमें करण है ऐसे प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में ज्ञाना करणकं ज्ञानम्' इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। सोऽयं देवदत्तः प्रत्यभिज्ञा· प्रत्यक्ष का उदाहरण है।

कारण यह है कि हमारे पक्ष में 'प्रत्यभिज्ञा' प्रत्यक्ष प्रमा है। और उसका करण स्मृतिज्ञान है। आप प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण कर रहे हैं 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्', जो प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में घटित नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा तो ज्ञानकरणक ही है। ज्ञानाकरणक नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष प्रमा का उपपादन किसी भी लक्षण से नहीं बन सकता। अतः ग्रन्थकार 'प्रत्यक्ष प्रमा' शब्द से वेदान्त शास्त्र में क्या विवक्षित है उसे 'प्रत्यक्षप्रमाचात्र चैतन्यमेव।' इस वाक्य से बतला रहे हैं। सिद्धान्त में चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है। वेदान्त शास्त्र में—ज्ञान, चैतन्य, ब्रह्म, आत्मा, चिति, संविद्, भान इत्यादि शब्द समानार्थक हैं (पर्याय हैं)। प्रमा का अर्थ है ज्ञान का एक प्रकार। अतः प्रत्यक्षप्रमा को चैतन्य शब्द से कहना उचित ही है।

इस विषय में 'यत्साक्षात्' श्रुति प्रमाण है। इस श्रुति में 'ब्रह्म' इस विशेष्य के साक्षात् और अपरोक्ष ये दो विशेषण दिए गये हैं। इन्द्रियादि प्रमाणों से अथवा साधनों से ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं होता, यहबताने के लिये श्रुति में 'साक्षात्' पद दिया गया है। अपरोक्ष प्रमाण से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ऐसा भ्रम किसी को न हो जाय इसलिये 'अपरोक्ष' पद दिया गया है।

वेदान्त सिद्धान्त में 'चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है' इस दिये गये उत्तर पर पुनः शंका—

ननु चैतन्यमनादि तत्कथं चक्षुरादेस्तत्करणत्वेन प्रमाणत्वमिति।

अर्थ—चैतन्य अनादि (नित्य–उत्पन्न न होने वाला) अर्थात् अकार्य है। तब चक्षुरादिकों में उसकी कारणता होने से प्रमाणत्व कैसे प्राप्त हो सकता है?

विवरण—अनादि का अर्थ है कारण रहित; अतएव उत्पन्न न होने वाला, अकार्य। जो नित्य वस्तु है उसके करण की तो संभावनाही नहीं हो सकती। क्योंकि 'करण' का अर्थ है विशिष्ट कारण। कार्य को उसकी अपेक्षा रहती है। अकार्य (नित्यपदार्थ) को उसकी अपेक्षा नहीं होती ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य में चक्षुःश्रोत्रादिरूप इन्द्रियां प्रमाण (करण) कैसे हो सकती हैं?

इस प्रश्न का उत्तर—

उच्यते। चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते, इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे—'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' इति॥

अर्थ—अनादि चैतन्य में करण बन कर चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रमाणता बताई जाती है—चैतन्य अनादि (नित्य) होने पर भी उसे अभिव्यक्त

करने वाली अन्तःकरण वृत्ति, इन्द्रिय संनिकर्षादि निमित्त से ही पैदा होती है। इसी से वृत्तिविशिष्ट चैतन्य (चिदाभास) आदिमत् (उत्पत्तिमान् = उत्पन्न होनेवाला) है, ऐसा कहा जाता है। (वृत्ति को ज्ञान शब्द से क्यों कहा जाता है ? उत्तर—) अन्तःकरण वृत्ति को ज्ञानावच्छेदकत्व है। वृत्ति, ज्ञान को मर्यादित (भिन्न) करती है। इसलिये उसमें ज्ञानत्व का उपचार होता है। उस वृत्ति को ही गौणीवृत्ति से 'ज्ञान' कहते हैं। विवरणकार ने भी इस संबन्ध में 'अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार होने से' ऐसा कहा है। इसलिये अन्तःकरण वृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं। उसमें ज्ञानत्व का उपचार अर्थात् गौण प्रयोग किया जाता है—अतः यह कथन अनुचित नहीं है।

विवरण—साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य, अनादि (नित्य) है, इसमें किञ्चित् मात्र भी सन्देह नहीं। तथापि अन्तःकरण वृत्ति उस नित्य चैतन्य को अभिव्यक्त करती है। अन्तःकरणवृत्ति में नित्य चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उसी को 'चिदाभास' कहते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति, इन्द्रिय सन्निकर्षादि के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है। अर्थात् वह स्वभावतः (स्वाभाविक ही) जन्य है। इस कारण इस जन्य वृत्ति से विशिष्ट (युक्त) हुए चैतन्य को भी आदिमत्व है। अर्थात् वह भी वृत्ति के साथ उत्पन्न होता है—कह सकते हैं। इसलिए चक्षुरादि इन्द्रियों में उस जन्य चैतन्य के प्रति करणत्व प्रतीत होता है। जिससे उन्हें प्रमाण कहा जा सकता है—इस आशय से ग्रन्थकार ने 'उच्यते' कह कर समाधान का आरम्भ किया है। चक्षुरादि इन्द्रियों का अविशिष्ट चैतन्य के प्रति करण न बनना हमें इष्ट ही है। क्योंकि अविशिष्ट (शुद्ध) चैतन्य में स्वयं प्रकाशत्व होता है। इस कारण चैतन्यात्मा में प्रमाण व्यापार की अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् स्वयंप्रकाश चैतन्यात्मा की सिद्धि में प्रमाण व्यापार की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु अप्रकाश पदार्थ को साभास अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रमाण की अपेक्षा रहती है।

शंका—वृत्ति को ही प्रत्यक्ष प्रमा क्यों न कहा जाय ? क्योंकि व्यवहार में वृत्ति को ही ज्ञान शब्द से कहा जाता है। और वृत्ति, स्वरूपतः इन्द्रियों से उत्पन्न होती है। तब वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमा न कहकर, चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है—ऐसा क्यों कहते हो ?

समाधान—'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुति से चैतन्य में ही मुख्य-ज्ञानत्व सिद्ध होता है। वृत्ति, जड अन्तःकरण का धर्म होने से जड है—इसलिए उसे प्रत्यक्ष प्रमात्व नहीं है। परन्तु उसमें चैतन्यरूप ज्ञान का अवच्छेदकत्व होने से ज्ञानत्व का उपचार किया जाता है। इसी आशय से ग्रन्थकार ने 'ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च' पङ्क्ति लिखी है।

आप चैतन्य में ही प्रत्यक्ष प्रमात्व कहते हैं। परन्तु चैतन्य में अनादित्व (नित्यत्व) होने से वह अजन्य है और अजन्य (पैदा न होने वाली) वस्तु को करण की अपेक्षा नहीं होती। जन्य (उत्पन्न होने वाली) वस्तु को ही करण की अपेक्षा हुआ करती है। क्योंकि करण का अर्थ है कारण-विशेष अर्थात् एक प्रकार का विशिष्ट कारण। 'कारण', भी कारक ही है। क्रिया को उत्पन्न करने वाले पदार्थ को कारक कहते हैं। इसलिए कारक कहलाने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा चैतन्य में यदि कोई विशेषता उत्पन्न न की गयी तो उसे कारण कहना व्यर्थ है।' यह उपर्युक्त शंका का आशय है। इस पर समाधान ग्रन्थ का आशय यह है—

प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अविशिष्ट चैतन्य में कोई विशेष (अतिशय) उत्पन्न न किए जाने पर भी (अतिशय का आधान न करने पर भी) अन्तः-करण वृत्ति विशिष्ट चैतन्य में अतिशयाधान किया जा सकता है।'

अद्वैत संप्रदाय के प्राचीन विद्वानों ने ऐसा कहीं नहीं कहा है अतः यह अपसिद्धान्त है—ऐसा कदाचित् वादी न कहे, एतदर्थ 'तदुक्तम्' इत्यादि ग्रन्थ से प्रकाशात्मसंज्ञक' आचार्य ने अपने विवरण ग्रंथ में 'अन्तःकरण वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार किया जाता है' ऐसा कहा है। अतः यह अपसिद्धान्त नहीं है। इस पर शंका—

ननु निरवयवस्यान्तःकरणस्य परिणामात्मिका वृत्तिः कथम् ?

अर्थ—निरवयव (अवयवशून्य) अन्तःकरण की परिणामात्मक वृत्ति की संभावना कैसे हो सकती है ?

विवरण—(प्रतिज्ञा) अन्तःकरण (मन) द्रव्य, परिणामी (परिणाम को प्राप्त होने वाला) नहीं है। (हेतु) क्योंकि वह निरवयव है। (दृष्टान्त) आकाशके समान, ऐसा अनुमान करने से अन्तःकरण की परिणामरूप वृत्ति नहीं हो सकती। दूध से दही की तरह किंवा मिट्टी से घट की तरह यह वृत्ति, परिणाम न होकर सूर्य प्रकाश के समान विकासरूप है। यह कहने पर भी निरवयव वस्तु का आकाश के समान ही विकास रूप परिणाम भी नहीं हो सकता। इसलिए अन्तःकरण वृत्ति विशिष्ट चैतन्य को ज्ञान रूप नहीं माना जा सकता। इस कारण ज्ञान, आत्मा से भिन्न ही है और वह इन्द्रियजन्य होने से प्रत्यक्ष है। इस आशय से नैयायिकों ने यह शंका की है। नैयायिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं। किन्तु वेदान्ती वृत्तिविशिष्ट चैतन्य को जन्य ज्ञान कहते हैं। यह जन्य ज्ञान, आत्मा का गुण नहीं है। क्योंकि आत्मा, निर्गुण है। ज्ञप्तिरूप अविशिष्ट ज्ञान, आत्मा का स्वरूप है।

नैयायिकों के मत में अन्तःकरण (मन) निरवयव, अणुपरिमाण, नित्य है। वेदान्त सिद्धान्त में वह सावयव, विरल, सादि द्रव्य है। इसलिए ग्रंथकार स्वसिद्धान्त के अनुसार नैयायिकों की उपर्युक्त शंका का समाधान करते हैं।

इत्थम् न तावदन्तःकरणं निरवयवं सादिद्रव्यत्वेन सावयवत्वात्। सादित्वं च 'तन्मनोऽसृजत' इत्तादिश्रुतेः। वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मत्वे च 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ०-१-५-३) इति श्रुतिर्मानम्। धी शब्देन वृत्तिरूपज्ञानाभिधानात्। अत एव कामादेरपि मनोधर्मत्वम्॥

अर्थ—(सावयव पदार्थ का परिणाम होता है। निरवयव का नहीं। अतः अन्तःकरण तो निरवयव पदार्थ होने से उसकी परिणामात्मक वृत्ति कैसे संभव हो सकती है? इस प्रश्न पर हम बताते हैं कि वह ऐसे संभव हो सकती है) पहले तो अन्तःकरण निरवयव पदार्थ नहीं है। (वह तो सावयव है) क्योंकि उसे सादिद्रव्यत्व होने से सावयवत्व है। (सादि = उत्पन्न होने वाला। जो उत्पन्न होने वाला द्रव्य होता है वह सावयव होता है) उसका सादित्व 'तन्मनः असृजत' उस ब्रह्म ने मन (अन्तःकरण) को उत्पन्न किया। इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। और अन्तःकरण वृत्तिरूप ज्ञान मनोधर्म (अन्तःकरण का धर्म है) है। इस विषय में 'काम, संकल्प, विचिकित्सा, (संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (शिथिल हुए शरीरादि को उत्तेजित करने वाली वृत्ति), अधृति, लज्जा, धी (प्रज्ञा), भय इत्यादि सब मन के (अन्तःकरण के) ही रूप हैं।' यह श्रुति प्रमाण है। (बृ० उ० १-५-३) इस श्रुति वचन के 'धी' शब्द से वृत्तिरूप ज्ञान कहा गया है। कामादि समस्त मनही है, यह कहने से कामादि भी मनोधर्म ही हैं।

विवरण—(प्रतिज्ञा) अन्तःकरण निरवयव नहीं है। (हेतु) क्योंकि वह सादिद्रव्य है। (दृष्टान्त) घट के समान। इस अनुमान से आपके पूर्वोक्त अनुमान में 'निरवयवत्वात्' = क्योंकि वह निरवयव है, हेतु 'असिद्ध' ठहरता है। अन्तःकरण के सादित्व से उसके सावयवत्व की सिद्धि होती है और सावयत्व से उसके परिणामित्व की सिद्धि होती है। इस विषय में "(प्रतिज्ञा)—अन्तःकरण परिणामी है। (हेतु)—कारण वह अन्त्यावयवी (अन्तिम कार्य) न होकर सावयव है। (दृष्टान्त)—मृत्तिका के समान।" ऐसा अनुमान करना चाहिये। इस प्रकार अन्तःकरण सादिद्रव्य होने से सावयव है। और वह घट की तरह अन्त्यावयविद्रव्य

नहीं है। इसलिये उसकी परिणामात्मक वृत्ति हो सकती है। इस कारण—अन्तःकरण वृत्तिविशिष्ट आत्मचैतन्य ही ज्ञान है। उससे भिन्न दूसरा कोई भी ज्ञान नहीं। इस आशय से ग्रंथकारने 'इत्थम्' इत्यादि ग्रन्थ से उपर्युक्त शंका का समाधान किया है।

यहां अन्तःकरण का सावयत्व, अनुमान से सिद्ध करना है, इसलिये वह साध्य है। उसकी सिद्धि में 'सादिद्रव्यत्वके कारण' (यह) हेतु दिया है। इसमें 'सादि' विशेषण और 'द्रव्यत्व' विशेष्य है। इनका प्रयोजन (उपयोग) बताना ही 'पदकृत्य' कहा जाता है। 'द्रव्यत्व के कारण' इतना ही यदि कहा होता तो तार्किकों ने अपने दर्शन के अनुसार हेतु में व्यभिचार दिखाया होता क्योंकि 'आत्मा, आकाश, काल इत्यादि द्रव्य तो हैं किन्तु वे सावयव नहीं हैं।' यह व्यभिचार वे न दिखा पावें एतदर्थ हेतु में 'सादि' विशेषण देने से उनका निवारण हो जाता है।

शंका—आकाशादि नित्य द्रव्यों में सादित्व न होने से अन्तःकरण का सावयत्व सिद्ध करने के लिये 'सादित्वात्' हेतु ही पर्याप्त है। पुनः 'द्रव्यत्वात्' विशेष्यांश क्यों दिया गया ?

समाधान—सादि निरवयव गुणों का निवारण करने के लिये विशेष्यांश जोड़ा गया है। रूपादि गुण सादि हैं पर सावयव नहीं हैं।

शंका—परन्तु अन्तःकरण सादि (उत्पन्न होने वाला) द्रव्य है—इस विषय में कोई प्रमाण न होने से 'सादि द्रव्यत्वात्' हेतु में 'सादि' विशेषण 'असिद्ध' है—यह हेतु विशेषणासिद्ध है।

समाधान—अन्तःकरण के सादित्व में (जन्यत्व में) 'ब्रह्म ने मन (अन्तःकरण) को उत्पन्न किया'—श्रुति प्रमाण है। इस प्रकार अन्तःकरण के सादित्व में श्रुतिप्रमाण बताकर उसके (अन्तःकरण के) परिणामित्व में, पूर्वोक्त अनुमान ही केवल प्रमाण न होकर भगवती श्रुति भी प्रमाण है। इस आशय से 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिका निर्देश किया है।

शंका—इस श्रुतिवचन में 'ज्ञान' शब्द तो कहा नहीं है तब उसके अन्तःकरणधर्मत्व में श्रुति कैसे प्रमाण हो सकती है ?

समाधान—इस श्रुति में 'धी' शब्द से वृत्ति रूप ज्ञान ही विवक्षित है। धी शब्द का अर्थ वृत्तिरूप ज्ञान होने से उसमें मनोधर्मत्व है।

शंका—(प्रतिज्ञा)—श्रुतिगत धी शब्द वाच्य ज्ञान, मन का धर्म नहीं है, (अन्तःकरण उसका उपादान कारण नहीं है)। (हेतु) —क्योंकि उसमें मानसप्रत्यक्षत्व है (वह मन, इस अन्तरिन्द्रिय को प्रत्यक्ष ज्ञात होता है)। (दृष्टान्त)—कामादि अन्य पदार्थों के समान। परन्तु 'उसे अन्तः-

करणोपादानक न मानने पर 'सर्वं मन एव' श्रुति से विरोध होगा--यह भी नहीं कह सकते क्योंकि उस धी शब्दवाच्य ज्ञान को मनोजन्यत्व है (वह मनसे उत्पन्न होता है) इस अर्थ में उस श्रुति की व्यवस्था लगाई जा सकती है।

समाधान—'सर्वं मन एव'—कामादि समस्त, मन ही (अन्तःकरण ही) है, इस श्रुति में 'कामादि समस्त' और 'मन' का सामानाधिकरण्य है। इस कारण 'मृद्घटः' मृत्तिका ही घट है इस वाक्य के मृत्तिका और घट-इन दो शब्दों के सामानाधिकरण्य से (एक विभक्ति में होने के कारण) मृत्तिका, उपादान है और घट, कार्य अर्थात् उपादेय है जैसे सिद्ध होता है, उसी-तरह 'सर्वं मन एव' इस वाक्य में भी धी शब्दवाच्य ज्ञान को भी अन्तः-करणोपादानकत्व है, यह निश्चित किया जाता है। 'अन्तःकरण उस ज्ञान का उपादान नहीं है, वह मनोजन्य है' यह स्वीकार करने में 'सर्वम्' और 'मनः' शब्दों का सामानाधिकरण्य बाधक है। इसके अतिरिक्त आपने उपर्युक्त अनुमान में 'कामादि अन्य पदार्थों के समान' दृष्टान्त दिया है। परन्तु यह दृष्टान्त साध्यविकल है। 'ज्ञान का अन्तःकरणोपादानकत्व न रहना' साध्य है। उसमें कामादि को तो अन्तःकरणोपादानकत्व ही है। तदनुपादान-कत्व नहीं है। इसलिये 'कामादिक' साध्य से विकल (शून्य) हैं। इस आशय से ग्रंथकार कहते हैं 'अत एव' उस कारण ही अर्थात् 'सर्वं मन एव' ऐसी सामानाधिकरण्यश्रुति होने से ही श्रुत्युक्त कामादि समस्त वृत्तियों को मनोधर्मत्व है। वे सब वृत्तियां अन्तःकरणोपादानक हैं। अब श्रुत्युक्त कामादिकों को भी अन्तःकरणोपादानकत्व (मनोधर्मत्व) है—इस सिद्धान्त पर शंका—

ननु कामादेरन्तःकरणधर्मत्वेऽहमिच्छाम्यहंजानाम्यहं बिभेमीत्याद्यनुभव आत्मधर्मत्वमवगाहमानः कथमुपपद्यते।

अर्थ—'काम, संकल्प, संशय आदि अन्तः करण के धर्म हैं—कहने पर 'मैं इच्छा करता हूँ मैं जानता हूँ, मैं डरता हूँ' इत्यादि आत्मधर्मत्व को विषय करने वाला (इच्छा, ज्ञान, भय, ये सब अहं शब्द वाच्य आत्मा के धर्म हैं ऐसी प्रतीति का विषय होने वाला) अनुभव कैसे उत्पन्न होता है ?

विवरण—'मैं इच्छा करता हूँ, मैं जानता हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होते रहने से काम, संकल्प, ज्ञान इत्यादि सब आत्मा के धर्म हैं, अन्तःकरण के नहीं। यह सिद्ध होता है, क्योंकि 'अहम्'—मैं अर्थात् आत्मा,। अहंकार को बिना विषय किये आत्मा का अनुभव कभी नहीं होता। सोने के बाद जागने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया' यह स्मरण होने से सुषुप्ति में भी अहंकार का

भान होता है ऐसा मानना पड़ता है। परन्तु कामादि को अन्तःकरण का धर्म मानने पर 'मैं इच्छा करता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध आता है। प्रत्यक्ष अनुभव, श्रुति से भी प्रबल है। क्योंकि वह ज्येष्ठ (सब प्रमाणों से पहिले उपस्थित होनेवाला, सब ज्ञान और ज्ञानकरणोंका कारण) है। इसलिए 'मैं इच्छा करता हूँ, मैं जानता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध न हो एतदर्थ कामादिकों को आत्मधर्म ही मानना चाहिए उन्हें अन्तःकरण, धर्म मानना उचित नहीं। अतः अन्तःकरण, कामादिकों में निमित्त है, उपादान नहीं। यह—इस शंका का आशय है।

उच्यते। अयःपिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासात् यथा अयो दहतीति व्यवहारस्तथा सुखाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासात् अहं सुखी दुःखीत्यादिव्यवहारः॥

अर्थ—(उपर्युक्त शंका का समाधान किया जाता है) कामादिकों को किस प्रकार मनोधर्मत्व है सो, बताते हैं—लोहे के गोले में दग्धृत्व (दाह करने का सामर्थ्य) न होने पर भी दग्धृत्व धर्म से युक्त हुये (दग्धृत्व धर्म का आश्रय) अग्नि के तादात्म्य का अध्यास होने से 'यह लोहा (लोहे का गोला) जला रहा है' ऐसा व्यवहार जिस तरह होता है, उसी तरह सुखादि आकारों में परिणत हुए अन्तःकरण से आत्मा के ऐक्य का अभ्यास होने पर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि व्यवहार होता है।

विवरण—यदि कामादि अन्तःकरण के ही धर्म हैं तो 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि शब्द व्यवहार कैसे होता है? सुखादि विषयों के आकार में परिणत (विकसित) हुए अन्तःकरण के साथ आत्मा का ऐक्याध्यास (तादात्म्य) हो जाने से वैसा व्यवहार होता है। अर्थात् सब प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रथमता होने से ही वह श्रुति से प्रबल नहीं ठहरता। क्योंकि 'यह रजत है' ऐसा भ्रम ज्ञान यद्यपि प्रथमतः होता है तथापि 'यह रजत नहीं, शुक्ति का है' आगे होने वाले इस सम्यक् ज्ञान से वह बाधित होता है। उसी तरह प्रत्यक्ष, अन्य प्रमाणों का उपजीव्य (कारण) होने से प्रबल है, यह सच होने पर भी वह प्रत्यक्ष, जिस व्यावहारिक प्रामाण्य से श्रुतिका उपजीव्य होता है उसके उस व्यावहारिक प्रामाण्य का बाध श्रुति नहीं करती। श्रुति तो केवल उसके तात्विक प्रामाण्य का ही बाध करती है।

कामादि वृत्तियों का अन्तःकरण धर्मत्व बोधन कराने में ही प्रकृत श्रुति का तात्पर्य है। इसलिये 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव का बाध करके ही कामादिक मनोधर्म हैं ऐसा समझना चाहिये।

व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण, श्रुति की अपेक्षा प्रबल है, परन्तु परीक्षित (प्रमाण से निरूपित किये हुए) प्रत्यक्ष का प्राबल्य है। 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव के प्रमाणों से निरूपण कर कामादिकों को आत्म-धर्मत्व सिद्ध नहीं हुआ है। क्योंकि आप जैसा कह रहे हैं उस तरह 'आत्मा' अहं पदवाच्य नहीं है (अहं शब्द का आत्मा अर्थ नहीं है) क्योंकि सुषुप्ति में 'अहम्' इत्याकारक अनुभव नहीं हुआ करता। किन्तु 'मैं सुख से सोया था' यह चैतन्य-अंश में स्मरण है, और अन्तःकरण-अंश में अनुभव है। इस कारण अन्तःकरण और चैतन्य का परस्पर विवेक न होने से (वे दो भिन्न पदार्थ हैं यह ज्ञान न होने से) 'मैं दुःखी, मैं सुखी, मैं चाहता हूँ' इत्यादि अनुभव, स्वरूप चैतन्य के अज्ञान से अन्तःकरण में होने वाला तादात्म्य भ्रम है। लोहा पार्थिव पदार्थ होने से उसका स्पर्श अनुष्णाशीत है। परन्तु उसे अग्नि में तप्त करने पर यदि स्पर्श किया जाय तो हाथ जलता है। किन्तु हाथ जलाना रूप दग्धत्व, वस्तुतः लोहे का धर्म न होकर, अग्नि का है। तथापि 'इस लोहे से मेरा हाथ जल गया' यह व्यवहार होता है। क्योंकि अनुष्णाशीत लोहे का गोला और दाहक अग्नि का तादात्म्य होने से 'लोहे से ही हाथ जला' यह भ्रम होता है। इसी तरह 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि शब्द व्यवहार कामसुखादि विषयाकार से परिणत होने वाले अन्तःकरण का चैतन्यरूप आत्मा से तादात्म्य हो जाने से होता है। परन्तु वह भ्रामक है। इस कारण 'मैं इच्छा करता हूँ' इस अपरीक्षित प्रत्यक्ष प्रमाण से पूर्वोक्त श्रुति का बाध नहीं होता। इसलिये 'कामादि सब मन ही है' यह श्रुति कामादिकों के मनोधर्म होने में प्रमाण है। परन्तु लोहा और अग्नि की तरह आत्मा और अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास का संभव ही नहीं होता यह शंका करते हैं—

नन्वन्तःकरणस्येन्द्रियतयाऽतीन्द्रियत्वात् कथमहमिति प्रत्यक्षविषयतेति।

अर्थ—अन्तःकरण को इन्द्रियत्व होने से (अर्थात् अन्तःकरण इन्द्रिय होने से) वह अतीन्द्रिय है (इन्द्रिय का विषय नहीं होता) (कोई भी इन्द्रिय, प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती) तब उसे 'अहम्' इस प्रकार इन्द्रिय विषयत्व कैसे ? ('मैं' इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव कैसे होता है)।

विवरण—अग्नि और लोहे का गोला दोनों के प्रत्यक्ष होने से उनका परस्पर तादात्म्याध्यास होकर लोहा 'जलाता है' यह भ्रामक व्यवहार हो सकता है। परन्तु आत्मा और अन्तःकरण में से आत्मा, प्रत्यक्षविषय और अन्तःकरण, प्रत्यक्षाविषय (अतीन्द्रिय) है। तब प्रत्यक्षविषय आत्मा और

अतीन्द्रिय अन्तःकरण का तादात्म्याध्यास कैसे हो सकेगा? और जब तादात्म्याध्यास का ही संभव नहीं तब 'मैं इच्छा करता हूँ' यह भ्रामक व्यवहार भी कैसे होगा?

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, 'अहं' शब्द का अर्थ होना संभव नहीं। क्योंकि अन्तःकरण, इन्द्रिय है और इन्द्रिय, अतीन्द्रिय होती है। इसलिये वह अन्तःकरण प्रत्यक्ष प्रमा का विषय नहीं बन सकता। इस विषय में अनुमान इस प्रकार किया जाता है—

(प्रतिज्ञा)—अन्तःकरण अतीन्द्रिय है। (हेतु)—क्योंकि वह इन्द्रिय है। (दृष्टान्त)—चक्षुःश्रोत्रादि इन्द्रियों के समान। इस आशय से वादी के शंका करने पर समाधान—

उच्यते। न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति। 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इति भगवद्गीतावचनं प्रमाणमिति चेत्, न, अनिन्द्रियेणाऽपि मनसा षट्त्वसङ्ख्यापूरणाविरोधात्। न हीन्द्रियगतसङ्ख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः, 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इत्यत्र ऋत्विग्गतपञ्चत्वसङ्ख्याया अनृत्विजाऽपि यजमानेन पूरणदर्शनात्। 'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्' इत्यत्र वेदगतपञ्चत्वसङ्ख्याया अवेदेनापि महाभारतेन पूरण-दर्शनात्। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' (का० १-३-१०) इत्यादिश्रुत्या मनसोऽनिन्द्रियत्वावगमाच्च।

अर्थ—(उपर्युक्त शंका का समाधान) कहते हैं—'अन्तःकरण इन्द्रिय है' तुम्हारे इस कथन में पहिले तो कोई प्रमाण ही नहीं है। 'जीव, मृत्यु के समय मन जिनमें छठवाँ है ऐसी इन्द्रियों का आकर्षण करता है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय का भगवान् का यह वचन ही मन के (अन्तःकरण के) इन्द्रियत्व में प्रमाण है यह कहो तो ठीक नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय न होकर भी मन से इन्द्रियों की छठी संख्या की पूर्ति करने में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों की संख्या पूर्ति इन्द्रिय से ही करने का कोई नियम नहीं है। इसी कारण 'यजमान जिनमें पाँचवाँ है ऐसे ऋत्विज, इडा का भक्षण करते हैं' इस श्रौत (वैदिक) वचन में ऋत्विजों की पाँचवीं संख्या ऋत्विजों से भिन्न यजमान के द्वारा भी पूर्ण की हुई दिखाई देती है। इसी तरह 'महाभारत-जिसमें पाँचवा है ऐसे वेदों को पढ़ाया' इस स्मृतिवाक्य में भी वेदों की पाँचवीं संख्या वेद से भिन्न महाभारत के द्वारा पूर्ण की हुई दिखाई देती है।

इसी तरह 'इन्द्रियों से वासनात्मक अर्थ पर है, उस वासनात्मक अर्थ से मन परे' है। इत्यादि श्रुति से भी मन का इन्द्रिय न होना ज्ञात होता है।

विवरण—'अन्तःकरण, इन्द्रिय होने से वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है' वादी के इस कथन का उत्तर हम इस प्रकार देते हैं—अन्तःकरण (मन) के अन्तरिन्द्रिय होने में कोई प्रमाण नहीं है। जब कि वह इन्द्रिय ही नहीं तब उसका अतीन्द्रियत्व कैसे सिद्ध हो सकता है। अतः अन्तःकरण प्रत्यक्ष विषय नहीं होता, यह कथन अनुचित है। इसी बात को 'न तावद्' इत्यादि ग्रन्थ से सूचित किया है।

वादी की पुनः शंका—'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'० मन जिनमें छठा है ऐसी इन्द्रियों का जीव आकर्षण करता है—इत्यादि भगवद् वाक्य मन के इन्द्रिय होने में प्रमाण है।

समाधान—इन्द्रियों की षष्ठ संख्यापूर्ति अनिन्द्रिय मन से भी की जा सकती है। अतः वादी के प्रदर्शित भगवद् वाक्य से कोई विरोध नहीं है। भगवद् वाक्य का तात्पर्य मन को इन्द्रियत्व बताने में नहीं है। मन को इन्द्रिय बताने वाली कोई श्रुति भी नहीं है। 'मेरा मन' इस अनुभव से भी मन का अनिन्द्रियत्व सिद्ध होता है।

इस पर भी मन का इन्द्रियत्व सिद्ध करने के लिए यदि आप अनुमान प्रमाण को उपस्थित करें—'(प्रतिज्ञा) मन इन्द्रिय है, (हेतु) इन्द्रियों की संख्या का पूरक होने से' तो इसमें हेतु अप्रयोजक (साध्य साधन में असमर्थ) है। क्योंकि अनिन्द्रिय मन से भी इन्द्रियों की संख्यापूर्ति की जा सकती है।

सिवाय उपर्युक्त अनुमान में 'जो इन्द्रियगत संख्यापूरक हो वह इन्द्रिय है' यह विशेष व्याप्ति उसका मूल है अथवा 'जो जिसका संख्यापूरक हो वह उसकी जाति का होता है' यह सामान्य व्याप्ति उसका मूल है, ऐसा विकल्प कर यहाँ दोनों पक्ष संभव नहीं हैं, इस आशय से सिद्धान्ती का कथन है कि 'इन्द्रियगत संख्या की पूर्ति इन्द्रिय से ही की जाय' ऐसा नियम न होने से विशेष व्याप्ति का यहाँ संभव नहीं है क्योंकि ऐसा दृष्टान्त कहीं दिखाई नहीं देता।

इसी तरह पूर्वोक्त सामान्य व्याप्ति भी उपर्युक्तअनुमान में मूल नहीं है—क्योंकि 'यजमान जिसमें पाँचवाँ है ऐसे ऋत्विज इडा भक्षण करते हैं। इस उदाहरण में 'ऋत्विजों की पंच संख्या का पूरक यजमान है, परन्तु वह ऋत्विक् नहीं है इस कारण 'जो जिनकी संख्या का पूरक होता है वह उनकी जाति का होता है' यह सामान्य व्याप्ति भी यहाँ घटित नहीं होती। इस प्रकार श्रौत उदाहरणों में व्याप्ति का भंग दिखलाकर सिद्धान्ती स्मार्त उदाहरण में भी उसके भंग को दिखाता है—'महाभारत जिसमें पाँचवाँ है ऐसे

वेद को अध्यापक ने पढ़ाया। इस उदाहरण में वेदगत पंचत्व (पाँच) संख्या जिस महाभारत के योग से पूर्ण होती है वह इतिहास नाम से प्रसिद्ध महाभारत पौरुषेय (व्यास रचित) होनेसे अपौरुषेय वेद की कोटि में नहीं है। जैसे 'मैं नक्षत्रों में चन्द्र हूँ' यह वचन चन्द्र के नक्षत्र होने में प्रमाण नहीं वैसे ही 'इन्द्रियों में मन मैं हूँ' यह वचन भी मन के इन्द्रिय होने में प्रमाण नहीं है।

शंका—मन के इन्द्रिय होने में बाधक प्रमाण तो कोई है नहीं।

उत्तर—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' यह श्रुति 'इन्द्रियों से पर (सूक्ष्म), व्यापक और नित्य विषयों से मन पर है' बताकर मन के अनिन्द्रियत्व का बोधन कराती है। अतः मन के इन्द्रिय होने में बाधक प्रमाण नहीं है यह कथन अनुचित है। उसके इन्द्रियत्व की बाधक प्रत्यक्ष श्रुति ही प्रमाण है।

शंका—'इन्द्रियेभ्यः पराः०' इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार भी संभव हो सकता है—मन इन्द्रिय को छोड़कर अन्य सब इन्द्रियों से अर्थ पर है, और मन इन्द्रिय उन अर्थों से (विषयों से) पर है। अतः मन विषयों से पर है' इतना कह देने मात्र से वह इन्द्रिय नहीं है, यह सिद्ध नहीं होता।

समाधान—उपर्युक्त 'इत्यादिश्रुत्या' इस वाक्य के आदि शब्द से 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुं० २।१।३) इस पुरुष से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश इत्यादि उत्पन्न होते हैं।' इस श्रुति का ग्रहण किया गया है। इसलिए आदि शब्द से गृहीत इस श्रुति से एक वाक्यता को प्राप्त होकर 'इन्द्रियों से पर रहनेवाले विषयों से मन पर है" यह श्रुति मन के अनिन्द्रियत्व का बोधन कराती है। तस्मात् मन (अन्तः-करण) को इन्द्रियत्व नहीं है। अर्थात् मन इन्द्रिय नहीं है।

मन की इन्द्रियता मुख्य न होकर गौण रूप से मानी जा सकती है, इससे उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति का भी बोध नहीं होगा। 'वेदानध्यापयामास' इस वाक्य में महाभारत भी सकल वेदार्थ प्रतिपादक होने से गौणरूप से वेद है, यह स्वीकार करना चाहिए। इस पर सिद्धान्ती तार्किकों की एक शंका का अनुवाद करके इसका समाधान करते हैं।

न चैवं मनसोऽनिन्द्रियत्वे सुखादिप्रत्यक्षस्य साक्षात्त्वं न स्यादिन्द्रियाजन्यत्वादिति वाच्यम्। न हीन्द्रियजन्यत्वेन ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्, अनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः, ईश्वरज्ञानस्यानिन्द्रियजन्यस्य साक्षात्त्वानापत्तेश्च ॥

अर्थ—मन की इन्द्रियता को स्वीकार न करने पर सुखादिकों के प्रत्यक्ष अनुभव की प्रत्यक्षता नहीं बन सकेगी, क्योंकि वह इन्द्रिय से जन्य नहीं है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है, कारण ज्ञान को इन्द्रिय-जन्यत्व होने से (ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है इसलिये) उसका साक्षात्त्व (प्रत्यक्षत्व) है, यह नहीं कहा जा सकता। इन्द्रियजन्य होने से ज्ञान का साक्षात्त्व (प्रत्यक्षत्व) यदि स्वीकार किया जाय तो अनुमितिज्ञान, उपमितिज्ञान इत्यादि अन्य ज्ञान भी मन से ही उत्पन्न होने से उन्हें भी साक्षात्त्व (प्रत्यक्ष-ज्ञानत्व) कहना होगा। और ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियजन्य न होने से उसे साक्षात्त्व नहीं है यह कहना होगा। ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियों से पैदा न होने से उसे साक्षात्त्व की अनापत्ति (अप्राप्ति) होगी। (परन्तु अनुमित्यादि अप्रत्यक्ष ज्ञानों को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होना और ईश्वरज्ञान का साक्षात्त्व नष्ट होना, यह दोनों अनिष्ट हैं)।

विवरण—'इन्द्रियजन्य ज्ञान को तो प्रत्यक्षत्व है परन्तु मन में इन्द्रिय-त्व नहीं है' ऐसा कहने से सुखदुःखादि का प्रत्यक्षत्व नहीं है यह सिद्ध होगा। क्योंकि मन तो इन्द्रिय नहीं है और सुख दुःखादि का ज्ञान उसी से होता है तब अनिन्द्रियमनोजन्य सुखदुःखादिकों के अनुभव की प्रत्यक्षता कैसे बन सकेगी। परन्तु सुखादिकों की तो प्रत्यक्षरूपेण उपलब्धि होती है अतः उनके प्रत्यक्षत्व की सिद्धि के लिये मन का इन्द्रियत्व अवश्य स्वीकार करना होगा। यह शंका 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' [इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं] प्रत्यक्ष ज्ञान का इस प्रकार लक्षण करने वाले तार्किकों की है। उसका अनुवाद करके सिद्धान्ती—

समाधान—ज्ञान की प्रत्यक्षता में इन्द्रियजन्यत्व प्रयोजक (निमित्त) नहीं है। अतः 'सुखादिकों के साक्षात् अनुभव में इन्द्रियजन्यत्व न होने से उसे साक्षात्त्व नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है।

प्रश्न—प्रत्यक्षत्व में इन्द्रियजन्यत्व को प्रयोजक मानने में क्या बाधक है?

उत्तर—तार्किक लोग मन को अन्तरिन्द्रिय कहते हैं और ज्ञान की प्रत्य-क्षता में इन्द्रियजन्यत्व को प्रयोजक मानते हैं। परन्तु सुखादिज्ञानों की प्रत्य-क्षता सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त प्रयोजक के अनुसार मन में इन्द्रियत्व है तो मनोजन्य अनुमिति, उपमिति, इत्यादि अन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष हैं ऐसा कहने का प्रसंग आवेगा। यही प्रत्यक्षत्व में इन्द्रियजन्यत्व को प्रयोजक मानने में बाधक है।

इन्द्रियत्वरूप से इन्द्रियजन्यत्व, प्रत्यक्षता में प्रयोजक है और अनुमिति, उप-मिति आदि ज्ञानों में मनस्त्वेन रूप से इन्द्रियजन्यत्व है, इस कारण ऐसा अति-

प्रसंग (अतिव्याप्ति) नहीं हो पाता। ऐसा यदि आप कहें तो ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियजन्य न होने से उसे साक्षात्त्व नहीं है कहने का प्रसंग आवेगा, अर्थात् आप से बताया हुआ प्रत्यक्षत्वप्रयोजक ईश्वरज्ञान में अव्याप्त रहेगा। अथवा 'इन्द्रियजन्यत्व' का अर्थ 'इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्व' विवक्षित करेंगे तो अनुमिति आदि प्रमाएं इन्द्रियसन्निकर्षजन्य न होने से प्रत्यक्षप्रयोजक का लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो सकेगा। 'ईश्वर का ज्ञान अजन्य और प्रत्यक्षरूप है' यह कथन सर्वसम्मत नहीं है। अद्वैती उसे मायाजन्य मानते हैं। तथापि 'वह इन्द्रियजन्य नहीं' यह सर्वसम्मत है। तस्मात् मन के इन्द्रियत्व में कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्युत बाधक प्रमाण हैं। इसलिए मन इन्द्रिय नहीं है, इसी कारण 'मैं इच्छा करता हूँ'—इत्यादि अनुभव में अन्तःकरण का प्रत्यय संभव होता है।

इस प्रकार सिद्धान्ती के द्वारा तार्किकों से अभिमत प्रत्यक्षत्वप्रयोजक का निरसन किये जाने पर सिद्धान्तपक्ष में भी दूसरा प्रत्यक्षत्वप्रयोजक नहीं बन सकता, यह समझनेवाले तार्किक का आक्षेप—

सिद्धान्ते प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किमिति चेत्, किं ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं पृच्छसि किं वा विषयगतस्य। आद्ये प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ब्रूमः। तथा हि—त्रिविधं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्यं चेति। तत्र घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम् ॥

अर्थ—(इन्द्रियजन्यत्व यदि प्रत्यक्षता में प्रयोजक नहीं है तो) आप के सिद्धान्त में भी प्रत्यक्षत्व का क्या प्रयोजक है ! इस प्रकार तार्किक के द्वारा पूछे जाने पर सिद्धान्ती प्रश्न को स्पष्ट कराने के लिये तार्किकों से ही प्रश्न करता है—हम (सिद्धान्ती) तुम से पूछते हैं कि तुम ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछ रहे हो, या विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछ रहे हो ? ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक यदि पूछो तो प्रमाणचैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद (तादात्म्य, ऐक्य) होना, ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है-ऐसा हम कहते हैं। (परन्तु एक ही अद्वितीय चैतन्य का भेद कैसे संभव होता है ? उत्तर—वास्तव में चैतन्य के एक होने पर भी उसका उपाधि के कारण इस प्रकार भेद होता है) तथाहि—चैतन्य त्रिविध है—एक प्रमातृ-चैतन्य, दूसरा प्रमाणचैतन्य व तीसरा विषयचैतन्य। इन तीन प्रकार के

चैतन्यों में से घटादि विषयों से अवच्छिन्न (मर्यादित) हुआ चैतन्य—विषय-चैतन्य, अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य—प्रमाणचैतन्य, और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य–प्रमातृ-चैतन्य है।

विवरण—प्रत्यक्ष प्रमा का प्रयोजक (कारण) कोई तो अवश्य ही होगा। इन्द्रिय जन्यत्व ही उसका प्रयोजक है, ऐसा तार्किक लोग मानते हैं। परन्तु वेदान्ती मन को इन्द्रिय नहीं कहते हैं, प्रत्युत मन के इन्द्रियत्व का निराकरण करते हैं। परन्तु 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाले साधारण ज्ञानों में अनुवृत्त (व्यापक) होने वाला दूसरा प्रयोजक उपलब्ध न होने से सुखादिकों में प्रत्यक्षत्व नहीं है ऐसा अनुभवविरुद्ध स्वीकार करना होगा इस आशय से 'वेदान्त सिद्धान्त में प्रत्यक्षता का प्रयोजक क्या है, कुछ भी नहीं है' इस प्रकार तार्किक के कहने पर सिद्धान्ती 'हमारे सिद्धान्त में प्रत्यक्षता का प्रयोजक है' कहने के उद्देश्य से तार्किकों के उपर्युक्त आक्षेप का निरसन करने के लिए उनसे प्रश्न करते हैं कि 'तुम ज्ञान (वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य) की प्रत्यक्षता का कारण पूछ रहे हो या ज्ञेय (विषय) की प्रत्यक्षता का प्रयोजक पूछ रहे हो? तब वादी ने कहा कि—'मैं ज्ञानगत (ज्ञान की) प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्षता) का प्रयोजक (कारण) पूछ रहा हूँ।' यह सुनकर सिद्धान्ती ने उत्तर दिया "प्रमाणचैतन्य (वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य) और प्रमेयचैतन्य (विषयावच्छिन्न चैतन्य) इन दोनों का ऐक्य ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।"

तब वादी पूछता है—तुम अद्वैतियों के मत में चैतन्य का प्रमाणचैतन्य और प्रमेय चेतन्यआदि भेद ही कैसे संभव हो सकता है? और यदि वह असंभव है तो प्रमाण चैतन्य और प्रमेयचैतन्यों का अभेद ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक होता है यह कैसे कह सकते हैं? सिद्धान्ती—अद्वैतवाद में एक ही अद्वितीय चैतन्य का वास्तविक भेद नहीं है तथापि आकाश के घटाकाशादि भेदों की तरह उसका भी औपाधिक भेद होना संभव है। उसीको देखिये—प्रमातृचैतन्य, प्रमाण-चैतन्य और विषय चैतन्य यह त्रिविध चैतन्य है। घटादि विषयों से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही विषयचैतन्य है। अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही प्रमाणचैतन्य है। अन्तःकरण से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही प्रमातृचैतन्य है। इस प्रकार सिद्धान्ती ने 'आकाश के घटाकाशमठाकाशादि औपाधिक भेदों की तरह चैतन्य का भी विषय, अन्तःकरणवृत्ति, और अन्तः-करण इन तीन उपाधियों के कारण त्रिविध भेद होता है। इस प्रकार सिद्धान्ती के कहने पर वादी पूछता है—अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रमाणचैतन्य होता है, यह आप कैसे कहते हैं? क्योंकि अन्तः-

करण का परिमाण अणु है अतः अणुपरिमाणवाले अन्तःकरण की वृत्ति का होना संभव नहीं। अन्तःकरण का महत् परिमाण भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्राणशक्ति के आश्रयभूत अन्तःकरण की ही उत्क्रान्ति, गति आदि सुनी जाती है। महत् परिमाण से युक्त आकाश, काल आदि पदार्थों की उत्क्रान्ति, गति आदि नहीं हुआ करतीं। अन्तःकरण को मध्यम परिमाण वाला भी नहीं कह सकते, क्योंकि देह की तरह उसका मध्यम परिमाण मानने पर देह की तरह उसकी गति भी मंद माननी होगी। जिससे वह विषय को एक क्षण में प्रकाशित नहीं कर सकेगा। परन्तु वह तो हजारों कोस दूर पर स्थित ध्रुव को भी एक क्षण में प्रकाशित कर देता है। इसके अतिरिक्त उसका मध्यम परिमाण मानने पर शरीर के भीतर रहने से बाहर निकलना नहीं बन सकेगा। अतः अन्तःकरण का परिमाण अणु है, यही मानना चाहिये। तब अणुपरिमाणयुक्त पदार्थ की वृत्ति (परिमाण) का होना संभव नहीं। इस कारण 'अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य—पमाणचैतन्य है' यह आप का कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार तार्किकों के शंका करने पर सिद्धान्ती कहते हैं—

अन्तःकरण को अणुपरिमाणयुक्त मानने पर देहव्यापि सुखादिकों की जो उपलब्धि होती है (देहगत सुखादिकों का जो अनुभव होता है) उसकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये मन को अणु कहना ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त प्राणशक्ति का आश्रयभूत मन सुदूरस्थित ध्रुव तक जब जायगा तो उसके साथ उससे अवच्छिन्न हुआ जीव भी जायगा, जिससे देह निर्जीव होने का प्रसंग उपस्थित होगा। इसलिये मन (अन्तः करण) का परिमाण मध्यम ही मानना चाहिये। इस प्रकार अन्तःकरण की मध्यमपरिमाणता सिद्ध करके उसकी वृत्ति की संभावना भी दृष्टान्त से बताते हैं।

तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनं वह्न्यादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात्।

अर्थ—जैसे तालाब का जल छेद से निकल कर नाली के रास्ते से होता हुआ खेतों में प्रविष्ट होता है और उसीके आकारका तिकोना, चौकोना, या वर्तुलाकार बन जाता है, वैसे ही पूर्वोक्त तीन उपाधियों में से तैजस अंतःकरण भी चक्षुः श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकल कर

घटादि विय तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत होता है। उस परिणाम को ही वृत्ति कहते हैं। परन्तु अनुमित्यादि प्रमास्थलों में (अनुमिति, उपमिति इत्यादि प्रमाओं में) अन्तःकरण अग्नि के देश में नहीं जाता, क्योंकि उस समय अग्नि आदि विषयों का चक्षुरादि इन्द्रियों से सन्निकर्ष (संबंध) नहीं हुआ रहता।

विवरण—किसी तालाब या नदी का बांध से रोक रखा जल किसी नहर अथवा स्वाभाविक मार्ग से ही बहकर खेत में प्रविष्ट होकर उस उस विशिष्ट आकार को धारण कर लेता है। अंतःकरण के परिणाम होने के विषय में यह दृष्टान्त दिया है। इस जल के परिमाण की तरह ही तैजस अन्तःकरण का भी परिणाम होता है। अन्तःकरण सत्वगुण का कार्य है। सत्त्व को ही तेज कहते हैं। क्योंकि वह प्रकाशक है। तैजस विशेषण से अन्तःकरण अत्यन्त स्वच्छ, विरल, तेजोद्रव्य है, यह सूचित किया है। इसलिये सूर्यकिरण की तरह वह (अन्तःकरण) शीघ्र फैल सकता है। शीघ्र गमन करना उसका स्वभाव ही है। अतः मध्यमपरिमाण वाला अन्तःकरण शरीर के बाहर कैसे जा सकेगा ? यह शंका नहीं हो सकती। दृष्टांत में बताये हुए जल की तरह ही तैजस मन इन्द्रिय-छिद्रों में से बाहर निकल कर जहाँ विषय हो वहीं जाता है और उसके आकार का हो जाता है। इन आकारों में होनेवाला अन्तःकरण का परिणाम ही अन्तःकरण की वृत्ति कही जाती है। अर्थात् खेत के आकार में परिणत हुआ जल, तालाब के जल से जैसे पृथक् नहीं, वैसे ही विषयाकार हुआ मन मूल मन से पृथक् नहीं है। इसलिये स्वतः विकसित हुआ मन ही वृत्ति शब्द से कहा जाता है। वृत्ति उसका वास्तविक परिणाम नहीं है।

शंका—अनुमिति आदि प्रमाओं में भी अन्तःकरण अग्नि आदि के देश में जाकर वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अग्नि आदि विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद (ऐक्य) होने से आपका कहा हुआ ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक अनुमिति आदि में अतिव्याप्त हो रहा है।

उत्तर—अनुमिति आदि स्थलों में अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि अनुमिति आदि स्थलों में अन्तःकरण अग्नि आदि के देश में नहीं जाता। क्योंकि अनुमिति आदि प्रमाओं में अनुमित अग्नि आदि विषयों के साथ चक्षुःश्रोत्रादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं रहता। चक्षुरादि इन्द्रियों का उसके धूमादि लिंगों से सन्निकर्ष रहता है। इसलिये ज्ञानगत स्वरूपचैतन्य से भिन्न विषयगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक, अनुमिति आदि प्रमाओं में अतिव्याप्त नहीं होता।

'तथापि प्रत्यक्ष ज्ञान में भी वृत्ति और घट इनका भेद होने से उन भिन्न उपाधियों से युक्त प्रमाण प्रमेय चैतन्यों का भी भेद अवश्य ही रहेगा।

इसलिए पूर्वोक्त प्रयोजक यहाँ पर अव्याप्त है। ऐसी आशंका होने पर सिद्धान्ती 'यह घट' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमा में प्रत्यक्ष लक्षण का समन्वय करके दिखाते हैं।

तथा चायं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्र देशे समवधानात्तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव, विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्तिघटादिविषययोरेकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वात्। अत एव मठान्तर्वर्तिघटावच्छिन्नाकाशो न मठावच्छिन्नाकाशाद्भिद्यते।

अर्थ—इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के समय अन्तःकरण शरीर से बाहर निकलता है। तब 'यह घट' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमा में घटादिविषय और तदाकार (घटाकार) वृत्ति का शरीर के बाहर एक स्थान में अवस्थान होने से उन दोनों से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य एक ही है। क्योंकि अन्तःकरणवृत्ति और घटादि-विषय ये उपाधियां उपहित में भेद करनेवाली होने पर भी वे एक स्थान में स्थिति होने से भेद नहीं कर सकतीं। इसी कारण गृहस्थित घट से अवच्छिन्न आकाश, उस गृह से अवच्छिन्न हुए आकाश से भिन्न नहीं है।

विवरण—चैतन्य के एक होने पर भी वह उपाधि के भेद के कारण भिन्न होता है। जैसे घटाकाश मठाकाश से भिन्न है। इसी प्रकार प्रमाण-चैतन्य की 'वृत्ति' उपाधि है और विषयचैतन्य की 'विषय' उपाधि है। इसलिये एक स्थान पर स्थित हुई भी दो विशेषणों की तरह दो उपाधियों में भेदजनकत्व है (वे दो चैतन्य भिन्न ही हैं) तब उनमें अभेद कैसे संभव होता है? यह शंका होने पर सिद्धान्ती कहता है—'यह घट' इत्याकारक ज्ञान 'घट' अंश में प्रत्यक्ष है। घट और घट के संबंध से घटाकार हुई वृत्ति रूप दो उपाधियों से अवच्छिन्न हुआ द्विविध चैतन्य, शरीर के बाहर एक ही स्थान में स्थित हुई उन दो उपाधियों से अवच्छिन्न (युक्त) हुआ है। अतः उनके भेद की प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि भिन्न भिन्न स्थानों में स्थित उपाधियां ही उपधेयों में भेदप्रतीति करा सकती हैं। विशेषणों की तरह उपाधियों को स्वरूपतः भी भेदजनकत्व नहीं है। भिन्न देशों में स्थित उपाधियों में भेदजनकत्व होने पर भी एकदेशस्थित उपाधियों में (वृत्ति और विषय को) भेदजनकत्व नहीं है।

'भिन्नदेशस्थ उपाधियों को भेदजनकत्व है और एकदेशस्थ उपाधियों को भेदजनकत्व नहीं है—ऐसी गुरु कल्पना करने की अपेक्षा विशेषण की तरह उपाधियों में भी स्वरूप से ही भेदजनकत्व मानने में कल्पनालाघव

होगा' ऐसी आशंका होने पर सिद्धान्ती 'अत एव' आदि ग्रन्थ से उसका समाधान करते हैं। एक देश में स्थित होने से ही उन दो उपाधियों को भेदजनकत्व नहीं है—यह अनुभव में आने से मठ (घर) में स्थित घट से अवच्छिन्न हुआ आकाश, मठावच्छिन्न आकाश, से भिन्न नहीं है। मठरूप उपाधि के भाग में 'घट' रहता है। इस कारण मठाकाश और घटावच्छिन्नाकाश, दोनों एक स्थान में स्थित हुई उपाधियों से अवच्छिन्न हैं। इसलिए वे परस्पर भिन्न नहीं हैं। घट के प्रत्यक्ष ज्ञान के समय घट देश के साथ अन्तःकरण का संयोग होना है। अन्तःकरण के एक भाग को ही वृत्ति कहते हैं। इस कारण घटावच्छिन्न चैतन्य, और घट को अभिव्यक्त करनेवाला चैतन्य दोनों एक ही हैं। अर्थात् फलमुख (फलप्रधान = सफल) गौरव दोषावह नहीं होता। अब इस विचार विनिमय से जो निष्कर्ष निकला उसे कहते हैं—

तथाचायं घट इति घटप्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चाभिन्नतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्।

अर्थ—इस प्रकार दो उपाधियों के एकदेशस्थित होने से उपधेयों में भेद उत्पन्न करने का सामर्थ्य उनमें नहीं रहता। ऐसा निर्णीत होने पर 'यह घट' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में घटाकार वृत्ति में घटसंयोगित्व होता है। (वृत्ति, घट से संयुक्त हो जाती है) इस कारण घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद (ऐक्य) होता है और इन दो चैतन्यों का ऐक्य होने से 'यह घट' इस प्रत्यक्ष स्थल में घटज्ञान में 'घट' अंश में प्रत्यक्षत्व है।

विवरण—घटाकारवृत्ति (घटसदृश आकार से युक्त हुआ मन का भाग) झट से संयुक्त होती है। यहाँ संयोग शब्द का अर्थ भी घट को चूना लगाने पर घट और चूने (सफेद रंग) का जैसा संयोग होता है वैसा ही परिणामपदवाच्य घटनिष्ठ संबन्धविशेष है। अतः संयोग, नियमेन अव्याप्यवृत्ति होने से मन का संयोग भी पूरे घट को नहीं व्याप्त कर सकेगा। तब 'सर्वांश से घट प्रत्यक्ष है' यह व्यवहार कैसे संभव होगा? तार्किकों की इस शंका का निरसन हुआ। अर्थात् घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अर्थ घट से संयुक्त हुए मन के भाग से अवच्छिन्न चैतन्य है। और घटज्ञान का (घटाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य का) 'घट' अंश में घटावच्छिन्नत्वेन प्रत्यक्ष है।

सुख दुःखादि पदार्थों से चक्षुरादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं रहने से अन्तःकरण की सुखाद्याकार वृत्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती। तब सुखादि

अंश में प्रत्यक्ष कैसे? यह आशंका कर सुखादिकों को आन्तर विषयत्व है। घटादिकों की तरह बाह्य विषयत्व नहीं है। उससे उनकी प्रत्यक्ष प्रमा में चक्षुरादि सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं होती। इस आशय से सिद्धान्ती कहता है—

सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य (१) तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियमेनैकदेशस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नत्वात् नियमेनाहं सुखी-त्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्।

अर्थ—सुखादिकों से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य और सुखादि आकार से परिणत हुई अन्तःकरण वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य, दोनों, नियम से एक ही स्थान में (अन्तःकरण रूप एक ही स्थान में) स्थित उपाधिद्वय से (सुखादि और सुखाद्याकारवृत्तिरूप) अवच्छिन्न होने से नियमेन 'मैं सुखी' इत्यादि ज्ञान को (सुखादि अंश में) प्रत्यक्षत्व है।

विवरण—यदि सुखादि, घटादिकों की तरह बाह्य (शरीर के बाहर) होते तो उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये (विषयाकार वृत्ति के लिये) बाह्य इन्द्रियसन्निकर्ष की आवश्यकता पड़ती, परन्तु सुखादि विषय तो आंतर हैं। इस कारण सुखादि ज्ञान को (सुखाद्याकार वृत्ति को) सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है। वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार सुख, दुःख, काम, संकल्प इत्यादि भाव, अन्तःकरण के धर्म हैं। इसलिये वे अन्तःकरण में ही रहते हैं। सुखादिकों के अनुभवकाल में सुखाद्याकार वृत्ति भी अन्तःकरण में ही रहती है। अतः सुखादिविषयावच्छिन्न चैतन्य और सुखाद्याकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का पूर्वोक्त प्रकार से (दो उपाधियां एक प्रदेश में स्थित होने पर उन्हें उपधेय भेद जनकत्व नहीं होता, इस प्रकार से) एकत्व होने से सुखादि अंश में उसे प्रत्यक्षत्व है। बाह्य विषयाकार वृत्ति को इन्द्रियसन्निकर्ष की अपेक्षा होती है। परन्तु आन्तर विषयाकार वृत्ति स्वयं ही उत्पन्न होती है। यही आंतर और बाह्य विषयों में विशेष है। अब 'दो उपाधियों को एकदेश में स्थित होने से उन्हें भेदजनकत्व नहीं होता' इस कथन पर अतिव्याप्ति दोष का अनुवाद कर उसका परिहार करते हैं।

नन्वेवं स्ववृत्तिसुखादिस्मरणस्यापि सुखाद्यंशे प्रत्यक्षत्वाप-त्तिरिति चेन्न। तत्र स्मर्यमाणसुखस्यातीतत्वेन स्मृतिरूपान्तः-करणवृत्तेर्वर्तमानत्वेन तत्रोपाध्योर्भिन्नकालीनतया तत्तदवच्छि-न्नचैतन्ययोर्भेदात्। उपाध्योरेकदेशस्थत्वे सत्येककालीनत्वस्यै-वोपधेयाभेदप्रयोजकत्वात्॥

अर्थ—'दो उपाधियों को एकदेशस्थत्व होने पर भेदजनकत्व नहीं रहता। यह कहने पर अन्तःकरणस्थित सुखादिस्मरण को भी सुखादिअंश में प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा। (परन्तु ऐसा होना अनिष्ट है, स्मरण को प्रत्यक्ष कहना किसी को भी सम्मत नहीं) यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि (तत्र) अन्तःकरणवृत्ति सुख (अन्तःकरण में होने वाले स्मरण का विषय जो सुख) भूतकालीन रहता है और स्मृतिरूप अन्तःकरणवृत्ति वर्तमानकालीन होती है। इस कारण सुखविषय और सुखाकार स्मृतिवृत्तिरूप दोनों उपाधियों को भिन्नकालत्व है। उनका काल भिन्न होने से (सुखरूप विषय का काल भूत, और स्मृति का काल वर्तमान ऐसा कालभेद होने से) सुख और स्मृतिवृत्ति से अवच्छिन्न हुए दोनों चैतन्य भी भिन्न हैं। (इस कारण अप्रत्यक्ष स्मृतिज्ञान में, प्रत्यक्ष सुखादिज्ञान के प्रयोजक की अतिव्याप्ति नहीं होती) क्योंकि दोनों उपाधियों को एकदेशस्थत्व होकर एककालीनत्व भी जब हो तभी वह उपधेय के (उपहित चैतन्य के) अभेद में प्रयोजक हो सकता है। (केवल एकदेशस्थत्व होकर एककालीनत्व यदि न हो तो वह उपधेय के अभेद में प्रयोजक नहीं हो सकता)।

विवरण—एक प्रदेश में स्थित होने पर भी यदि भिन्नकालिकत्व दो उपाधियों को हो तो उन्हें उपधेय का भेदकत्व ही रहता है, अभेदकत्व नहीं। (एककालीनत्व तथा एकदेशस्थत्व भी यदि उपाधियों में हो तो उनमें उपधेयभेद का अप्रयोजकत्व रहता है, अन्यथा नहीं।) इस कारण 'मैं सुखी' इस सुखप्रत्यक्ष के समय जिस प्रदेश में सुखाकार अन्तःकरण-परिणाम था वहीं पर सुखरूप विषय भी था। इससे सुखावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न, सुखाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य होता है। परन्तु 'मैं उस समय सुखी था' इस सुख स्मरण के समय 'सुख'भूत विषय, और तदाकार वर्तमान वृत्ति इन दोनों के अन्तःकरण रूप एकदेश में स्थित होने पर भी 'सुख' भूतकालीन और 'वृत्ति' वर्तमानकालीन होने से 'सुखावच्छिन्न-चैतन्याभिन्न तद्‌वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य न होने से प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्व की सुखस्मरण में अतिव्याप्ति नहीं होती।

अब सिद्धान्ती ही पूर्वोक्त समाधान की अरुचि से दूसरा समाधान दे रहे हैं—

यदि चैकदेशस्थत्वमात्रमुपधेयाभेदप्रयोजकं तदा अहं पूर्वं सुखीत्यादिस्मृतावतिव्याप्तिवारणाय वर्तमानत्वं विषयविशेषणं देयम्।

अर्थ—और यदि दो उपाधियों का एकदेशस्थत्व ही उपधेय के अभेद में प्रयोजक (नियामक) मानना हो तो 'मैं पहले सुखी था' इत्यादि स्मृति में उसकी अतिव्याप्ति न होने देने के लिए 'विषय' में 'वर्तमानत्व' विशेषण देना चाहिये।

विवरण—'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से वादी के कथन को (दो उपाधियों के एकदेशस्थत्व को ही उपधेय भेद में प्रयोजकत्व—नियामकत्व—है) स्वीकार कर उस प्रयोजकत्व के लक्षण पर भी अतिव्याप्ति नहीं हो पाती, यह बताते हैं 'प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेदः' इस पूर्वोक्त लक्षण के 'विषय' पद में 'वर्तमानत्व' विशेषण के देने पर 'वर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्न-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही' = वर्तमानकालीन विषय से अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, वही ज्ञानप्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है, ऐसा लक्षण निष्पन्न होने से सुखादिकों के स्मरणज्ञान में उसकी अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि सुखादिस्मरण में सुखादि विषय, वर्तमानकालीन न होकर भूतकालीन हैं। इस कारण स्मृति में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। अब अवर्तमानत्व को उपाधित्व नहीं होता (अविद्यमान पदार्थ, उपाधि नहीं होता)। इसलिये 'विषयावच्छिन्न' इतने ही से पूर्वोक्त अतिव्याप्ति का निरसन हो जायगा। उसके लिए 'वर्तमानत्व' इस विषयविशेषण की आवश्यकता न होने पर भी 'विषय शब्द को उपलक्षणत्व मानकर भूत, भविष्यत्, अविषय इत्यादि अन्य पदार्थों का भी ग्रहण किया जाय, ऐसा यदि कोई कहे तो उसके लिये विषयत्व के उपलक्षणत्व का भी निरसन कर तद्द्वारा पूर्वोक्त अतिव्याप्ति का भी निवारण करने के लिये 'वर्तमानत्व' इस विषय विशेषण की नितान्त अपेक्षा है। इस प्रकार 'प्रमाणचैतन्य का वर्तमानकालीन-विषयावच्छिन्न चैतन्याभेद' यही प्रत्यक्षप्रयोजक है सिद्ध हुआ। इस पर पुनः शंका—

नन्वेवमपि स्वकीयधर्माधर्मौ वर्तमानौ यदा शब्दादिना ज्ञायेते तदा तादृशशाब्दज्ञानादावतिव्याप्तिः, तत्र धर्माद्यवच्छिन्न-तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरेकत्वात्।

अर्थ—ऐसा मानने पर भी जिस समय अपने वर्तमान धर्माधर्म, शब्दादि-प्रमाणों के द्वारा जाने जाते हैं, तब उस तरह के शाब्द ज्ञान में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि वहां पर धर्मादिकों से अवच्छिन्न चैतन्य और तदाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य को एकत्व रहता है।

विवरण—'विषय' में 'वर्तमान' विशेषण को लगाने पर भी धर्माधर्म-विषयक शाब्द ज्ञान में उस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि धर्माधर्म-

को वर्तमानत्व है। धर्म और अधर्म, मन के धर्म होने पर भी वे स्वभाव-वैचित्र्य के कारण परोक्ष ही हैं। तथापि 'आप धार्मिक हैं,' 'तू अधार्मिक है' इत्यादि वाक्यरूप शब्द सुनकर 'मैं धार्मिक हूं' इत्यादि ज्ञान होता है। वह शब्दजन्य होने से शाब्द है। इस शाब्द ज्ञान में धर्माधर्म रूप विषय और तदाकार वृत्ति (अन्तःकरणपरिणाम) ये दोनों उपाधियां एकदेश में स्थित होने से दोनों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का भी अभेद है। इस कारण विषयावच्छिन्न से वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेदरूप प्रत्यक्ष का प्रयोजकत्व, धर्माधर्मादिकों के शाब्द ज्ञान में है। क्योंकि सुखादि आन्तर पदार्थों का अन्तःकरण के साथ बिना बाहर गये ही परिणाम होता है, यह अनुभवसिद्ध है। यही प्रकार धर्माधर्मादिकों में भी है। मूलस्थ 'शब्दादिना' के आदि पद से 'मैं सुकृतादृष्ट से (पुण्य से) युक्त हूँ, क्योंकि मैं सुखी हूं। मैं दुष्कृतादृष्ट से युक्त हूं, क्योंकि मैं दुखी हूं' इत्याकारक अनुमानादिकों का ग्रहण करना चाहिये। शाब्द ज्ञानादिकों में उन धर्मादिकों के जो शब्दादि प्रमाण हैं, उनसे अवच्छिन्न चैतन्य का और वर्तमान धर्मादिविषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद है। इस कारण ऐसे धर्माधर्मादिकों के शाब्द ज्ञान में पुनः प्रत्यक्षत्व-प्रयोजक के लक्षण की अतिव्याप्ति हुई। मूल में 'स्वकीयधर्माधर्मों' कहा गया है। यहाँ 'स्वकीय' शब्द से प्रमाण और विषय का एकदेशस्थत्व सूचित किया है।

अब सिद्धान्ती 'इति चेत्' पद से पूर्वोक्त शंका का अनुवाद करके 'न' इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ से उसका निरसन करता है—

इति चेत्? न। योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्। अन्तःकरणधर्मत्वाविशेषेऽपि किञ्चिदयोग्यं किञ्चिद्योग्यमित्यत्र फलबलकल्प्यः स्वभाव एव शरणम्, अन्यथा न्यायमतेऽप्यात्मधर्मत्वाविशेषात् सुखादिवद्धर्मादेरपि प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा॥

अर्थ—('विषय' में 'वर्तमान' विशेषण के देने पर भी वर्तमान धर्माधर्म के शब्दजन्य ज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है) ऐसा यदि कहें तो ठीक नहीं है। क्योंकि योग्यत्व को भी विषयविशेषणत्व है। (प्रत्यक्षत्व-प्रयोजक के लक्षण में 'विषय' शब्द के साथ 'वर्तमान' विशेषण की तरह 'योग्य' विशेषण भी जोड़ना चाहिये। तब धर्माधर्मादिकों के शाब्द ज्ञान में प्रत्यक्षत्वप्रयोजक लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि सुखादिकों की तरह धर्मादिकों को भी अन्तःकरणधर्मत्व होने पर भी उनमें से कुछ प्रत्यक्ष-योग्य और कुछ प्रत्यक्ष के अयोग्य हुआ करते हैं। इस विषय में फलबल से

कल्पनीय स्वभाव ही शरण (आधार) है। ऐसा न मानने पर न्यायमत पर भी यही दोष आता है। न्यायमत में भी सुखादिकों की तरह धर्मादिकों को भी आत्मधर्मत्व समान होने से प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होना दुर्वार (अपरिहार्य) है। अर्थात् नैयायिक सुख दुःख के समान धर्म अधर्म को भी आत्मा के धर्म मानते हैं। इस कारण फलबलकल्प्य स्वभाव को शरण न मानने पर उन्हें भी सुखादि की तरह धर्माधर्म का प्रत्यक्ष होना स्वीकार करना होगा।

विवरण—'प्रमाणचैतन्य और वर्तमानविषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। यहां पर 'विषय' को 'वर्तमान' विशेषण की तरह 'योग्यत्व' विशेषण भी देना चाहिये। योग्यत्व का अर्थ है प्रत्यक्षयोग्यत्व। इस विशेषण के जोड़ने पर 'वर्तमान और प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य—विषयावच्छिन्न चैतन्य का वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद—प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है।' यह लक्षण सिद्ध होता है। धर्म और अधर्म प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं किन्तु परोक्ष हैं, और प्रस्तुत लक्षण में 'विषय' को 'प्रत्यक्षयोग्य' विशेषण दिया है। इस कारण लक्षण की धर्माधर्म में अतिव्याप्ति नहीं होती।

शंका—सुखादि और धर्मादि दोनों यदि अन्तःकरण के ही धर्म हैं अर्थात् दोनों में अन्तःकरणधर्मत्व यदि समान है तो उनमें से कुछ धर्मों को प्रत्यक्ष योग्यता है और कुछ को नहीं—यह मानने में क्या नियामक है ?

समाधान—सुखादि और धर्मादि दोनों यद्यपि एक अन्तःकरण के ही धर्म हैं तथापि तद्वृत्ति सुखादि, प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य हैं और धर्मादि, प्रत्यक्ष योग्य नहीं हैं। ऐसा मानने में कारण उनका भिन्न स्वभाव ही है। अनुद्भूतत्व, धर्मादिकों का स्वभाव है। इस कारण धर्मादिक, प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं। और उद्भूतत्व, सुखादिकों का स्वभाव है, इस कारण सुखादिक, प्रत्यक्ष के योग्य हैं। अर्थात् अन्तःकरण के धर्मों में से कुछ प्रत्यक्ष के योग्य है और कुछ नहीं। इस विषय में फलबल से कल्पनीय (फल रूप कार्य से अनुमान किया जाने वाला) पूर्वोक्त उद्भूतत्व और अनुद्भूतत्वरूप स्वभाव ही अगत्या स्वीकार करना पड़ता है। इसके सिवाय अन्य उपाय नहीं। नैयायिकों को भी इस फलबलकल्प्य स्वभाव का सहारा लेना पड़ता है। अन्यथा उनके मत में भी धर्मादिकों का प्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि वे सुखादि और धर्मादिकों को आत्मधर्म मानते हैं। परन्तु सुखादिकों को तो प्रत्यक्ष योग्य मानते हैं और धर्मादिकों को प्रत्यक्ष के अयोग्य मानते हैं। परन्तु इसकी उपपत्ति को वे भी फलबलकल्प्य स्वभाव को बिना शरण किये बता नहीं सकते। इसलिये एक ही वस्तु के अनेक धर्मों में से कुछ को प्रत्यक्षयोग्यता है और कुछ को नहीं इसमें स्वभावविशेष ही नियामक है।

इस प्रकार प्रत्यक्षत्वप्रयोजक लक्षण की धर्माधर्म के शाब्द ज्ञान में शंकित अतिव्याप्ति का असंभव दिखाकर पुनश्च आगामी शंका को बताकर उसका समाधान करते हैं—

न चैवमपि वर्तमानतादशायां त्वं सुखीत्यादिवाक्यजन्य-ज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यादिति वाच्यम्। इष्टत्वात्। 'दशमस्त्व-मसि' इत्यादौ सन्निकृष्टविषये शब्दादप्यपरोक्षज्ञानाभ्युपगमात्।

अर्थ—"'विषय' में 'योग्य' विशेषण के देने पर भी सुख की वर्तमान अवस्था में 'तू सुखी है' इस वाक्य से पैदा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्षता प्राप्त होगी (वह वाक्यजन्य ज्ञान, प्रत्यक्ष है)। अर्थात् वह 'योग्य'पदघटित लक्षण भी वाक्यजन्य ज्ञान में अतिव्याप्त होगा।" यह कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि उस वाक्यजन्य ज्ञान को हम अपरोक्ष ही मानते हैं और यही हमें इष्ट है। (उसका अपरोक्षत्व ही हमें सम्मत है) इस कारण पूर्वोक्त लक्षण पर अतिव्याप्ति नहीं होने पाती। कारण 'तू दसवां है' इत्यादि जिस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय संनिकृष्ट होता है, ऐसा शब्द से होंनेवाला भी ज्ञान अपरोक्ष ही होता है, यह हमारा अभ्युपगम (सिद्धान्त) है। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है।

विवरण—प्रत्यक्षत्वप्रयोजक लक्षण के 'विषय' पद में 'वर्तमानत्व' और 'योग्यत्व' इन दो विशेषणों के लगाने पर भी सुख की वर्तमानतावस्था में (जब कि व्यक्ति, सुख का साक्षात् अनुभव ले रहा हो तब) किसी व्यक्ति से 'तुम सुखी हो' कहने पर 'मैं सुखी हूँ' इत्याकारक ज्ञान को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा। ('तुम सुखी हो' वाक्य से होने वाले 'मैं सुखी हूँ' इत्याकारक ज्ञान को अपरोक्ष = प्रत्यक्ष कहना होगा) क्योंकि सुखानुभव के समय 'सुख', वर्तमान तथा प्रत्यक्ष के योग्य भी होता है। इस कारण उस सुखज्ञान में 'योग्य और वर्तमान विषय से अवच्छिन्न चैतन्य के साथ अभिन्न वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य होता है। परन्तु 'त्वं सुखी' वाक्य से होने वाला ज्ञान, पूर्वोक्तलक्षण का लक्ष्य ही नहीं बन सकता। क्योंकि वाक्यजन्य ज्ञान, नियमेन परोक्ष में रहता है। इस-कारण वाक्यजन्य ज्ञान में 'अलक्ष्य में लक्षण का रहना' रूप अतिव्याप्ति होती है।

सिद्धान्ती—'वाक्यजन्य सुखादि ज्ञान का प्रत्यक्ष होना' हमें इष्ट ही है। इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है।

वादी—(१) 'तू सुखी है' इत्यादि वाक्य, सुखादि स्वविषय का अपरोक्ष ज्ञान करानेवाला नहीं होता। (२) क्योंकि यह वाक्य है। सभी वाक्य परोक्ष

ज्ञान कराने वाले होते हैं—यह व्याप्ति है। (३) ज्योतिष्टोमादि वाक्यों के समान। अथवा (१) 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान अपरोक्ष नहीं है। क्योंकि वह वाक्यजन्य है। (३) ज्योतिष्टोमादि वाक्यजन्य ज्ञान के तुल्य। इत्यादि अनुमान प्रमाण से वाक्यजन्य ज्ञान को नियमेन परोक्षत्व होता है। ऐसी स्थिति में आप 'तू सुखी है' इस वाक्य से होनेवाले ज्ञान में अपरोक्षत्व ही हमें इष्ट है—कैसे कह सकते हैं?

सिद्धान्ती—'तू दसवाँ है' इस वाक्य से 'मैं दसवाँ हूँ' इत्याकारक ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट = प्रत्यक्ष, होने से उससे होने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। इस कारण वाक्यजन्य ज्ञान में नियमेन परोक्षत्व ही रहता है—आपके इस नियम का सन्निकृष्ट विषय-वाक्यार्थ ज्ञान में व्यभिचार होता है। उपर्युक्त दो अनुमानों में आपने क्रमशः 'वाक्यत्वात्' और 'वाक्यजन्यत्वात्' दिये हुए दोनों हेतु, सोपाधिक हैं, उनमें 'सन्निकृष्ट विषयत्व' उपाधि है। सिवाय हेतुओं में सत्प्रतिपक्षत्व भी है। (१) तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान, अपरोक्ष है। (२) क्योंकि उसका विषय अपरोक्ष है। (३) चाक्षुष प्रत्यक्ष के तुल्य। इस प्रत्यनुमान में हेतु, पूर्वोक्त हेतु के साध्य का (परोक्षत्व का) अभाव सिद्ध करनेवाला है। इस कारण आपके दोनों हेतु सत्प्रतिपक्षित हैं।

'तू दसवां है' इस वाक्य को सुनकर 'मैं ही दसवां हूं' यह जो ज्ञान होता है उसे इन्द्रियजन्य नहीं कह सकते। क्योंकि पूर्वोक्त वाक्यश्रवण से पूर्व इन्द्रियसन्निकर्ष के रहने पर भी (अन्य सब, दसवे मनुष्य को और स्वयं दसवां स्वयं को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी 'मैं ही दसवां' यह ज्ञान किसी को भी नहीं हुआ था। प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करते समय, इन्द्रियों को, शब्दका सहकारित्व रहता है। ऐसा किसी ने भी नहीं माना है। इसलिये 'तू दसवां' इस ज्ञान को शब्दसहकृत इन्द्रियजन्यत्व होने से अपरोक्षत्व भी नहीं कह सकते। इन्द्रियजन्यत्व न होने से वह ज्ञान परोक्ष है, यह भी नहीं कह सकते।क्योंकि उसे यदि परोक्ष कहें तो 'दसवां है' यह परोक्ष ज्ञान, 'दसवां नहीं' इस अपरोक्ष अध्यास की निवृत्ति नहीं कर सकता। इसलिये 'तू दसवा है' अथवा 'तू वह ब्रह्म है' इत्यादि अपरोक्ष विषय वाक्य से हुआ ज्ञान, अपरोक्ष ही है—यह मानना पड़ता है।

शंका—'अपरोक्ष विषय वाक्य से हुआ ज्ञान अपरोक्ष ही होता है' मानने पर 'पर्वत वह्निमान् है' इत्यादि अनुमिति ज्ञान को भी प्रत्यक्षत्व है, कहना पड़ेगा, यह शंका कर अनुमिति ज्ञान में पर्वतांश में या वह्नि अंश में प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति को आप कहते हैं? पर्वतांश में यदि कहें तो वह हमें इष्ट ही है। इस आशय से ग्रंथकार समाधान करते हैं—

अत एव पर्वतो वह्निमानित्यादिज्ञानमपि वह्न्यंशे परोक्षं

पर्वतांशेऽपरोक्षम् । पर्वताद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य बहिर्निःसृतान्तः-करणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याभेदात् । वह्न्यंशे त्वन्तःकरणवृत्तिनिर्ग-मनासम्भवेन वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्यस्य च परस्परं भेदात् । तथाचानुभवः 'पर्वतं पश्यामि वह्निमनुमिनोमीति' ।

न्यायमते तु पर्वतमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायापत्तिः ।

अर्थ—इसीलिये (प्रमाणचैतन्य और योग्यवर्तमानविषयचैतन्य के अभेद को प्रत्यक्षप्रयोजकत्व है—हमारा यह अभ्युपगम होने से ही) 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि ज्ञान भी वह्नि अंश में परोक्ष और पर्वत अंश में अपरोक्ष है क्योंकि पर्वतादिकों से अवच्छिन्न चैतन्य और इन्द्रिय के द्वारा बाहर निकली हुई अन्तःकरण वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद है । परंतु वह्नि अंश में अन्तःकरण वृत्ति का देह के बाहर निकलने का संभव न होने से वह्न्य-वच्छिन्न चैतन्य और प्रमाणचैतन्य का परस्पर भेद है (इस कारण 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमान ज्ञान वह्नि अंश में परोक्ष है) और अनुभव भी 'मैं पर्वत को देखता हूँ और उस पर स्थित अग्नि का अनुमान करता हूँ' ऐसा ही है । परंतु इसके विपरीत न्यायमत में 'मैं पर्वत का अनुमान करता हूं' ऐसा अनुव्यवसाय होता है ।

विवरण—'प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य के अभेद' को हमने प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक माना है । (जिस ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट = अतिसमीप होता है, वह ज्ञान, इन्द्रियजन्य न होनेपर भी अपरोक्ष माना जाता है) इसलिये 'पर्वत वह्निमान् है' इत्यादि ज्ञान भी संनिकृष्ट स्थित पर्वत अंश में अपरोक्ष है और चक्षुसे संनिकृष्ट न हुए वन्हि अंश में परोक्ष है । पर्वत अंश में अपरोक्ष कैसे होता है पूछो, तो बताते हैं—पर्वतविशिष्ट चैतन्य और तदाकार–अंतःकरण चैतन्य का अभेद हुआ है । प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक (कारण) है । यह हमारा अभ्युपगम होने से 'पर्वत वह्निमान् है' यह ज्ञान, पर्वत रूप विषय अंश में अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है । परन्तु उपर्युक्त वाक्य से जिस अग्नि का ज्ञान होता है उस अग्निसे अन्तःकरणवृत्ति का साक्षात् संबंध नहीं होता । इस कारण अग्निविशिष्ट चैतन्य और अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रमाणचैतन्य का परस्पर भेद है, अभेद नहीं । इसलिए वह्नि अंश में पूर्वोक्त ज्ञान को प्रत्यक्षत्व न होकर परोक्षत्व है ।

परन्तु भट्टपाद ने कहा है—

'सिद्धानुगममात्रं हि कर्तुं युक्तं परीक्षकैः ।
न सर्वलोकसिद्धस्थलक्षणेन निवर्तनम् ॥'

अर्थात् परीक्षकों को लोक प्रसिद्धि का अनुसरण करना ही योग्य है। लोकप्रसिद्धि को छोड़कर केवल लक्षण से सर्वलोकप्रसिद्ध वस्तु का निवर्तन करना, कभी भी उचित नहीं है, यह भाव है। इसलिए 'पर्वत वह्निमान् है' इस प्रसिद्ध अनुमिति का केवल लक्षण के द्वारा हटाना योग्य नहीं है। इस शंका का समाधान ग्रंथकार 'तथा च' वाक्य से करते हैं। हमारे कहने के अनुसार ही लोकप्रसिद्धि भी (लोगों का अनुभव भी) है। सभी लोक 'मैं पर्वत को प्रत्यक्ष देखता हूं' परन्तु उस पर स्थित अग्नि को प्रत्यक्ष नहीं देख रहा हूं किंतु 'धूम' लिङ्ग से उसका अनुमान करता हूं' कहते हैं। अर्थात् हम लोकप्रसिद्धि का अनुसरण कर ही 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान पर्वत अंश में अपरोक्ष है और वह्नि अंश में परोक्ष है' कहते हैं; लोकप्रसिद्धि का अपलाप नहीं करते।

इस प्रकार हमने वेदान्तपक्ष में लोकप्रसिद्धि का अनुसरण किस प्रकार होता है दिखाकर नैयायिक अपने पक्ष में लोक प्रसिद्धि का अतिक्रमण कैसे करते हैं दिखाने के लिये 'न्यायमते तु' इत्यादि ग्रंथ प्रारंभ करते हैं। न्यायमत में ही 'मैं पर्वत का अनुमान करता हूं' यह अनुव्यवसाय होता है। क्योंकि नैयायिक पर्वत को और उस पर स्थित धूम को भी प्रत्यक्ष देखकर पश्चात् 'यह पर्वत वह्निमान् है' अनुमान करता है। इस कारण 'यह घट' इस प्रकार पहले प्रत्यक्ष देखकर पश्चात् 'मैं घट को जानता हूँ' इस मानस अनुव्यवसाय के समान उस अनुमितिज्ञान को भी अनुव्यवसायत्व है। व्यवसायत्व (इन्द्रियजन्यपूर्वज्ञानत्व) नहीं। मूलस्थ 'न्यायमते तु' यहां 'तु' शब्द वेदान्त से न्यायमत में वैलक्षण्य व्यक्त करने के लिये है। अब ग्रंथकार किस अनुमिति में ज्ञान सर्वांश में परोक्ष होता है—बताकर 'सुरभिचन्दनम्' ज्ञान में भी पूर्वोक्त न्याय ही लगता है—बताते हैं।

असन्निकृष्टपक्षकानुमितौ तु सर्वांशेऽपि ज्ञानं परोक्षम्। सुरभिचन्दनमित्यादिज्ञानमपि चन्दनखण्डांशे अपरोक्षं सौरभांशे तु परोक्षं सौरभ्यस्य चक्षुरिन्द्रियायोग्यतया योग्यत्वघटितस्य निरुक्तलक्षणस्याभावात्॥

अर्थ—जिस अनुमितिज्ञान में पक्ष, असंनिकृष्ट (चक्षुरादि इन्द्रियों से असम्बद्ध—इन्द्रियों का विषय न बननेवाला) होता है। उसमें ज्ञान सभी अंशों में परोक्ष ही होता है। 'यह चन्दन का मूठा सुगन्धी है' इत्यादि दूरस्थ मूठे को (विषय को) देख होनेवाला ज्ञान भी 'चंदन का मूठा' इस अंश में अपरोक्ष और सुगंध अंश में परोक्ष है। क्योंकि 'सुगंध' चक्षुरिन्द्रिय के विषय होने योग्य नहीं है। (सौरभ में चक्षुरिन्द्रिय का विषय बनने की योग्यता

नहीं है) और प्रत्यक्षप्रयोजकत्व के पूर्वोक्त लक्षण में 'योग्य' विशेषण दिया है अतः योग्यत्वघटित निरुक्त (पूर्वोक्त) लक्षण का यहां अभाव है।

विवरण—परंतु इसके विपरीत (१)—'पृथ्वी के परमाणु गंधवान् हैं। (२)—क्योंकि उनमें पृथ्वीत्व है। (३)—घटादिकों के समान'। इस अनुमान में पृथ्वी के परमाणु-पक्ष है। परन्तु वह अप्रत्यक्ष (असंनिकृष्ट) है। इस तरह जिस अनुमिति ज्ञान में पक्ष अप्रत्यक्ष होता है उस अनुमान में पक्ष और साध्य रूप दोनों अंशों में ज्ञान परोक्ष ही होता है। और जिस अनुमिति में पक्ष, प्रत्यक्ष रहता है वहां पक्ष रूप अंश में ज्ञान प्रत्यक्ष रहता है और साध्य अप्रत्यक्ष (परोक्ष) रहता है। परन्तु जिस अनुमिति में पक्ष भी अप्रत्यक्ष हो वहां पक्ष और साध्य रूप दोनों अंशों में ज्ञान परोक्ष ही रहता है। इस नियम के अनुसार ही 'सुरभिचन्दनम्' ज्ञान में विशेष शंका करते हैं—

चन्दन का मूठा, देखनेवाले व्यक्ति से दूर है, और उस व्यक्ति को 'यह चन्दन का मूठा सुगंधी है' इत्याकारक ज्ञान उस मूठे को देख कर ही हुआ है। ऐसी स्थिति में यह ज्ञान 'सौरभ' अंश में परोक्ष है या अपरोक्ष? उस ज्ञान में परोक्ष की सामग्री न होने से उसे परोक्ष नहीं कह सकते। 'जहां जहां चन्दन का टुकड़ा होता है, वहां वहां सुरभित्व होता है' इत्यादि व्याप्ति-ज्ञानादि, परोक्ष ज्ञान की सामग्री है। परन्तु वह 'चन्दन सुरभि है' इस ज्ञान के पूर्व संभव नहीं होती। सिवाय उस ज्ञान का विषय जो 'सौरभ', वह प्रत्यक्ष योग्य भी है। इसलिये उस विषय में अनुमान करना ही व्यर्थ है। अतः 'सुरभि चन्दनम्' यहां ज्ञान को सौरभ अंश में परोक्ष नहीं कह सकते, और अपरोक्ष भी नहीं कह सकते। क्योंकि वहां सुगंधाकार वृत्ति, उत्पन्न नहीं हुई है। और विषयाकार वृत्ति जब तक उत्पन्न नहीं होती तब तक अपरोक्ष ज्ञान का संभव नहीं।

इस पर सिद्धान्ती कहता है—'चन्दन सुगन्धि है' यहां सौरभ अंश में ज्ञान को हम परोक्ष ही मानते हैं। (मूल में 'इत्यादि ज्ञानम्' के आदि शब्द से 'मधुर आम्रफल' इत्यादि दूसरे ज्ञानों का ग्रहण करना चाहिये) किसी व्यक्ति ने दूर से ही चन्दन का मूठा अथवा आम्रफल को चक्षु से देखा और उसे वह मूठा या फल देख कर ही 'चन्दन सुगंधि है और आम्रफल मधुर है' ज्ञान हुआ। उस स्थिति में उसे गंध का या रस का जो ज्ञान हो रहा है, वह परोक्ष है या अपरोक्ष? क्योंकि उसने चन्दन को स्वयं सूंघा नहीं या आम्रफल को चखा नहीं, किन्तु दूर से ही उन पदार्थों को चक्षु से केवल देखा है। अतः उस ज्ञान में संशय होता है।

तथापि ऐसे प्रसंग में गंध रसादिकों का ज्ञान-परोक्ष, और चन्दन का टुकड़ा तथा आम्रफल का ज्ञान अपरोक्ष रहता है, यही मानना चाहिये। क्योंकि उस व्यक्ति ने पहले उसी चन्दन का यदि गन्ध लिया हो तो मूठे को केवल देख कर ही 'वह सुगंधी है' यह उत्पन्न हुआ ज्ञान 'स्मृति' कहावेगा। और यदि उसने पहले बिना सूंघे ही 'वह सुगंधी है' यह ज्ञान उसे हो रहा हो तो 'चन्दन खण्डत्व' रूप लिंग (हेतु) से होनेवाला सौरभज्ञान 'अनुमितिज्ञान' कहावेगा। आम्रफल के मधुर रस के विषय में भी इसी तरह समझना चाहिये। क्योंकि पूर्वोक्त 'पर्वत अग्निमान् है' इस अनुमितिज्ञान में पर्वत की तरह प्रस्तुत उदाहरण में सौरभ व माधुर्य का आश्रयभूत मूठा और आम्रफल प्रत्यक्ष दीखते हैं। इस कारण तत्तद् अंश में उनका ज्ञान अपरोक्ष ही है।

शंका—सौरभ में भी योग्यविषयता है। वह घ्राणेन्द्रिय का विषय बन सकता है। तब सौरभ अंश में भी ज्ञान को अपरोक्षत्व क्यों नहीं? अर्थात् सुगंध को इन्द्रिययोग्यविषयत्व होते हुए उसका ज्ञान क्यों न प्रत्यक्ष हो।

समाधान—सौरभ में चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने की योग्यता नहीं है। घ्राणेन्द्रिय का विषय होने की योग्यता है। सुगंध घ्राणेन्द्रिय का विषय है। वह चक्षुरिन्द्रिय का विषय नहीं। इस कारण हमने प्रत्यक्ष प्रयोजक का 'तत्तदिन्द्रिययोग्यत्वघटित' लक्षण बताया है। उसका इस सौरभ में अभाव है। केवल चक्षु से देख कर सौरभ का अपरोक्ष ज्ञान होना शक्य नहीं। इसलिये उपर्युक्त शंका हो नहीं सकती।

जिस अनुमितिज्ञान में पक्ष असंनिकृष्ट है उस अनुमिति में पक्ष की अपरोक्षता का असंनिकृष्टत्व जैसा बाधक बनता है उसी तरह जिस अनुमिति में पक्ष संनिकृष्ट (अपरोक्ष) है ऐसे 'चन्दन सुरभि है' ज्ञान में 'पक्ष' के अंश में ज्ञान को अपरोक्षत्व तथा साध्यांश में परोक्षत्व होता है। यह मानने पर प्रसिद्ध जातिबाधक सांकर्य की प्राप्ति बाधक होती है। इस कारण 'ज्ञान, पक्ष के अंश में अपरोक्ष और साध्य के अंश में परोक्ष होता है' यह कथन अनुचित है। इस शंका का अनुवाद कर उसका निरसन किया जाता है :—

न चैवमेकत्र ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरभ्युपगमे तयोर्जातित्वं न स्यादिति वाच्यम्। इष्टत्वात्। जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतया अप्रामाणिकत्वात्। घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानं न तु तस्य जातित्वेऽपि ॥

जातित्वरूपसाध्याप्रसिद्धौ तत्साधकानुमानस्याप्यनवकाशात् । समवायासिद्ध्या ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्यानित्यतया च नित्यत्वसमवेतत्वघटितजातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्च । एवमेवोपाधित्वमपि निरसनीयम् ॥

अर्थ—'पूर्वोक्त प्रकार से एक ज्ञान में आंशिक परोक्षत्व और आंशिक अपरोक्षत्व इन दो धर्मों का स्वीकार करने से उन दोनों को भी जातित्व नहीं है' यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व का जातित्व न होना हमें इष्ट ही है । क्योंकि जातित्व और उपाधित्व की परिभाषा (तर्कशास्त्र का संकेत) किसी प्रमाण का विषय न होने से अप्रामाणिक है । (उस परिभाषा में कोई प्रमाण नहीं है) 'यह घट' इत्यादि प्रत्यक्ष-प्रमाण घटादिकों के अस्तित्व में ही प्रमाण है, उनके जातित्व में प्रमाण नहीं हो सकता । इस प्रकार जातित्वरूप साध्य की अप्रसिद्धि (सर्वथा असिद्धि) होने से तत्साधक अनुमान की भी प्रवृत्ति हो नहीं सकती । और समवाय की प्रमाण से सिद्धि न होने से तथा ब्रह्मभिन्न समस्त प्रपञ्च की अनित्यता होने से नित्यत्व और समवेतत्व से युक्त जातित्व की घटत्वादिकों में असिद्धि होती है । इस कारण 'यह घट' इत्याकारक प्रत्यक्ष, घटत्वादिकों के जातित्व में प्रमाण नहीं हो सकता इसी न्याय से नैयायिकों के पारिभाषिक उपाधित्व का भी निरसन करना चाहिये ।

विवरण—उपर्युक्त शंका का आशय इस प्रकार है—'पर्वत वह्निमान् है' इस एक ही ज्ञान में परोक्षत्व भी है और अपरोक्षत्व भी है—ऐसा आप कहते हैं । परन्तु 'पर्वत वह्निमान् है' यह वह्निप्रकारक पर्वतविशेष्यक और संयोगसंसर्गक विशिष्ट ज्ञान भी एक ही है, किन्तु उसे पर्वतरूप विशेष्यांश में प्रत्यक्ष और अग्निरूप विशेषणांश में परोक्ष मानने पर प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व में जातित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि वह विशिष्ट ज्ञान सांकर्य रूप जातिबाधक-कारण-से युक्त है । परस्पर समानाधिकरण न होनेवाले दो धर्मों का एक स्थान में समावेश होना (उनका एक अधिकरण में रहना) संकर कहलाता है । संकर, जातिका बाधक (बाध करनेवाला) धर्म है । उपर्युक्त दो ज्ञानों का 'पर्वतो वह्निमान्' इस स्थल में संकर होता है । इस कारण वह संकर, परोक्षत्व और अपरोक्षत्व के जातित्व का बाध करेगा ।

तार्किकों की इस शंका पर सिद्धान्ती कहता है—

'पर्वतो वह्निमान्' इस विशिष्ट ज्ञान में जाति और उपाधि से विलक्षण, परोक्षत्व और अपरोक्षत्व धर्म मानने पर उसमें (परोक्षत्व–अपरोक्षत्व को) नैयायिकों का इष्ट, जातित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा—यह भय आपका

व्यर्थ है। क्योंकि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व में जातित्व का न होना हमें इष्ट ही है। क्योंकि प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व, जाति और उपाधि से भिन्न एक धर्म है, यही हमारा मत है।

शंका—घटत्वादि अन्य जातियों की तरह परोक्षत्व और अपरोक्षत्व दो जातियां भी प्रमाणसिद्ध हैं। तब उनके प्रमाणसिद्ध जातित्व का स्वीकार न करने पर अतिप्रसंग होगा।

समाधान—जातित्व और उपाधित्व (जाति और उपाधि) आपके संकेत हैं (आपकी रची परिभाषाएँ हैं) उन्हें प्रामाणिकत्व नहीं है (जाति और उपाधि, प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होतीं)।

शंका—नील घटत्वादिकों में जैसा उपाधित्व प्रमाणसिद्ध है, उसी तरह घटत्वादिकों में जातित्व भी प्रमाणसिद्ध ही है। तब घटत्व जाति में कोई प्रमाण नहीं, यह आप कैसे कहते हैं?

समाधान—आपके पारिभाषिक जाति के विषय में जैसे प्रमाण नहीं, वैसे ही उपाधि के विषय में भी प्रमाण नहीं है, यह हमारा कथन है। इसी-कारण मूल में जातित्व के साथ उपाधित्व का भी ग्रहण किया है। अर्थात् 'घटत्वादिकों में जातित्व रहता है' और उसी तरह 'नील घटत्व में उपाधित्व रहता है' ये आपकी दोनों परिभाषाएँ, प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण का विषय न होने से अप्रामाणिक हैं।

शंका—'जिस वस्तु का जिस इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, उसी इन्द्रिय से तन्निष्ठ जाति और उस वस्तु के अभाव का भी ग्रहण होता है' इस न्याय से 'यह घट' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान से घटत्वजाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। तब 'जाति और उपाधि के विषय में कोई प्रमाण नहीं है' यह आप कैसे कह रहे हैं। इस शंका का समाधान 'घटोऽयम्०' इत्यादि ग्रंथ से ग्रन्थकार ने किया है, जिसका आशय इस प्रकार है—

'यह घट' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान घटत्वादिकों के अस्तित्व में ही प्रमाण है। उसके जातित्व में प्रमाण नहीं है। क्योंकि घटत्व के अस्तित्व का ज्ञान कराकर ही वह उपक्षीण (कृतकार्य) हो जाता है। घटत्वादिकों का अस्तित्व सिद्ध करने केलिये ही उस प्रत्यक्ष के प्रवृत्त होने से उसका अस्तित्व सिद्ध करते ही वह कृतार्थ हो जाता है और उसके जातित्व की सिद्धि के लिये अप्रवृत्त होने से वह जातित्व की सिद्धि में उदासीन रहता है।

शंका—घटत्वजाति में प्रत्यक्षप्रमाण के न होने पर भी अनुमान प्रमाण है—"घटत्व जाति है, (क्योंकि उसे—घटत्व को) उपाधिभिन्न सामान्यधर्मत्व होने से अथवा नित्य और अनेकसमवेत होने से, सत्ता की

तरह । तब ग्रन्थकार 'जातित्वरूप' इत्यादि ग्रन्थ से इस शंका का समाधान करते हैं—

इस अनुमान में नित्य और अनेकसमवेत रूप लक्षण से युक्त जातित्व रूप साध्य की अप्रसिद्धि होने से उसके अधीन रहनेवाले व्याप्तिज्ञानादि का भी अभाव होने से इस जातिसाधक अनुमान को अवसर ही नहीं मिल पाता।

शंका—ऐसे जातित्व की अप्रसिद्धि होने पर भी उस जातित्व के घटक (अवयवभूत) नित्यत्व, एकत्व और अनेकसमवेतत्व, इनकी क्रम से आत्मा, आकाश और घटादिकों में प्रसिद्धि है। क्योंकि—'नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यम्' यह सामान्याख्य जातिका लक्षण किया है। उसमें से नित्यत्व आत्मा में, एकत्व आकाश में, और अनेक समवेतत्व घटादिकों में प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रसिद्ध नित्यत्वादिकों का ग्रहण करके उनसे युक्त जातित्व की घटत्वादिकों में सिद्धि होगी।

ग्रन्थकार ने 'समवायासिद्धया शून्य' इत्यादि मूल ग्रन्थ से इस शंका का निरसन किया है जिसका आशय इस प्रकार है—समवाय नाम का कोई पदार्थ ही सिद्ध नहीं है।

(नैया०) तथापि 'यह घट रूपवान् है' (मृत्तिका में मृत्तिका रूप अवयवों में) घट अवयवी है'। यहां रूप और घट अथवा मृत्तिका और घट में संयोग की प्रतीति तो होती नहीं, और संबन्ध तो उनमें है ही, अतः परिशेषन्याय से युतसिद्ध पदार्थों में प्रतीत होनेवाले संयोग से भिन्न अयुतसिद्ध पदार्थों के समवाय संबंध की सिद्धि होती है।

(वेदा०) आपका यह कहना उचित नहीं है। कारण, रूपादि गुण और वस्त्रादि गुणी (द्रव्य) अथवा परमाणु आदि अवयव और द्व्यणुक आदि अवयवी इनमें भेद स्पष्ट है तथा उनका संबंध जो समवाय है वह भी अत्यंत (बिलकुल) भिन्न है, ऐसा स्वीकार करने पर 'दण्डः पुरुषः' में जैसे समानाधिकरण का प्रत्यय संभव नहीं होता वैसे ही 'शुक्ल घट, मृद्घट' इनमें भी समानाधिकरण का प्रत्यय नहीं हो पायगा। कारण, 'दण्डः पुरुषः' दण्ड ही पुरुष है, यह कभी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें अत्यन्त भेद है। उसी तरह गुण गुणी, अवयव अवयवी, और द्रव्य तथा समवाय संबंध के भी अत्यन्त भिन्न होने से 'शुक्ल घट, मृद्घट' द्रव्यसमवेत गुण आदि में समानाधिकरण-प्रत्यय की संभावना भी नहीं की जा सकेगी किन्तु 'शुक्लघट, मृत्तिका में घट' ऐसा समनाधिकरण प्रत्यय तो हुआ करता है। अतः इस सामानाधिकरण्य की प्रतीति से 'शुक्ल घट' आदि में अभेद (तादात्म्य) ही स्वीकार करना चाहिये। उपर्युक्त 'दण्डः पुरुषः' उदाहरण व्यतिरेकी है। अन्वयी नहीं है।

सिवाय दो समवायी पदार्थों का समवाय, अपने समवायी पदार्थों से (जिनका समवाय हो) संबद्ध होकर विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है या उनसे असंबद्ध रहकर ही वह विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है ? घट द्रव्य है और रूप गुण है। ये दोनों पदार्थ युतसिद्ध (पृथक्सिद्ध) नहीं हैं, किन्तु अयुतसिद्ध हैं। इस कारण उनमें संयोग संबंध नहीं रहता। समवाय संबंध ही संभव होता है। इसलिये जिसमें समवाय हो वह समवायी, इस व्युत्पत्ति से घट और रूप ये दोनों पदार्थ समवायी हैं। समवाय उन समवायी पदार्थों से संबद्ध हो कर 'ये दो पदार्थ समवेत हैं' 'घट रूपी है' (रूपवान् = रूप से युक्त है) इस विशिष्ट प्रत्यय का नियामक (कारण) होता है या वह (समवाय) समवायी पदार्थों से संबद्ध न होकर ही विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है ? यह प्रश्न सिद्धान्तीने 'समवाय संबंध' को पृथक् पदार्थ माननेवाले तार्किक से किया है। ऐसे उभयकोटिक प्रश्न को विकल्प कहते हैं। 'दण्डी पुरुषः' (दण्डवान् पुरुष) यह विशिष्ट प्रत्यय है। क्योंकि इसमें 'दण्ड' विशेषण और 'पुरुष' विशेषित (विशेष्य) है। 'यह पुरुष दण्डवान् है' इस प्रत्यय (अनुभव) का विषय 'विशेषित' (विशेषणयुक्त) पुरुष है। इसलिये यह प्रत्यय, विशिष्ट है। उसी तरह 'रूपी (रूपवान्) घटः' इसमें भी 'रूप' विशेषण से युक्त (विशेषित = समवेत) घट, विषय है। इस कारण यह भी विशिष्ट प्रत्यय है। ऐसे विशिष्ट प्रत्यय का नियामक कौन ? संबद्ध समवाय या असंबद्ध समवाय ?

सिद्धान्ती—'समवाय, समवायी पदार्थों से संबद्ध होकर विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है' इस प्रथम पत्तको मानने पर अनवस्था दोष होगा। जैसे—नैयायिक का कहना है कि—'रूपी घटः' इस प्रत्यय में 'रूप और घट' दोनों पदार्थ बिलकुल भिन्न हैं। तथापि परस्पर संबद्ध हैं। इन दो अयुतसिद्ध पदार्थों में संबंध की संभावना तो बन ही नहीं सकती। अतः नित्यसंबद्ध समवाय की सिद्धि हो जाती है।

तब वेदान्ती कहता है कि 'समवाय' भी तो संबंध ही है। इसी कारण वह रूप और घट इन दो पदार्थों के मध्य में रहता है। वह रूपात्मक या घटात्मक न होकर रूप और घट से बिलकुल भिन्न है। तब उनको संबद्ध कराने के लिये एक और संबंध की आवश्यकता होगी। अन्यथा असंबद्ध और अतद्रूप समवाय उन दो पदार्थों में किसी प्रकार के अतिशय को पैदा नहीं कर सकता। इसी प्रकार रूप और समवाय का कल्पित संबन्ध भी परस्पर सम्बद्ध होकर ही संबंधी पदार्थों में अतिशय को पैदा कर सकेगा। अतः समवाय और समवायी का संबंध होने के लिये दूसरा समवाय, उसके संबंध के लिये तीसरा, उसके संबंध के लिये चौथा, इसप्रकार अविच्छिन्न समवायपरंपरा प्राप्त होगी। इसी को अनवस्था

दोष कहते हैं। रूप और घट के समवाय की स्वरूप से ही स्थिति मानने पर घट और पट के संयोग की भी स्वरूप से ही स्थिति माननी होगी। अर्थात् घट पटादि पदार्थों पर संयोग की समवाय से स्थिति की कल्पना करना व्यर्थ है। इसलिये रूप और घट का तादात्म्य मानना ही सर्वथा सयुक्तिक है।

यदि ऐसा कहें कि समवाय, समवायी पदार्थों से नित्यसंबद्ध हुआ ही प्रतीत होता है, जिससे पूर्वोक्त अनवस्था दोष नहीं हो सकेगा। तो संयोग भी संयोगी पदार्थों से नित्यसम्बद्ध हुआ ही प्रतीत होता है तब संयोग को संबंधित होने के लिए एक दूसरे समवाय संबंध की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इस पर यदि ऐसा कहें कि दो द्रव्यों का संयोग होने से संयोग पृथक् पदार्थ है, उसे 'गुण' कहते हैं, अतः अपने स्वरूप (गुण) से भिन्न स्वरूप वाले द्रव्य से संबंधित होते समय उसे समवाय की अपेक्षा रहती है। तो समवाय भी अर्थान्तर (पृथक् पदार्थ) है अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म पदार्थों से वह भिन्न पदार्थ है। तब वह द्रव्य, गुण और कर्म से सम्बंधित होते समय दूसरे समवाय की अपेक्षा कैसे नहीं करेगा। अवश्य ही करेगा। इस पर यदि ऐसा कहें कि 'संयोग' यह गुण पदार्थ होने से द्रव्यों से सम्बंधित होते समय 'समवाय' की अपेक्षा करता है। संयोग की तरह समवाय स्वयं गुण नहीं है, अपितु सात पदार्थों में से छठा पदार्थ है। इसलिए उसे दूसरे समवाय की अपेक्षा नहीं होती कहें, तो संयोग को गुणत्व आपकी परिभाषा में है, शास्त्रीय नहीं। सिवाय अपेक्षा में निमित्त 'पदार्थान्तरत्व' का होना दोनों में समान है। 'संयोग' जैसे संयोगी से पृथक् पदार्थ है, वैसे 'समवाय' भी 'समवायी' से पृथक् पदार्थ है। अतः जैसे संयोग, संयोगी के साथ सम्बद्ध होने के लिए समवाय की अपेक्षा रखता है वैसे ही समवाय को समवायी से सम्बद्ध होने के लिए दूसरे समवाय की अपेक्षा (आवश्यकता) होनी ही चाहिए। बिना उसके वह समवायी से कैसे सम्बंधित हो सकेगा ?

अनवस्था दोष के निवारणार्थ यदि हम पूर्वोक्त विकल्पों में से दूसरे पक्ष का (समवायी से बिना संबंधित हुए ही समवाय विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है) ग्रहण करें तो 'अतिप्रसंग' दोष होगा। क्योंकि फिर तो कोई भी असंबद्ध पदार्थ, विशिष्ट प्रत्यय का नियामक हो सकेगा। असंबद्ध पट से भी 'रूपी घटः' प्रत्यय होने का प्रसंग प्राप्त होगा। सिवाय हम अद्वैतसिद्धांती आप तार्किकों से यह पूछते हैं कि समवाय अनेक हैं या एक ? आप उसे अनेक नहीं बता सकते, कारण 'समवायस्तु एक एव', 'विशेष' पदार्थ के अनन्त होने पर भी 'समवाय' एक ही है—आप की परिभाषा है। इसलिए समवाय के अनेक मानने पर 'अपसिद्धांत' और 'गौरव' दो दोष प्राप्त होंगे। यदि 'समवाय' को एक बतावें तो रूप, ज्ञान आदि का समवाय वायु, घट आदि

पर स्थित समवाय से पृथक् (भिन्न) न होने से 'वायु रूपवान् है और घट विलक्षण गतिमान् है,' प्रतीति होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इस पर यदि आप कहें कि वायु में रूप का, और घट में विलक्षण गति का अभाव होने से उपर्युक्त प्रतीति का प्रसंग कैसे प्राप्त होगा ? उत्तर—वायु में रूप की स्थिति का प्रयोजक (कारण) रूपसमवाय के रहने पर भी रूप का अभाव (रूपं नास्ति) बताने लगें तो 'व्याघात' दोष प्राप्त होगा।

इस प्रकार समवाय के सिद्ध न होने पर प्रत्यक्षगम्य कार्यत्व और ब्रह्मभिन्नत्वलिंगक अनुमान से तथा "हे सोम्य, यह समस्त कार्यरूप जगत्, उत्पत्ति से पूर्व सत् ही था," इस श्रुति से सिद्ध 'ब्रह्म से भिन्न सकल प्रपंच अनित्य है' इस न्याय से नित्यत्व व समवेतत्व विशेषणों से युक्त जातित्व की घटत्वादि में असिद्धि है। (समवाय की ही सिद्धि न होने से प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा घटत्वादिकों में जाति की सिद्धि नहीं होती। जाति में कार्यत्व होने से और वह ब्रह्मभिन्न होने से उसकी अनित्यता का अनुमान हो जाता है। एवं च अनुमान से भी जाति सिद्ध नहीं हो पाती। श्रुति से भी 'समस्त प्रपंच अनित्य' सिद्ध होने से नित्य व अनेकसमवेत जाति घटत्वादिकों में सिद्ध नहीं हो पाती)

नैयायिकों से स्वीकृत जाति की इस प्रकार अप्रामाणिकता सिद्ध होने से ही 'परोक्षत्व और अपरोक्षत्व' को हम जातिरूप नहीं मानते। इसी प्रकार घटत्वादिकों के जातिरूप होने में भी कोई प्रमाण नहीं है। जाति की अप्रामाणिकता में तीन हेतु हैं—१—प्रत्यक्ष तो घटत्व के अस्तित्व में (सत्ता में) प्रमाण है, जातित्व में नहीं। २—जातित्वरूपसाध्य की अप्रसिद्धि होने से अनुमान प्रमाण का अवसर ही नहीं प्राप्त होता। ३—जातिलक्षण घटित नित्यत्व, समवेतत्व आदिकी असिद्धि होने से भी जाति की सिद्धि नहीं हो पाती। इस पर तार्किक पूछता है कि आप ने तो जाति की तरह उपाधि को भी अप्रामाणिक बताया था परन्तु तीन हेतुओं से मात्र जाति की परिभाषा अप्रामाणिक ठहरती है, न उपाधि की। इस शंका का निरसन ग्रन्थकार 'एवमेव' ग्रंथ से करते हैं। जातित्व की परिभाषा में अप्रामाणिकता दिखाने के लिये जो तीन हेतु दिये हैं, उन्हीं से उपाधित्व का भी निरसन हो जाता है। जैसे—'नीलपटत्व' आदि में उपाधित्व बतानेवाली आपकी नीलघटत्व की परिभाषा प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि १—'यह नीलघट है' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण नीलघटत्व के अस्तित्व में प्रमाण है, न कि नीलघटत्व के उपाधि होने में। २—उपाधित्व रूप साध्य के अप्रसिद्ध होने से तत्साधक अनुमान भी नहीं हो सकता। (उपाधित्व रूप साध्य का साधक अनुमान—१—नील घटत्वादि उपाधि है, २—क्योंकि उस नील घटत्वादि पर जातिभिन्नसामान्य धर्मत्व है अर्थात्

'नीलघटत्व', 'घटत्व' जाति से भिन्न सामान्य धर्म है, २—आकाशत्वादि के समान। परन्तु इस अनुमान में उपाधित्व रूप साध्य ही अप्रसिद्ध है।) ३—समवाय आदि की सिद्धि न होने से उपाधित्व की भी सिद्धि नहीं होती। यद्यपि जाति और उपाधि दोनों अप्रामाणिक हैं तथापि एक ही चैतन्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व रूप दो विरुद्ध धर्मों का रहना कहां तक उचित है? इस प्रश्न का उत्तर —

पर्वतो वह्निमानित्यादौ च पर्वतांशे वह्न्यंशे चान्तःकरणवृत्तिभेदाङ्गीकारेण तत्तद्वृत्त्यवच्छेदकभेदेन परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरेकत्र चैतन्ये वृत्तौ न विरोधः। तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्॥

अर्थ—'पर्वत वह्निमान् है' इत्यादि अनुमितिज्ञान में हम पर्वत अंश में और वह्नि अंश में अन्तःकरणवृत्ति का भेद मानते हैं। पर्वत अंश में और वह्नि अंश में भिन्न भिन्न अन्तःकरणवृत्तियां हैं, यह हमारा सिद्धान्त होने से उन भिन्न वृत्तियों का अवच्छेदक भी (भेदक भी) भिन्न है। इसलिए एक ही प्रमात्मक चैतन्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्वरूप परस्पर विरुद्ध दो धर्मों के रहने में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् वे दोनों धर्म, एक ही चैतन्य में रह सकते हैं। तस्मात् उन उन इन्द्रियों के योग्य, वर्तमान विषय से अवच्छिन्न हुए चैतन्यके साथ, तत्तद्विषयाकार हुई इन्द्रियवृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का अभेद होना ही उस उसअंश में ज्ञान का प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्ष) है।

विवरण—पीछे कह चुके हैं कि घटावच्छिन्न आकाश, मठावच्छिन्न आकाश से भिन्न नहीं है, क्योंकि 'घट' और 'मठ' दोनों विभाजक पदार्थ एक ही देश में स्थित रहते हैं। उसीतरह अन्तःकरण वृत्ति और घट दोनों को एकदेशस्थत्व होने से उन्हें उपधेय भेदकत्व नहीं है। वैसे ही 'पर्वत वह्निमान् है' इस ज्ञान में 'पर्वत' और 'वह्नि' इन दो उपाधियों को भी एक देशस्थत्व है इसलिये उन्हें उपधेयभेदकत्व नहीं है। तब एकही चैतन्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व कैसे संभव है? इस आक्षेप का समाधान ग्रन्थकार करते हैं—'यह घट' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में घटावच्छिन्न चैतन्य और अंतःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य एकही है। परंतु 'पर्वत वह्निमान् है' इस अनुमितिज्ञान में, चक्षुरिन्द्रिय का बाह्य पर्वत से संनिकर्ष होकर पर्वताकार वृत्ति होती है, उस वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य, पर्वत के देश में रहता है अर्थात् उस वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का देश, बाह्य पर्वत है। परन्तु वराह्न्याकवृत्ति, व्याप्ति-

ज्ञान से पैदा होती हुई हृदयस्थ चैतन्य की अवच्छेदिका है। इस कारण जिस अनुमितिज्ञान में पत्त का प्रत्यत्त रहता है, उस पत्त के अंश में अपरोत्तत्व, और परोत्तवह्निके अंश में परोत्तत्व के होने में कोई विरोध नहीं है। ऐसा होने से प्रत्येक विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का, प्रत्येक इन्द्रिययोग्य, वर्तमान और अबाधित विषय से अवच्छिन्न हुए चैतन्य से अभेद होना ही ज्ञानांश में प्रत्यत्तत्व का प्रयोजक है, यही पूर्वोक्त ज्ञानगत प्रत्यत्तत्व का–'प्रमाण चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद' प्रयोजक शब्द से विवत्तित–अर्थ है। इस प्रकार ज्ञानगत प्रत्यत्तत्व का प्रयोजक बताकर अब विषयगत प्रत्यत्तत्व का प्रयोजक बताते हैं (विकल्प के प्रथम पत्त का उत्तर देकर अब द्वितीय पत्त का उत्तर दे रहे हैं)।

घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम् ।

अर्थ—(द्वितीय पत्त में) प्रमाता से घटादि विषय का अभिन्नत्व ही विषयगत प्रत्यत्तत्व में प्रयोजक है।

विवरण—'यह घट' यह ज्ञान भी प्रत्यत्त है और उस ज्ञान का विषय जो 'घट' वह भी प्रत्यत्त है। इसी का दो प्रकार से 'घट का ज्ञान प्रत्यत्त है' और 'घट प्रत्यत्त है' निर्देश किया जाता है। उनमें से ज्ञानगत प्रत्यत्तत्व का प्रयोजक यहां तक बताया गया, अब इसके आगे सिद्धान्ती विषयगत प्रत्यत्तत्व के प्रयोजक को बताते हैं 'घटादि विषय का प्रमातृ-अभिन्नत्व (प्रमाता से अभिन्न होना) ही विषयगत प्रत्यत्तत्वका प्रयोजक है। मूल में जो 'तु' शब्द है, वह नैयायिकों के विषय प्रत्यत्तत्व का निरसन करने के लिये है। नैयायिक—'इन्द्रिजन्यज्ञानविषयत्वं विषयप्रत्यत्तत्वम्' इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान का विषय होना ही विषय का प्रत्यत्तत्व है'—लत्तण करते हैं। परन्तु वह (विषयप्रत्यत्त का लत्तण) मनोरूप इन्द्रिय से होनेवाले अनुमितिज्ञान में अतिव्याप्त होता है। इसलिये नैयायिक के बताये हुए विषयप्रत्यत्तत्व का निरसन कर 'घटादि विषय से प्रमाता का अभेद' इस विषयप्रत्यत्तत्व के प्रयोजक को यहां बताया है। इस पर शंका करते हैं—

ननु कथं घटादेरन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याभेदः ? अहमिमं पश्यामि इति भेदानुभवविरोधात् ।

अर्थ—घटादि विषयों का अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य से अभेद कैसे संभव है ? विषय का प्रमाता से अभेद यदि मान लिया जाय 'मैं इस घट को देखता हूं' इस भेदानुभव से विरोध होगा।

विवरण—'प्रमेय का प्रमाता से अभिन्नत्व (ऐक्य होना) ही घटादि प्रमेय का प्रत्यत्तत्व है' ऐसा आप कह रहे हैं। परंतु प्रमात्रभिन्नत्व से क्या

तात्पर्य है ? घटादि विषयों का अभेद या घटादिविषयावच्छिन्न चैतन्य का का प्रमाता से अभेद ।

इन दोनों विकल्पों में प्रथम विकल्प उचित नहीं, क्योंकि विषय स्वयं जड होने से उसका, चेतन प्रमाता से अभेद हो नहीं सकता । दूसरा विकल्प भी उचित नहीं क्योंकि 'मैं मनुष्य हूं' इस प्रतीति के समान 'मैं घट हूं' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये । परन्तु 'मैं घट हूं' ऐसी प्रतीति किसी को भी न होकर 'मैं इस घट को देखता हूं' इस प्रकार तद्विरुद्ध भेदप्रतीति होती है । ऐसी स्थिति में प्रमात्रभिन्नत्व का संभव कैसे हो सकता है ? सिद्धान्ती 'इति चेत्' ग्रन्थ से उपर्युक्त शंका का अनुवाद कर 'उच्यते' से उसके निवारण की प्रतिज्ञा करते हैं—

इति चेत् । उच्यते । प्रमात्रभेदो नाम न तदैक्यम् , किन्तु प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावः । तथा च घटादेः स्वावच्छिन्न-चैतन्येऽध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता, अधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात् । विषयचैतन्यञ्च पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमातृचैतन्यमेवेति प्रमातृचैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठान-तया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम् ॥

अर्थ—'विषय का प्रमात्रभेद कैसे' यदि पूछो तो कहते हैं—प्रमात्रभेद (प्रमातृ + अभेद) का अर्थ प्रमात्रैक्य (प्रमातृ + ऐक्य) नहीं । किन्तु अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य रूप प्रमाता की सत्ता से भिन्न, घटादिविषय की सत्ता का अभाव ही यहां प्रमात्रभेद शब्द से विवक्षित है । अतः घटादि-विषयों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य में घटादिविषयों का अध्यारोप (अध्यास) हुआ होने से वैषयचैतन्य सत्ता ही घटादिविषयों की सत्ता है । क्योंकि हम (वेदान्ती) अधिष्ठान की सत्ता से, आरोपित सत्ता को भिन्न मानते । पूर्वोक्त प्रकार से प्रमातृचैतन्य ही विषयचैतन्य है । प्रमातृचैतन्य में घटादिविषयों की अधिष्ठानता होने से प्रमातृसत्ता ही घटादिसत्ता है, उससे भिन्न नहीं । इससे घटादिकों का अपरोक्षत्व (प्रत्यक्षत्व) सिद्ध हुआ ।

विवरण—प्रमात्रभेद का अर्थ यदि यहां ऐसा होता "घटादि विषय और घटाद्यवच्छिन्न या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का ऐक्य" तो विरोध हुआ होता, परन्तु यहां 'विषय और चैतन्य का (घटादि विषयों का प्रमाता से ऐक्य) ऐक्य' रूप अर्थ विवक्षित नहीं। अर्थात् 'अभेद' का अर्थ 'ऐक्य' न होकर 'प्रमातृलक्षण जो सत्ता, वही प्रमेय सत्ता है, अर्थात् प्रमातृसत्ता से विषय की सत्ता का पृथक् न रहना' यही प्रमात्रभेद शब्द का अर्थ है । यहां 'सत्ता'

शब्द का अर्थ 'प्रमाता में रहने वाली सत्तारूप जाति' नहीं है। कारण–प्रमाता, प्रमेय, और विषय में रहनेवाली जो सत्ता जाति, उसके एक (अभिन्न) ही होने से प्रमातृनिष्ठ सत्ता से अतिरिक्त प्रमातृत्व व प्रमेयत्व (स्वरूप भिन्न) सत्ता असिद्ध है। इस प्रकार सत्तैक्यरूप प्रमात्रभेद के होने से तात्पर्य यह निकलता है कि घटादि विषय घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य में आरोपित हैं। आरोपित घटादि विषयों की सत्ता, अधिष्ठानरूप विषयावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता से पृथक् नहीं है। क्योंकि हम अधिष्ठान की सत्ता से आरोपित की सत्ता को पृथक् नहीं मानते। शुक्ति रूप अधिष्ठान की सत्ता से आरोपित रजत की सत्ता पृथक् नहीं है। शुक्ति की सत्ता से ही शुक्तिरजत 'सत्तावत्' हुए की तरह दीखता है।

पूर्वोक्त तडागोदकन्याय के अनुसार (जैसे तडागोदक ही केदारोदक होता है) प्रमातृचैतन्य ही विषयचैतन्व (प्रमेयचैतन्य) है। उस कारण प्रमातृचैतन्य को ही घटादि विषयों का अधिष्ठानत्व है। आरोपित घटादिकों का अधिष्ठान प्रमातृचैतन्य होने से प्रमातृचैतन्य की सत्ता ही घटादिकों की सत्ता है। प्रमातृ चैतन्य की सत्ता से घटादि विषयों की सत्ता पृथक् नहीं है। इसलिये प्रमातृ–(प्रमाता की) सत्ता से घटादि विषयों की सत्ता का अतिरिक्त (भिन्न) न होना ही घटादिकों का अपरोक्षत्व (प्रत्यक्ष) है। चैतन्य के नित्य होने से उसकी सत्ता भी नित्य है। परन्तु प्रमातृचैतन्य प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य (प्रमेयचैतन्य) इस (चैतन्य) भेद के औपाधिक होने से उनकी सत्ता अनित्य है। घट पट आदि विषयों को देखते समय उस उस विषय से संबद्ध वह वह त्रिपुटीरूप चैतन्य (घटप्रमातृचैतन्य, घटाकारवृत्तिचैतन्य और घटविषयचैतन्य) भी नवीन उत्पन्न हो रहा है ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिये ऊपर प्रमातृसत्ता का अर्थ प्रमातृलक्षणसत्ता बता चुके हैं। तन्निष्ठ सत्ताजाति नहीं। उस उस विषय के प्रमाता की जो सत्ता, वही उस उस प्रमेय की सत्ता है, यह तात्पर्य है। इस प्रकार घटादि विषय का 'प्रमात्रभेद' का अर्थ प्रमातृचैतन्याभेद नहीं है। और अभेद का अर्थ ऐक्य भी नहीं। प्रमाता की सत्ता ही घट की सत्ता है। अब मूल में 'प्रमातृचैतन्य' न कहकर केवल 'प्रमातृ' ही क्यों कहा गया, सो कहते हैं—

अनुमित्यादिस्थले त्वन्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशनिर्गमनाभावे वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्यानात्मकतया वह्न्यादिसत्ता प्रमातृसत्तातो भिन्नेति नातिव्याप्तिः।

अर्थ—परन्तु अनुमिति आदि ज्ञानों में अन्तःकरण, वृत्ति के द्वारा, अनु

मेय वह्नि आदि के देश में नहीं जाता। उसकारण वह्न्यवच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृचैतन्यरूपता नहीं है। इसी से वह्नि आदि की सत्ता, प्रमातृसत्ता से भिन्न है। इस कारण पूर्वोक्त घटादिविषय के प्रत्यक्ष लक्षण की अनुमेय वह्नि आदि परोक्ष विषयों में अतिव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—घटादि विषयों के प्रत्यक्ष में प्रयोजक 'प्रमात्रभिन्नत्व' को यदि बतावें तो अनुमेय विषयों में (अनुमिति के विषयों में) अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रमात्रभिन्नत्व' का अर्थ 'प्रमातृचैतन्याभिन्नत्व' करने से अनुमेय वह्नि आदि की सत्ता, चैतन्य की सत्ता से पृथक् (भिन्न) नहीं है। ऐसी शंका हो सकती है। परन्तु अनुमेय विषय की सत्ता, चैतन्य की सत्ता से पृथक् न होने पर भी अनुमेय विषय प्रमातृरूप नहीं होता, इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है। घटादि प्रत्यक्ष ज्ञानों में अन्तःकरणवृत्ति, घटादि विषयों के प्रदेश में जाकर विषय के आकार को धारण करती है। इसलिये वहां घटादि विषयों का प्रमाता के साथ अभेद (प्रमात्रभेद) संभव होता है। परन्तु अनुमिति आदि ज्ञानों में अन्तःकरण वृत्ति, विषय के प्रदेश में नहीं जाती। इसलिये यहां वह्न्यवच्छिन्न-चैतन्य और प्रमातृचैतन्य इन दोनों का अभेद नहीं होता। अतः अनुमिति विषय की सत्ता, प्रमातृसत्ता से भिन्न है। इसी कारण विषयगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक लक्षण की अनुमेय विषय में अतिव्याप्ति नहीं होती। लक्षण में इसी-लिये चैतन्य पद न रखकर 'प्रमात्रभेद' शब्द रखा गया है।

इस पर पुनः वादी दूसरे प्रकार से अतिव्याप्ति की शंका करता है और सिद्धान्ती उसका थोड़े में ही निरसन करता है।

नन्वेवमपि धर्माधर्मादिगोचरानुमित्यादिस्थले धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षत्वापत्तिः, धर्माद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभिन्न-तया धर्मादिसत्तायाः प्रमातृसत्तानतिरेकादिति चेत्। न। योग्य-त्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्।

अर्थ—'प्रमात्रभेद' का अर्थ प्रमातृसत्ता से विषयसत्ता का भिन्न न रहना, मानने पर भी धर्माधर्म आदि परोक्ष पदार्थों को विषय करने वाले अनुमिति आदि स्थलों में धर्माधर्म के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होगा। क्योंकि प्रमातृचैतन्य से धर्माधर्मादिविषयावच्छिन्न चैतन्य का यहां पर अभेद है ही। (विषयचैतन्य और प्रमातृचैतन्य का अभेद है) इस प्रकार विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक जो प्रमात्रभेद, उसकी धर्मादि विषय में अतिव्याप्ति बताना उचित नहीं है, क्योंकि योग्यत्व को विषय विशेष-णत्व है, अर्थात् विषय में 'योग्य' इस विशेषण के लगाने से अतिव्याप्ति

का निवारण होता है। क्योंकि धर्माधर्मादिकों की प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है (प्रत्यक्ष योग्य विषय धर्माधर्मादि नहीं हैं)।

विवरण—'प्रमाता की प्रमातृलक्षणसत्ता से प्रमेय की सत्ता का पृथक् न होना' इस लक्षण की अतिव्याप्ति, पूर्वोक्त प्रकार से (अनुमेय वह्नि आदि विषयों में अंतःकरण के न जाने से) न होने पर भी धर्म आदि परोक्षविषयक अनुमितिज्ञान में अतिव्याप्ति होती है अर्थात् धर्मादिकों का प्रत्यक्ष होता है कहना पड़ेगा। क्योंकि धर्मादि विषयों से अवच्छिन्न अन्तःकरणस्थ चैतन्य और प्रमातृचैतन्य का अभेद होने से धर्मादि की सत्ता प्रमातृचैतन्य से भिन्न नहीं है। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए लक्षणगत 'विषय' में 'योग्य' विशेषण के देने से धर्मादिकों के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त नहीं होगा। यह समाधान दिया गया है।

किसी भी वादी के मत में 'धर्माधर्म पदार्थ' प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। सभी दार्शनिक धर्माधर्म को परोक्ष ही मानते हैं। इससे ('योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य' और प्रमाता के अभेद को विषयगत प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक मानने से) धर्माधर्मादि परोक्ष विषय में अतिव्याप्ति नहीं होने पाती।

तथापि वादी पुनः दूसरे प्रकार से अतिव्याप्ति की शंका करता है—

नन्वेवमपि रूपी घट इति प्रत्यक्षस्थले घटगतपरिमाणादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः, रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चैकतया रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभेदे परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया परिमाणादिसत्तायाः प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तत्वाभावादिति चेत्।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार से ('विषय' में 'योग्य' विशेषण के देने पर भी) धर्मादि विषयों में लक्षण की अतिव्याप्ति न होने पर भी 'यह घट रूपवान् है' इस प्रत्यक्षप्रमा में घटगत परिमाणादिकों का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि रूपावच्छिन्न चैतन्य और परिमाणावच्छिन्न चैतन्य, दोनों का अभेद है। इस अभेद के कारण रूपावच्छिन्नचैतन्य का प्रमातृचैतन्य से अभेद सिद्ध होने के कारण परिमाणावच्छिन्न चैतन्य का भी प्रमात्रभिन्नत्व सिद्ध हो गया। जिससे परिमाणादि सत्ता प्रमातृसत्ता से पृथक् प्रतीत नहीं होती।

अर्थात् प्रमातृसत्ता के ही परिमाणसत्तारूप होने से घटरूप के प्रत्यक्ष ज्ञान में घटगत परिमाणादिकों का भी ज्ञान होने लगेगा। जिससे पूर्वोक्त प्रत्यक्षलक्षण की अलक्ष्यभूत घटगत परिमाणादि में अतिव्याप्ति होती है।

विवरण—जिस समय घट के रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी समय घटगत परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है अतः उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। रूप प्रत्यक्ष होने के समय घट परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है यह मानना होगा। क्योंकि रूपावच्छिन्न चैतन्य ही परिमाणावच्छिन्न चैतन्य है इसलिये परिमाणादिकों की सत्ता प्रमातृसत्ता से भिन्न नहीं है, कारण यह है कि परिमाणादि कल्पित होने से उनके अधिष्ठानभूत चैतन्य की सत्ता ही परिमाणादिकों की सत्ता है। और स्वाधिष्ठानभूत चैतन्य के प्रमातृरूप होने से पूर्वोक्त लक्षण की परिमाण आदि में अतिव्याप्ति होती है।

इस प्रकार वादी के शंका करने पर सिद्धान्ती 'न' से निरसन की प्रतिज्ञा करके 'तत्तदाकार०' आदि ग्रन्थ से उपर्युक्त शंका का निरसन करता है—

न। तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्। रूपाकारवृत्तिदशायां परिमाणाद्याकारवृत्त्यभावेन परिमाणाद्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वाभावेनातिव्याप्त्यभावात्॥

अर्थ—('रूपी घटः' यह रूपवान् घट है, इस रूपप्रत्यक्षस्थल में घटगत परिमाण आदि का भी प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होने का भय करना व्यर्थ है) पूर्व प्रदर्शित अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। क्योंकि 'प्रमात्रभेद' इस लक्षण के 'प्रमातृ' पद का विशेषण है 'तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्व'। इसलिए भिन्न भिन्न विषयाकार वृत्तिरूप उपाधि से उपहित (युक्त) प्रमाता से उन उन विषयों की पृथक् सत्ता का न होना ही विषयगत प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है। तात्पर्य यह हुआ कि अन्तःकरणवृत्ति जब रूपाकार होती है तब वह घटगत परिमाणादि के आकार की नहीं रहती। अर्थात् रूपाकार वृत्ति के समय परिमाणाकार वृत्ति का अभाव रहता है। इसलिए परिमाणाकारवृत्त्युपहित प्रमातृचैत्यन्य से परिमाणादि (विषय) की सत्ता अभिन्न नहीं होती। (उन विषयों में प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्व नहीं होता) इसलिए 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष के समय परिमाणादि विषयों काप्रत्यक्ष प्राप्त नहीं होता। अर्थात् विषयगत प्रत्यक्ष के प्रयोजक का लक्षण अतिव्याप्त नहीं है।

विवरण—घटगत परिमाण की सत्ता, {प्रमातृसत्ता से पृथक् न होने पर भी (उन दोनों का सत्ताकाल एक होने पर भी) जिस समय घट का प्रमाता विद्यमान है उसी समय घट में घटगत रूप भिन्न गुणों के रहने पर भी तत्तदाकार (परिमाणाद्याकार) वृत्ति से युक्त प्रमातृ चैतन्य की सत्ता से परिमाणादि विषयों की सत्ता भिन्न होने से पूर्वोक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

इस प्रकार (विषयगत प्रत्यक्षत्व प्रयोजक का 'प्रमात्रभेद' लक्षण बताकर लक्षणगत 'अभेद' का अर्थ 'ऐक्य' नहीं, किन्तु प्रमातृसत्ता से प्रमेयसत्ता का अभिन्न (भिन्न न) होना अर्थात् प्रमाता की जो सत्ता, वही विषय (प्रमेय) की सत्ता है, इस प्रकार 'अभेद' का अर्थ बताकर, इस लक्षण की अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति का न होना बताया। धर्माधर्मादि परोक्ष स्थलों में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'विषय' में 'प्रत्यक्षयोग्य' विशेषण लगाने के लिए कहा। 'रूपी घटः' प्रत्यक्ष के समय घटगत परिमाणादि गुणों में अतिव्याप्ति नहीं होती, यह भी दिखाया। अब इसके आगे वादी 'विषयगत प्रत्यक्षत्व' प्रयोजक के लक्षण में अव्याप्ति को दिखाता है।

नन्वेवं वृत्तावव्याप्तिः, अनवस्थाभिया वृत्तिगोचरवृत्त्यनङ्गीकारेण तत्र स्वाकारवृत्त्युपहितत्वघटितोक्तलक्षणाभावात्।

अर्थ—घटगत परिमाण में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'तत्तदाकारवृत्त्युपहित' विशेषण से प्रमाता को विशेषित करने पर भी वृत्ति में पूर्वोक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है। क्योंकि अनवस्था के भय से वृत्ति को विषय करने वाली दूसरी वृत्ति के स्वीकार न करने के कारण वृत्ति में 'वृत्त्याकारवृत्त्युपहितप्रमात्रभेद' लक्षण घटित नहीं हो पाता।

विवरण—सभी जड पदार्थ अज्ञान से आवृत होने से स्वतः प्रकाशमान नहीं होते। किन्तु उस उस पदार्थविषयक वृत्ति के द्वारा आवरण का भंग होने पर प्रकाशित होते हैं। घटादि जैसे जड हैं उसीतरह अन्तःकरणवृत्ति भी जड़ (अचेतन) है। अतः घटादिविषय जैसे वृत्ति से ही प्रकाशित होते हैं वैसे ही वृत्ति भी दूसरी अन्तःकरणवृत्ति से ही प्रकाशि होने के योग्य है। क्योंकि वृत्ति के जड़ होने से घट की तरह उसका स्वयं भान होना संभव नहीं। इसलिए उस वृत्ति के आवरणभंग के हेतु वृत्ति विषयक दूसरी वृत्ति की आवश्यकता है। क्योंकि जड़ पदार्थ के आवरण को भंग करनेवाली वृत्ति ही है। परन्तु एक वृत्ति के आवरणभंगार्थ दूसरी वृत्ति के मानने पर उसके आवरणभंग के लिए तीसरी, उसके आवरणभंग के लिए चौथी इसप्रकार अनवस्था प्राप्त होती है। और यदि वृत्ति को ही न माना जाय, तो बिना उसके जड़ वस्तु का भान होना संभव नहीं। ऐसी 'उभयतःपाशा रज्जु' सिद्धान्ती के गले पतित होती है।

अनवस्था के भय से वृत्तिविषयक वृत्ति न मान सकने के कारण विषयाकारवृत्त्युपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता ही विषयावच्छिन्न चैतन्य की और घटादिविषय की सत्ता है, अर्थात् पूर्व सत्ता से इनकी सत्ता का पृथक् न होना 'पूर्वोक्त विषयगत प्रत्यक्षत्व प्रयोजक का लक्षण, वृत्ति में नहीं है। परन्तु वृत्ति

का प्रत्यक्ष होता है। इस कारण 'लक्ष्य के एक देश में लक्षण का न रहना' यही अव्याप्ति है।

इस प्रकार वादी की शंका का 'इति चेत्' से अनुवाद कर 'न' से उसके निरसन की प्रतिज्ञा करके पूर्वोक्त लक्षण में दी हूई अव्याप्ति को दूर करते हैं—

इति चेत्। न। अनवस्थाभिया वृत्तेर्वृत्त्यन्तराविषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषयवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात्। एवं चान्तःकरणतद्धर्मादीनां केवलसाक्षिविषयत्वेऽपि तत्तदाकारवृत्त्यभ्युपगमेन उक्तलक्षणस्य तत्रापि सत्वान्नाव्याप्तिः॥

अर्थ—अनवस्था के भय से एक वृत्ति को दूसरी वृत्तिका विषय होना हमारे स्वीकार न करने पर भी वृत्ति को उस वृत्ति का ही (अपना ही) विषयत्व मानते हैं। इस कारण 'वृतिविषयक जो वृत्ति' (स्वयं को विषय करने वाली वृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्व) यह विषयगत प्रत्यक्षत्व प्रयोजक का लक्षण वृत्ति में है। इसी तरह अन्तःकरण और अन्तःकरण के धर्मादिकों को केवल साक्षिविषयत्व होने पर भी तत्तदाकार वृत्ति के स्वीकार करने से पूर्वोक्त लक्षण, उस साक्षिविषय पदार्थों में भी है, अतः वहां भी अव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—यद्यपि यह सच है कि ब्रह्म भिन्न सभी पदार्थ जड़ है, तथापि उन जड़ पदार्थों में भी स्वभाववैचित्र्य है ही। सभी जड़ पदार्थ एक से स्वभाव के नहीं होते। जैसे घट और दीप दोनों पदार्थ ब्रह्मभिन्न होने से जड़ हैं। तथापि घट को प्रकाश और चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्षादि संबंध की अपेक्षा रहती है। प्रदीप को आलोक (प्रकाश) की अपेक्षा नहीं होती। प्रदीप, घट को प्रकाशित करते हुए अपने को भी प्रकाशित करता है, ठीक उसी तरह अंतःकरणवृत्ति भी जिस विषय को प्रकाशित करने के लिए पैदा हुई हो, उसें प्रकाशित करती हुई ही, दूसरी वृत्ति की अपेक्षा बिना किये स्वयं (अपने) को भी प्रकाशित करती है। क्योंकि जड़ पदार्थों के विचित्र अनुभव के बल से कुछ जड़ पदार्थों में भी कतिपय स्वभाव विशेषों को अगत्या स्वीकार करना पड़ता है।

एक वृत्ति को विषय करनेवाली दूसरी वृत्ति (वृत्ति विषयक वृत्ति) के मानने पर अनवस्था प्रसंग के भय से ही सिद्धान्त में वृत्तिविषयक वृत्ति नहीं मानी जाती, तथापि हमारे अभ्युपगम के अनुसार 'मैं इस घट को जानता हूं' इस वृत्ति को स्व विषयत्व होने से अव्याप्ति नहीं होती। (कोई भी वृत्ति

उसके भिन्न वृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं होती अर्थात् वह अपने ही से अवच्छिन्न हुए चैतन्य से प्रकाशित होती है)

इसी तरह अंतःकरण और उसके कामादि धर्मों को केवल साक्षिविषयत्व के होते हुए भी वृत्तिविषयत्व का भी स्वीकार करने से यहां भी अव्याप्ति नहीं होती। 'कामादि' यहां आदि शब्द से प्रातिभासिक रजतादिकों का ग्रहण करना चाहिये।

'केवल साक्षिविषयत्व' यहां 'केवल' पद वृत्त्यादिकों की व्यावृत्ति करने के लिये है, (अतःकरणादिकों को वृत्त्यादिशून्य-साक्षिविषयत्व है) तब उसके विरुद्ध आप अतःकरणादिकों को वृत्ति विषयत्व कैसे बता रहे हैं ? इस शंका का अनुवाद करके सिद्धान्ती उसका परिहार करता है—

न चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षिविषयत्वाभ्युपगमविरोध इति वाच्यम्। न हि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिवेद्यत्वं किन्त्विन्द्रियानुमानादिप्रमाणव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम्।

अर्थ—अतःकरण और उसके कामादि धर्मों को वृत्तिविषयत्व मानने से आपके पूर्व स्वीकृत 'केवल साक्षिविषयत्व' सिद्धान्त से विरोध होता है—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि हमने 'केवल साक्षिविषयत्व' में 'केवल' शब्द का प्रयोग वृत्ति का परिहार करने के लिये नहीं किया है (विना वृत्ति के ही साक्षिवेद्यत्व—यह 'केवल साक्षिवेद्यत्व' का अर्थ नहीं है) किन्तु इन्द्रिय (प्रत्यक्ष) अनुमान आदि प्रमाणों के व्यापार के बिना ही 'अन्तःकरण और तद्धर्मों' को साक्षिविषयत्व होता है, इस आशय से 'केवल साक्षिविषयत्व' कहा गया है।

विवरण—'केवल साक्षिविषयत्व' यहां 'केवल' पद वृत्त्यादिकों के हटाने के लिये है—ऐसी अन्यथा कल्पना कर लेने से विरोधी की यह शंका थी। परन्तु यहां 'केवल' शब्द, वृत्ति आदि का व्यावर्तक न होकर प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों के इन्द्रिय संनिकर्षादि व्यापारों की व्यावृत्ति के लिये है। इसलिये कोई विरोध नहीं है। ('विना वृत्ति के साक्षिविषयत्व' यह 'केवल साक्षिविषयत्व, न होकर 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों के व्यापार के विना साक्षिविषयत्व' यह 'केवल साक्षिविषयत्व' है।)

अब इस विषय में पद्मपादाचार्य की संमति को बताते हैं—

अत एवाहंकारटीकायामाचार्य्यैरहमाकारान्तःकरणवृत्तिरङ्गीकृता, अत एव च प्रातिभासिकरजतस्थले रजताकाराविद्या-

वृत्तिः साम्प्रदायिकैरङ्गीकृता, तथा चान्तःकरणतद्धर्मादिषु केवलसाक्षिवेद्येषु वृत्त्युपहितत्वघटितलक्षणस्य सत्त्वान्नाव्याप्तिः ॥

अर्थ—इस प्रकार 'केवल साक्षिवेद्यत्व' में 'केवल' पद, वृत्ति का व्यावर्तक न होने से ही अहंकार-टीका में आचार्य ने अहमाकार अन्तःकरण वृत्ति का स्वीकार किया है। इसी कारण सर्वज्ञ मुनि प्रभृति साम्प्रदायिकोंने प्रातिभासिक रजतस्थल में रजताकार अविद्या वृत्ति को स्वीकार किया है। इस प्रकार केवल साक्षिवेद्य अन्तःकरण के कामादि धर्मों में वृत्त्युपहितत्व घटित लक्षण संगत होने से अव्याप्ति नहीं है।

विवरण—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र के शांकर भाष्यपर पद्मपादाचार्य की 'पञ्चपादिका' नामकी टीका है। उस टीकापर श्रीप्रकाशाचार्य का विवरण है, उसीका दूसरा नाम 'अहंकार टीका' है। उसमें प्रथम वर्णक में 'अहं वृत्त्यवच्छिन्नमेव अन्तःकरणं चैतन्यस्य विषयभावमापद्यते' अहं वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य, विषयमात्र को प्राप्त होता है—कहा है। (श्री प्रकाशमुनिने अन्तःकरण को विषय करने वाली अहम्-इत्याकारक वृत्ति को माना है। उस कारण 'केवल साक्षिभास्यत्व' के 'केवल' शब्द से 'वृत्ति' की व्यावृत्ति न होकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों के इन्द्रिय-सन्निकर्षादि व्यापारों की व्यावृत्ति होती है। इसलिये 'अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों में वृत्तिविषयत्व के स्वीकार करने पर भी 'केवल साक्षिविषयत्व' के सिद्धान्त से विरोध नहीं होता। श्री प्रकाशाचार्य ने अहमाकार अन्तःकरण वृत्ति का स्वीकार किया होने से सांक्षेपशारीरकाचार्य सर्वज्ञमुनि प्रभृति साम्प्रदायिकों ने भी प्रातिभासिक शुक्तिरजत स्थल में रजताकार अविद्यावृत्ति को माना है। इस प्रकार अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों को वृत्तिविषयत्व सिद्ध होने से पूर्वोक्त अव्याप्ति का निरसन अपनेआप हो जाता है। यथा—पीछे 'विषयाकार वृत्त्युपहित प्रमातृ चैतन्य की सत्ता से विषय की सत्ता का पृथक् न होना' ही विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बताया गया है यह लक्षण, केवल साक्षिवेद्य हुए अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों में भी है। क्योंकि सांप्रदायिकों ने अन्तःकरणादिविषयक अहमाकार (अहं इस आकार की) वृत्ति मानी है। इस कारण 'वृत्त्युपहितत्व' विशेषण से युक्त लक्षण अन्तःकरणादि प्रत्यक्ष में भी है। इसलिये लक्षण की अव्याप्ति (लक्ष्य के किन्हीं अंशों में न रहना) नहीं हो पाती।

इस प्रकार ज्ञानगत और ज्ञेयगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक को (सब दोषों का निरसन करते हुए) बताकर श्रोताओं के सुखबोधार्थ उपर्युक्त विशेषणों से निष्पन्न लक्षण संक्षेप में बताते हैं।

तदयं निर्गलितोऽर्थः, स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम् । तत्र संयोगसंयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यञ्जकवृत्तिजनने विनियोगः ।

अर्थ—उसका यह निष्कृष्ट अर्थ है । 'स्व' = विषय, तदाकार = विषयाकार अर्थात् विषयगोचर वृत्ति (उपाधि) से उपहित प्रमातृचैतन्यरूप सत्ता से जिस विषय की सत्ता भिन्न होती है वह विषय, स्वाकारवृत्त्युपहित प्रमातृ चैतन्य सत्तातिरिक्तसत्ताक होता है । उसका जो भाव उसे 'सत्तातिरिक्तसत्ताकत्व' कहते हैं, उससे शून्य होते हुए प्रत्यक्षयोग्यत्व होना, ही विषय के प्रत्यक्ष व्यवहार का प्रयोजक है । इस प्रकार ज्ञानगत और विषयगत (ज्ञेयगत) प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक सिद्ध होने पर संयोग, संयुक्त तादात्म्य इत्यादि सन्निकर्षों का चैतन्याभिव्यंजक वृत्ति के उत्पन्न करने में विनियोग होता है ।

विवरण—स्वाकारवृत्ति (विषयाकारवृत्ति) में उपहित (प्रविष्ट) प्रमातृ चैतन्य की सत्ता से, प्रत्यक्षयोग्य विषय की सत्ता का पृथक् न होना ही विषयगत प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्ष व्यवहार) का प्रयोजक है । प्रमातृ चैतन्य की सत्ता और विषय की सत्ता, के एक होने पर 'यह घट प्रत्यक्ष है' यह व्यवहार होने लगता है । इस प्रकार ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व और ज्ञेयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक बताया गया । प्रत्यक्षयोग्य विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रत्यक्षविषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद (वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्यों की एकता) ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है । 'विषयज्ञान प्रत्यक्ष है' इस आकार में ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का व्यपदेश (व्यवहार) होता है । इसी प्रकार प्रत्यक्षयोग्य विषय का पूर्वोक्त प्रकार से प्रमातृ चैतन्य के साथ अभेद विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है । 'घटः प्रत्यक्षः' घट प्रत्यक्ष है इस आकार में उसका व्यपदेश होता है ।

चैतन्य ही प्रत्यक्ष विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान है और चैतन्य अनादि है । ऐसी स्थिति में संयोगादि सन्निकर्षों का उपयोग क्या है ? इस आशंका के समाधान में ग्रंथकार कहते हैं—पूर्वोक्त प्रकार से द्विविध प्रयोजकों के सिद्ध होने पर संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ताभिन्नतादात्म्य, तादात्म्य, अभिन्नतादात्म्य आदि सन्निकर्षों का घट घटगतरूप, रूपगत रूपत्व, शब्द और शब्दत्व से अवच्छिन्न हुए चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति को उत्पन्न करने में विनियोग होता है । (संयोगादि सन्निकर्ष तत्तद्विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यंजक वृत्ति को पैदा करते हैं । संयोग से घटाकारवृत्ति,

संयुक्ततादात्म्य से घटगतरूपाकारवृत्ति, संयुक्ताभिन्नतादात्म्य से घटगत रूप में रूपत्वाकार वृत्ति, तादात्म्य से शब्दाकार वृत्ति, और अभिन्नतादात्म्य से शब्दगत शब्दत्वाकार वृत्ति पैदा होती है और प्रत्येक वृत्ति, चैतन्य की अभिव्यंजक है। अब इन संनिकर्षों से उत्पन्न होने वाली वृत्ति (अन्तःकरण वृत्ति) कितनी प्रकार की है ? उसे ग्रन्थकार बताते हैं—

सा च वृत्तिश्चतुर्विधा संशयो, निश्चयो, गर्वः, स्मरण-मिति। एवंविधवृत्तिभेदेन एकमप्यन्तःकरणं मन इति बुद्धिरिति अहङ्कार इति चित्तमिति व्याख्यायते। तदुक्तम्—

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥ १ ॥

अर्थ—और वह सन्निकर्षजन्य वृत्ति चार प्रकार की है—संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण। अन्तःकरण के एक होने पर भी इस वृत्तिभेद के कारण वह मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त इन चार शब्दों से बोला जाता है। इस अन्तःकरण वृत्ति के विषय में पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार कहा है—'मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त—रूप से चार प्रकार का अन्तःकरण (भीतरी करण) है। संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण—ये उसके क्रमसे विषय हैं।'

विवरण—पूर्वोक्त सन्निकर्ष से पैदा होने वाली वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य को ही प्रत्यक्षत्व और वृत्ति को अन्तःकरण का परिणामत्व होने से अन्तःकरण की घटक (अवयव) भूत वृत्ति से युक्त अन्तःकरण का निरूपण करना प्रकृत में असंगत नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण प्रकृत है और अन्तःकरण का निरूपण उसका उपकारक है। संशयाकार, निश्चयाकार, गर्वाकार और स्मरणाकार—इन चार प्रकार के आकारों में परिणत होने वाली वृत्ति चार प्रकार की है। वास्तव में एक होता हुआ भी अन्तःकरण, संशयादि विषयाकार से परिणत हुई विविध वृत्तियों के भेद से विविधता को प्राप्त होता है (विविध अनेक रूप होता है)। संशयाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'मन', निश्चयाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'बुद्धि', गर्वाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'अहंकार', और स्मरणाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'चित्त' संज्ञाएं प्राप्त होती हैं। 'अन्तःकरण' का उपर्युक्त यह विभाग स्वकपोलकल्पित न होकर उसमें पूर्वाचार्यों की सम्मति 'मनो बुद्धिः', वचन से ग्रंथकार दिखा रहे हैं—वृत्तिभेद से वृत्तिमान् का भेद न होने से, एक ही अन्तःकरण, मन आदि भेद से चार प्रकार का हो जाता है। और उसके विषय—संशय, निश्चय, गर्व

और स्मरण होते हैं। इसी कारण तदाकार हुई वृत्तियों को भी संशय, निश्चय इत्यादि संज्ञायें प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा की घटक वृत्ति के स्वरूप को बता कर विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्न जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तद्रूप प्रत्यक्ष का विभाग (पूर्वोक्त विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्न वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूप प्रत्यक्ष प्रमा के प्रकार) को बताते हैं।

तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम्। सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्। यथा—सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानम्॥

अर्थ—और वह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है। एक सविकल्पक और दूसरा निर्विकल्पक। उनमें विकल्प को विषय करने वाले ज्ञान को 'सविकल्पक' ज्ञान कहते हैं। जैसे—'मैं घट को जानता हूँ' यह ज्ञान सविकल्पक है। परन्तु संसर्ग को विषय न करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान होता है। जैसे—'वह यह देवदत्त' 'वह (सत्) तू है' इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

विवरण—प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने वाली वृत्ति का स्वरूप ऊपर बताया गया। अब प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रकारों को बताते हैं। विषयावच्छिन्न चैतन्यात्मक वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। वह (प्रत्यक्ष) सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार का है। मूल में 'सविकल्पक और निर्विकल्पक' ऐसा उद्देश किया है (प्रत्यक्ष के दो प्रकारों में से)—'सविकल्पक' का निर्देश प्रथम किया है। सविकल्पक ज्ञान सभी को सम्मत है और समस्त व्यवहार में उसके प्रयोजक होने से 'तत्र' ग्रन्थ से प्रथमतः सविकल्पक ज्ञान का लक्षण कहा जाता है। विकल्प का अर्थ-वैशिष्ट्य। जो ज्ञान विकल्प से विशिष्ट रहता है, वह सविकल्पक कहलाता है (जिस ज्ञान का विषय 'वैशिष्ट्य' होता है, वह सविकल्पक ज्ञान है) ग्रन्थकार ने 'वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सविकल्पकम्' इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान का लक्षण करके 'मैं घट को जानता हूँ' यह उदाहरण दिया है। इसमें 'वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानम्' इतना लक्षण है और 'सविकल्पकम्' यह लक्ष्य है। केवल 'वैशिष्ट्यावगाहि' इतना ही लक्षण यदि किया जाता तो 'इच्छा आदि' में अतिव्याप्ति होता, क्योंकि इच्छादिक भी वैशिष्ट्य विषय होती हैं। (इच्छा का विषय भी वैशिष्ट्य ही रहता है) अतः इस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये लक्षण में 'ज्ञान' पद दिया है। यदि केवल 'ज्ञानम्' इतना ही लक्षण

करें तो वह निर्विकल्पक ज्ञान में अतिव्याप्त होगा, इसलिये 'वैशिष्ट्यावगाहि' यह विशेषण भी आवश्यक है।

मैं घट को जानता हूं' यह सविकल्पक ज्ञान का उदाहरण है। क्योंकि वह घट रूप विशेषण से विशिष्ट घटज्ञान को विषय कर रहा है, अतः 'मैं घट को जानता हूं' यह ज्ञान वैशिष्ट्यावगाहि है।

इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान का निर्दोष लक्षण बताकर 'निर्विकल्पकं तु०' ग्रन्थ से दूसरे प्रकार के ज्ञान का लक्षण बताते हैं। जिससे विकल्प (वैशिष्ट्य) निवृत्त हुआ हो वह निर्विकल्पक ज्ञान है। यहां 'निर्विकल्पकम्' लक्ष्य है और 'संसर्गानवगाहि ज्ञानम्' लक्षण है। संसर्ग का अर्थ है—विशेषण विशेष्य सम्बन्ध, इसी को 'वैशिष्ट्य' कहते हैं। एवं च संसर्ग (वैशिष्ट्य) को विषय न करने वाले ज्ञान को 'निर्विकल्पक ज्ञान' कहते हैं। 'सोऽयं-देवदत्तः' 'तत् त्वमसि' आदिवाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान, निर्विकल्पकज्ञान का उदाहरण है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस ऐक्य प्रत्यभिज्ञा से ही 'सोऽयं देवदत्तः' ऐसे वाक्य का प्रयोग होता है। इस कारण देश और काल से उपलक्षित देवदत्त रूप अभेद को विषय करने वाला इन्द्रियजन्य ज्ञान भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। तब इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को उदाहरण रूप से न बताकर शाब्दज्ञान को ही उदाहरणरूप से क्यों बताया गया है?

उत्तर :—देश और काल से उपलक्षित (जो) देवदत्त (तद्) रूप अभेद को विषय करनेवाले (वह यह देवदत्त इस) इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षज्ञान में सन्निकर्ष के बल से, उपलक्षक (रूप) देश-काल का भी भान होता है, परन्तु शाब्दज्ञान में नियम से तात्पर्य विषय का ही भान होता है। इस-लिए शाब्दज्ञान को अभेदमात्र विषयत्व होने से यहां पर शाब्द उदाहरण ही दिया है। मूल में 'तत्त्वमसि' इत्यादि के आदि शब्द से 'प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः।' 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' आदि अवान्तर वाक्यों को समझना चाहिए। इस पर वादी शंका करता है—

ननु शाब्दमिदं ज्ञानं न प्रत्यक्षमिन्द्रियाजन्यत्वात्।

अर्थ—यह शाब्द (शब्दजन्य) ज्ञान है। प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय से पैदा नहीं है।

विवरण—निर्विकल्पक ज्ञान के उदाहरण में 'वाक्यजन्य ज्ञान' बताया देखकर वादी कहता है कि यह (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का तो लक्षण और उसका लक्ष्य वाक्यजन्य ज्ञान) कथन अत्यंत असंगत है। 'वह यह देवदत्त' इस वाक्य से होनेवाला ज्ञान, शाब्द ज्ञान है। प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। कारण इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। तब वाक्यजन्य ज्ञान को निर्विकल्पक

प्रत्यक्ष कैसे कह सकते हैं ? 'इति चेत्, आदि ग्रन्थ से उपर्युक्त शंका का अनुवाद कर उसका निरसन करते हैं।

इति चेत्। न। न हि इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रं दूषितत्वात्। किन्तु योग्यवर्तमानविषयकत्वे सति प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभिन्नत्वमित्युक्तम्। तथा च सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य सन्निकृष्टविषयतया बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन देवदत्तावच्छिन्नचैतन्ययोरभेदेन सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्। एवं तत्त्वमसि इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि। तत्र प्रमातुरेव विषयतया तदुभयाभेदस्य सत्त्वात्।

अर्थ—वाक्यजन्यज्ञान, इन्द्रियजन्य न होने से शाब्द है, प्रत्यक्ष नहीं है' ऐसा यदि कहें तो उचित नहीं। क्योंकि प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्ष) में 'इन्द्रियजन्यत्व' प्रयोजक नहीं है। हमने नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत प्रयोजक को दूषित सिद्धकर विषय में योग्यता तथा वर्तमानता (विद्यमानता) होते हुए प्रमाणचैतन्य का विषयचैतन्याभिन्नत्व होना प्रत्यक्ष में प्रयोजक है—ऊपर बताया है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट है, अतः हम (वेदान्ती) ने उस ज्ञान में बाहर निकली अन्तःकरण वृत्ति को स्वीकार किया है। इस तरह इस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय समीप होने से सन्निकृष्ट विषय को उद्देश्य कर अन्तःकरण वृत्ति बाहर निकलती है, हमारे इस सिद्धान्त के कारण देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य का अभेद होता है (विषयावच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से) जिससे 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है। इसी न्याय से 'तत्त्व मसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्षत्व है। कारण उस ज्ञान में प्रमाता ही विषय होने से विषय चैतन्य और वृत्तिचैतन्य का अभेद है।

विवरण—'वह यह देवदत्त' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान शब्दजन्य होने से (इन्द्रियजन्य ज्ञान न होने से) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का उदाहरण हो नहीं सकता, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि शाब्दज्ञान को इन्द्रियजन्यत्व न होने पर भी उपर्युक्त प्रत्यक्षत्व प्रयोजकत्व 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य ज्ञान में है। इस कारण यहां लक्षण और लक्ष्य की असंगति नहीं होती। नैयायिक 'इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं, परन्तु वह अतिव्याप्त

होता है, क्योंकि इन्द्रियजन्यत्व को प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक मानने पर नैयायिकों के मत में मन भी इन्द्रिय होने से उससे होनेवाला अनुमितिज्ञान भी प्रत्यक्ष कहा जायगा। यह बताकर उसका निरसन भी कर दिया गया। इसलिए इन्द्रियजन्यत्व, प्रत्यक्ष में प्रयोजक हो नहीं सकता।

शंका—इससे पूर्व आपने 'प्रमाणचैतन्य का, योग्य वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्नत्व' प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक बताया, और अब 'योग्य वर्त्तमान विषयकत्व होते हुए प्रमाणचैतन्य का विषय चैतन्य से अभिन्नत्व का प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक बता रहे हैं। अतः दोनों की संगति कैसे हो ?

समाधान—दोनों लक्षणों का अर्थ एक ही है। 'वृत्तिरूप प्रमाण से अवच्छिन्न चैतन्य और योग्य, वर्तमान, अबाधित विषय से अवच्छिन्न चैतन्य दोनों का अभेद' यह अर्थ दोनों लक्षणों से समान ही निकलता है।

इस प्रकार प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक इन्द्रियजन्यत्व के न होने से, पूर्वोक्त उभयविधचैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष में प्रयोजक होने से 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। कारण उस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय (देवदत्त) समीप है। विषय के सन्निकृष्ट होने से अन्तःकरण की वृत्ति, इन्द्रिय के द्वारा बाहर निकलकर 'देवदत्त' रूप विषय के आकार की बन जाती है—हमारा सिद्धान्त है। इसकारण 'देवदत्त' (रूप) विषय से अवच्छिन्न चैतन्य और विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य, इन दोनों का अभेद होकर 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षत्व सिद्ध होता है।

शंका—वाक्य जन्य ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है—इस विषय में लौकिक उदाहरण के होने पर भी वैदिक उदाहरण का होना असम्भव प्रतीत होता है। कारण—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' हे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किस साधन से जानना चाहिए। इत्यादि श्रुति से प्रमाता के विषयत्व का निराकरण किया गया। इससे तत्पदार्थाभिन्न त्वं पदार्थ प्रमातृचैतन्य को विषयावच्छिन्न चैतन्यत्व का अभाव होने से 'तत् त्वमसि' इस वाक्यजन्यज्ञान में पूर्वोक्त प्रयोजक का अभाव है।

समाधान—'तत्त्वमसि' वह सत्, तू है—इस वैदिक वाक्यजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्षत्व है क्योंकि उसमें पूर्वोक्त प्रत्यक्षत्व प्रयोजक है—यथाः— 'तत्त्वमसि' इस वाक्य ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट है। 'तत्' और 'त्वम्' पदों का लक्ष्य अर्थ 'चैतन्य', उस ज्ञान का विषय है। इस वाक्य से अन्तःकरण वृत्ति पैदा होती है। (यह हमारा सिद्धान्त है) इस कारण लक्ष्य चैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होता है। इस अभेद के कारण ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है। ('तत्त्वमसि' के सुनने पर सर्वज्ञत्व, किंचिज्ज्ञत्व—अकर्तृत्व कर्तृत्व इत्यादि से विशिष्ट वस्तु का अभेद है—यह ज्ञान

नहीं होता। किन्तु 'तत्' और त्वम्' इन दो पदों के लक्ष्य स्वरूपके ऐक्य का ज्ञान होता है। कारण यह है कि सर्वज्ञत्व–अकर्तृत्व आदि धर्मों से युक्त तत्पदार्थ और किंचिज्ज्ञत्व–कर्तृत्व आदि धर्मों से युक्त त्वं पदार्थ के ऐक्य का असम्भव है, क्योंकि विरुद्ध धर्म के दो पदार्थों की एकता होना अशक्य है। परन्तु उन 'तत्' और 'त्वम्' पदों के लक्ष्य (चैतन्य) तो सन्निकृष्ट ही है। इसलिये 'तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न हुई अन्तःकरण वृत्ति के स्वीकार करने में कोई बाधक नहीं है। इसी कारण लक्ष्यचैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य को एकदेशस्थित दो उपाधियों से अवच्छिन्नत्व है। इस प्रकार उन दो चैतन्यों का अभेद होने से 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है। इस ज्ञान में प्रमाता को ही विषयत्व होने से (उस वाक्यजन्य ज्ञान में प्रमातृ पद के 'तत्त्वं' पद से लक्ष्यभूत चैतन्य को ही विषयत्व होने से) विषय चैतन्य और वृत्ति चैतन्य का ऐक्य (एकता) हो पाता है।

शंका—'तत्त्वम्' पद से लक्ष्य भूत ब्रह्म, शास्त्रजन्यज्ञान का विषय है—यह कहने पर 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' आदि श्रुतियों की क्या गति है ?

समाधान—यह श्रुति विज्ञाता के फलव्याप्यत्व का निराकरण करती है। वह उसके वृत्तिव्याप्यत्व का निराकरण नहीं करती। पंचदशीकार कहते हैं—'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्। ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता॥'

इन्द्रियसन्निनकर्ष के कारण अन्तःकरण की घटादिविषयाकार वृत्ति के उत्पन्न होने पर उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। उस 'चैतन्य' को 'फल' कहते हैं। चैतन्य-प्रतिबिम्ब से युक्त हुई वृत्ति, विषय को व्याप्त करती है। उस कारण उस वृत्ति के साथ फलरूप चैतन्य की व्याप्ति भी सिद्ध ही है। ऐसा होने से घटादि जड विषयों को फलव्याप्यत्व है। परन्तु वह फलव्याप्यत्व ब्रह्म में नहीं बन पाता। कारण—ब्रह्म, साक्षात् चैतन्यात्मक है। इस कारण वृत्ति के साथ रहने वाला चैतन्य भी चिद्रूप ब्रह्म में किसी प्रकार का अतिशय पैदा नहीं कर सकता। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म में फलव्याप्ति के मानने पर वह ब्रह्म जड़ हो जायगा। कारण जड में हीं फलव्याप्ति का संभव होता है और जड के साक्षात्कार के लिये उसकी आवश्यकता होती है। इससे 'तत्त्वमसि' सुनने पर पैदा हुई वृत्ति के द्वारा ब्रह्म के व्याप्त होने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। प्रत्युत, किसी पदार्थ के अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना उसका भान (ज्ञान) नहीं होता और अज्ञान की निवृत्ति, अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा ही होती है। इसलिये ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति के लिये अन्तःकरण वृत्ति का स्वीकार करना ही चाहिये, यह कारिका का आशय है।

इस पर शंका—

ननु वाक्यजन्यज्ञानस्य पदार्थसंसर्गावगाहितया कथं निर्विकल्पकत्वम् ।

अर्थ—वाक्यजन्यज्ञान को पदार्थसंसर्गविषयत्व होने से निर्विकल्पकत्व कैसे ?

विवरण—(१) 'वह यह देवदत्त' आदि वाक्यजन्यज्ञान संसर्गावगाहि है—(संसर्ग को विषय करने वाला है) (२) क्योंकि उसमें वाक्यजन्य-ज्ञानत्व है, (३) 'गौ को लाओ' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान की तरह । अथवा—(१) 'वह यह देवदत्त' वाक्य से पैदा हुआ ज्ञान निर्विकल्पक नहीं है, (२) क्योंकि उसमें संसर्गावगाहित्व है, (३) 'गौ को लाओ' आदि वाक्य-जन्य ज्ञान की तरह इस आशय से यहां पर यह शंका की गई है । वाक्य से होने वाला ज्ञान उस वाक्यगत प्रत्येक पद के अर्थ के परस्पर संबंध को विषय करता है । जैसे—'गौ को लाओ' इस वाक्य में 'तू' पद 'लाओ' क्रिया के साथ 'कर्तृत्व' रूप से संबंधित होता है । और 'गो' पद, उस क्रिया के साथ 'कर्मत्व' रूप से संबंधित होता है । और 'त्वत्कर्तृक-गोकर्मक-आनयन' इत्याकारक शाब्द बोध होता है । इसलिये यह संसृष्ट वाक्यार्थ है ।

वाक्यजन्य सभी ज्ञान, प्रत्येक पद के अर्थ में स्थित परस्पर कर्तृत्वादि संसर्ग को विषय करते हैं । ऐसी स्थिति में उसे निर्विकल्पकज्ञान कैसे कहा जा सकता है ? जो ज्ञान, विशिष्ट का ग्रहण करे वह सविकल्पक होता है, जैसे—यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है, यह पाचक है, आदि ज्ञान । इस आकार का जो नहीं हो वह निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है । वाक्यजन्यज्ञान तो संसर्गावगाहि होने से उसमें निर्विकल्पकत्व कैसे ?

उच्यते । वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्, अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वापत्तेः, किन्तु तात्पर्यविषयत्वम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका का समाधान बताया जाता है—वाक्यजन्यज्ञान के विषयत्व में पदार्थों का संसर्गत्व, तन्त्र (प्रयोजक–निमित्त) नहीं है । कारण यह ह कि वाक्यजन्य–ज्ञानविषयत्व में पदार्थसंसर्गत्व को ही प्रयोजक मानने से वक्ता के द्वारा अनभीप्सित संसर्ग को भी वाक्यजन्यज्ञानविषयत्व होने का प्रसंग आवेगा । अतः वक्ता के तात्पर्य का जो विषय हो वही वाक्यजन्य-ज्ञान का विषय है, अर्थात् तात्पर्यविषयत्व को वाक्यजन्यज्ञानविषय में प्रयो-जकता है ।

विवरण—वाक्यजन्यज्ञान के विषय-निर्धारण में पदार्थसंसर्ग यदि निमित्त रहता तो वाक्यजन्यज्ञान को निर्विकल्पक नहीं कहा जाता। वस्तुतः पदार्थसंसर्ग में वाक्यजन्यज्ञान की विषयता है ही नहीं (पदार्थसंसर्गविषयत्व, वाक्यजन्यज्ञान में प्रयोजक नहीं है) क्योंकि पदार्थसंसर्ग को ही यदि वाक्यजन्यज्ञान में प्रयोजक मानें तो वक्ता को अनभिमत ऐसे अश्वादिसंसर्ग को भी वाक्यजन्यज्ञानविषयत्व प्राप्त होगा। भोजन के समय 'सैन्धवमानय' वाक्य में वक्ता को असंमत अश्वादि-पदार्थसंसर्ग भी वाक्यज्ञान का विषय है, मानना पड़ेगा। 'सैंधव' का अर्थ है सेंधा नमक और सिंधु देश का घोड़ा। भोजन करते समय 'सैंधव लाओ' कहने वाले वक्ता का तात्पर्य 'सेंधा नमक' रूप अर्थ में होता है, इसलिये उसके वाक्य का तात्पर्यविषय 'सेंधानमक' है। उस समय 'सैन्धव (अश्व) लाओ' इस वाक्य में 'अश्वकर्मक आनयन क्रिया' रूप संसर्ग वक्ता को अभिमत नहीं रहता। इस कारण वह संसर्ग वाक्यज्ञान के विषय-निर्धारण में प्रयोजक नहीं बन सकता। इसलिये केवल पदार्थसंसर्ग को वाक्यज्ञान का विषय नहीं माना जा सकता। तो फिर वाक्यजन्यज्ञान-विषयत्व में क्या निमित्त है? उत्तर—वक्ता के तात्पर्य का जो विषय हो वही वाक्यजन्यज्ञान का विषय होता है। फिर वह तात्पर्य विषय पदार्थों का संसर्ग हो या न हो यह विचार आवश्यक नहीं है। अब प्रकृत के 'सोऽयं देवदत्तः' लौकिक वाक्य में वक्ता का तात्पर्य देवदत्त के देह में (उसका देह, इस अर्थ में) होने से तात्पर्य का विषय न बने हुए पदार्थसंसर्ग की वाक्यजन्यज्ञान विषय में प्रयोजकता नहीं होती।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वैदिक महावाक्य का तात्पर्य, अद्वितीय विशुद्ध ब्रह्म में है। यह निश्चय उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्य-लिंग से होता है। इसलिए तात्पर्य-विषय न हुआ वाक्यगत पदार्थों का संसर्ग, तात्पर्य का अविषय है। क्योंकि ऐसे वाक्यों में पदार्थों का असंसर्ग ही तात्पर्य का विषय है, इस आशय से ग्रन्थकार कहते हैं—

प्रकृते च 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' छा०-६-२-१ इत्युपक्रम्य 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' छ०-६-८-७ इत्युपसंहारे विशुद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यमवसितमिति कथं तात्पर्याविषयसंसर्गमवबोधयेत्।

अर्थ—प्रकृत 'तत्त्वमसि' उदाहरण में "हे सोम्य प्रियदर्शन पुत्र! यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व 'सत्' ही था"। यह उपक्रम (प्रारंभ) कर "वह सत् ही सत्य है, वह आत्मा है, और वह सत् ही तू है" ऐसा उपसंहार किया होने

से विशुद्ध ब्रह्म में वेदान्त का तात्पर्य निश्चित हुआ है। ऐसी स्थिति में यह वाक्य, तात्पर्य का विषय न बने हुए पदार्थसंसर्ग को कैसे बतावेगा?

विवरण—'पहले यह सब सत् ही था' इस उपक्रम और 'वह सत्य है, वही आत्मा है, वह तू है' इस उपसंहार से 'तत्त्वमसि' वाक्य का तात्पर्य अद्वितीय विशुद्ध ब्रह्म में है—निश्चय होता है। इससे वाक्य गत पदार्थों के संसर्ग में तात्पर्यविषयता न होकर असंसर्ग में ही तात्पर्य-विषयत्व है। इसलिये 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' ऐसे वाक्यों के तात्पर्य का विषय न होने वाले संसर्गविषयत्व का बाध होता है।

शंका—तत्त्वमस्यादि वाक्यों के प्रसिद्ध अखण्डार्थत्व का त्यागकर उनमें (वाक्यों) संसर्ग के विषय न होने वाले ज्ञान का विषयत्व किस तरह माना जा सकता है? संसर्ग का विषय न होने वाले ज्ञान का जनकत्व उन वाक्यों में है-यह कुछ नवीन सा लग रहा है।

इदमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वम्, यत्संसर्गानवगाहियथार्थज्ञानजनकत्वमिति ॥ तदुक्तम्—

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् ।
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥ १ ॥

प्रातिपदिकार्थमात्र परत्वं वाऽखण्डार्थतत्वमिति चतुर्थपादार्थः ॥

अर्थ—संसर्ग का विषय न होने वाले यथार्थ ज्ञान का जनकत्व (उत्पादकत्व) ही तत्त्वमस्यादि वाक्य का अखण्डार्थत्व है। इस विषय में चित्सुखाचार्य ने इस प्रकार कहा है—'गिराम्' तत्त्वमस्यादि वाक्यों को संसर्ग का विषय न होने वाले सम्यग्ज्ञान का हेतुत्व (उन वाक्यों से तादृश यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होना) ही उन वाक्यों का अखण्डार्थत्व है। अथवा उन वाक्यों का प्रातिपदिकार्थत्व ही अखण्डार्थत्व है। परन्तु इस दूसरे 'प्रातिपदिकार्थत्व' लक्षण पर अतिव्याप्ति न हो इसलिए 'प्रातिपदिकार्थत्व' में 'मात्र' पद का निवेश करना चाहिये। अर्थात् 'प्रातिपदिकार्थत्व' से तात्पर्य 'प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्व' है, यही अखण्डार्थत्व है। यह उपर्युक्त कारिका के चौथे पाद का अर्थ है।

विवरण—मूलमें 'इदमेव' के 'एव' कार का अर्थ 'अपि' समझना चाहिये। अर्थात् 'यही' अर्थ न कर 'यह भी' अर्थ करना चाहिये। 'यही' अर्थ करने पर दूसरे लक्षण का असंभव होगा। परन्तु चित्सुखाचार्य की कारिका के '(यद्वा) तत्प्रातिपदिकार्थता' चौथे पाद में अखण्डार्थत्व का

दूसरा लक्षण बताया है, इसलिये तीनपादों के द्वारा कहे गये प्रथम लक्षण से द्वितीय लक्षण का समुच्चय करने के लिये 'इदमेव' के स्थान में 'इदमपि' समझना चाहिये। अब 'संसर्ग का विषय न होने वाले यथार्थ ज्ञान का जनकत्व' रूप लक्षण नवीन न होकर प्राचीन ही है यह प्रदर्शित करने के लिये उसमें चित्सुखाचार्य की सम्मति दिखाते हैं। तत्त्वमस्यादि वाक्यों का जो संसर्गासंगि सम्यग्ज्ञानहेतुत्व है वही उनका अखण्डार्थत्व है। महावाक्यों का सम्यग्ज्ञान में निमित्त कारण होना ही उनका अखण्डार्थत्व है। परन्तु वह सम्यग्ज्ञान संसर्ग से संबंध रखने वाला नहीं होना चाहिए। अर्थात् 'गाय को लाओ आदि वाक्य, संसर्ग को अपना विषय बनाकर वाक्यार्थज्ञान में कारण होता है। वैसे 'तत्त्वमसि' वाक्य 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों के संसर्ग को अपना विषय बनाकर संसर्गसंबंधी सम्यक् ज्ञान (वाक्यार्थज्ञान) में कारण नहीं होता। अपितु संसर्ग से संबद्ध न होने वाले सम्यग्ज्ञान में कारण होता है। वाक्य का संसर्गासंगिसम्यग्ज्ञान में कारण होना ही उसका अखण्डार्थत्व है। यह अखण्डार्थत्व का एक लक्षण हुआ। उसी का 'यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता' दूसरा लक्षण है। 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों की प्रतिपदिकार्थता ही अखण्डार्थत्व है। मूल में 'प्रातिपदिकार्थता' इतना ही लक्षण है। परन्तु वह लक्षण संसर्ग पर वाक्यों में अतिव्याप्त होता है, कारण संसर्गपर वाक्य में भी प्रातिपदिकार्थ का प्रतिपादकत्व रहता है, संसर्ग पर वाक्यगत पद भी प्रातिपदिकार्थ का प्रतिपादन करते ही हैं। इसलिए उसमें 'मात्र' पद का निवेश करना चाहिए जिससे, ऐसे वाक्यों का 'प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्व' ही अखण्डार्थत्व है। इस लक्षण से उपर्युक्त अतिव्याप्ति का भी निवारण होगा।

क्योंकि संसर्ग पर वाक्य, प्रातिपदिकार्थ का प्रतिपादन भले ही करते हों तथापि प्रतिपदिकार्थ मात्र का प्रतिपादन नहीं करते। इसलिये उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

अब साक्षिचैतन्य की द्विविधता से पूर्वोक्त प्रत्यक्ष के द्विविधत्व को बताते हैं—

तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति। तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्। तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः। विशेषणं च कार्यान्वयि व्यावर्तकम्। उपाधिश्च कार्य्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। रूपविशिष्टो घटोऽनित्य इत्यत्र रूपं विशेषणम्। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र

कर्णशष्कुल्युपाधिः। अयमेवोपाधिर्नैयायिकैः परिचायक इत्युच्यते ॥

अर्थ—और वह सविकल्पक-निर्विकल्पक रूप प्रत्यक्ष पुनश्च दो प्रकार का है। एक जीवसाक्षि प्रत्यक्ष और दूसरा ईश्वर साक्षि प्रत्यक्ष। उनमें जीव अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणोपहित चैतन्य—यह जीवसाक्षि चैतन्य है। अन्तःकरण के विशेषणत्व और उपाधित्व के कारण जीव और जीवसाक्षी का भेद है, अर्थात् अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य-जीव है, और अन्तःकरणोपहित चैतन्य-जीव साक्षि है। विशेषण उसे कहते हैं—जो कार्यान्वयि तथा व्यावर्तक और वर्तमान हो। और उपाधि उसे कहते हैं जो कार्य से अन्वय (संबंध) न रखते हुए व्यावर्तक और वर्तमान हो। 'रूप (इस) विशेषण से विशिष्ट हुआ घट अनित्य है' इस उदाहरण में 'रूप' यह विशेषण है। 'कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न (पृथक) हुआ आकाश-श्रोत्र है।' इस उदाहरण में 'कर्णशष्कुलि' (यह) उपाधि है। नैयायिक इस उपाधि को ही 'परिचायक' कहते हैं।

विवरण—पहले सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का होता है बताया। परन्तु संसर्ग का विषयत्व और अविषयत्व रूप दो निमित्तों से उसकी द्विविधता का संभव होने पर भी वह दोनों प्रकार का ज्ञान, चैतन्य रूप होने से एक ही है। चैतन्य रूप से उस एक ही ज्ञान के पुनः जीव साक्षि चैतन्य और ईश्वर साक्षि चैतन्य अर्थात् शिखामणि टीकाकार के कथनानुसार जीवसाक्षि जन्य चैतन्य और ईश्वर साक्षि जन्य चैतन्य (ये) दो प्रकार हैं।

इस पर 'अर्थ दीपिका कार ने यह आक्षेप किया हैं कि शिखामणिकार ने जो 'साक्षिजन्य' कहा है वह हमें मान्य नहीं है क्योंकि ज्ञान के चैतन्य रूप होने से उसमें (चैतन्य में) जन्यत्व का संभव नहीं।

परन्तु चैतन्य रूप ज्ञान, स्वरूपतः अजन्य (उत्पन्न न होनेवाला) होने पर भी वृत्तिरूपज्ञान अथवा वृत्तिविशिष्ट ज्ञान तो जन्य है ही, यह वेदान्त सिद्धान्त है। इसलिये केवल जीवसाक्षि और ईश्वर साक्षि चैतन्य का भेद मानने की अपेक्षा, जीवसाक्षिजन्य और ईश्वरसाक्षिजन्य चैतन्य का भेद मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। अतः जीविका (जो) साक्षी, उससे उत्पन्न होनेवाला और ईश्वर का जो (जो) साक्षी, उससे उत्पन्न होनेवाला चैतन्य—ऐसा शिखामणिकार के व्याख्यानुसार ही व्याख्यान करना उचित है। इस प्रकार व्याख्यान करने से ही 'एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम्' इस तरह साक्षिद्वैविध्यसे प्रत्यक्षज्ञान का द्विविधत्व है—इस उत्तर ग्रन्थ की संगति लगती है। सिवाय साक्षि शब्द का 'साक्षिजन्य' व्याख्यान

न कर 'जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि च' वाक्य से केवल साक्षी के द्विविधत्व को यदि बताया जाय तो 'प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यं निरूपितम्' इस अग्रिम ग्रंथ की असंगति स्पष्ट ही है। क्यों कि "वह प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का है," (ऐसा) उपक्रम कर बीच में ही जीवेश्वर साक्षी का निरूपण करना सर्वथा अयुक्त है।" इस प्रकार सांप्रदायिक विद्वान् कहते हैं।

इस (जीवसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष और ईश्वरसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष चैतन्य के द्विविधत्व को दूसरे प्रकार से बताकर जीव का निरूपण किये विना जीवसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष का निरूपण करना अशक्य जानकर ग्रंथकार प्रथमतः जीव के स्वरूप का निरूपण करके जीव साक्षी के स्वरूप लक्षण को कहते हैं।

'तत्र०'—ईश्वर और जीव में से जीव किसे कहते हैं—अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्य—जीव है। और अन्तःकरणोपहित चैतन्य—उसका (जीव का) साक्षि है। अन्तःकरण जब चैतन्य का विशेषण रहता है तब वह 'जीव' कहलाता है और अन्तःकरण जब उसकी (चैतन्य की) उपाधि रहता है तब उसे जीव का साक्षित्व प्राप्त होता है। अर्थात् अन्तःकरण के विशेषणत्व और उपाधित्व के कारण 'जीव' और जीवसाक्षि' ऐसा भेद होता है।

विशेषण और उपाधि में क्या अन्तर है?—विशेषण और उपाधि दोनों व्यावर्तक और वर्तमान होते हैं, अर्थात् वर्तमानत्व और व्यावर्तकत्व (ये) दोनों धर्म, विशेषण, और उपाधि में समानतया रहते हैं, परन्तु विशेषण कार्यान्वयि होता है और उपाधि, कार्यान्वयी नहीं होता। जैसे—'रूप-विशिष्ट (रूप विशेषण से युक्त) घट अनित्य है' इसमें रूप विशेषण है क्योंकि 'घट' उससे युक्त है। परन्तु 'कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न (महाकाश से पृथक् हुआ) आकाश—स्रोत्र है' यहां 'कर्णशष्कुलि' उपाधि है। 'रूप' घट से संबद्ध रहने के कारण विशेषण है, परन्तु आकाश कर्णशष्कुलि से संबद्ध नहीं है, क्योंकि निरवयव आकाश और सावयव कर्णशष्कुलि दोनों के संबंध का संभव नहीं है। इसलिये 'कर्णशष्कुलि' उपाधि है, विशेषण नहीं। घट जैसा रूप से विशिष्ट रहता है वैसे कर्णछिद्र कान से विशिष्ट नहीं है। मूल में 'कार्यान्वयी' और 'कार्यानन्वयी' शब्द हैं। इनमें से 'कार्य' पद का अर्थ अवच्छेद्य (अन्वय योग्य) है। अवच्छेद्य से संबन्ध होने योग्य—घटादि पदार्थ। 'रूपविशिष्ट घट' यहां 'रूप' को 'घट' पदार्थ से अन्वयित्व, व्यावर्तकत्व और वर्तमानत्व होने से विशेषणत्व है। और 'कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश' यहां कर्णशष्कुलि पद को कार्य से अनन्वयित्व, व्यावर्तकत्व और वर्तमानत्व होने से उपाधित्व है। वेदान्ती के इस उपाधि को ही नैयायिक परिचायक कहते हैं। यह कह कर उपाधि पदार्थ, अन्यान्य शास्त्रों में भी

प्रसिद्ध है सूचित किया है। अब जीव साक्षी के प्रसंग में अन्तःकरण में उपाधित्व कैसे बनता है, उसे कहते हैं—

प्रकृते चान्तःकरणस्य जडतया विषयभासकत्वायोगेन विषयभासकचैतन्योपाधित्वम्। अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना। एकत्वे, मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसङ्गः।

अर्थ—प्रकृत प्रसंग में अन्तःकरण के जड होने से विषयावभासकत्व नहीं हो पाता, इसलिये उसे (अन्तःकरण में) विषयावभासक चैतन्य का उपाधित्व है। यह जीवसाक्षिचैतन्य, प्रत्येक आत्मा में भिन्न भिन्न है। प्रत्येक प्रमाता का साक्षि चैतन्य यदि भिन्न भिन्न न माना जाय (समस्त जीवों में साक्षिचैतन्य एक ही है) तो मैत्र को अवगत हुए अर्थ का चैत्र को भी अनुसन्धान होने लगेगा।

विवरण—शंका—कर्णशष्कुली को उपाधि कहना तो उचित है परन्तु अन्तःकरण को जीवसाक्षिचैतन्योपाधित्व, प्रयोजन शून्य (व्यर्थ) है। कारण यह है कि प्रमाता ने (अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य = जीव ने) विषय प्रकाशनार्थ अपने साक्षी की यदि अपेक्षा की होती तो उसे साक्षिचैतन्य का उपाधि मानना योग्य हुआ होता। परन्तु प्रमाता विषय-प्रकाशनार्थ स्वसाक्षी की अपेक्षा ही नहीं रखता। वह साक्षी की सहायता के बिना चक्षुरादि इन्द्रियजन्य-वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्य से ही विषय को प्रकाशित कर लेगा।

समाधान—ऐसी शंका करना उचित नहीं। क्योंकि अन्तःकरण अविद्या का कार्य होने से जड है। इसलिये वह विषय को प्रकाशित करने में असमर्थ है। क्षण प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली वृत्तियों के अनेक होने के कारण, उन वृत्तियों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य भी अनेक हैं। उस कारण अनेकसंख्यक हुईं वृत्तियों को समस्त विषयों का अनुसंधातृत्व संभव नहीं। (क्षण प्रतिक्षण उत्पन्न होकर नष्ट होनेवालीं वृत्तियां संपूर्ण विषयों का अनुसंधान करने में समर्थ नहीं) प्रमाता, अन्तःकरण से अवच्छिन्न हुआ होने से उसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान विषयों का अनुसंधान करने के लिये दूसरे के साहाय्य की अपेक्षा है। बिना सहायता लिये उसे त्रैकालिक विषयों का अनुसंधान करना शक्य नहीं। इसलिये प्रमाता से सम्बद्ध और ब्रह्माभिन्न ऐसे साक्षी की अत्यंत आवश्यकता है। इसलिये अन्तःकरण में साक्षी का उपाधित्व अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

शंका—जीवसाक्षी का ब्रह्म के साथ अभेद होने से उसमें स्वयं प्रकाशत्व है। इसलिये साक्षी में सर्वविषयानुसंधातृत्व है यह मानने पर उसमें एकत्व प्राप्त होता है। क्योंकि ब्रह्म एक है। इसलिये ब्रह्माभिन्न साक्षी में भी एकत्व

ही है और सब जीवों का साक्षी एक है ऐसा मानने पर एक जीव से अनुभूत विषय का अनुसंधान दूसरे को भी होने लगेगा। इस शंका का निरसन करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं—प्रत्येक जीवात्मा का साक्षिचैतन्य भिन्न भिन्न है, क्योंकि उसे एक मानने पर, मैत्र को ज्ञात हुए विषय का अनुसंधान (स्मरण) चैत्रादि अन्य व्यक्तियों को भी होने लगेगा। परन्तु ऐसी अनवस्था न हो इसलिये हमने अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद के कारण जीवसाक्षी में नानात्व स्वीकार किया है। अतः उपर्युक्त दोष नहीं आता। इस तरह जीवसाक्षी का निरूपण कर अब ईश्वरसाक्षी का निरूपण करते हैं—

ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूतमायाया एकत्वात्। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनस्य मायागतशक्तिविशेषाभिप्रायतया मायागतसत्त्वरजस्तमोरूपगुणाभिप्रायतया वोपपत्तेः॥

अर्थ—परन्तु इसके विपरीत मायोपहितचैतन्य ही ईश्वरसाक्षिचैतन्य है। और वह एक है। क्योंकि उस चैतन्य की उपाधिभूत माया एक है। 'इन्द्र (परमेश्वर) माया के कारण बहुरूपत्व को प्राप्त होता है'॥ आदि श्रुति में 'मायाभिः' इस बहुवचन का आशय 'माया के शक्ति विशेष से' है। अर्थात् 'मायाभिः'—मायाओं से—इस प्रयुक्त बहुवचन का अभिप्रय एक महामाया की असंख्य विचित्र अवान्तर शक्तियां—होनेसे मुख्य माया के एकत्व के साथ विरोध नहीं है। अथवा मायागत सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों के अभिप्राय से वह बहुवचन है—इस प्रकार उस बहुवचन की उपपत्ति लगानी चाहिये।

विवरण—पहले जीवसाक्षी का निरूपण करते समय 'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव और अन्तःकरणोपहित चैतन्य जीवसाक्षि' बताया गया है। अब ईश्वर और ईश्वरसाक्षिचैतन्य को बताने के लिये 'मायोपहित चैतन्य ही ईश्वरसाक्षिचैतन्य है' (मायावच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वरचैतन्य) यहां बताया गया है। इस बात को स्वयं ग्रन्थकार आगे कहेंगे ही। परन्तु जीवसाक्षिचैतन्य की तरह ईश्वरसाक्षिचैतन्य भी क्या अनेक हैं? उत्तर—नहीं। यह ईश्वरसाक्षिचैतन्य एक है, क्योंकि उस साक्षिचैतन्य की उपाधिरूप माया एक है। माया के एक होने से मायोपहित चैतन्य भी एक, और प्रत्येक जीवचैतन्य का अन्तःकरण भिन्न होनेसे अन्तःकरणोपहित चैतन्य भी भिन्न (अनेक) इस प्रकार इन दो साक्षिचैतन्यों में विशेष (अन्तर) है, उसी को सूचित करने के लिये मूल में 'ईश्वरसाक्षि तु' वाक्य में 'तु' शब्द का उपयोग किया है। अनादि, अनिर्वाच्य, विपर्यय का उपादान और

विक्षेपप्रधान ईश्वरशक्ति ही माया है—इस प्रकार माया का लक्षण किया गया है।

शंका—माया को एक कहने पर बृहदारण्यक के—'परमेश्वर, मायाओं के योग से अनेक रूप को प्राप्त हुआ है'—श्रुतिवचन से विरोध होता है। इसपर ग्रन्थकार धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं—'निष्प्रतिबन्ध ऐश्वर्य से युक्त हुआ परमात्मा मायाओं के योग से अनेकाकार प्रतीत होता है।' इस वाक्य में 'मायाभिः' (यह) बहुवचन का प्रयोग, मायागत शक्ति-विशेषों के अभिप्राय से किया गया है। मुख्य माया में जो असंख्य विचित्र शक्तियां हैं वे ही शक्तिविशेष हैं। अग्नि प्रभृति पदार्थों में दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि कार्यों को देखकर तत्तद् शक्तियां तत्तत् पदार्थों में जैसी कल्पित की जाती हैं, उसी तरह जगद्रूप विचित्र कार्यों के देखने से तत्तद् असंख्य कार्यों की शक्तियां माया में कल्पित करनी पड़ती हैं। उन्हीं को शक्तिविशेष अथवा अवान्तर शक्ति कहते हैं। इन असंख्य शक्तिविशेषों के अभिप्राय से 'मायाभिः' (ऐसा) श्रुति में कहा है। मूल माया के अभिप्राय से नहीं। अथवा सत्त्व, रज, और तम—इन तीन गुणों की साम्यावस्था को माया (प्रकृति) कहते हैं। उन तीन गुणों के अभिप्राय से श्रुति में 'मायाभिः' बहुवचन का उपयोग किया है। भाव यह है कि ईश्वरसाक्षी की उपाधिभूत माया एक है। वह जीवसाक्षी के उपाधिभूत अन्तःकरण की तरह नाना नहीं है।

शंका—'मायाभिः' यह बहुवचनान्त प्रयोग श्रुति के करते हुए 'माया का बहुत्व' इस मुख्यार्थ को छोड़कर अमुख्य अर्थ का ग्रहण क्यों किया जाता है। (अवान्तर विशेषों की अथवा गुणों के बहुत्व की कल्पना करके 'मायाभिः' इस बहुवचन की व्यवस्था क्यों लगायी जा रही है) 'मायां तु०' आदि ग्रन्थ से समाधान किया जाता है—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' श्वे० ४।१०। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजास्सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥' श्वे० ४।५। 'तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते। योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥ १॥' इत्यादिश्रुति-स्मृतिषु एकवचनबलेन लाघवानुगृहीतेन मायाया एकत्वं निश्चीयते। ततश्च तदुपहितं चैतन्यम् ईश्वरसाक्षि तच्चानादि तदुपाधेर्मायाया अनादित्वात्॥

अर्थ—'तु' चिद्रूप महेश्वर से विलक्षण जडभूत 'मायाम्' ईश्वर शक्ति (माया) 'प्रकृतिम्' प्रकृति है और 'तु' उस माया से विलक्षण (चिद्रूप) 'मायावी' माया शक्तिमान् चिद्रूप आत्मा-महेश्वर है 'विद्यात्' समझना चाहिये। (श्वे० उ० ४।१०)

अजा—उत्पन्न न होनेवाली, एक, लोहित शुक्ल कृष्ण रूप (तेज, अप् अन्नात्मक) 'सरूपाः बह्वीः प्रजाः सृजमानां' अपने आकार की विविध प्रजा को पैदा करनेवाली, अजा (अविद्यात्मक प्रकृति) का, 'एकः अजः हि जुषमाणः अनुशेते' एक, अज (अनादि) अविद्यात्मक वासनाओं से बद्ध हुआ जीवात्मा सेवन करता रहता है, और दूसरा अज (ईश्वर) भुक्त भोगा—(जिसका भोग लिया गया है) प्रकृतिको छोड़ता है। अविद्यावान् जीवात्मा की तरह विद्यावान् ईश्वर उसके उसके तादात्म्य को प्राप्त नहीं। होता (श्वे. उ,४।५)। 'यस्मिन् परात्मनि हृदि निवेशिते सति' जिस परमात्मा की हृदय में स्थिर स्थापना करने पर (वृत्त्यारूढ = वृत्तिविषय करने पर 'योगी विततां अविद्यां तरति' योगी कार्यरूप से विस्तार को प्राप्त हुई अविद्या (माया) को तर जाता है। 'तस्मै अमेयाय विद्यात्मने नमः' उस अप्रमेय (प्रमाणों के विषय न होनेवाले) विद्यात्मा को प्रणाम। इत्यादि श्रुति-स्मृतिगत लाघव से उपकृत हुए एकवचन के बल से माया के एकत्व का निश्चय किया जाता है। इस कारण मायोपहित चैतन्य ईश्वरसाक्षि है और वह अनादि है। क्योंकि उसकी उपाधिरूप माया का अनादित्व है।

विवरण—प्रथम श्रुतिवचन में 'मयाम्' ऐसा एकवचन जाति के अभिप्राय से है ऐसा कोई कदाचित् कह दे, इसलिये प्रत्यक्ष 'एकाम्' इस एकत्वबोधक शब्दवाली की एक दूसरी 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति का निर्देश किया है। इसके देखने से 'मायाम्' एक वचन जाति के अभिप्राय से उपयुक्त किया है कहने का अवकाश नहीं मिलता। तथापि माया का एकत्व श्रुति-तात्पर्य से सिद्ध है-आपने कैसे जाना ? क्योंकि श्रुतिका तात्पर्य अमुक अर्थ में ही है-ऐसा निश्चय करना बहुत कठिन है। ऐसा कदाचित् कोई कह दे इसलिये स्मृतिकार के वचन का अनुसरण कर हम श्रुतितात्पर्य का निश्चय करते हैं। इस आशय से 'तरत्यविद्याम्' आदि पराशरस्मृति का उल्लेख किया है। 'योगी जिस परमात्मा को वृत्त्यारूढ करके (वृत्ति का विषय करके) अविद्याख्य माया का उल्लंघन करता है उस ज्ञानस्वरूप अमेय (वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का विषय न होनेवाले) परमात्मा को प्रणाम हो। उसी अविद्यामें 'वितताम्' (प्रपंच के आकार में परिणत होने से सर्वत्र व्याप्त हुई) विशेषण दिया है।

शंका—परमेश्वर की हृदय में स्थापना करने से अविद्या की निवृत्ति होने पर भी अनर्थ की निवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि सर्वअनर्थभूत माया तो अवशिष्ट ही रहती है। अतः अविद्या की निवृत्ति से माया की निवृत्ति नहीं हो सकती।

उत्तर—परमेश्वर की शक्तिरूप माया और अविद्या एकही हैं। इसी आशय से मूलमें 'अविद्यां मायां' कहा है। अविधा अपने आश्रय (जीव) को मोहित करती है किन्तु माया अपने आश्रय (ईश्वर) को मोहित नहीं करती, इस प्रकार उनमें भेद होने पर भी वस्तुतः उनमें भेद नहीं है। अर्थात् अविद्या और माया पृथक् पदार्थ नहीं हैं।

शंका—स्मृति में भी जाति के अर्थ में एक वचन और 'अजामेकाम्' यहां 'एक' शब्द असुख्य अर्थ में कह सकते हैं। ऐसी स्थिति में श्रुतिस्मृति से एकत्व का निश्चय कैसे किया जा सकता है?

उत्तर—श्रुतिस्मृति में एकवचन, लाघव से अनुगृहीत है। 'मयाभिः इस बहुवचन से परमेश्वर की अनेक मायाओं की कल्पना करने की अपेक्षा एक ही माया-शक्ति की कल्पना करने में लाघव है-इस लाघव से-अनुगृहीत श्रुतिस्मृति के एक वचन से माया का एकत्व निश्चित होता है। मूलस्थ 'इत्यादि, पदसे 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' (का. १,२,५) 'मम माया दुरत्यया' (गी. ७,१४) आदि श्रुति स्मृति वचनों को समझना चाहिये। जैसे उपाधिभूत माया के एक होने से ईश्वर साक्षिचैतन्य एक है, वैसे ही उसके अनादि होने से वह अनादि भी है। अब ईश्वरसाक्षिज्ञान को ईश्वर के स्वरूपज्ञान की अपेक्षा होने से उस का स्वरूप बताते हैं—

मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः, मायाया विशेषणत्वे ईश्वरत्वम्, उपाधित्वे साक्षित्वमिति ईश्वरत्वसाक्षित्वयोर्भेदः, न तु धर्मिणोरीश्वरतत्साक्षिणोः ॥

स च परमेश्वर एकोऽपि स्वोपाधिभूतमायानिष्ठसत्त्व रजस्तमोगुणभेदेन ब्रह्मविष्णुमहेश्वर इत्यादि शब्दवाच्यतां लभते ॥

अर्थ—मायावच्छिन्न चैतन्य ही परमेश्वर है। माया जब चैतन्य में विशेषण हो तब उस चैतन्य में ईश्वरत्व होता है और माया जब उसमें उपाधि हो तब उस चैतन्य में साक्षित्व होता है। अर्थात् मायाविशिष्ट-चैतन्य को ईश्वरत्व और मायोपहित चैतन्य को ईश्वरसाक्षित्व इस प्रकार ईश्वरत्व और ईश्वरसाक्षित्व में भेद है। परन्तु ईश्वर और उसके साक्षी इन धर्मियों में भेद नहीं। और उस ईश्वर के वस्तुतः एक होने पर भी उसकी उपाधिभूत माया

में रहनेवाले सत्त्व, रज और तम इन गुणों के भेद से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि शब्दों की वाच्यता (अर्थ) को वह (ईश्वर) पाता है।

विवरण—अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य—जीव, और अन्तःकरणोपहित तचैन्य–जीवसाक्षी इस पूर्वोक्त भेद के समान ही यहां भी माया के विशेषणत्व और उपाधित्व के कारण ईश्वरत्व और ईश्वरसाक्षित्व का भेद है। जैसे जो पाचक (स्वयं पाक करनेवाला) हो, वही पाठक (पाठ करनेवाला) जब रहता है, तब पाचक व्यक्ति से पाठक व्यक्ति भिन्न नहीं होती, परन्तु उस व्यक्ति में रहनेवाले 'पाचकत्व और पाठकत्व' (ये) धर्म भिन्न होते हैं यह प्रसिद्ध ही है, उसी तरह ईश्वर और उसका साक्षी इन धर्मियों का भेद नहीं, अपितु ईश्वरत्व और ईश्वरसाक्षित्व इन धर्मों का भेद है।

शंका—माया के एकत्व के कारण ईश्वरसाक्षी में जैसे एकत्व है, उसी तरह मायावच्छिन्न (मायाविशिष्ट) चैतन्य (ईश्वर) में भी एकत्व अवश्य होना ही चाहिये। ऐसा होते हुए उसका ब्रह्मादि रूप से भेद कैसे स्वीकर किया गया है ? उसी तरह वह ब्रह्मादिभेद, विशेषण भेद मूलक होने से और उस विशेषणभेद की उपाधि माया के होने से तदुपहित चैतन्य में भी एकत्व होना उचित है। ऐसी स्थिति में उसे अनेकत्व कैसे ? इस शंका का उत्तर 'स च' इत्यादि ग्रन्थ से दिया गया है, जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—जिस प्रकार 'माया' रूप उपाधि (विशेषण) के सत्त्वादि गुणों के अभिप्राय से अनेकत्व का व्यपदेश होता है, उसीतरह उसके गुणों के अवच्छेद से ईश्वर का भेद होता है, वास्तवमें नहीं। ऐसा होनेसे माया-वच्छिन्न ईश्वरचैतन्य ही उद्भूत सत्त्व गुणवाली माया से अवच्छिन्न होने पर पालन करनेवाला नारायण, विष्णु इत्यादि शब्दों का वाच्य (अर्थ) होता है। वह ही मायाविशिष्ट चैतन्य, उद्भूत रजोगुणवाली माया से अवच्छिन्न होने पर स्रष्टा, ब्रह्मा, विधाता आदि शब्दों का वाच्य होता है। और वह ही ईश्वरचैतन्य उद्भूततमोगुणवाली माया से अवच्छिन्न होने पर संहर्ता, महेश्वर, रुद्र आदि संज्ञाओं को पाता है। मैत्रेयोपनिषद् में ऐसा वर्णन मिलता है—"अथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशः असौ स योऽयं ब्रह्मा, अथ यो ह खलु वा वास्य तामसोंऽशः असौ स योऽयं रुद्रः, अथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशः असौ स योऽयं विष्णुः" ईश्वर के राजस अंश का नाम ब्रह्मा, तामस अंश का नाम रुद्र, और सात्त्विक अंश का नाम विष्णु है। त्रिगुणमायावच्छिन्न चैतन्य ही विष्णु, महेश, गणेश, दिनेश, दुर्गा रूपों से उपास्य होता है, क्योंकि उन उपास्यों का निरंकुश (निष्प्रतिबन्ध) ऐश्वर्य कहीं श्रुत नहीं।

ईश्वर के सादित्व में शंका—

नन्वीश्वरसाक्षिणोऽनादित्वे 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' छा० ६।२।१ इत्यादिना सृष्टिपूर्वसमये परमेश्वरस्यागन्तुकमीक्षणमुच्यमानं कथमुपपद्यते ?

अर्थ—ईश्वरसाक्षिचैतन्य यदि अनादि होता तो 'उसने मैं बहुत होऊं, प्रजा के रूप में उत्पन्न होऊं' (छां. उ. ६, २, ३) आदि वाक्य से सृष्टि के पूर्व परमेश्वर का आगन्तुक ईक्षण बताया है, वह कैसे उपपन्न होगा ?

विवरण—ईश्वरसाक्षी-ईक्षण में सृष्टिपूर्वकालीनत्व है, ऐसा कहा हुआ होनेसे उसे (ईश्वरसाक्षीचैतन्य को) अनादि नहीं मान सकते। क्योंकि 'कालिक अवधि से रहित रहना' ही अनादित्व है। जिसमें काल की अवधि रहती है वह अनादि नहीं होता। ईक्षण में सृष्टि का पूर्वकाल रूप अवधि है। इसलिये उसमें अनादित्व नहीं है। किन्तु ईक्षण में सृष्टिपूर्वकालिकत्व होने से सादित्व है। यह सिद्ध होनेपर तद्विशिष्ट ईश्वर में भी सादित्व मानना पड़ता है। 'तदैक्षत०' इत्यादि श्रुति, ईक्षण में सृष्टिपूर्वकालीनत्व का प्रतिपादन करती है, अतः ईश्वर साक्षी के ईक्षण में आनादित्व बाधित होता है, और उसके बाधित होनेपर तद्विशिष्ट ईश्वर में भी अनादित्व बाधित होता है।

इस शंका का समाधान 'उच्यते' इत्यादि ग्रन्थ से करते हैं—

उच्यते। यथा विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणवशेन जीवोपाध्यन्तःकरणस्य वृत्तिभेदा जायन्ते, तथा सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायाया वृत्तिविशेषा इदमिदानीं स्रष्टव्यमिदमिदानीं पालयितव्यमिदमिदानीं संहर्तव्यमित्याद्याकारा जायन्ते। तासां च वृत्तीनां सादित्वात्तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि सादीत्युच्यते। एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम्। प्रत्यक्षत्वं च ज्ञेयगतं ज्ञप्तिगतं चेति निरूपितम्॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका का समाधान बताया जाता है—जैसे—बिषयेन्द्रियसन्निकर्षादि कारणों से जीव के उपाधिरूप अन्तःकरण के वृत्तिविशेष (अनेक विषयाकार वृत्तियां) माने जाते हैं, वैसे ही जिन्हें उत्पन्न करना है उन प्राणियों के कर्मवशात् परमेश्वरोपाधिभूत माया के वृत्ति विशेष (यह अब स्रष्टव्य = उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न करने योग्य है, यह अब पालन करने योग्य

है, यह अब संहार करने योग्य है—इत्यादि आकारों के वृत्ति विशेष) उत्पन्न होते हैं। उन वृत्तियों में सादित्व (वे वृत्तियां उत्पन्न होती हैं इस कारण) होने से, उनमें (वृत्तियों में) प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य भी सादि (उत्पन्न) कहा जाता है। इस प्रकार साक्षी की द्विविधता से प्रत्यक्ष ज्ञान की भी द्विविधता है। इसकारण प्रत्यक्षत्व के (प्रत्यक्ष के) ज्ञेयगत और ज्ञप्तिगत भेद से दो प्रकार बताये गये हैं।

विवरण—जैसे चैतन्य को अभिव्यक्त करनेवाली अन्तःकरण वृत्ति के सादि होनेसे उसमें प्रतिबिम्बत हुए जीवसाक्षिरूप ज्ञान में भी सादित्व है, वैसे ही ईक्षणादिकों को अभिव्यक्त करनेवाली मायावृत्ति में भी सादित्व होनेसे उसमें प्रतिबिम्बित हुए ईश्वरसाक्षिचैतन्य (ईक्षणादि ज्ञानस्वरूप) में भी सादित्व है। तथापि उनमें स्वरूपतः अनादित्व ही है (साक्षिचैतन्य में उपाधि के कारण पैदा होनेवाला सादित्व स्वाभाविक न होकर औपाधिक है) वृत्तिरूप उपाधिके कारण वह सादि-सा (उत्पन्न सा) भासता है। उस औपाधिक सादित्व से चैतन्य का स्वाभाविक अनादित्व बाधित नहीं हो सकता।

इस प्रकार साक्षी की द्विविधता का प्रतिपादन किया। इस कारण तत्तद्-वृत्तियों में अनुवृत्त हुए साक्षी का ज्ञानत्व होनेसे प्रत्यक्षज्ञान की भी द्विविधता है, एक ईश्वरसाक्षिजन्य और दूसरा जीवसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष। परन्तु दीपिका-कार कहते हैं—'जीवसाक्षिजन्य और ईश्वरसाक्षिजन्य' कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व चित्त्व ही है' इस उत्तर ग्रन्थ से विरोध होगा।

अब उसी में कुछ विशेष कहने के लिये 'एवं साक्षिद्वैविध्येन०' ग्रन्थ से ज्ञेयगत और ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व के निरूपण का अनुवाद किया गया है।

अब उस विशेष को बताते हैं—

तत्र ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षणं चित्त्वमेव। पर्वतो वह्निमानित्यादावपि वह्न्याद्याकारवृत्त्युपहितचैतन्यस्य स्वा-त्मांशे स्वप्रकाशतया प्रत्यक्षत्वात्। तत्तद्विषयांशप्रत्यक्षत्वं तु पूर्वोक्तमेव। तस्य च भ्रान्तिरूपप्रत्यक्षे नातिव्याप्तिः, भ्रमप्रमा-साधारणप्रत्यक्षत्वसामान्यनिर्वचनेन तस्यापि लक्ष्यत्वात्।

अर्थ—उनमें से ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण 'चित्त्व' ही है। 'पर्वत वह्निमान् है' आदि अनुमिति ज्ञानों में भी वह्न्याकारवृत्ति से उपहित (युक्त) चैतन्य को 'चित्' अंशमें प्रत्यक्षत्व है, क्योंकि उसमें स्वप्रकाशत्व

है और स्वप्रकाशत्व के कारण विषयाकारवृत्त्युपहित चैतन्य को स्वांशमें प्रत्यक्षत्व है, इसलिये 'चित्त्व' रूप प्रत्यक्षत्व लक्षण की अनुमित्यादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति बताना उचित नहीं है। क्योंकि अनुमित्यादि ज्ञान भी यहां लक्ष्य हैं, अलक्ष्य नहीं। तत्तद् विषय के अंश का प्रत्यक्षत्व तो पहले ही कह दिया है (ज्ञेयगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण पहले सविस्तर कह ही चुके हैं) उस लक्षण की भ्रान्तिरूप प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि भ्रम (मिथ्या-ज्ञान) और प्रमा (सम्यक् ज्ञान) इन दोनों ज्ञानों के लिये साधारण ऐसे प्रत्यक्षत्व सामान्य के निर्वचन से भ्रमज्ञान भी लक्ष्य कोटि में आ जाता है, अतः अलक्ष्य में लक्षण गमन रूप अतिव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—'तत्रेति' ज्ञेयगत और ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व में से ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण 'चित्त्व' ही है, यह सुनकर वादी कहता है— ज्ञाप्तिगत प्रत्यक्षत्व का 'चित्त्व' रूप लक्षण अनुमिति उपमिति आदि (प्रत्यक्ष प्रमासे भिन्न) प्रमाओं में अतिव्याप्त होता है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमा के समान उनमें भी चित्त्व है, परन्तु अनुमिति आदि प्रमाएं इसका लक्ष्य तो नहीं हैं केवल प्रत्यक्ष प्रमाही लक्ष्य है, इस कारण चित्त्वरूप प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण अलक्ष्यभूत (जो लक्ष्य नहीं है) अनुमिति आदि प्रमाओं में भी रहने से अतिव्याप्त होता है। इस आशंका का समाधान 'पर्वतो वह्निमान्' आदि ग्रन्थ से करते हैं। सभी ज्ञानों में अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान्' आदि अनुमित्यादि सभी प्रमाओं में तत्तद्विषयाकार वृत्तिसे उपहित चैतन्य को चैतन्यांश में प्रत्यक्षत्व है, क्योंकि 'यत्साक्षात् अपरोक्षात् (अपरोक्षं) ब्रह्म' इस श्रुति ने चित्त्व का ही प्रत्यक्षत्व (अपरोक्षत्व) बताया है, और चिद्रूप ज्ञान, स्वप्रकाश है, इसलिये सभी ज्ञान को ज्ञान अंश में प्रत्यक्षत्व ही है। इससे ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व 'चित्त्व' रूप लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो पाता, क्योंकि चैतन्य सर्वदा प्रत्यक्ष ही रहता है।

शंका—चैतन्य, स्वप्रकाशत्व के कारण यदि प्रत्यक्ष है और उसके प्रत्यक्ष होने से समस्त ज्ञानों को यदि प्रत्यक्षत्व है तो अनुमिति, उपमिति आदि प्रमाओं में प्रत्यक्षत्व का व्यवहार क्यों नहीं होता? (अनुमिति, उपमिति, शाब्द आदि ज्ञानों को 'प्रत्यक्ष' क्यों नहीं कहा जाता)।

इस शंका का समाधान 'तत्तद्विषयांश०' आदि ग्रन्थ से किया गया है। अनुमिति आदि ज्ञानों में विषयांशनिरूपित प्रत्यक्षत्व का पूर्वोक्त प्रयोजक नहीं होता। इसलिए उन्हें प्रत्यक्षशब्द से नहीं कहा जाता। हमने पहले बताया है कि विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक 'प्रत्यक्ष योग्य विषय के आकार की जो अन्तःकरण वृत्ति, उससे उपहित जो प्रमातृचैतन्य की सत्ता, उससे विषय

की सत्ता का पृथक् न रहना' (विषयाकार वृत्त्युपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से विषय की सत्ता का पृथक् न रहना) ही विषयगत (प्रमेयगत) प्रत्यक्षत्व है। अर्थात् अनुमिति प्रभृति ज्ञानों में इसके (प्रत्यक्षत्व प्रयोजक के) न होने से अनुमित्यादि प्रमाओं को 'प्रत्यक्षप्रमा' शब्द से नहीं कहा जाता। 'चित्त्व' (स्वप्रकाशत्व) रूप ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण प्रत्यक्षादि सब प्रमाओं में है। परन्तु ज्ञेयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक प्रत्यक्षादि सब प्रमाओं में भिन्न भिन्न है, इसलिए प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाओं में प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार नहीं होता। अर्थात् विषय के भेद से प्रत्यक्षादि प्रमाओं में भेद होता है।

शंका—शुक्तिरूप्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान में योग्य विषयाकार वृत्त्युपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से भ्रामक शुक्तिरूप्यादि विषयों की सत्ता भिन्न नहीं होती, इसलिए शुक्तिरूप्यादि भ्रान्त ज्ञान में 'चित्त्व' रूप ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व के लक्षण की अति व्याप्ति होती है।

समाधान—'तस्य च' ग्रन्थ से समाधान किया गया है। 'चित्त्व' (स्वप्रकाशत्व) रूप लक्षण की भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि भ्रमज्ञान की भी स्वांश (ज्ञान) में प्रत्यक्षता सिद्ध है, अतः भ्रमज्ञान में भी ज्ञप्तिगत सामान्य लक्षण की लक्ष्यता रहने से अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अलक्ष्य में लक्षण का घटित होना अतिव्यप्ति कहलाती है। भ्रमज्ञान तो ज्ञप्ति-गत प्रत्यक्षत्व लक्षण (चित्त्व) का अलक्ष्य न होकर लक्ष्य है, इसलिए 'चित्त्व' लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। भ्रमज्ञान (अप्रमाज्ञान) और प्रमाज्ञान (सम्यग्ज्ञान) इन द्विविधज्ञानों का साधारण लक्षण (ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का चित्त्वरूप सामान्य लक्षण) बताया है। उस सामान्य लक्षण का लक्ष्य भ्रमज्ञान भी है। ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व के विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति का निर-सन आगे किया जायगा।

शंका—प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण करते समय (प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकरण में) भ्रमज्ञान और प्रमाज्ञान (सम्यग् ज्ञान) दोनों के लिए साधारण (प्रत्यक्षत्व के) लक्षण का कहना (सामान्य लक्षण का निरूपण करना) योग्य नहीं है।

इस शंका का निरसन 'यदा तु०' ग्रन्थ से करते हैं—

यदा तु प्रत्यक्षप्रमाया एव लक्षणं वक्तव्यं तदा पूर्वोक्तलक्षणऽबाधितत्वं विषयविशेषणं देयम्। शुक्तिरूप्यादि भ्रमस्य संसारकालीनबाधविषयप्रातिभासिकरजतादिविषयकत्वेनोक्तलक्षणाभावान्नातिव्याप्तिः॥

अर्थ—अब आप यदि "प्रत्यक्ष प्रमा का ही लक्षण बताने के लिये कहें" तो पूर्वोक्त लक्षणगत 'विषय' में 'अबाधितत्व' विशेषण जोड़ दीजिये। जिससे प्रमा के लक्षण की भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि शुक्तिरूप्यादि भ्रम में, संसारकालीन बाध विषय प्रातिभासिकरजतादिविषयकत्व के होने से उसमें उक्त लक्षण का अभाव है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होने पाती।

विवरण—जब कि प्रत्यक्षप्रमाण का निरुपण चल रहा है तो ज्ञेयगत यथार्थ प्रत्यक्ष का ही 'विशेष लक्षण' बताना योग्य है। भ्रमज्ञान और प्रमाज्ञान दोनों के लिये साधारण (ऐसा) प्रत्यक्षत्व सामान्य का लक्षण बताना योग्य नहीं। यह आक्षेप यदि हो तो पूर्वोक्त ज्ञान साधारण लक्षणगत 'विषय' शब्द के साथ 'अबाधित' विशेषण जोड़ देना चाहिये, जिससे भ्रमज्ञान का विषय बाधित होने से उसकी निवृत्ति हो जायगी। "योग्य और अबाधित विषय की सत्ता का, विषयाकार वृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से पृथक् न होना" (ऐसा) लक्षण करने से बाधित होनेवाले शुक्तिरजतादिविषयों की व्यावृत्ति होती है। जिससे यह लक्षण ज्ञेयगत यथार्थप्रत्यक्षत्व का हो सकता है।

शंका—'अबाधितत्व' का अर्थ 'पारमार्थिकत्व' है या केवल 'सत्त्व'। 'पारमार्थिकत्व' यदि कहें तो 'घटज्ञान' में अव्याप्ति होगी। क्योंकि वेदान्त मत में घटादि विषयों में बाधितत्व है। वेदान्त के मत में ब्रह्म से भिन्न यच्च यावत् सब मिथ्या (बाधित) है। यह लक्षण, बाधित घट में रहता नहीं। 'लक्षण का लक्ष्य के एक देश में न रहना' ही अव्याप्ति है। अब यदि 'सत्त्वमात्र' ही अबाधितत्व का अर्थ बतावें तो शुक्तिरूप्यादिभ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति वैसे ही स्थिर रहती है। वह नहीं हटेगी। क्योंकि 'केवल सत्त्व' भ्रमज्ञान में भी है। परन्तु वह ज्ञान, लक्ष्य नहीं है।

इस शंका का निरसन 'शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्य० ग्रंथ से किया है। शुक्ति—रूप्यादिभ्रमज्ञान का विषय प्रातिभासिक रजत है वह (शुक्ति में भासित होने वाला वह रजत) संसारकालीन बाध का विषय होता है (व्यवहार काल में शुक्ति का ज्ञान होने पर उसका बाध होता है) इसलिये 'विषय' में 'अबाधित' विशेषण के देने से शुक्तिरूप्यादिभ्रमज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

'अबाधित' विशेषण का 'संसार दशा में व्यावहारिक सत्ता में अबाधित' (यह) अर्थ विवक्षित है। घटादि व्यावहारिक विषय व्यवहार काल में (व्यावहारिक सत्ता में) बाधित नहीं होते वे तो पारमार्थिक सत्ता में (ब्रह्म ज्ञान होने पर) बाधित होते हैं। इसलिये घटादि ज्ञानों में लक्षण की

अव्याप्ति नहीं होती। इसीलिये मूल में "व्यवहार काल में बाधित होनेवाला= बाध का विषय बनने वाला, (जो) प्रातिभासिक रजतादि (वह) भ्रमज्ञान का विषय होता है" कहा है। इससे पूर्वोक्त ज्ञेय गत प्रत्यक्षत्व का लक्षण, भ्रान्ति ज्ञान के विषय में अतिव्याप्त नहीं होता। प्रातिभासिक का अर्थ है केवल प्रतीति काल में ही रहने वाला अनिवर्चनीय अर्थात् शुक्तिरजतज्ञान के समय अनिर्वचनीय रजतादि उत्पन्न होता है। और वह शुक्तिज्ञान के होने पर बाधित होता है इसलिये संसारकालीन शुक्तिरजतादिज्ञान में बाधितविषयकत्व है। इसलिये वह पूर्वोक्त लक्षण का लक्ष्य नहीं बन सकता।

परन्तु इस समाधान से सन्तुष्ट न होनेवाला अन्यथा ख्यातिवादी शंका करता है।

ननु विसंवादिप्रवृत्त्या भ्रान्तिज्ञानसिद्धावपि तस्य प्रातिभासिकतत्कालोत्पन्नरजतादिविषयत्वे न प्रमाणम्, देशान्तरीयरजतस्य क्लृप्तस्यैव तद्विषयत्वसंभवात्।

अर्थ—शुक्ति के कारण होनेवाले रजतज्ञान में की जाने वाली प्रवृत्ति, विसंवादि (मिथ्या) सिद्ध होती है। अर्थात् 'यह चांदी है। (ऐसा) समझ कर उसे लेने के लिये प्रवृत्त होने पर हाथ में सीप आती है, इस कारण 'यह चांदी है' इत्याकारक सीप में रजतज्ञान, भ्रम है। प्रमा (यथार्थ ज्ञान) नहीं है। यद्यपि यह सच है तथापि उस ज्ञान का विषय प्रातिभासिक (अनिर्वचनीय, प्रतीति काल में ही उत्पन्न होने वाला) रजतादि है—इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है कारण अन्य स्थान में स्थित पूर्वसिद्ध रजत को ही तद्विषयत्व है (ऐसा) कह सकते हैं। सराफे में दूकान पर पूर्व से ही विद्यमान सत्य रजत उस शुक्ति रजत ज्ञान का विषय हो सकता है।

विवरण—'यह चांदी है ज्ञान होने पर उसे लेने के लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उसे हाथ में लेते ही सत्य रजत यदि हाथ लगा तो प्रवृत्ति संवादी है कहा जाता है। परन्तु हाथ में लेकर देखनेसे यदि ज्ञात हुआ कि यह रजत न होकर सीप या अन्य कोई पदार्थ है तो प्रवृत्ति को विसंवादी प्रवृत्ति कहते हैं। शुक्ति रजत ज्ञान से हुई प्रवृत्ति विसंवादी सिद्ध होती है। क्यों कि समीप पहुचने पर दिखाई देता है कि यह रजत नहीं किन्तु 'शुक्ति' है। अतः इस विसंवादी प्रवृत्ति से शुक्तिरजतज्ञान का भ्रान्तिज्ञान होना सिद्ध होता है। परन्तु किसी प्रमाण के न होने से उस (भ्रम) ज्ञान का विषय, अनिर्वचनीय (उसी समय उत्पन्न हुआ) = प्रातिभासिक रजत नहीं है। (भ्रान्तिकाल में वह रजत उत्पन्न होता है—इस विषय में प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नहीं है) यदि ऐसा कहें कि—'दूसरे विषय की अनुपपत्ति (असंभव) ही अनिर्वचनीयरजत के विषय होने में प्रमाण है' तो यह अनुचित है, क्यों

कि—अन्य प्रदेश (स्थान) में पहले से ही विद्यमान रजत, उस भ्रान्ति-ज्ञान का विषय हो सकता है।

'इति चेत्'! ग्रन्थ से शंका का अनुवाद कर 'न०' आदि ग्रन्थ से उसका निरसन करते हैं—

इति चेत् न। तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्षविषयत्वायोगात्। न च ज्ञानं तत्र प्रत्यासत्तिः, ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वे तत एव वह्न्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तावनुमानव्युच्छेदापत्तेः॥

अर्थ—'शुक्तिरजत' आदि भ्रान्तिज्ञान का विषय, 'तत्कालोत्पन्न अनिर्वचनीय रजत न होकर अन्यत्र स्थित सत्यरजत है' यदि कहें तो ठीक नहीं। क्योंकि अन्य प्रदेश में स्थित सत्य रजत, असंनिकृष्ट (दूर) रहता है। सन्निकृष्ट (समीप) न होने से ही 'यह रजत' इत्याकारक प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। (दूर स्थित सत्य रजत, 'यह रजत' इत्याकार प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं हो सकता)। यहां ज्ञान का ही प्रत्यासत्तित्व (सामीप्य) मानने पर वह्नि आदि को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है, जिससे अनुमान आदिकों का उच्छेद होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

विवरण—'भ्रमज्ञान का विषय अनिर्वचनीय (तत्कालोत्पन्न)—पदार्थ न होकर अन्यत्र स्थित सत्य पदार्थ उसका विषय है' यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि भ्रमज्ञान का विषय सन्निकृष्ट (समीप) होता है, इसीलिये 'यह रजत' 'यह सर्प' 'यह जल' कहते हुए शुक्तिरजत, रज्जुसर्प, मृगजल आदि का अंगुलि से निर्देश करते हैं। वे रजतादि विषय यदि सन्निकृष्ट न होते तो वैसा अंगुलि निर्देश न किया जाता। असन्निकृष्ट विषय का भान नहीं हो सकता, क्योंकि विषय का सान्निध्य भी—प्रत्यक्षज्ञान की सामग्री में से एक अंश है। शुक्तिरजत का ज्ञान, प्रत्यक्ष होता है। इसलिये उसका विषय सन्निकृष्ट ही होना चाहिये, बिना उसके वह हो ही नहीं सकता। क्योंकि सुदूर प्रदेश में स्थित वस्तु में प्रत्यक्षज्ञान के विषय होने की योग्यता ही नहीं रहती। इन्द्रियों से सन्निकृष्ट (संबद्ध) न हुई वस्तु, इन्द्रियों का विषय कैसे होगी और इन्द्रियों के विषय न होनेवाले पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे होगा।

शंका—भ्रमज्ञान के विषय का अलौकिक सन्निकर्ष स्वीकार करने पर यह दोष नहीं होगा। ऐसा यदि कहें तो बताइये कि वह अलौकिक सन्निकर्ष सामान्यरूप है या ज्ञान रूप है? उसके सामान्य रूप होने में कोई प्रमाण नहीं। सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति माननेवाले तार्किक इस विषय में ऐसा कहते हैं—

महानस (रसोईघर) में अग्नि और धूम की व्याप्ति का ग्रहण करते समय धूमत्वेन और वह्नित्वेन सकल धूम और सकल अग्नि व्यक्तियां मन में उपस्थित होती हैं (मन में धूमत्व और अग्नित्व जाति के द्वारा समस्त धूम और समस्त अग्नि की उपस्थित होती है) तदनन्तर उनके व्याप्य व्यापक भाव का ग्रहण होता है। (उनमें धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक है—ज्ञान होता है) क्योंकि धूममात्र (सकल धूमव्यक्ति) व्याप्य हैं और अग्नि-मात्र (सकल अग्निव्यक्ति) व्यापक हैं—(यह) ज्ञान न होता तो महानस के धूम और वहाँ की अग्नि की व्याप्ति से पर्वतीय धूम के दिखाई देने पर 'पर्वत पर अग्नि है' यह अनुमिति ज्ञान न हुआ होता। किन्तु पर्वतीय धूम के देखते ही वहां पर अग्नि का अनुमिति ज्ञान होता है। उसकी उपपत्ति लगाने के लिये ही महानस में धूम और अग्नि की व्याप्ति के ग्रहण करते समय सकल धूमव्यक्तियों की सनमें उपस्थिततति होने के लिए ही सामान्य लक्षणा (सामान्यात्मिका) प्रत्यासत्ति को अवश्य मानना पड़ता है।

तार्किकों के उपर्युक्त कथन पर वेदान्तियों का कहना है कि—धूमत्व और अग्नित्व (धूमसामान्य और वह्निसामान्य) से अर्थात् सामान्यलक्षणा से सकल धूम और सकल वह्नि व्यक्तियों की उपस्थिति होती है माना जाय तो समस्त जीवों को सर्वज्ञत्व अनायास ही प्राप्त होगा। क्योंकि—सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति भी एक सन्निकर्ष ही है। वह यदि असंनिहित (दूरस्थ) विषयों से भी होता हो तो भूत, वर्तमान और भविष्य काल की व्यक्तिमात्र से पुरुष को वह संयुक्त कर देगा, तब उसकी असर्वज्ञतामें निमित्त ही क्या रहेगा। अर्थात् कोई निमित्त नहीं। अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा पुरुष का त्रैकालिक पदार्थों से यदि संयोग होने लग जाय तो इसकी सर्वज्ञता अनायास ही सिद्ध है। अर्थात् तार्किक अपने को 'मैं सर्वज्ञ ईश्वर हूं' मानने लग जाय तो उसे कौन मना करता है।

समीप स्थित धूमादि पदार्थों से संयुक्त हुए चक्षु में भूत, भविष्य, और दूर-स्थित वर्तमान विषय के समर्पण करने का सामर्थ्य हमें तो दिखाई नहीं देता। (चक्षुरादि इन्द्रिय संनिकृष्ट पदार्थ से भिन्न कालीन तथा असन्निकृष्ट पदार्थ का ज्ञान कारने का सामर्थ्य उन इन्द्रियों में होने का अनुभव हमें नहीं है) इस-लिये अनुभव के विरुद्ध कल्पना करना—तुम्हारा साहस ही व्यक्त होता है।

हमारे (वेदान्तियों के) मत में महानस में ज्ञात हुई धूमाग्नि की व्याप्ति से पर्वतीय अग्नि का अनुमान इस प्रकार होता है—

व्याप्तिज्ञान के समय महानसीय धूम और अग्नि का व्याप्य व्यापकभाव, गोष्ठगत धूम और अग्नि का व्याप्यव्यापक भाव, ऐसे ही भिन्न भिन्न स्थानों में उनकी व्याप्ति देखकर धूम और अग्नि के व्याप्यव्यापक भाव का निश्चय

होता है। इसप्रकार प्रथम पृथक्-पृथक् धूमाग्नि के व्याप्यव्यापकत्व का ज्ञान होने पर पर्वतीय धूमाग्नि के व्याप्यव्यापकभाव का अनुमान करता है—१—यह धूम वह्निव्याप्य है। २—क्योंकि महानसादि में वैसा अनुभव आता है। ३—पृथ्वीव्याप्य गन्ध के समान।

शंका—महानस आदि स्थानों में धूम से अग्नि के सम्बन्ध का प्रत्यक्षतया ग्रहण किये होने से देशांतरीय और कालान्तरीय धूमादि का सम्बन्ध उपस्थित न होने से 'धूम वह्नि व्याप्य है या नहीं' यह संशय नहीं होगा। परन्तु सामान्य लक्षणा के द्वारा सकल व्यक्तियों की उपस्थिति होने पर अन्य देशीय तथा भिन्न कालिक वह्निनिरूपित व्याप्ति में संदेह होगा।

समाधान—समान प्रकार निश्चय को ही संशय विरोधित्व रहता है—(प्रत्यक्ष हुए धूम से अग्नि के सम्बन्ध का निश्चय होने पर वह निश्चय, प्रत्यक्ष हुए धूम और अग्नि की व्याप्ति में संदेह होने नहीं देता, अर्थात् उसका विरोध करता है। अप्रत्यक्ष रहने वाले धूमाग्नि की व्याप्ति में होने वाले संशय को नहीं रोक सकता। (अप्रत्यक्ष = देशान्तरीय और कालान्तरीय धूमाग्नि की व्याप्ति में अवश्य ही संशय होगा) पहले कह चुके हैं कि—अलौकिक सन्निकर्ष सामान्यात्मक है या ज्ञान रूप है?" यह विकल्प कर उसमें कोई प्रमाण नहीं है। पहिले पक्ष में सन्निकृष्ट (समीपस्थित) धूमादि ही प्रत्यक्ष का विषय होता है। धूममात्र (सर्वधूम = सार्वदेशिक और सार्वकालिक धूम) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं होता इसलिए सामान्य प्रत्यासत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

अब ज्ञानरूप अलौकिक सन्निकर्ष के पक्ष में परिहार 'न च ज्ञानं०' आदि ग्रंथ से किया जाता है।

(भ्रान्ति) भ्रम प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में ज्ञान ही प्रत्यासत्ति है—यह कथन अनुचित है। शुक्ति रजत में ज्ञान सन्निकर्ष के होने में कोई प्रमाण नहीं है। भ्रान्तज्ञान के रजतादि विषयों से ज्ञानसन्निकर्ष के (ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति) मानने में दोष है—तथा च—ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से ही अनुमित अग्न्यादि पदार्थों को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा और ज्ञानरूप संनिकर्ष से पदार्थों का प्रत्यक्षज्ञान होने लगने पर अनुमानादि अन्य प्रमाणों का उच्छेद होने का प्रसंग आवेगा, कारण अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री, अनुमिति ज्ञान की सामग्री से लाघव के कारण बलवती है। इस पर शंका और उसका समाधान—

ननु रजतोत्पादकानां रजतावयवानामभावे शुक्तौ कथं तवापि रजतमुत्पद्यते इति चेत्। उच्यते। न हि लोकसिद्धसामग्री प्रातिभासिकरजतोत्पादिका, किन्तु विलक्षणैव।

अर्थ—रजतोत्पादक (भ्रान्त रजत को उत्पन्न करनेवाले) रजतावयवों के अभाव होने पर शुक्ति में रजतोत्पत्ति आप के पक्ष में भी कैसे हो सकेगी? यह यदि पूछो तो बताते हैं—सत्यरजत की लोकसिद्ध सामग्री, प्रातिभासिक रजत की उत्पादिका नहीं है (लोकसिद्ध रजत सामग्री ही भ्रान्त रजत को पैदा नहीं करती) अपि तु प्रातिभासिक रजत को उत्पन्न करनेवाली सामग्री लोकसिद्ध सामाग्री से अत्यन्त विलक्षण हैं।

विवरण—'ज्ञान में प्रत्यासत्तित्व है—मानने पर वह्न्यादिकों के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होता है और उससे अनुमानादि अन्य प्रमाणों का उच्छेद होने का प्रसंग आता है' यह दोष आप (वेदान्ती) हम पर (तार्किकों पर) देते हैं परन्तु "शुक्तिरजतस्थल में अपूर्वरजत की उत्पत्ति होती है" यह तुम्हारा (वेदान्तियों का) पक्ष भी असंगत है, क्योंकि—रजत के उपादान कारण लौकिक रजतावयवों का शुक्ति में अभाव होने से वहां पर (शुक्ति में) रजतोत्पादक अलौकिक अवयवों का ही आप को स्वीकार करना होगा। परन्तु अलौकिक अवयवों को भ्रान्तरजत का उपादान मानने में कोई प्रमाण नहीं है—ऐसी आशंका करने पर सिद्धान्ती कहता है—

शुक्ति में रजत के अलौकिक अवयव यदि न हों तो उसकी उत्पत्ति का ही असंभव होगा। परन्तु जब कि शुक्ति में रजत का प्रत्यय (अनुभव) होता है तब शुक्ति में अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति को 'परिशेष'न्याय से मानना आवश्यक हो जाता है। तन्निमित्त भ्रान्त रजत को उत्पन्न करनेवाली सामग्री का भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए। सिवाय—'शुक्ति में लौकिक उपादान का अभाव होने से रजत की उत्पत्ति का संभव नहीं है—यह आपका कथन ठीक नहीं है। क्योंकि उपादान और उपादेय—दोनों में सादृश्य अवश्य होना चाहिये—यह नियम है। इस कारण अलौकिक रजत के उत्पन्न होने में लौकिक सामग्री की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु अलौकिक रजत को अलौकिक सामग्री की ही अपेक्षा होती है। अतः लोकसिद्धि रजत-सामग्री प्रातिभासिक रजत की उत्पादिका नहीं है। 'लौकिक सामग्री से भिन्न सामग्री का अभाव रहने पर प्रातिभासिक रजत की सामग्री कौन सी? यदि पूछो तो बताते हैं—

जैसे प्रातिभासिक रजत, लौकिक रजत से विलक्षण है, उसी प्रकार उसकी उत्पादिका सामग्री भी लोकप्रसिद्ध सामग्री से विलक्षण ही है। उस अलौकिक सामग्री का स्वरूप इस प्रकार है—

तथा हि काचकामलादिदोषदूषितलोचनस्य पुरोवर्तिद्रव्यसंयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति

तस्यां च वृत्ताविदमवच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते । तत्र पूर्वोक्तरीत्या वृत्तेर्निर्गमनेनेदमवच्छिन्नं चैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चाभिन्नं भवति । ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या चाकचिक्यादिसादृश्यसन्दर्शनसमुद्बोधितरजतसंस्कारसध्रीचीना काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकरेण च परिणमते ॥

अर्थ—काच, कामला आदि नेत्रदोषों से दूषित नेत्रवाले व्यक्ति के चक्षुरिन्द्रिय का सामने रहने वाले द्रव्य के साथ संयोग सन्निकर्ष हो जाने से 'इदमाकार' = 'यह' इस आकार की 'चाकचिक्याकार' = चकचकित आकार की कोई सी (विशिष्ट) अन्तःकरणवृत्ति उदित होती है, और उस वृत्ति में 'इदम्' = यह–इस विषय से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य—प्रतिबिंबित होता है। इस प्रकार उस उत्पन्न हुई वृत्ति में चैतन्य के प्रतिबिंबित होनेपर उपर्युक्त 'तडागोदक' न्याय से वृत्ति बाहर पड़ती है। जिससे इदमवच्छिन्न चैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, और प्रमातृचैतन्य—यह विविध चैतन्य अभिन्न हो जाता है (विषयावच्छिन्न = प्रमेयचैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्न = प्रमाणचैतन्य, अन्तःकरणावच्छिन्न = प्रमातृचैतन्य—इनका अभेद होता है)।

इस प्रकार त्रिविध चैतन्य का अभेद होनेपर प्रमातृचैतन्याभिन्न जो विषयचैतन्य, तन्निष्ठ जो शुक्तित्वप्रकारक अविद्या, वही रजतरूप अर्थाकार से और रजतज्ञानाकार से परिणत होती है (परिणाम को प्राप्त होती है) और चाकचिक्यादि (चकचकितपना वगैरह) रूपसादृश्य के दर्शन से जागृत होने वाले रजत संस्कार रूप सामग्री का ही उस अविद्या को साहाय्य रहता है, और काच·कामलादि दोष भी उस अविद्या में होते हैं, जिससे वह रजत रूप अर्थाकार से और रजतज्ञानाभासाकार से परिणत होती है।

विवरण—प्रातिभासिक रजत को पैदा करनेवाली रजत-सामग्री, लौकिक रजत की सामग्री से विलक्षण ही होती है। वह कौन सी ? तो अविद्या। परन्तु आकाशादि भूतों की उपादानभूत अविद्या से यह अविद्या विलक्षण है। आकाशादिकों की उपादानभूत मूल अविद्या, केवल चिन्मात्र के आश्रय से रहती है। चिन्मात्र ही उसका विषय रहता है और वह निर्विकल्पक ज्ञान से निवृत्त हो जाती है। परन्तु यह तूला अविद्या शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के आश्रय से रहती है। रजत से भिन्न जो शुक्ति, तन्निष्ठ जो शुक्तित्व वही उसका विषय रहता है, और यह तूला अविद्या, सविकल्पकज्ञान से निवृत्त होती है। तूलाविद्या और मूलाविद्या में यही भेद है।

मूल में 'अविद्या, रजतरूप विषय के आकार से और रजत-ज्ञानाभासाकार से परिणाम को प्राप्त होती है,' यह बताकर—तूलाविद्या ही प्रातिभासिक रजत की उत्पादिका है—बताया है और उस अविद्या की ही प्रक्रिया इस ढंगसे बतायी है—'काच' एक नेत्र रोग है, जिससे दृष्टि मंद होती है। उसी प्रकार 'कामला या ऐसे ही अन्य दोषों से जिसके नेत्र दूषित हुए हैं ऐसा व्यक्ति जब सामने सींप जैसे चमकते पदार्थ को देखता है तब उससे उसके मनमें 'यह' (इस) आकार की अन्तःकरणवृत्ति पैदा होती है। सींप के चमकीलेपन के कारण, 'यह' इस अन्तःकरणवृत्ति में वह चमकीलापन भी प्रतीत होता है। इस प्रकार देखनेवाले व्यक्ति के सदोष चक्षुरिन्द्रियका सामने स्थित द्रव्य के साथ संयोग होकर 'इदम्' और चाकचिक्य के आकार की अन्तःकरणवृत्ति, उत्पन्न होती है और उसमें 'इदम्' विषय से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। उसके प्रतिबिम्बित होनेपर वह वृत्ति बाहर निकलती है। तब प्रमेयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य, प्रमातृचैतन्य का अभेद हो जाता है। इस विषय में पहिले—'तडागोदक नाली के मार्ग से क्षेत्र में पहुँचकर क्षेत्राकार हो जाता है'—दृष्टान्त दिया ही है। उसके बाद प्रमातृचैतन्या भिन्न जो विषयचैतन्य, तन्निष्ठ जो शुक्तित्वप्रकारक अविद्या, वह रजतरूप विषयाकार में और रजतज्ञानाकार में परिणत होती है।

आपने अविद्या को ही आकाशादि प्रपंच का उपादानत्व माना है, अब इस कथन से आपकी प्रतिज्ञा की हानि होती है। यह शंका यदि कोई करे तो उसके निवारणार्थ ही तूलाविद्या में १—प्रमातृचैतन्याभिन्न=विषयचैतन्यनिष्ठ और २ शुक्तित्वप्रकारक ये दो विशेषण जोड़े गये हैं। उससे चैतन्यमात्राश्रित=चिन्मात्रविषय और निर्विकल्पक ज्ञान निवर्त्य ऐसी मूलाविद्या की निवृत्ति होती है।

शंका—यहां तूलाविद्या सदैव ही भ्रान्त विषय और भ्रान्तविषयज्ञान के आकार से क्यों परिणत नहीं होती ?

समाधान—निमित्तकारण का अभाव होनेसे वह सदैव उस आकार से परिणत नहीं होती। पूर्वदृष्ट रजत से उत्पन्न हुआ रजतसंस्कार यद्यपि सर्वदा विद्यमान रहता है तथापि उसका जागृत होना, अविद्या के पूर्वोक्त परिणाम में निमित्त है। चाकचक्यादि सादृश्य-दर्शन से वह उत्पन्न होता है। सामने पड़े हुए पदार्थ के सादृश्यदर्शन से रजतसंस्कार जागृत हो उठते हैं और वे जागृत हुए रजत-संस्कार ही तूलाविद्या के परिणाम में निमित्त होते हैं अर्थात् उस अविद्या को जब जागृत संस्काररूप सामग्री की सहायता मिलती है तब वह पूर्वोक्त प्रकार से परिणत होती है और जब उसे सामग्री की सहायता नहीं मिलती तब वह परिणत नहीं होती।

शंका—शुक्ति में चाकचिक्यादि रजत-सादृश्य का दीखना और नील पृष्ठ त्रिकोणता आदि का न दीखना इसमें क्या निमित्त है ?

समाधान—उस अविद्या में द्रष्टा के काचादिनेत्रदोषों का सान्निध्य रहना ही नीलपृष्ठादिकों के अदर्शन में निमित्त है ।

इस प्रकार नेत्रगत काचादि दोषों से युक्त हुई तूलाविद्या, प्रातिभासिक रजताकारसे और उसके ज्ञानाकार से (रजताकार वृत्तिरूप से) परिणत होती है । क्योंकि ज्ञान शब्द का अर्थ वृत्ति है ।

अब परिणाम का अर्थ बताते हैं—

परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः । विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः । प्रातिभासिकरजतं चाविद्यापेक्षया परिणामः चैतन्यापेक्षया विवर्त इति चोच्यते । अविद्यापरिणामरूपं च तद्रजतमविद्याधिष्ठाने इदमवच्छिन्नचैतन्ये वर्तते । अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्वनियमात् ॥

अर्थ—उपादान की जैसी सत्ता हो ठीक वैसी सत्ता से युक्त कार्य की उसे (उपादान को) प्राप्ति होना—परिणाम कहलाता है । और उसकी (उपादान की) सत्ता की अपेक्षा विषमसत्ता से युक्त कार्य की प्राप्ति होना विवर्त कहलाता है । प्रातिभासिक रजत रूप कार्य, अविद्या की अपेक्षा से (अविद्या का) परिणाम है । और वही रजत, चैतन्य की अपेक्षा से (चैतन्य का) विवर्त है—ऐसा कहा जाता है । अविद्या का परिणामरूप वह रजत अविद्याधिष्ठानभूत इदमवच्छिन्न चैतन्य में (विषयावच्छिन्न चैतन्य में) रहता है । क्योंकि हमारे मत में सभी कार्यों को अपनी उपादानभूत अविद्या के अधिष्ठानभूत चैतन्याश्रितत्व होता है—यह नियम है (कोई भी कार्य अपने उपादान कारण के अधिष्ठान के आश्रय से रहता है) ।

विवरण—जिस कारण से अभिन्नतया (भिन्न न होकर) कार्य उत्पन्न होता है, वह, उसका (कार्य का) उपादान कारण कहा जाता है । घटरूप-कार्य, मृत्तिका से अभिन्न रहकर ही उत्पन्न होता है, इसलिये मृत्तिका, घटकी उपादान कारण है । जिस कार्य की सत्ता, अपने उपादान कारण की सत्ता जैसी ही होती है, ऐसे कार्य की प्राप्ति होना (कारण का, समसत्ताक कार्य के आकार से पैदा होना) परिणाम है । सत्ता त्रिविध (तीन प्रकार की) होती है, पारमार्थिकी, व्यावहारिकी, और प्रातिभासिकी । ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिकी होती है । आकाशादि प्रपंच की सत्ता व्यावहारिकी है । और

शुक्तिरजतादि भ्रान्त पदार्थों की सत्ता प्रातिभासिकी है। पारमार्थिकी सत्ता नित्य (काल से अनवच्छिन्न) होती है। व्यावहारिकी सत्ता केवल स्थिति-काल में (पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व और नाश के अनंतर नहीं होती) होती है। कल्प के आरंभ से उसके अंत तक जो काल उसे व्यवहारकाल कहते हैं और उस काल में जो सत्ता, उसे व्यावहारिकी सत्ता कहते हैं। शुक्ति पर भासित होने वाला रजत, रज्जुपर भासित होनेवाला सर्प, (ये) प्राति-भासिक पदार्थ हैं, इनकी सत्ता उस प्रतिभासकाल में ही रहती है। अधिष्ठान के ज्ञान से उसका बाध होता है, इसलिये वह प्रातिभासिकी सत्ता है।

दूध, व्यावहारिक पदार्थ है, वह व्यावहारिकी सत्ता से युक्त है, उसे दही रूप कार्य का आकार प्राप्त होता है। उस दही रूप कार्य की सत्ता भी व्यावहारिकी ही होती है, इसलिए दूध रूप उपादान कारण से 'दही' रूप समसत्ताक कार्य उत्पन्न होता है। इसलिये वह दूध का परिणाम है। इस लक्षण में कार्य को 'समसत्ताक' विशेषण जोड़कर विवर्त में अतिव्याप्ति का वारण किया जाता है। अथवा व्यावहारिकी सत्ता से युक्त तंतुओं को व्यावहारिकी सत्ता से युक्त पटभाव की प्राप्ति होना—परिणाम है। इस परिणाम से विवर्त पृथक् है। परिणाम के समान विवर्त भी कार्य है। इसलिये परिणाम का लक्षण कहने के अनन्तर प्रसंग प्राप्त विवर्त का भी लक्षण यहीं पर बताया है। विवर्त उसे कहते हैं—उपादान की सत्ता से जिसकी सत्ता विषम है, ऐसे कार्य की उत्पत्ति।

विवर्त में अतिव्याप्ति के वारणार्थ परिणाम के लक्षण में जैसे 'समसत्ताक' विशेषण दिया है वैसे ही परिणाम में अतिव्याप्ति के वारणार्थ विवर्त के लक्षण में 'विषम सत्ताक' विशेषण दिया है। परन्तु प्रातिभासिक रजतादिकों में परिणामत्व और विवर्तत्व दोनों धर्म रहते हैं—यह सूचित करने के लिये ही प्रातिभासिक रजत, अविद्या का परिणाम और चैतन्य का विवर्त है—ऐसा मूल में कहा है। जैसे तन्तु के परिणामरूप पट को तन्तुदेशत्व (जहां तंतु रहते हैं वहीं पर पट रहता है) है, वैसे ही अविद्या के परिणामरूप शुक्तिरूप्य को अविद्यादेशत्व (जहां अविद्या रहती है वहीं वह शुक्तिरजत रहता है) है। अविद्या, चैतन्यनिष्ठ होती है इसलिये शुक्तिरूप्य भी चैतन्यनिष्ठ होता है। इसी आशय से मूल में अविद्यापरिणामरूप शुक्तिरजत, अविद्या के अधि-ष्ठानरूप इदमवच्छिन्न चैतन्य में रहता है—कहा है। इस वाक्य से निम्न लिखित आशंका का निरसन कियागया है—

शंका—अविद्यापरिणामरूपरजत, अविद्या में तादात्म्य संबंध से रहता है, तब अविद्या में तादात्म्य संबंध से रहनेवाले रजत को चैतन्योपादानत्व (चैतन्य, उसका उपादान है) नहीं बनता। जब कि चैतन्य में, रजत,

अविद्यासंबंध से रहता है तब 'उसे उपादान विषमसत्ताक कार्यापत्तिरूप विवर्तत्व' कैसे ?

समाधान—अविद्यापरिणामरूप रजत, अविद्याधिष्ठान के आश्रय से रहने के कारण उसे विवर्तत्व हो जाता है क्योंकि 'अविद्यापरिणामरूप रजत, अविद्या के अधिष्ठानभूत चैतन्य के आश्रय से रहता है' यह नियम है। क्योंकि हमारे मत में सभी कार्यों में, उन कार्यों के उपादानभूत अविद्या के अधिष्ठान का आश्रितत्व नियम से रहता है। कोई भी कार्य अपने उपादान कारण के अधिष्ठान के आश्रय से रहता है। इसलिये प्रातिभासिक रजत, अविद्या का परिणाम है और चैतन्य का विवर्त है। अब कोई दोष नहीं है। इस समाधान पर पुनः शंका और उसका समाधान—

ननु चैतन्यनिष्ठस्य रजतस्य कथमिदं रजतमिति पुरोवर्तितादात्म्यम् ? उच्यते। यथा न्यायमते आत्मनिष्ठस्य सुखादेः शरीरनिष्ठत्वेनोपालम्भः शरीरस्य सुखाद्यधिकरणतावच्छेदकत्वात्, तथा चैतन्यमात्रस्य रजतं प्रत्यधिष्ठानतया इदमवच्छिन्नचैतन्यस्य तदधिष्ठानत्वेन इदमोऽवच्छेदकतया रजतस्य पुरोवर्तिसंसर्गप्रत्यय उपपद्यते।

अर्थ—शंका—चैतन्यनिष्ठ रजत का 'यह रजत' इस प्रकार आगे पड़ी हुई शुक्ति (सीप) से तादात्म्य कैसे हो सकता है ? इस शंका का समाधान कहा जाता है—जैसे न्याय के मत में आत्मनिष्ठ सुख-दुःखादि गुणों का शरीरनिष्ठत्व से (वे शरीर में स्थित हैं) प्रत्यय होता है, क्योंकि शरीर को सुखादिकों की अधिष्ठानता का अवच्छेदकत्व होता है। वैसे ही चैतन्यमात्र को (शुद्ध = निरुपाधिक चैतन्यको) रजत का अधिष्ठानत्व नहीं होता। (शुद्ध चैतन्य उसका अधिष्ठान नहीं बन सकता) तथापि इदमवच्छिन्न (विषयावच्छिन्न) चैतन्य प्रातिभासिक रजत का अधिष्ठान हो सकता है। इसलिये उस इदमवच्छिन्न चैतन्य को 'इदम्' विषय का अवच्छेदकत्व है। जिससे उस प्रातिभासिक रजत का पुरोवर्त्ति (आगे पड़ी हुई) शुक्ति से संसर्ग होकर वैसा संसर्ग प्रत्यय (तादात्म्य का अनुभव) आसकता ह।

विवरण—सभी कार्य, अविद्याधिष्ठान चैतन्याश्रित होता है—माना जाय तो प्रातिभासिक रजत का सामने पड़ी हुई शुक्ति से तादात्म्यप्रत्यय होना अनुपपन्न होगा (भ्रांत रजत का शुक्ति में 'यह रजत' इत्याकारक जो तादात्म्यप्रत्यय होता है वह नहीं बनेगा) इस आशय से यहां 'ननु' ग्रन्थ से शंका की है।

इस शंका आशय यह है—द्रष्टा व्यक्ति के सामने भूतल पर स्थित तन्तुओं में विद्यमान पट का प्रत्यक्षज्ञान जब होता है तब 'यह अब यहां पट है' यह प्रत्यय जैसे होता है वैसे ही चैतन्यनिष्ठ अविद्या में स्थित शुक्ति रजत का 'चैतन्य में रजत' यह प्रत्यय होना चाहिए था, परन्तु 'यह यहां रजत है' ऐसा देह के बाहर प्रत्यय होता है,—वह ठीक नहीं है। क्योंकि चैतन्य के सर्वव्यापी होने से उसका 'इह' यहां (पुरोवतर्ती प्रदेश में) प्रत्यय होना उचित नहीं है।

'उच्यते' इत्यादि ग्रन्थ से शंका का समाधान किया जाता है—अविद्या का परिणाम अविद्या के अधिष्टानभूत चैतन्य के आश्रय से जैसे रहता है (अविद्यापरिणाम को अविद्याधिष्ठानाश्रितत्व=अविद्या का अधिष्ठान चैतन्य आश्रय है और अविद्या का परिणाम, आश्रित है इस प्रकार चैतन्य और परिणाम में आश्रयाश्रयिभाव=आश्रय आश्रित भाव, जैसे रहता है, वैसे ही चैतन्याध्यस्त (चैतन्य पर आरोपित) रजतादिकों की तदवच्छेदक पुरोवर्ति पदार्थ से तादात्म्य-प्रतीति हो सकती है। इस विषय में न्यायशास्त्र का एक दृष्टान्त दिया गया है—

नैयायिक सुखादि धर्मों को आत्मनिष्ठ मानते हैं। उनके कथनानुसार सुख, दुःख, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म आत्मा के हैं। परन्तु वे सुखादि आत्मनिष्ठ धर्म भी, शरीरनिष्ठ से लगते हैं (शरीरनिष्ठत्वेन) उनका अनुभव होता है। मेरा शरीर सुखी, इस प्रकार शरीरनिष्ठत्व के कारण देह को आत्मगत सुखाद्युपलब्धि का अवच्छेदकत्व जैसे होता है, वैसे ही 'इदम्' इस पुरोवर्ती विषय को आत्मगत रजताध्यास का अवच्छेदकत्व है। उससे चैतन्याध्यस्त रजत का पुरोवर्ती शुक्ति में 'यह रजत' ऐसा प्रत्यय आ सकता है। क्योंकि शुद्ध चैतन्य, आरोपित रजत का अधिष्ठान बन नहीं सकता (उस शुद्ध चैतन्य में रजत का अधिष्ठान बनने की योग्यता ही नहीं है) इसलिए 'इदमवच्छिन्न' चैतन्य को रजत का अधिष्ठानत्व होने से शुक्ति के इदमंशको उसका अवच्छेदकत्व है, जिससे आरोपित रजत का पुरोवर्ती सींप से संसर्ग हुआ है ऐसा प्रत्यय हो सकता है।

शंका—इदमवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त रजतादि, साक्षी में अध्यस्त नहीं होता, और उसके, साक्षी में अध्यस्तत्व न होने से उस आरोपित रजतादि को केवल साक्षिवेद्यत्व और सुखादिकों के समान अनन्यवेद्यत्व है—यह सांप्रदायिकों का कथन कैसे उपपन्न होगा? 'तस्य च' आदि ग्रंथ से इस शंका का समाधान बताते हैं—

तस्य च विषयचैतन्यस्य तदन्तःकरणोपहितचैतन्याभिन्न-

तया विषयचैतन्याध्यस्तमपि रजतं साक्षिण्यध्यस्तं केवलसाक्षिवेद्यं सुखादिवदनन्यवेद्यमिति चोच्यते ।

अर्थ—और उस विषयचैतन्य का तद्विषय-अन्तःकरणोपहित चैतन्य से अभिन्नत्व होने से (वे दोनों चैतन्य अभिन्न = एकरूप होने से) विषय चैतन्य में अध्यस्त भी रजत साक्षी में अध्यस्त है। वह केवल साक्षिवेद्य है और सुखादिकों के समान अनन्य वेद्य है—ऐसा कहा जाता है।

विवरण—यहां पर शंका का आशय इस प्रकार है—पुरोवर्ती शुक्तिकादि विषय का 'इदम्' आकार वाले (शुक्ति के) अंश से अवच्छिन्न हुए विषयचैतन्य में रजतादिकों का अध्यास होता है। साक्षिचैतन्य में रजतादिकों का अध्यास नहीं होता। अर्थात् विषयचैतन्य में अध्यस्त हुए रजत को साक्षी में अध्यस्तत्व न होने से उसे केवल साक्षिवेद्यत्व है (केवल साक्षिचैतन्य ही उसे जानता है) और सुखादिकों के समान उस अध्यस्त रजतादि को भी अन्य वेद्यत्व नहीं (जैसे सुखादि, साक्षिचैतन्य से अन्य वृत्यादि-चैतन्य से वेद्य नहीं रहते वैसे ही अध्यस्त रजतादि भी अन्यवेद्य नहीं होते—यह पंचपादिकाचार्य का कथन कैसे उपपन्न होता है ?

समाधान का आशय—'इदमवच्छिन्न चैतन्य' ही विषयचैतन्य है। वह तद्विषयअन्तःकरणोपहित चैतन्य से भिन्न नहीं है (अभिन्न = तद्रूपही है) इस कारण विषयचैतन्य में अध्यस्त हुआ रजत, साक्षी में अध्यस्त है। उसी तरह वह साक्षिवेद्य, और सुखादि के समान अनन्य वेद्य भी है—यह सांप्रदायिकों का कथन सर्वथा उचित है।

ननु साक्षिण्यध्यस्तत्वेऽहं रजतमिति प्रत्ययः स्यात्, अहं सुखीतिवदिति चेत्। उच्यते। न हि सुखादीनामन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाविद्याकार्यत्वप्रयुक्तम् अहं सुखीति ज्ञानम्। सुखादीनां घटादिवच्छुद्धचैतन्य एवाध्यासात्, किन्तु यस्य यदाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताविद्याकार्यत्वं तस्य तदाकारानुभवविषयत्वमित्येवानुगतं नियामकम्।

अर्थ—भ्रान्त रजत, साक्षी में यदि अध्यस्त है तो 'मैं रजत' यह प्रत्यय होगा, 'यह रजत' ऐसा प्रत्यय नहीं होगा। क्योंकि 'अहं सुखी = मैं सुखी' यह सुखविषयक प्रत्यय हुआ करता है। 'यह सुख' ऐसा प्रत्यय नहीं होता—यह शंका हो तो उत्तर देते हैं—'मैं सुखी' यह ज्ञान, सुखादिकों के अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ अविद्या कार्यत्व होने से होता हो सो नहीं, क्योंकि

घटादिकों की तरह सुखादिकों का भी शुद्ध चैतन्य में ही अध्यास हुआ है तो 'मैं सुखी' यह प्रत्यय किस कारण से होता है? उत्तर—जिसे जिस आकार के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों के साथ अविद्याकार्यत्व होता है उसे तदाकार अनुभवविषयत्व होता है यही इसमें अनुगत नियामक है।

विवरण—सुखादिकों का अवच्छेदक जो शरीर तन्निष्ठत्वेन सर्वदा उनका अनुभव नहीं होता, क्योंकि 'मैं सुखी' यह आत्मनिष्ठत्वेन भी सुखादिकों का अनुभव होता दिखाई देता है। उसी प्रकार रजतादिकों का भी अन्तःकरण साक्षी में अध्यस्तत्व स्वीकृत किये होने से 'अहं मनुष्यः' मैं मनुष्य—इस प्रत्यय के समान 'मैं रजत' या 'मैं सुखी' प्रत्यय के समान 'मैं रजतवान् हूं' यह प्रत्यय होना चाहिए, परन्तु ऐसा प्रत्यय कभी भी क्यों नहीं होता? यह उपर्युक्त शंका का आशय है।

उत्तर—जिसमें जिसका अध्यास होता है उसका भान, तन्निष्ठ अविद्या कार्यत्व के कारण तन्निष्ठत्वेनैव हो, यह नियम नहीं हो सकता। क्योंकि सुखादिकों को घटादिकों के समान ही शुद्ध चैतन्याध्यस्तत्व होने पर भी 'मैं सुखी' यह प्रत्यय होता है। ग्रन्थकार ने भी इसी आशय से उपर्युक्त शंका का समाधान किया है। सुखादिकों का 'मैं सुखी' इत्याकारक जो जो ज्ञान होता है, वह, अन्तःकरणावच्छिन्न जो चैतन्य और उसमें रहने वाली (तन्निष्ठ) जो अविद्या उसका कार्यत्व सुखादिकों को होने से नहीं होता है। क्योंकि घटादि व्यावहारिक पदार्थ जैसे शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त हैं उसी तरह सुखादिक भी शुद्ध चैतन्य में ही अध्यस्त हैं, इस कारण सुखादिकों को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अविद्याकार्यत्व है। परन्तु इसके होने से 'मैं सुखी' ज्ञान होता है—यह नहीं कहा जा सकता।

शंका—यदि ऐसा है तो घटादि, सुखादि और शुक्तिरूप्यादि इनमें से प्रत्येक को प्रतीतिविषयत्व होने के लिये पृथक् पृथक् नियामक माने गये हैं या एक ही? इस प्रकार वादी के प्रश्न करने पर सिद्धान्ती कहता है घटादिकों को प्रतीति का विषयत्व प्राप्त होने के लिए पृथक् नियामक और सुखादिकों की प्रतीतिविषयत्व में पृथक् तथा शुक्तिरूप्यादिकों की प्रतीति विषयत्व में भिन्न नियामक मानने में गौरव होता है, इसलिए घटादि, सुखादि, और शुक्ति रूप्यादिकों में प्रतीतिविषयत्व प्राप्त होने के लिये सर्वानुगत एक नियामक ही मानना उचित है। इसी आशय का समाधान मूल में 'यस्य यदाकारा०' इत्यादि ग्रन्थ से किया गया है। जिस विषय का जिस आकार से अनुभव होता है वह अनुभव, अन्तःकरण में वैसा ही संस्कार उत्पन्न करता है और उस संस्कार से युक्त हुई अविद्या का कार्यत्व जिसमें होता है, उसमें तदाकार

अनुभवविषयत्व होता है—यही सर्वत्र अनुगत एक नियामक है। अब 'तथा च०' इत्यादि ग्रन्थ से उक्त नियामक की सर्वत्र योजना करते हैं—

तथा च इदमाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताविद्याकार्यत्वात् घटादेरिदमाकारानुभवविषयत्वम्। अहमाकारानुभवाहितसंस्कारसहिताविद्याकार्यत्वादन्तःकरणादेरहमाकारानुभवविषयत्वम्। शरीरेन्द्रियादेरुभयविधानुभवसंस्कारसहिताविद्याकार्यत्वादुभयविधानुभवविषयत्वम्। तथा चोभयविधोऽनुभवः इदं शरीरमहं देहोऽहं मनुष्योऽहं ब्रह्मण इदं चक्षुरहं काण इदं श्रोत्रमहं बधिर इति ॥

अर्थ—इस रीति से तीनों प्रकार के प्रतीतिविषयों में एक ही अनुगत नियामक होनेसे घटादिकों को 'इदम्'=यह, इस आकार के अनुभव से उत्पन्न हुई अविद्या का कार्यत्व है, इस कारण उन घटादिकों को इदमाकार के अनुभव का विषयत्व है। अन्तःकरणादिकों को अहमाकार के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त अविद्या का कार्यत्व होने से उन अन्तःकरणादिकों को अहमाकार अनुभव का विषयत्व है। शरीर इन्द्रियादिकों को दोनों प्रकार के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त अविद्या का कार्यत्व होने से उन शरीरेन्द्रियादिकों को दोनों प्रकार के अनुभव का विषयत्व है। उनका दो प्रकार से अनुभव कैसे आता है ? यह पूछो तो बताते हैं—'यह शरीर' 'मैं देह' 'मैं मनुष्य' 'मैं ब्राह्मण' 'यह चक्षुरिन्द्रिय' 'मैं काना' 'यह श्रोत्रेन्द्रिय' 'मैं बहिरा' इस प्रकार शरीरेन्द्रियादिकों का दोनों प्रकार से अनुभव आता है—यह प्रसिद्ध है।

विवरण—घटादि बाह्य पदार्थ अविद्या के कार्य हैं। परन्तु उनका पहले जो अनुभव हुआ, वह 'यह घट, यह पट' इस प्रकार से हुआ। उस अनुभव से वैसे ही संस्कार हुए। उन्हीं संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से घटादि पदार्थ रूप कार्य हुए। इस कारण इन बाह्य पदार्थों को इदमाकार अनुभव का विषयत्व है। अन्तःकरणादि भी अविद्या के कार्य हैं, परन्तु उनकी कारणभूत अविद्या, अहमाकारानुभव से उत्पन्न संस्कार से युक्त होती है इसलिए अन्तःकरणादि पदार्थ अहमाकारनुभव के विषय होते हैं। शरीर और इन्द्रियां भी अविद्या कार्य हैं परन्तु वे (कार्य) 'यह' और 'मैं' इन दोनों प्रकार के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये उनका दोनों प्रकार से अनुभव आता है। 'अहम्' अनुभव आत्मा को विषय करता है। और 'यह' अनुभव आत्मभिन्न पदार्थों को विषय करता है। इन अनुभवों से वैसे ही संस्कार होते हैं। उन संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से

पैदा होने वाले कार्य भी वैसे ही अनुभवों के विषय होते हैं। जैसे—यह घट, यह वृक्ष, यह पुष्प, यह मैं इत्यादि। परन्तु शरीर, इन्द्रियां इत्यादि देह और देहसंबंधी पदार्थ 'इदम्' और 'अहम्' इन दोनों प्रकार के संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से पैदा होने के कारण उनका दोनों प्रकार से अनुभव होता है। जैसे यह शरीर, यह चक्षुरिन्द्रिय, यह श्रोत्रेन्द्रिय इत्यादि, और 'मैं देह, मैं मनुष्य, मैं ब्राह्मण, मैं काना, मैं बहिरा इत्यादि।

अब इसी उक्त नियामक की 'यह रजत' इस प्रकृत विषय में योजना कर के दिखाते हैं—

प्रकृते च प्रातिभासिकरजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेदमंशावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाविद्याकार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थलीयेदमंशाकारानुभवाहितसंस्कारजन्यत्वादिदमाकारानुभवविषयता, न त्वहं रजतमित्यहमाकारानुभवविषयतेत्यनुसन्धेयम्॥

अर्थ—प्रकृत में (शुक्ति रजत-इस उदाहरण में) प्रातिभासिक रजत, यद्यपि प्रमातृचैतन्य से अभिन्न जो इदमंशावच्छिन्न चैतन्य तन्निष्ठ अविद्या का कार्य है, तथापि व्यावहारिक सत्यरजत का 'यह रजत' इत्याकारक जो इदमंशाकार अनुभव, उससे उत्पन्न हुये जो संकार, उन संस्कारों से उत्पन्न होने के कारण (उसे) 'यह रजत' इस इदमाकार अनुभव का विषयत्व होता है। क्योंकि उस प्रातिभासिक रजत की उपादान जो अविद्या है, वह 'यह रजत, इस व्यावहारिक सत्य रजत के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार से युक्त रहती है। इसलिए उस प्रातिभासिक रजत का 'यह रजत' ऐसा अनुभव आता है। व्यावहारिक रजत का 'मै रजत' ऐसा अनुभव न आने से प्रातिभासिक रजत का भी 'मैं रजत' यह अनुभव नहीं होता—समझना चाहिये।

विवरण—प्रातिभासिक रजत, इदमंशावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अविद्या का कार्य है, और वह चैतन्य प्रमातृचैतन्य से अभिन्न है। इस कारण वह चैतन्यनिष्ठ अविद्या का कार्य है—यह सच है तथापि उसके सहकारी कारण जो पूर्वसंस्कार हैं वे 'अहं रजतम्' में रजत-इस अहमाकार अनुभव से उत्पन्न हुए नहीं हैं, क्योंकि व्यवहार में सत्य रजत का जो अनुभव आता है वह 'यह रजत' इस प्रकार आता है 'मैं रजत' ऐसा नहीं। इसलिये 'यह रजत' इस अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से युक्त अविद्या के कार्यरूप प्रातिभासिक रजत को नियमेन इदमाकारानुभव-विषयत्व ही रहता है। अहमाकारानुभव-विषयत्व नहीं।

इसपर सिद्धन्त्येकदेशी की शंका और सिद्धान्ती के द्वारा उसका निरसन—

नन्वेवमपि मिथ्यारजतस्य साक्षात्साक्षिसम्बन्धितया भान-

संभवे रजतगोचरज्ञानाभासरूपाया अविद्यावृत्तेरभ्युपगमः किमर्थः ? इति चेत् । न । स्वगोचरवृत्त्युपहितचैतन्यभिन्नसत्ताकत्वाभावस्य विषयापरोक्षरूपतया रजतस्यापरोक्षत्वसिद्धये तदभ्युपगमात् ॥

अर्थ—ऐसा प्रतिपादित करने पर भी मिथ्या रजत का साक्षात् साक्षिसंबंधित्वेन भान हो सकता है तब रजत विषयक अज्ञानाभासरूप अविद्या वृत्ति का स्वीकार किस लिए ? उत्तर—अविद्यावृत्ति का स्वीकार विना किये मिथ्या रजत का भान संभव ही नहीं, क्योंकि स्वविषय जो वृत्ति उसमें उपहित जो चैतन्य, उससे रजत की भिन्न सत्ता का न होना इसी को विषया परोक्षरूपत्व होने से रजत का अपरोक्षत्व सिद्ध होने के लिए उस वृत्ति का स्वीकार करना पड़ता है ।

विवरण—यहाँ पर अद्वैत सिद्धान्तियों में से ही एकदेशी शंका करता है—आपके कथनानुसार शुक्तिरूप्य को इदमाकारानुभवविषयत्व भले ही रहे (प्रातिभासिक रजत 'यह' आकार से अनुभव में भले ही आवे) परन्तु तन्निमित्त उस रजत को विषय करने वाली अविद्या वृत्ति का आश्रय करने का क्या प्रयोजन ? क्योंकि उस शुक्तिरूप्य का साक्षात् अनावृत साक्षी से सम्बन्ध हुआ होने से उसका अपरोक्ष (प्रत्यक्ष ज्ञान) होना शक्य है ।

समाधान—साक्षी पर आरोपित रजत की सत्ता, यद्यपि साक्षिचैतन्य से भिन्न नहीं है तथापि उस रजत का अपरोक्षत्व संभव नहीं होता । क्योंकि साक्षिचैतन्य में रजताकार वृत्त्युपहितत्व नहीं होता (साक्षिचैतन्य, रजत विषयवृत्तिरूप उपाधि से युक्त नहीं रहता) इसलिय रजत का अपरोक्षज्ञान होने के लिए अविद्यावृत्ति को अवश्य मानना चाहिए । 'न०' इत्यादि समाधान ग्रंथ का यही आशय है । विषयाकारवृत्त्युपहित चैतन्य से विषयचैतन्य की अभिन्न सत्ता का होना ही विषय का अपरोक्षत्व है । इसलिए प्रातिभासिक रजत का अपरोक्षत्व (प्रत्यक्षत्व) सिद्ध होने के लिए अविद्यावृत्ति को अवश्य ही मानना चाहिये—यह भाव है ।

शंका—आपके इस समाधान पर "एक ओर ध्यान दें तो दूसरी ओर का अनुसंधान छूट जाता है" अथवा 'एकको सम्हालने जांय तो दूसरा निकल जाता है' यह न्याय प्राप्त होता है, इस आशय से वादी की शंका और उसका सिद्धान्ती के द्वारा समाधान—

नन्विदंवृत्ते रजताकारवृत्तेश्च प्रत्येकमेकैकविषयत्वे गुरुमतवद् विशिष्टज्ञानानभ्युपगमे कुतो भ्रमज्ञानसिद्धिरिति चेत् । न । वृत्ति-

द्वयप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैकस्य सत्यमिथ्यावस्तुतादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्वस्य स्वीकारात् । अत एव साक्षिज्ञानस्य सत्यासत्यविषयतया प्रामाण्यानियमाद् अप्रामाण्योक्तिः साम्प्रदायिकानाम् ॥

अर्थ—'इदं वृत्ति' और 'रजताकारवृत्ति' इनमें प्रत्येक वृत्ति का शुक्ति और रजत—ऐसा भिन्न-भिन्न विषय रहता है। इस कारण प्रभाकर (गुरु) मीमांसक के मतानुसार विशेष ज्ञान का स्वीकार न करने पर 'यह रजत' इस ज्ञान के भ्रमत्व की सिद्धि न होगी' यह कहें तो ठीक नहीं। क्योंकि उन दो प्रकार की वृत्तियों में प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य एक (अभिन्न) है, और उस ज्ञान का, सत्य तथा मिथ्या वस्तुओं का तादात्म्य, विषय है। इसलिए उस ज्ञान का भ्रमत्व स्वीकृत किया है (सत्य और मिथ्या वस्तुओं का तादात्म्य ही उस ज्ञान का विषय होने से, वह ज्ञान, भ्रमज्ञान है। इसी कारण से साक्षिज्ञान का सत्य और असत्य दोनों प्रकार का विषय संभव होने से (उसका) प्रामाण्य नियमेन सिद्ध नहीं होता। अतएव सांप्रदायिकों ने 'साक्षिज्ञान को प्रामाण्य नहीं' (साक्षिज्ञान अप्रमाण है।) कहा है।

विवरण—सामने दिखाई देनेवाला शुक्त्यादि पदार्थ जिसका विषय है, ऐसी 'इदमाकार'=यह–इस आकारवाली एक अन्तःकरणवृत्ति और उस शुक्ति में '(यह) रजत' है—ऐसी प्रातिभासिक रजत को विषय करने वाली दूसरी वृत्ति, ऐसी दो वृत्तियों को आप मानते हो, (रजत का प्रत्यक्षज्ञान होने के लिए प्रातिभासिक रजताकार दूसरी अविद्यावृत्ति को आप स्वीकार करते हैं) परन्तु उससे, प्राभाकरों के समान आप पर भी विशिष्ट ज्ञान को स्वीकार न करने का प्रसंग आता है और उस कारण शुक्तिरजत-ज्ञान के भ्रमत्व का बाध होता है। जिस प्रकार वृक्ष का हरा पत्ता, पका पत्ता, भ्रमर, जपाकुसुम आदि पृथक्-पृथक् आश्रय में क्रमशः दिखाई देने वाले हरे, पीले, काले, लाल वर्णों से भ्रमर में 'यह चित्ररूपी भ्रमर है' ऐसी विशिष्ट बुद्धि कभी नहीं होती, उसी तरह जिनके विषय भिन्न हैं ऐसी दो वृत्तियों के योग से होने वाला 'यह रजत' इत्याकारकज्ञान, कभी भी विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकेगा। इस कारण रजतज्ञान को भ्रमज्ञानत्व है, यह नहीं कह सकेंगे।

उपर्युक्त कथन प्राभाकर के मतानुसार है-इसलिये इस विषय में प्राभाकर मत को संक्षेप में बता देना आवश्यक है।

प्राभाकर मीमांसकों के मत में—शुक्ति में 'यह रजत' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, वह विशिष्ट एक ज्ञान न होकर, उसमें दो ज्ञानों को माना है।

उनमें आगे स्थित पदार्थ का 'यह' इत्याकारक जो ज्ञान होता है वह अनुभवात्मक ज्ञान है और 'रजत' इत्याकारक जो ज्ञान होता है वह दूर स्थित रजत को विषय करने वाला स्मरणात्मक ज्ञान है। इसलिये इनके मत से दो वस्तुओं के तादात्म्य को विषय करने वाला विशिष्ट ज्ञान कहीं भी और कभी भी नहीं होता। अतः सभी ज्ञान यथार्थ ही है। इसलिये प्रभाकर के मत में भ्रमज्ञान की जैसे सिद्धि नहीं होती, वैसे ही तुम्हारे मत में भी दो वृत्तियां और उनके दो विषय, ऐसा भेद स्वीकृत होने के कारण दो वस्तुओं के तादात्म्य को विषय करने वाला एक विशिष्ट ज्ञान नहीं माना जा सकता। इसलिये 'यह रजत' इत्याकारक ज्ञान, भ्रम ज्ञान है—यह बात आप के सिद्धान्तानुसार सिद्ध नहीं हो पाती।

आपके मत में वृत्ति का भेद स्वीकार किया गया है। और उन वृत्तियों के विषयों का भी भेद माना गया है। आप एक इदमाकार वृत्ति मानते हैं और दूसरी रजतज्ञानाकार वृत्ति। उनमें इदमाकार वृत्ति का पुरोवर्ती शुक्त्यादि वस्तु, विषय है, और रजतज्ञानाकार वृत्ति का अविद्या-परिणामरूप प्रातिभासिक रजत विषय है।'इससे 'इदं रजतम्' यहां पर विशिष्ट ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसीलिये वह भ्रमज्ञान है यह भी सिद्ध नहीं होता। यह शंका पूर्वोक्त सिद्धान्त्येकदेशी की ही है। 'न वृत्तिद्वय०' इत्यादि ग्रन्थ से सिद्धान्ती समाधान करता है—आपके बताये हुए के अनुसार एक 'यह' आकार की और दूसरी 'रजत' ज्ञानाकार की—ऐसी दो वृत्तियों को यद्यपि हम मानते हैं ('इदं रजतम्' यहां वृत्तियों के भेद होने पर भी) तथापि ज्ञान का भेद नहीं है क्योंकि उन दोनों वृत्तियों का प्रदेश एक ही है। (वे दोनों वृत्तियां मठ और घट की तरह एक ही स्थान में रहती हैं) इस कारण मठ से अवच्छिन्न हुआ आकाश और घट से अवच्छिन्न हुआ आकाश जैसे एक ही है वैसे ही इदमाकार वृत्ति में प्रतिबिंबित चैतन्य और रजतज्ञानाकार वृत्ति में प्रतिबिंबित चैतन्य एक ही है, इसलिये शुक्ति का 'इदमंश' यह सत्य वस्तु और 'रजत' यह मिथ्या वस्तु इन दोनों का तादात्म्य ही उस एक चैतन्य का (एक ही) विषय है। अतः 'इदं रजतम्' इस ज्ञान को हम भ्रम मानते हैं। उपर्युक्त शंका-समाधान का निष्कर्ष यह है—

'यह रजत' इस शुक्तिरूप्यज्ञान में आपने दो वृत्तियां मानी हैं। उनमें 'इदमाकार' अन्तःकरण वृत्ति एक है। इस वृत्ति से सामने की 'शुक्ति' का ग्रहण किया जाता है। 'इदम्' से अवच्छिन्न जो चैतन्य, उसमें स्थित जो शुक्तित्वाविद्या (यह शुक्ति है-इस ज्ञान का अभाव = शुक्तित्व का अज्ञान) उस शुक्तित्वाविद्या की परिणामरूप वृत्ति दूसरी। इस अविद्या परिणामरूप वृत्ति से रजत का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इन दो वृत्तियों से दो विषयों का ग्रहण किया

जाने से,वे दो ज्ञान हैं यह कहना पड़ता है : इस कारण 'यह रजत' भ्रमात्मक ज्ञान है यह आप का सिद्धान्त बाधित होता है। और आप का प्राभाकर मत में प्रवेश हो जाता है। अर्थात् स्वसिद्धान्त-भंग और प्राभाकर मत में प्रवेश ये दो दोष आप पर आते हैं।

जिनके विषय भिन्न भिन्न हैं ऐसी 'इदमाकार' और 'रजताकार' वृत्तियां यद्यपि भिन्न भिन्न हैं तथापि उन दोनो वृत्तियों में प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य एक ही है। सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, प्रमातृचैतन्य (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) और विषयावच्छिन्न चैतन्य, इन तीनों चैतन्यों का पूर्वोक्त प्रकार से ऐक्य होना अवश्य है। भ्रान्त प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय व्यावहारिक सत्य (पुरोवर्ती शुक्ति आदि वस्तु) और प्रातिभासिक रजतादि वस्तुओं का तादात्म्य है। इससे उस भ्रान्त रजत ज्ञान को विशिष्टज्ञानत्व भी है और असत्व भी है।

यस्मात् एक ही साक्षिज्ञान में सत्यासत्यवस्तुविषयत्व है (साक्षिज्ञान का विषय सत्यवस्तु होता है और असत्य वस्तु भी)। तस्मात् साम्प्रदायिकों ने 'साक्षिज्ञान में अप्रामाण्य है' यह जो कहा है वह ठीक ही है।

इस पर नैयायिकों की शंका और उसका समाधान—

ननु सिद्धान्ते देशान्तरीयरजतमप्यविद्याकार्यमध्यस्तं चेति कथं शुक्तिरूप्यस्य ततो वैलक्षण्यमिति चेत्। न। त्वन्मते सत्यत्वाविशेषेऽपि केषाञ्चित्क्षणिकत्वं केषाञ्चित्स्थायित्वमित्यत्र यदेवं नियामकं तदेव स्वभावविशेषादिकं ममापि।

अर्थ—आप के सिद्धान्त के अनुसार देशान्तरीय रजत भी अविद्या का कार्य और अध्यस्त है। तब शुक्तिरूप्य को उससे वैलक्षण्य कैसे? यह यदि आप पूछें तो वह कोई दोष नहीं है। क्योंकि आप के (नैयायिकों के) मत में समस्त कार्यों की सत्यता यद्यपि एक सी है तथापि उनमें से कुछ कार्यों में क्षणिकत्व और कुछ कार्यों में स्थायित्व माना है। परन्तु यह मानने में नियामक (कारण) क्या है? पूछने पर, स्वभाव विशेषादिक ही उसमें नियामक है, यह आप उत्तर देते हैं। अर्थात् घटादिकों से शुक्तिरूप्य की विलक्षणता में भी नियामक मेरे मत में स्वभावविशेषादिक ही हैं।

विवरण—इतने महाप्रयास से शुक्ति रूप्य में अविद्याकार्यत्व और अध्यस्तत्व आप किसलिये सिद्ध कर रहे हैं? देशान्तरीय रजत से शुक्तिरजत का वैलक्षण्य सिद्ध करने के लिये ही कर रहे हैं। परन्तु इतना प्रयास करने

पर भी व्यावहारिक सत्यरजत और शुक्तिरजत का वैलक्षण्य आप के सिद्धान्त के अनुसार नहीं हो पाता। क्योंकि आप अद्वैती, देशान्तरीय व्यावहारिक सत्य रजतादिकों में भी अविद्याकार्यत्व और अध्यस्तत्व बताते हैं। तब शुक्तिरजत और देशान्तरीय रजत में विलक्षणता दिखाने के लिये आप के मत में कौन सा विशेष हेतु है? अर्थात् कोई नहीं। "यह उपर्युक्त शंका का आशय है।

सिद्धान्ती—आप के (नैयायिकों के) मत में शब्द, ज्ञान, इच्छा इत्यादि गुण और घटादि अन्य पदार्थ, इन सब में सत्यत्व यद्यपि एकसा है तथापि उनमें से शब्दादिकों में क्षणिकत्व है और घटादिकों में स्थिरत्व होता है। इस वैलक्षण्य के मानने में जो नियामक (कारण) है, वही मेरे मत में शुक्तिरजत और देशान्तरीय रजत के वैलक्षण्य का नियामक है।

द्रव्यादि अनेक सत्य पदार्थों में से घटादि पदार्थों को अक्षणिकत्व है और शब्द, ज्ञान, इच्छा इत्यादिकों को क्षणिकत्व है—इस विषय में स्वभावविशेष को नियामक, जैसे आप मानते हैं, वैसे ही अद्वैत सिद्धान्ती भी उसी को नियामक मानते हैं। अतः 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः' जो दोष दोनों पक्षों में समान हो तो उसका परिहार भी दोनों पक्षों में समान ही होता है।

उनमें से एक पक्षवाले ने दूसरे पक्ष पर उस दोष को देना उचित नहीं है। अतः आप के द्वारा हमें इस तरह प्रश्न किया जाना अनुचित है।

अब सिद्धान्ती 'यद्वा' ग्रन्थ से अपने पक्ष में एक और भी वैलक्षण्य उसका नियामक है–बताते हैं।

यद्वा घटाद्यध्यासे अविद्यैव दोषत्वेनापि हेतुः, शुक्तिरूप्याद्यध्यासे तु काचादयो दोषा अपि। तथा चागन्तुकदोषजन्यत्वं प्रातिभासिकत्वे प्रयोजकम्। अत एव स्वप्नोपलब्धरथादीनामागन्तुकनिद्रादिदोषजन्यत्वात्प्रातिभासिकत्वम्॥

अर्थ—अथवा घटादिकों के अध्यास में अविद्या ही दोषत्व से कारण रहती है। परन्तु शुक्तिरूप्यादिकों के अध्यास में काचादि दोष भी कारण बनते हैं। इस कारण आगन्तुक दोषजन्यत्व शुक्तिरजतादिकों के प्रातिभासिकत्व में निमित्त हैं, और आगन्तुक दोषजन्यत्व, प्रतीत होने वाले शुक्तिरजतादिकों के प्रातिभासिकत्व में नियामक होने से ही स्वप्न में उपलब्ध होने वाले रथादिकों को प्रातिभासिकत्व (भ्रान्तत्व) है। क्योंकि उनमें आगन्तुक निद्रादिदोष जन्यत्व है।

विवरण—सिद्धान्तियों ने प्रातिभासिक रजत और व्यावहारिक सत्य रजत के वैलक्षण्य में स्वभावविशेषादिक एक नियामक बताया था। अब दूसरे

प्रकार का वैलक्षण्य भी उसमें नियामक है। यह बताने के लिये वे कहते हैं— घटादि व्यावहारिक पदार्थ, चैतन्य पर अध्यस्त हैं। वे पदार्थ अविद्या से ही पैदा हुए हैं। और वह अविद्या ही (चैतन्य का अज्ञान ही) उस अध्यास के होने में दोष रूप से भी कारण हैं। (अविद्यारूप दोष से ही घटादिकों का चैतन्य पर आरोप होता है) पर शक्तिरूप्यादि के अध्यास में शुक्तिआदिकों का अज्ञान रजतादिकों का कारण बनकर सिवाय काचादिक दोष भी उसमें कारण हैं। (व्यावहारिक पदार्थों का चैतन्य पर अध्यास होने में मूलाविद्या ही कारण है, वह एक दोष है। परन्तु शुक्तिरूप्यादि अध्यास में तूलाविद्या कारण है और काचादि दोष उसके सहकारी रहते हैं)। इस कारण आगन्तुक दोपजन्यत्व (क्षणिक दोष से पैदा होना) रजतादिकों के प्रातिभासिकत्व में कारण है। इसलिये स्वप्न में दीखने वाले रथादि, आगन्तुक निद्रादि दोष जन्य होने से प्रातिभासिक हैं।

इस पर अख्यातिवादी की पुनः शंका और निरसन—

ननु स्वप्नस्थले पूर्वानुभूतरथादेः स्मरणमात्रेणैव व्यवहारोपपत्तौ न रथादिसृष्टिकल्पनं गौरवादिति चेत्। न। रथादेः स्मरणमात्राभ्युपगमे रथं पश्यामि स्वप्ने रथमद्राक्षमित्याद्यनुभवविरोधापत्तेः, 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' बृ० ४। ३।१० इति रथादिसृष्टिप्रतिपादकश्रुतिविरोधापत्तेश्च। तस्माच्छुक्तिरूप्यवत् स्वप्नोपलब्धरथादयोऽपि प्रातिभासिकाः यावत्प्रतिभासमवतिष्ठन्ते ॥

अर्थ—स्वप्न में पुर्वानुभूत रथादिकों के केवल स्मरण से ही उनके व्यवहार का संभव होने से स्वप्न में रथादिकों की उत्पत्ति की कल्पना करना योग्य नहीं है। क्योंकि उसमें गौरव दोष होता है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि स्वप्न में रथादिकों का केवल स्मरण मान लेने पर 'मैं रथ को देखता हूं' 'मैंने स्वप्न में रथ को देखा' इत्यादि अनुभव से विरोध होता है। उसी तरह "स्वप्न में रथादि नहीं होते। परन्तु यह स्वप्नद्रष्टा रथ, घोड़े, मार्ग आदि को उत्पन्न करता है" इत्यादि रथादिकों की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के साथ विरोध होता है। इसलिए स्वप्न में उपलब्ध होने वाले रथादिक भी, शुक्तिरूप्य की तरह प्रातिभासिक हैं। जब तक प्रतिभास रहता है तब तक वे प्रातिभासिक रथादिक अवस्थित होते हैं (रहते हैं)।

विवरण—स्वप्न के रथादिक प्रातिभासिक (भ्रान्त) है, यह मानने पर उनकी तात्कालिक उत्पत्ति होती है मानना होगा। (जिस समय प्रति-

भास होता है उसी समय वे उत्पन्न होते हैं।) परन्तु उनकी वैसी तत्कालीन उत्पत्ति का होना संभव नहीं, क्योंकि केवल स्मरण से ही उनके व्यवहार की उपपत्ति लग जाती है। इसलिए तत्कालीन उत्पत्ति की कल्पना करना अयोग्य है, इस आशय से अख्यातिवादी कहता है—"स्वप्न में जाग्रत्काल में अनुभव किये हुए रथादि वस्तुओं के केवल स्मरण से ही 'मैं रथ देखता हूँ' इत्यादि व्यवहार का संभव हो सकता है। इसलिये स्वप्न में रथादिकों की उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि केवल स्मरण से ही व्यवहार की उपपत्ति लग जाने से रथादि की उत्पत्ति की कल्पना करने में गौरव है।

सिद्धान्ती, अख्यातिवादी की इस शंका का समाधान, प्रतीतिविरोध दिखाकर 'न०' इत्यादि ग्रन्थ से करते हैं—यह शंका उचित नहीं है। (स्वप्न में पहले देखे हुए रथादिकों का केवल स्मरण होता है—यह कहना ठीक नहीं) क्योंकि स्वप्न में 'मैं इस समय रथ देख रहा हूं, गायन सुन रहा हूँ' ऐसा वर्तमानकालीन अनुभव होता है, परन्तु स्मरण, भूतकालीन अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों का कार्य है। इसलिए स्वप्न में रथ, गायन, आदि का केवल स्मरण होता है—यह कहना अनुभव के विरुद्ध है।

शंका—किन्हीं दोषों के कारण 'मैं रथादि का स्मरण करता हूं' इस स्मरण का अभान होता है और 'मैं रथ देखता हूं और गाना सुनता हूँ,' ऐसी प्रतीति होती है।

समाधान—तो यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि स्वप्नकाल में दोष वश वैसी प्रतीति होती है, यह भी मान लें तब भी जाग्रदवस्था में उस दोष की निवृत्ति हुई रहती है। परन्तु उस दोषनिवृत्तिकाल में भी 'मैंने आज स्वप्न में रथ देखा, गाना सुना' यही प्रतीति होती है। इसके विपरीत 'पहिले देखे हुए रथ का मुझे आज स्वप्न में स्मरण हुआ, सुने हुए जाने का स्मरण हुआ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसलिए पूर्वोक्त प्रत्यय का व्यवहार केवल स्मृति से उपपन्न नहीं होता। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रत्यय से विरोध होने के कारण स्वप्नगत प्रत्यय को भी स्मृति नहीं कह सकते।

शंका—"जाग्रदवस्था में 'मैंने स्वप्न में रथादिकों को देखा' यह प्रतीति भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि स्वप्न की स्मृति, अनुभवाकार से उत्पन्न हुई होने से जाग्रदवस्था में उसका वैसा परामर्श होना, योग्य ही है। अर्थात् गौरव दोष से दूषित होनेवाली स्वप्नस्थ रथादिकों की नवीन सृष्टि मानना योग्य नहीं है।"

समाधान—श्रुति-विरोध होने से अख्यातिवादी का यह कथन उपपन्न नहीं हो पाता। क्योंकि 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' जाग्रदवस्था में

भोग देने वाला कर्म निवृत्त होकर, स्वप्न में भोग देने वाला कर्म अभिव्यक्त होने पर स्वप्नद्रष्टा जीव, रथ और उसके उपकरण भूत अश्वादि और उनके योग्य मार्ग आदि को पैदा करता है (बृ० उ० ४।३।१०) इस रथादिसृष्टि का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के साथ विरोध होता है। श्रुति में स्वप्नद्रष्टा, रथादिकों को "पैदा करता है" यह स्पष्ट बताया है। इस कारण यहां पर गौरव को स्वीकार करना प्रामाणिक है। इस लिये पूर्वोक्त प्रतीति की अन्य प्रकार से उपपत्ति लगाना अयोग्य है।

इस प्रकार श्रुति-विरोध होने के कारण अन्यथाख्याति भी अयुक्त है। इस आशय से ग्रंथकार 'तस्मात्०' इत्यादि ग्रंथ से सिद्धान्त का उपसंहार करते हैं—शुक्ति में भासमान रूप्य की तरह स्वप्न में प्रतीत होनेवाले रथादिक भी प्रातिभासिक हैं। परन्तु 'प्रातिभासिक' पद के अर्थ में किसी प्रकार शंका न रहने पावे एतदर्थ ग्रन्थकार स्वयं उस पद का व्याख्यान करते हैं—

'जब तक प्रतिभास होता है तब तक वे रहते हैं इसलिए वे प्रातिभासिक हैं' प्रतिभास का अर्थ है आभास, भ्रम। जब तक उसकी सत्ता रहती है तभी तक जिनकी नियमेन सत्ता होती है—वे पदार्थ प्रातिभासिक कहलाते हैं।

स्वप्नगत रथादि पदार्थ प्रातिभासिक हैं और वे शुक्तिरूप्य की तरह प्रतिभास के समय उत्पन्न होते हैं। सिद्धान्तियों के इस समाधान पर पुनः शंका और उसका समाधान—

ननु स्वप्नरथाद्यधिष्ठानतयोपलभ्यमानदेशविशेषस्यापि तदाऽसन्निहितयाऽनिर्वचनीयप्रातिभासिकदेशोऽभ्युपगन्तव्यः, तथा च रथाद्यध्यासः कुत्रेति चेत्। न। चैतन्यस्य स्वयंप्रकाशस्य रथाद्यधिष्ठानत्वात्प्रतीयमानं रथाद्यस्तीत्येव प्रतीयते इति सद्रूपेण प्रकाशमानं चैतन्यमेवाधिष्ठानम्। देशविशेषोऽपि चिदध्यस्तः प्रातिभासिकः। रथादाविन्द्रियग्राह्यत्वमपि प्रातिभासिकम्, तदा सर्वेन्द्रियाणामुपरमात्। 'अहं गजः' इत्यादिप्रतीत्यापादनन्तु पूर्ववन्निरसनीयम्।

स्वप्नगजादयः साक्षान्मायापरिणामा इति केचित्।

अन्तःकरणद्वारा तत्परिणामा इत्यन्ये।

अर्थ— "स्वप्न में 'रथादिकों के अधिष्ठान' इस रूपसे उपलब्ध होने वाला विशिष्ट देश भी उस समय समीप न रहने से उस प्रातिभासिक देश का भी स्वीकार करना चाहिये। परन्तु उसकी कल्पना आप नहीं करते।

तब उन रथादिकों की कल्पना (आभास) कहां होती है ? अधिष्ठान के बिना उसका होना शक्य नहीं।" ऐसा यदि आप कहें तो उचित न होगा। क्योंकि स्वयंप्रकाश चैतन्य ही स्वप्नगत रथादिकों का अधिष्ठान होने से स्वप्न में प्रतीत होनेवाले रथादिपदार्थ 'हैं' इत्याकार से ही प्रतीत होते हैं। अर्थात् 'वे हैं' ऐसी ही उनकी अस्तित्वरूप से प्रतीति होती है। इसलिये सद्रूप से ('अस्ति' इस आकार से) प्रकाशित होनेवाला चैतन्य ही उनका अधिष्ठान है। उसी चैतन्य पर अध्यस्त हुआ देशविशेष भी प्रातिभासिक है। रथादिकों में प्रतीत होने वाला इन्द्रियग्राह्यत्व भी प्रातिभासिक है। क्योंकि स्वप्नकाल में सभी बाह्य इन्द्रियों का उपरम (लय) हुआ रहता है।

शंका—'यदि ऐसी स्थिति है तो स्वप्न में चैतन्य पर आरोपित हुए गज की 'मैं गज हूं' ऐसी प्रतीति क्यों नहीं होती ?

समाधान—व्यवहार में 'यह गज' ऐसी प्रतीति (अनुभव) हुई रहने से प्रातिभासिक गज का भी 'यह गज' इस आकार का ही प्रत्यय होता है। परन्तु 'स्वप्नगजादिक, साक्षात् माया के परिणाम हैं' अर्थात् मूल अविद्या, उनकी साक्षात् उपादान है। ऐसा कुछ लोग कहते हैं। और 'वे स्वप्न गजादिक, अन्तःकरण के द्वारा माया के परिणाम हैं' ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।

विवरण—शंका करने वाले का आशय यह था कि शुक्ति में भासमान चांदी की, द्रष्टा के सामने स्थित शुक्ति, अधिष्ठान रूप में है। उसी तरह स्वप्नगत रथादिकों का अधिष्ठान आप को बताना चाहिये। उनका अधिष्ठान आप 'चैतन्य' को बताते हैं या किसी देशविशेष को। यदि चैतन्य को अधिष्ठान के रूप में बतावें तो वह चैतन्य कौन सा ? शुद्धचैतन्य, या अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य ? इनमें से किसी भी पक्ष का संभव नहीं। क्योंकि स्वप्न के प्रातिभासिक रथादिकों के अधिष्ठान के रूप में किसी भी चैतन्य की प्रतीति नहीं होती। यदि दूसरे पक्ष का स्वीकार करें तो वह देशविशेष कौनसा ? जाग्रदवस्था का बाह्य देशविशेष, या स्वप्नगत देशविशेष ? 'बाह्य जाग्रदवस्था के देशविशेष का संभव नहीं होता, क्योंकि स्वप्न में जाग्रदवस्था का देश बहुत दूर होता है अर्थात् समीप नहीं होता। इस कारण 'यह यहां रथ' इस तरह वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। स्वप्न में दूरस्थित (इन्द्रियसन्निकृष्ट न रहनेवाला) देशविशेष स्वप्नगत प्रातिभासिक रथ का अधिष्ठान नहीं हो सकता।

इसी तरह स्वप्नगत देशविशेष भी प्रातिभासिक रथादिकों का अधिष्ठान नहीं बन सकता। क्योंकि स्वाप्निक प्रातिभासिक रथादिकों के अधिष्ठान रूप से प्रतीत होनेवाले देश को सन्निकृष्टत्व रहता है (समीप होता है)। इस

कारण उस देशविशेष का भी रथादिकों की तरह प्रातिभासिकत्व अवश्य स्वीकार करना होगा। क्योंकि स्वप्न में प्रतीत होनेवाली समस्त वस्तुएं आपके सिद्धान्त के अनुसार प्रातिभासिक ही हुआ करती हैं। अर्थात् उस प्रातिभासिक देशविशेष को अधिष्ठान की अपेक्षा होती है। अतः स्वप्नगत देशविशेष स्वप्नगत प्रातिभासिक रजतादिकों का अधिष्ठान नहीं हो सकता। इस अभिप्राय से वादी कहता है—स्वप्न में 'रथादिकों का अधिष्ठान' इस आकार से प्रतीत होनेवाला देशविशेष उस समय सन्निकृष्ट (समीपवर्ती) नहीं होता। इस कारण स्वप्न के रथादिकों का अधिष्ठान, इत्याकारक अनिर्वचनीय (सदसद्विलक्षण) प्रातिभासिक देश भी मानना होगा। क्योंकि अधिष्ठान के भ्रम का संभव नहीं होता। आरोपित रज्जुसर्प, शुक्तिरजत के भ्रम का तो संभव होता है। परन्तु उनके अधिष्ठानभूत रज्जु, शुक्ति आदि का भ्रम नहीं हो सकता। स्वप्न के समस्त पदार्थों का प्रातिभासिक होना तो स्पष्ट है। इसलिये स्वप्न के रथादिकों के अधिष्ठान के रूप में भासमान जो देशविशेष है उसे भी प्रातिभासिकत्व है। इस कारण रथभ्रम से पूर्व उसका विद्यमान रहना तो शक्य नहीं। परन्तु अधिष्ठान यदि पूर्वक्षण में विद्यमान रहे तभी उत्तरक्षण में उसके विषय में प्रतिभास का संभव हो सकता है। इस कारण रथभ्रम से पूर्व अविद्यमान प्रातिभासिक देशविशेष, रथादिकों का अधिष्ठान नहीं बन सकता। और इसी कारण स्वप्नगत रथादिक भी प्रातिभासिक नहीं हैं। किन्तु वे स्मरण के विषय हैं—यह मानना होगा। अथवा उन्हें यदि प्रातिभासिक ही मानना हो तो, पूर्वक्षण में विद्यमान रहनेवाला उनका अधिष्ठान बताना होगा। बिना उसके स्वप्नरथादिका प्रातिभासिकत्व (भ्रमत्व) सिद्ध नहीं होगा।

अब आक्षेपक के विकल्पों में से पहिला 'चैतन्य' पक्ष स्वीकार कर उसका प्रतिसमाधान कहते हैं—शुद्ध चैतन्य, स्वप्नरथ आदि का अधिष्ठान है। "देखनेवाले के सामने स्थित शुक्ति, रज्जु आदि पदार्थों की तरह शुद्ध-चैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य का (प्रमाणचैतन्य का) विषय नहीं होता और शुक्ति, रज्जु आदि पुरोवर्ती अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के विषय होनेवाले पदार्थों में ही रजत, सर्प आदि पदार्थों का प्रतिभास (भ्रम) हुआ करता है, यह प्रसिद्ध है। तब वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का विषय न होनेवाले शुद्ध चैतन्य में स्वप्नरथादि प्रातिमासिक पदार्थों का अधिष्ठानत्व कैसे बन सकता है? यह आशंका कोई न करे इसीलिये ग्रंथकार ने रथादि प्रातिभासिक पदार्थों का अधिष्ठानभूत चैतन्य में 'स्वयंप्रकाशस्य' विशेषण दिया है। उससे स्वयं-प्रकाश चैतन्य में रथादिकों का अधिष्ठानत्व है। स्वप्रकाश और परप्रकाश्य दोनों के लिये साधारण ज्ञायमानत्व ही लाघव से अधिष्ठानत्व का प्रयोजक

है। स्वयंप्रकाश चैतन्य में उभयसाधारण ज्ञायमानत्व होने से उसमें स्वाप्न रथादि पदार्थों का अधिष्ठानत्व बनता है। अर्थात् उसमें अधिष्ठान बनने की योग्यता है।

शंका—"स्वयंप्रकाश चैतन्य का उस समय चिद्रूप से भान होना, रथादि जड, दुःख और असत् पदार्थों के अधिष्ठानत्व का निर्वाहक नहीं बन सकता। क्योंकि सत्, चित् और आनन्द रूप चैतन्य, असत्, अचेतन, और दुःखरूप रथादि पदार्थों का अधिष्ठान बन कर उनके अस्तित्व आदि का निर्वाह कैसे कर सकेगा? क्योंकि चैतन्य और रथादि, ये दोनों परस्पर प्रतिकूल हैं। उसी तरह चैतन्य का आनन्द रूपसे भान होना भी, रथादिकों के अधिष्ठानत्व का निर्वाहक नहीं हो सकता। क्योंकि मूलाज्ञान की निवृत्ति हुए बिना चैतन्य का आनन्द रूप से भान होना संभव नहीं। अर्थात् आप जिस चैतन्य में स्वप्नगत प्रातिभासिक रथादिकों का अधिष्ठानत्व बताते हैं, उस चैतन्य का चिद्रूप से या आनन्द रूप से होने वाला भान, रथादिकों के अधिष्ठानत्व का कार्य नहीं कर सकता।"

उत्तर—स्वयंप्रकाश चैतन्य में उन रथादिकों का अधिष्ठानत्व होने से स्वप्न में प्रतीत होने वाले रथादि पदार्थ 'हैं' इस आकार से ही प्रतीत होते हैं। इस कारण सद्रूप से प्रकाशित होनेवाला चैतन्य ही उनका अधिष्ठान है। (स्वयंप्रकाश चैतन्य का सत्तारूप से होने वाला भान, रथादिकों के अधिष्ठान रूप से होकर उनका निर्वाह कर सकता है) उसी तरह 'यहां यह रथ है' इस प्रकार स्वप्न में रथादिकों के अधिष्ठान रूप में प्रतीत होनेवाला देशविशेष भी प्रातिभासिक होने से वास्तव में रथादिकों का उसमें अधिष्ठानत्व नहीं है। क्योंकि वह देशविशेष भी चैतन्य पर अध्यस्त है। इसलिये वह प्रातिभासिक है। स्वप्न में रथादिकों का चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य होना प्रतीत होता है, परन्तु वह भी प्रातिभासिक ही है। क्योंकि स्वप्नकाल में चक्षुरादि समस्त बाह्येन्द्रियों का अन्तःकरण में लय हो जाता है। इसलिये प्रतीत होनेवाला रथादिकों का इन्द्रियग्राह्यत्व भी प्रातिभासिक ही है।

शंका—यद्यपि चैतन्य, स्वप्नगजादिकों का अधिष्ठान है तथापि उसे अन्तःकरणावच्छिन्नत्व है ही। क्योंकि बृहदारण्यक में चैतन्यात्मा 'बुद्धि से युक्त होकर स्वप्न होता है और इस लोक में संचार करता है' यह श्रुति है।

इस कारण 'यह गज' ऐसी प्रतीति न होकर 'मैं मनुष्य' इस प्रतीति की तरह 'मैं गज' ऐसी प्रतीति होने का प्रसंग आता है। ऐसा यदि कहो तो 'मैं गज' इत्यादि प्रतीति के प्रसंग का निरसन पहले की तरह ही करना चाहिये। जिस प्रकार शुक्ति रजतादिक को इदमाकार अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों

से युक्त हुई अविद्या निरूपितजन्यत्व होने के कारण 'मैं रजत' यह प्रतीति नहीं होती, वैसे ही 'मैं गज' ऐसी प्रतीति नहीं होगी। निष्कर्ष यह है कि शुक्ति में यह रजत है—ऐसा जो प्रतिभास होता है वह देह के बाहर होता है। 'मैं शुक्ति रजत' यह अनुभव नहीं होता। इस कारण 'यह शुक्तिरजत' इस अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से शुक्ति रजतादिकों की उत्पत्ति होती है। पहले 'यह रजत' इत्याकारक ही अनुभव हुआ होने से भ्रमकाल में भी 'मैं शुक्ति रजत, मैं सर्प,' ऐसा प्रत्यय नहीं होता। इसी न्याय से व्यावहारिक गज का 'यह गज' ऐसा प्रत्यय हुआ होने से प्रातिभासिक गज का भी 'यह गज' ऐसा ही प्रत्यय होता है। 'मैं गज' ऐसा प्रत्यय नहीं होता।

शंका—स्वप्नगजादि उसी काल में उत्पन्न होते हैं—यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि स्वप्नगजादिकों का योग्य उपादान नहीं बन पाता। चैतन्य, कूटस्थ (अपरिणामी) होने से स्वप्नगजादिकों का उपादान नहीं बन सकता। मूलाविद्या भी उसका उपादान नहीं बन सकती, क्योंकि मूलाविद्या, उन उन पदार्थों के अवयवों की अपेक्षा रखती है साक्षात् वह स्वयं ही किसी का भी उपादान नहीं बन सकती। किन्तु उत्पन्न होने वाले भिन्न भिन्न पदार्थों के अवयवों की सहायता लेकर ही उन उन उत्पन्न होने वाले पदार्थों की उपादान बन सकती है। तूला विद्या भी स्वप्नगजादिकों का उपादान नहीं बन सकती। क्योंकि बाह्यदेशावच्छिन्न चैतन्य के आश्रय से स्थित तूलाविद्या को ही उपादानत्व होता है। अब यह विचार करना चाहिये कि बाह्यदेशावच्छिन्न चैतन्याश्रित तूला विद्या, स्वाप्निक पदार्थों का अधिष्ठान है, या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्याश्रित तूलाविद्या, स्वाप्निक पदार्थों का अधिष्ठान है? इसमें प्रथम पक्ष का तो संभव नहीं होता, क्योंकि स्वप्न के बाह्यप्रदेश को भी प्रातिभासिकत्व है। दूसरे पक्ष का भी संभव नहीं। क्योंकि अंतःकरण को गजादि स्वाप्न पदार्थों की उपादानभूत अविद्या का अधिष्ठानत्व है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यह शंका कर ग्रंथकार ने मूल में 'स्वप्नगजादि, साक्षात् माया के = मूलाविद्या के परिणाम हैं—ऐसा कुछ लोग मानते हैं' यह पक्ष बताया है। अब 'स्वप्नगजादि प्रातिभासिक पदार्थों का उपादान कारण यदि मूलाविद्या हो तो सुषुप्ति में भी उनका प्रतिभास होगा' ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि स्वप्न में गजादिकों का उपादानकारण मूलाविद्या है और रागद्वेषादिकों से युक्त अन्तःकरण, उनका निमित्तकारण है। कारण यह है कि शुक्तिरजतादि स्थल में रागादि निमित्त कारण हैं और रज्जुसर्पस्थल में भय आदि निमित्त होते हैं। वे रागादि धर्म अन्तःकरण में रहते हैं। उसी प्रकार दोषयुक्त अन्तःकरण स्वप्नगजादिकों का निमित्त

कारण है। परन्तु सुषुप्ति में उसका (अन्तःकरण का) अभाव (लय) हो जाता है, इस कारण से निद्रा में स्वप्नगजादिकों का प्रत्यय नहीं होता।

स्वाप्नगजादिक साक्षात् माया के परिणाम हैं और अन्तःकरण उनका निमित्त कारण है—यह एक पक्ष बताया गया। परन्तु स्वाप्नगजादिकों के प्रति अन्तःकरण को निमित्तकारणत्व की कल्पना करने की अपेक्षा उन्हें अन्तःकरण के द्वारा अविद्यापरिणामित्व की कल्पना करना अच्छा होगा—ऐसा माननेवाले विद्वानों का दूसरा पक्ष भी मूल में बताया गया है।

अध्यस्त पदार्थ, अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर निवृत्त हो जाता है—यह नियम है। आप बता चुके हैं कि स्वाप्न-पदार्थ का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य है। परन्तु स्वप्नदशा के बाद जाग्रत् अवस्था आने पर शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार तो होता नहीं। और अधिष्ठान के साक्षात्कार हुए बिना तो अध्यस्त स्वाप्न रथादिकों की निवृत्ति होना शक्य नहीं। उससे जाग्रदवस्था में स्वप्न के अध्यस्त रथादिकों की अनुवृत्ति होना अपरिहार्य है। परन्तु अनुभव में तो यह आता नहीं। इसलिये 'स्वाप्न गजादि पदार्थ, चैतन्य पर आरोपित हैं' यह कहना अयुक्त प्रतीत होता है—इस आशय से वादी शंका करता है—

ननु गजादेः शुद्धचैतन्याध्यस्तत्वे इदानीमधिष्ठानसाक्षात्काराभावेन जागरणेऽपि स्वप्नोपलब्धगजादयोऽनुवर्तेरन्।

अर्थ—'स्वप्नगजादि पदार्थ, शुद्ध चैतन्य पर अध्यस्त हैं' यह यदि कहें तो स्वप्नावस्था के बाद जागरित अवस्था में जब आते हैं तब उनके अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार हुआ नहीं रहता (अद्यापि अधिष्ठान के साक्षात्कार का अभाव होने से) इसलिये जागरित अवस्था में भी स्वप्न में उपलब्ध हुए गजादिक अनुवृत्त होंगे।

विवरण—रज्जुपर भासित हुए अध्यस्त सर्प की निवृत्ति, रज्जु (रज्जु सर्प के अधिष्ठान) का साक्षात्कार होने पर ही होती है। यह रज्जु है इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति जब तक नहीं हो तब तक अध्यस्त सर्प निवृत्त नहीं होता। अर्थात् अध्यस्त पदार्थ, अधिष्ठान साक्षात्कार हुए बिना निवृत्त नहीं हो सकता। आपने 'स्वप्न के प्रातिभासिक रथगजादि पदार्थ शुद्ध चैतन्य पर आरोपित हैं' कहा है। उसपर हम यह पूछते हैं—यदि वे शुद्ध चैतन्य पर आरोपित हैं तो जागरित होनेपर भी उनकी अनुवृत्ति होनी चाहिये। क्योंकि आरोपित की निवृत्ति अधिष्ठान के साक्षात्कार के बिना नहीं होती। यह नियम है और वह आपको भी मान्य है। परन्तु जागरित होनेपर भी शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार न हो पाने से अध्यस्त स्वाप्न

रथगजादिकों की निवृत्ति होना शक्य नहीं है। अर्थात् जगने पर भी उनका प्रत्यय होना चाहिये। परन्तु होता नहीं। अतः 'स्वाप्न गजादिक शुद्ध चैतन्य पर आरोपित (अध्यस्त) हैं' कहना ठीक प्रतीत नहीं होता।

इसका समाधान सिद्धान्ती कहता है—

उच्यते। कार्यविनाशो हि द्विविधः—कश्चिदुपादानेन सह, कश्चिद्विद्यमान एवोपादाने। आद्यो बाधः। द्वितीयस्तु निवृत्तिः। आद्यस्य कारणमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारः, तेन विनोपादानभूताया अविद्याया अनिवृत्तेः। द्वितीये विरोधिवृत्त्युत्पत्तिर्दोषनिवृत्तिश्च। तदिह ब्रह्मसाक्षात्काराभावात् स्वप्नप्रपञ्चो माबाधि। मुसलप्रहारेण घटादेरिव विरोधिप्रत्ययान्तरोदयेन स्वप्नजनकीभूतनिद्रादिदोषनाशेन वा गजादिनिवृत्तौ को विरोधः।

अर्थ—उपर्युक्त शंका का समाधान कहते हैं। कार्य का विनाश दो प्रकार का है। कुछ कार्यों का विनाश उपादान कारण के साथ होता है और कुछ का विनाश उपादान की विद्यमानता में ही होता है। उपादान के साथ होनेवाले कार्यविनाश को बाध कहते हैं। और उपादान की विद्यमानता में होनेवाले विनाश को निवृत्ति कहते हैं। अधिष्ठान का साक्षात्कार होना बाध का कारण है। क्योंकि अधिष्ठान का साक्षात्कार बिना हुए भ्रान्त कार्य की उपादानभूत अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। परन्तु निवृत्तिरूप जो दूसरे प्रकार का कार्यनाश है, उसका कारण विरोधी वृत्ति की उत्पत्ति, अथवा दोष की निवृत्ति होता है। ऐसा होने से प्रकृत स्वप्नगजादिकों के उदाहरण में ब्रह्मसाक्षात्कार (अधिष्ठानसाक्षात्कार) का अभाव होने से स्वप्नप्रपंच का बाध भले ही न हो, किन्तु मूसल के प्रहार से घटादिकों की निवृत्ति जैसी होती है वैसे ही पूर्व प्रत्यय के विरुद्ध दूसरा प्रत्यय उत्पन्न होने से, या स्वप्न को उत्पन्न करने वाले निद्रादि दोषों के नाश से स्वाप्नगजादिकों की यदि निवृत्ति हो जाती है तो उसमें क्या विरोध है? अर्थात् कोई विरोध नहीं।

विवरण—अधिष्ठान का साक्षात्कार किये बिना अध्यस्त (आरोपित) पदार्थ का बाध नहीं होता। यद्यपि यह सच है तथापि शुद्ध चैतन्यरूप अधिष्ठान का साक्षात्कार बिना किये भी अध्यस्त की निवृत्ति होना संभव है। उससे जागरित में स्वाप्नरथगजादिकों की अनुवृत्ति का प्रसंग नहीं आता। इसी संक्षिप्त समाधान के आशय से मूल में 'उच्यते' शब्द से समाधान की प्रतिज्ञा की है। स्वप्न के प्रातिभासिक रथगजादिकों का बाधरूप नाश

न होने पर भी निवृत्तिरूप नाश हो सकता है। यह समाधान सिद्धान्ती को कहना है इसलिये पहिले नाश दो प्रकार का है इत्यादि बताते हैं। कार्य का विनाश, बाध और निवृत्ति के भेद से दो प्रकार का है समस्त कार्यों का उपादान जो अज्ञान उसके सहित कार्य का नाश होना—बाध कहलाता है। और जो कार्यनाश उपादान के रहते हुए ही हो उसे निवृत्ति कहते हैं। बाधरूप नाश में कारण—अधिष्ठान के स्वरूप का साक्षात्कार है। क्योंकि अधिष्ठान के स्वरूप का साक्षात्कार बिना हुए, कार्य का उपादानभूत जो अधिष्ठान का अज्ञान, उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

परन्तु निवृत्तिसंज्ञक जो दूसरा कार्यनाश है, वह विरोधी वृत्ति के उत्पन्न होने पर या जिस दोष के कारण कार्य का भास हो रहा है उसकी निवृत्ति होने पर, होता है। अर्थात् कार्य की निवृत्ति होती है।

जैसे—शुक्ति रजतरूप कार्य के शुक्तिरूप अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर शुक्ति संबंधी अज्ञान नष्ट हो जाता है और रजतरूप कार्य का उपादान-भूत जो शुक्ति का अज्ञान, उस (अज्ञान) के सहित रजतरूप कार्य, नाश को प्राप्त होता है। इसलिये इस नाश को 'बाध' कहते हैं। और स्वप्नगजादि कार्यों का नाश, जागरणरूप स्वप्नविरोधी वृत्ति के उत्पन्न होने पर अपने आप हो जाता है। इसलिये स्वाप्नरथादिकों का नाश—निवृत्ति कहा जाता है। इस प्रकार से कार्यनाश को द्विविधत्व है।

जागरित अवस्था में ब्रह्म साक्षात्कार का अभाव रहता है। इस कारण स्वप्न-प्रपंच की उपादानभूत अविद्या (अज्ञान) का नाश नहीं होता। उपादानभूत अज्ञान का नाश न होने से स्वप्नप्रपंच का बाध नहीं होता। तथापि स्वाप्निक रथगजादिकों की निवृत्तिरूप दूसरे प्रकार के नाश होने में कोई किसी प्रकार का विरोध नहीं है। कारण यह है कि समस्त प्रपंच की उपादानभूत अविद्या (अज्ञान) का ब्रह्म साक्षात्कार से यद्यपि नाश नहीं हुआ, तथापि मुसलप्रहार से जैसे घर का नाश होता है उसी प्रकार उस स्वप्नप्रपंच (स्वाप्नगजादि) के प्रत्यय के विरुद्ध दूसरे प्रत्यय के उत्पन्न होने से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। इस कारण ऐसी निवृत्ति को ब्रह्मसाक्षात्कार-पूर्वक अज्ञान के नाश की ही कोई आवश्यकता नहीं होती। बाधरूप नाश के लिये मात्र ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारा उपादानभूत अज्ञान के नाश की आवश्यकता होती है। परन्तु स्वप्नगजादिकों का जागर में बाध न होकर, निवृत्ति होती है। अतः कोई विरोध नहीं होता।

स्वप्न के गजादि प्रपंच की निवृत्ति, जागरणरूप विरोधीवृत्ति के उत्पन्न होने से जैसी हो सकती है, वैसे ही स्वप्न प्रत्यय को उत्पन्न करने वाले निद्रा अदृष्टादि दोषों के नाश से भी हो सकती है।

जागरित अवस्था में स्वप्नप्रपंच की निवृत्ति सुनकर चकित होने की आवश्यकता नहीं। स्वप्न में भी विरोधी वृत्ति के उत्पन्न होते ही पूर्व प्रतीत हुए अर्थ की निवृत्ति होती दिखाई देती है। जैसे स्वप्न में पूर्वक्षण में गज का प्रत्यय होते-होते ही दूसरा अश्वविषयक प्रत्यय उत्पन्न होने पर, गजप्रत्यय की निवृत्ति होती है—यह अनुभूत है। तात्पर्य यह है—कार्य का नाश, दूसरे विरोधी प्रत्यय की उत्पत्ति अथवा कार्य में निमित्त बननेवाले दोषों की निवृत्ति होने से भी हो सकता है। ऐसे नाश को निवृत्ति कहते हैं।

यदि ऐसी स्थिति है तो शुक्तिरूप्य के नाश को आप बाध कहेंगे या निवृत्ति ?

एवं च शुक्तिरूप्यस्य शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठतूलाविद्याकार्यत्वपक्षे शुक्तिरिति ज्ञानेन तदज्ञानेन सह रजतस्य बाधः। मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे तु मूलाविद्याया ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्यतया शुक्तित्वज्ञानेनानिवर्त्यतया रजतस्य तत्र शुक्तिज्ञानान्निवृत्तिमात्रं, मुसलप्रहारेण घटस्येव।

अर्थ—कार्य का नाश दो प्रकार का है—यह सिद्ध होने पर शुक्तिरूप्य, शुक्त्यवच्छिन्न—चैतन्यनिष्ठ तूलाविद्या का कार्य है—इस पक्ष में 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से शुक्तिविषयक अज्ञान के साथ रजत का बाध होता है। परन्तु शुक्तिरूप्य, मूलाविद्या का कार्य है—इस पक्ष में मूलाविद्या केवल ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार से ही निवृत्त होने योग्य है। इसलिये शुक्तिरूप्य, शुक्तित्वज्ञान से निवृत्त होना संभव नहीं। अतः इस पक्ष में शुक्तिज्ञानसे रजत की, केवल निवृत्ति होती है (अधिष्ठानसाक्षात्कार के बिना ही मुसलप्रहार से घट की जैसी निवृत्ति होती है वैसे ही अधिष्ठानसाक्षात्कार से मूलाज्ञान की निवृत्ति के बिना ही रजत की निवृत्ति होती है। बाध नहीं।

विवरण—शुक्ति में भासित होनेवाले रजत को शुक्तिरूप्य कहते हैं। और शुक्तिज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है। बाध नहीं। यह उपर्युक्त प्रश्न का संक्षेप में उत्तर है। परन्तु प्रथमतः उस विषय में मतभेद के कारण रूढ हुए दो पक्षों को बताते हैं। प्रातिभासिक पदार्थ तूला विद्या के कार्य हैं—ऐसा पद्मपादाचार्य कहते हैं। उनके मत में 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से, प्रातिभासिक पदार्थों के उपादानभूत, शुक्ति के अज्ञान के साथ रजत का बाध होता है। परन्तु प्रातिभासिक पदार्थ, मूलाविद्या के ही कार्य हैं—ऐसा मत वाचस्पति मिश्र आदिकों का है। इनके मत के अनुसार विचार करने

पर वह मूलाविद्या, केवल ब्रह्मज्ञान से ही बाधित हो सकती है। सिवाय ब्रह्मज्ञान के दूसरे किसी ज्ञान से बाधित नहीं हो सकती। इसलिये 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से मूलाविद्या का बाध न होने पर भी मुसल-प्रहार से उपादानभूत मूलाज्ञान के रहते ही मृत्तिका में होनेवाली घट की निवृत्ति के समान शुक्तिज्ञान से शुक्तिरूप्य की निवृत्ति ही होती है। बाध नहीं।

इस विषय में पद्मपादाचार्य ने अपने पंचपादिका ग्रन्थ में "शुक्तित्व-ज्ञान ही बाधक है, और 'यह रजत नहीं' यह अनुवाद है" कहा है। इस कारण 'यह रजत नहीं' ज्ञान अनुवाद है। क्योंकि शुक्तित्वप्रकारक ज्ञान, रजतादि भेद के अज्ञान का निवर्तक होता है। (शुक्तिरूप्य को शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ तूलाविद्या का कार्यत्व है) इस पक्ष में 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से तूलाविद्या रूप शुक्तित्व के अज्ञान के साथ प्रातिभासिक रजत का बाध होता है। मूलाविद्या का ही एक अवस्थाविशेष तूलाविद्या है। (मूलाविद्या की ही वह एक विशिष्टावस्था है)। 'विवरण' ग्रन्थ में इस विषय में 'रजतादिकों के उपादानभूत अज्ञान, मूलाविद्या के ही अवस्थाभेद हैं। वे अज्ञान, शुक्तिकादिकों के ज्ञानों से अध्यास के साथ निवृत्त होते हैं' ऐसा स्पष्ट कहा है।

परन्तु शुक्तिरूप्यादि, मूलाविद्या का ही कार्य है—इस पक्ष में स्वप्नगजादिकों के समान शुक्तिरूप्य की निवृत्ति होती है, बाध नहीं, क्योंकि मूलाविद्या, केवल ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार से ही निवृत्त होती हैं। वह शुक्तित्वज्ञान से निवृत्त नहीं होती। अतः ऐसे स्थल पर शुक्तिज्ञान से, उस शुक्ति में प्रातिभासिक रजत की केवल निवृत्ति होती है।

शंका—शुक्तिज्ञान से शुक्तिरूप्य का बाध न होकर केवल निवृत्ति ही यदि होती है तो शुक्तिरूप्य ज्ञान को प्रमात्व प्राप्त होगा। 'यह रजत है' इत्याकारक शुक्ति में होनेवाला रजतज्ञान वस्तुतः अप्रमा (मिथ्या) ज्ञान है। परन्तु शुक्तिरूप्य का बाध न होकर निवृत्ति होती है यदि स्वीकार करें तो वह रजतज्ञान, प्रमा (यथार्थ) ज्ञान है—कहना पड़ेगा'। क्योंकि आपने 'संसार दशा में अबाधितत्व' ऐसा प्रमालक्षण के 'अबाधित' पद का स्पष्टीकरण पीछे किया है। और यहाँ शुक्तिरूप्य संसारदशा में बाधित नहीं होता, इससे शुक्तिरजतज्ञान में प्रमा का लक्षण घटित होता है' यह शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि 'अबाधित' पद से 'आगन्तुक दोषाजन्यत्व = आगन्तुक दोष से अजन्य' अर्थ विवक्षित है। शुक्तिरूप्य ज्ञान आगन्तुक दोषजन्य है। इस कारण वहाँ प्रमात्व का प्रसंग नहीं आने पाता।

इस पर शंका और उसका समाधान—

ननु शुक्तौ रजतस्य प्रतिभाससमये प्रातिभासिकसत्त्वाभ्युपगमे नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधज्ञानं न स्यात्, किन्त्विदानीम् इदं न रजतमिति, इदानीं घटः श्यामो नेतिवदिति चेत्। न। न हि तत्र रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो निषेधधीविषयः, किन्तु लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रातिभासिकरजतप्रतियोगिताकः, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाभ्युपगमात्।

अर्थ—प्रतिभास के समय में शुक्ति में भासित होनेवाले रजत का प्रातिभासिक सत्त्व यदि स्वीकार किया जाय तो 'यह रजत नहीं है' ऐसा त्रैकालिक निषेधज्ञान होगा नहीं। किन्तु 'इस समय यह रजत नहीं है' यह ज्ञान होगा। 'अब यह घट काला नहीं है' इस ज्ञान के समान ह। वह भी वर्तमान निषेध ज्ञान होगा। यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'यह रजत नहीं है' इस त्रैकालिक निषेधज्ञान में रजतत्व से अवच्छिन्न जो रजत उसमें जिसकी प्रतियोगिता है ऐसा अभाव, उस निषेधज्ञान का विषय रहता है, क्योंकि व्यधिकरण धर्म से अवच्छिन्न प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रतियोगिता है, ऐसे अभाव को हमने स्वीकृत किया है।

विवरण—शुक्तिरजत, अविद्या का कार्य है। इस कारण प्रतिभास के समय में शुक्ति में भासित होने वाले रजत का प्रातिभासिकसत्त्व मानने पर 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक त्रैकालिक निषेध ज्ञान उपपन्न नहीं होगा। किंबहुना वैसा त्रैकालिक निषेधज्ञान हो ही नहीं सकेगा। उसका ज्ञान इस तरह हो सकेगा कि 'अब (वर्तमान काल में) यह घट श्याम नहीं' इस वाक्य से वर्तमानकालीन श्यामत्व के निषेध का ज्ञान जैसे होता है, वैसे ही 'अब यह रजत नहीं' ऐसा वर्तमान कालीन निषेधज्ञान होगा। परन्तु 'यह शुक्ति है, रजत नहीं' त्रैकालिक निषेधज्ञान है। इस कारण 'यह शुक्ति पहले कभी रजत नहीं थी, इस समय भी नहीं है और भविष्य में भी वह रजत नहीं होगी' इत्याकारक जो ज्ञान होगा वह त्रैकालिक निषेधज्ञान कहा जा सकता है। इसलिये शुक्तिरूप्य के प्रतिभास के समय उसकी प्रातिभासिक सत्ता मानने पर 'अब (वर्तमान में) यह रजत नहीं है' इतना ही ज्ञान होगा। पूर्वोक्त त्रैकालिक ज्ञान होगा नहीं। क्योंकि प्रतिभास के निवृत्त होते ही प्रातिभासिक सत्ता भी निवृत्त होती है। उस कारण व्यवहारदशा में

'यह शुक्ति, रजत नहीं' इतना ही ज्ञान उसपर से होगा। यह पूर्वोक्त शंका का आशय है।

विषय का भेद होने से त्रैकालिक निषेध से कोई विरोध नहीं हो पाता। क्योंकि 'यह रजत नहीं' इसप्रकार त्रैकालिक निषेधज्ञान जब होता है, तब उस निषेधज्ञान का, 'रजतत्व' विशेषण से विशिष्ट हुए रजत में जिसकी प्रतियोगिता है ऐसा अभाव, विषय नही होता। किन्तु 'व्यावहारिकत्व'— इस विशेषण से विशिष्ट–प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रतियोगिता है—ऐसा अभाव ही 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक निषेधज्ञान का विषय है। यहां के 'लौकिक पारमार्थिक' पद से 'व्यावहारिक' अर्थ समझना चाहिये। 'यह रजत नहीं' इस उदाहरण में प्रतिभासिक रजत, लौकिक-पारमार्थिक (व्यावहारिक) नहीं, इस प्रकार प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रतियोगिता है ऐसा जो व्यावहारिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव है, वह उस निषेध-ज्ञान का विषय है।

जिस प्रकार नैयायिकों ने कपाल पर भी पटत्वेन (पटत्वरूप से) घट का अभाव स्वीकार किया है उसी प्रकार हमने भी व्यधिकरणाभाव स्वीकार किया है। व्यधिकरण धर्म का अर्थ है विरुद्ध व्यावहारिक रजतादि, जिसका अधि-करण है। वह धर्म लौकिक पारमार्थिकत्व (व्यावहारिकत्व) है। उस व्यावहारिकत्व धर्म से अवच्छिन्न प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रतियोगिता है, वह अभाव लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्न-प्रातिभासिक रजत-प्रतियोगिताक है। यही अभाव 'यह रजत नहीं' इस निषेधज्ञान का विषय है।

तथापि आपका कथन अनुपपन्न ही प्रतीत होता है। क्योंकि व्यधि-करण धर्म का बोध होने पर या न होने पर भी उसकी अनुपपत्ति ही है। इस आशय से शंका—

ननु प्रातिभासिके रजते पारमार्थिकत्वमवगतम् ? न वा ? अनवगमे प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नरजतत्वज्ञानाभावादभाव-त्प्रयक्षानुपपत्तिः, अवगमेऽपरोक्षावभासस्य तत्कालीनविषयस-त्तानियतत्वाद् रजते पारमार्थिकत्वमप्यनिर्वचनीयं रजतवदेवोत्प-न्नमिति तदवच्छिन्नरजतसत्त्वे तदवच्छिन्नाभावस्तस्मिन् कथं वर्तते ? इति चेत्।

अर्थ—प्रातिभासिक रजत में पारमार्थिकत्व का ज्ञान हुआ है या नहीं ? ज्ञात नहीं है कहें तो प्रतियोगितावच्छेदक (रजतत्व) से अवच्छिन्न रजत ज्ञान में तत्वज्ञान का अभाव होने से, अभाव के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति

होती है। रजतत्व ज्ञात है कहें, तो उसके अपरोक्षावभास की तत्कालीन विषयसत्ता के नियत होने से रजत में, (उसी की तरह) पारमार्थिकत्व भी अनिर्वचनीय उत्पन्न होने से तदवच्छिन्न रजतसत्त्व होने पर वहीं तदवच्छिन्न रजताभाव कैसे होगा? यह आक्षेप यदि करें तो ठीक नहीं।

विवरण—जिन शुक्ति आदिकों में 'यह रजत' इत्याकारक बुद्धि उत्पन्न होती है उस रजत में, लौकिक पारमार्थिकत्व (व्यावहारिकत्व) ज्ञात होता है या नहीं? उस रजत में व्यावहारिकत्व ज्ञात नहीं होता—यह मानने पर 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक अभाव का प्रत्यक्ष संभव नहीं होगा। तथाहि—उस अभाव की प्रतियोगिता रजत में होने से उसका अवच्छेदक, रजतत्व है, परन्तु उस ज्ञान में तत्त्वज्ञानता (यथार्थता) नहीं होने से अभाव का प्रत्यक्ष अनुपपन्न होता है।

शंका—प्रतियोगी रजत में स्थित जो प्रातिभासिक रजतत्व है, वही प्रतियोगितावच्छेदक है—यह ज्ञान होता है। अतः उसे छोड़कर व्यावहारिक रजतत्व तक क्यों दौड़ा जाय? परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि अभावज्ञान जिस रूप से प्रतियोगी को विषय करता है, उसका प्रतियोगितावच्छेदक नियमेन तद्रूप ही रहता है। 'यह रजत नहीं है' यहाँ रजत का अभाव-ज्ञान, 'यह रजत व्यावहारिक नहीं है' इस प्रकार से प्रतियोगी को व्याव-हारिकत्व रूप से विषय करता है। इसलिये उसमें व्यावहारिकत्व ही प्रतियोगितावच्छेदक है। परन्तु उसी का यदि बोध न होता हो तो उस अभाव के प्रत्यक्ष का असंभव हो जाता है। क्योंकि अभाव के प्रत्यक्ष ज्ञान करने में उसके प्रतियोगी का और प्रतियोगी के अवच्छेदक का ज्ञान होना आवश्यक है। बिना उसके अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान हो नहीं सकता।

दूसरा पक्ष (प्रातिभासिक रजत में स्थित पारमार्थिकत्व अवगत था) मानें तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि किसी भी इन्द्रियसन्निकृष्ट (सम्बद्ध) वस्तु का ही प्रत्यक्ष अवभास होता है—यह नियम है। इस कारण जैसे आप कहते हैं कि प्रातिभासिक रजत, उसी समय (प्रतिभासकाल में ही) उत्पन्न हुआ। वैसे ही उस प्रातिभासिक रजत पर रहनेवाला व्यावहारिकत्व भी उसी समय (प्रतिभास के समय ही) उत्पन्न हुआ—मानना उचित है और ऐसा मानने पर 'यह रजत नहीं' इत्याकारक निषेध नहीं हो सकेगा। क्योंकि इस स्थिति में निषेध का अर्थ होगा कि 'व्यावहारिकत्व से अवच्छिन्न रजत में व्यावहारिकत्वावच्छिन्न रजत नहीं है।' परन्तु ऐसा कहने में व्याघात दोष होगा। इस कारण लौकिक पारमार्थिकत्व से (व्याव-हारिकत्व से) अवच्छिन्न—प्रातिभासिक रजत है प्रतियोगी जिसका ऐसा अभाव, 'यह रजत नहीं' इत्याकारक निषेधज्ञान का विषय नहीं बन सकता।

वादी के द्वारा ऐसी शंका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उसका परिहार करते हैं—

न। पारमार्थिकत्वस्याधिष्ठाननिष्ठस्य रजते प्रतिभाससम्भवेन रजतनिष्ठपारमार्थिकत्वोत्पत्त्यनभ्युपगमात्। यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं तत्रैव प्रातिभासिकवस्तूत्पत्तेरङ्गीकारात्। अत एवेन्द्रियसन्निकृष्टतया जपाकुसुमगतलौहित्यस्य स्फटिके भानसंभवाद् न स्फटिकेऽनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिः।

अर्थ—ऐसी शंका उठाना ठीक नहीं। क्योंकि अधिष्ठाननिष्ठ पारमार्थिकत्व का रजत में प्रतिभास होना शक्य है (प्रातिभासिक रजत में शुक्ति के 'इदम्' अंश के साथ पारमार्थिकत्व का भी प्रतिभास संभव होने से) हमें रजतनिष्ठ पारमार्थिकत्व की तत्काल उत्पत्ति नहीं माननी पड़ती, क्योंकि जहां पर आरोप्य सन्निकृष्ट न होकर इन्द्रिय से असन्निकृष्ट (असम्बद्ध) रहता है वहीं पर प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति को हम मानते हैं। इसी कारण (इन्द्रियसन्निकृष्टत्व के कारण) गुडहर (जपा पुष्प) की लालिमा स्फटिक में भासित होती है। अतएव स्फटिक में उसकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

इस पर एक सूक्ष्म शंका और उसका समाधान—

नन्वेवं यत्र जपाकुसुमं द्रव्यान्तरव्यवधानादसन्निकृष्टं तत्र लौहित्यप्रतीत्या प्रातिभासिकलौहित्यं स्वीक्रियतामिति चेत्। न। इष्टत्वात्। एवं प्रत्यक्षभ्रमान्तरेष्वपि प्रत्यक्षसामान्यलक्षणाऽनुगमो यथार्थप्रत्यक्षलक्षणासद्भावश्च दर्शनीयः।

अर्थ—(शंका) इन्द्रियसन्निकृष्ट जपाकुसुम भी जब दूसरे (हस्तादि) द्रव्य से व्यवहित हो जाता है तब वह पुष्प, इन्द्रिय से असन्निकृष्ट हो जाता है, तथापि स्फटिक में लालिमा प्रतीत होती ही है। इस कारण ऐसे स्थलों पर प्रातिभासिक लौहित्य का स्वीकार करना ही पड़ेगा (ऐसे समय पर स्फटिक में अनिर्वचनीय लौहित्य उत्पन्न होता है—यह कहना पड़ेगा)।

यह शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि वह तो हमें इष्ट ही है (ऐसे स्थलों में आरोप्य की अनिर्वचनीय उत्पत्ति होना तो हमें स्वीकार ही है) और इसी तरह अन्य प्रत्यक्ष भ्रमों में भी प्रत्यक्ष के 'चित्व' रूप सामान्य लक्षण की अनुवृत्ति और यथार्थ प्रत्यक्ष लक्षण का असद्भाव (नास्तित्व) समझना चाहिये।

विवरण—आरोप्य पदार्थ के इन्द्रियसंनिकृष्टत्व और इन्द्रियासन्निकृष्टत्व रूप से दो भेदों की कल्पना कर जहां जपाकुसुम की तरह आरोप्य, इन्द्रिय-सन्निकृष्ट हो वहां स्फटिक में लालिमा अनिर्वचनीय पैदा होती है, यह मानना नहीं पड़ता, परन्तु जहां आरोप्य रजतादि, इन्द्रिय संनिकृष्ट नहीं रहता वहां शुक्ति आदि में अनिर्वचनीय रजतादि की उत्पत्ति होना तो हम भी मानते हैं। जहां आरोप्य असन्निकृष्ट हुआ कि वहां आरोप्य की अनिर्वचनीय उत्पत्ति को हम मानते हैं, इस नियम को ध्यान में रखने से उपर्युक्त शंका नहीं उठेगी।

शंका—इन्द्रिय से सन्निकृष्ट हुई प्रभा का स्फटिक में भास हो सकेगा, तब अनिर्वचनीय लौहित्य की उत्पत्ति मानना तो अनुपपन्न भी होगा। परन्तु यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि जपाकुसुम अस्वच्छ द्रव्य है इस कारण उसकी प्रभा का ही संभव नहीं। पंचपादिका में भी 'जैसी पद्मरागादि मणियों की प्रभा, बिना आश्रय के भी ऊपर की ओर फैली दीखती है, वैसी जपाकुसुमादिकों की प्रभा, ऊपर या चारों ओर फैली नहीं दीखती' कहा है। इसलिये 'असन्निहित' = असमीप के पदार्थ का 'परत्र' अन्य पदार्थ में अवभास होना, यह अध्यास का लक्षण कहीं पर भी व्यभिचरित नहीं होने पाता।

शंका—शुक्ति में रजत के अध्यास का संभव होने पर भी अहंकारादिकों का आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा, अध्यास का अधिष्ठान हो नहीं सकता। कारण यह है कि अधिष्ठान का अध्यस्यमान के सदृश होना, (जिसका उस पर अध्यास करना है उसके समान होना) दो अंशों से युक्त होना, परिच्छिन्न और अध्यस्यमान के साथ ही एक ज्ञान का विषय बनने योग्य होना आवश्यक होता है। जैसे—शुक्तिरूप अधिष्ठान, अध्यस्य-मान रजत के समान, 'इदं' और त्रिकोणत्वादि दो अंशों से युक्त, परिच्छिन्न = मर्यादित और रजत के साथ एक ही ज्ञान का विषय बनने योग्य होता है, परन्तु आत्मा में यह अधिष्ठान की सामग्री नहीं होती। इसलिये आत्मा, अहंकारादिकों के अध्यास का अधिष्ठान नहीं बन पाता।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अहंकारादि कार्य अविद्या में प्रतिबिंबित हुए चैतन्य पर आरोपित किया जाता है। इसका कारण यह है कि कार्य का अध्यास कारणावच्छिन्न में होना ही उचित है। अहंकार का कारण अज्ञान है। उस अज्ञान से अवच्छिन्न = युक्त, विशिष्ट चैतन्य पर कार्यरूप अहंकार का अध्यास होना योग्य ही है।

शंका—ऐसा कहने पर समानाश्रयत्व का भंग होता है।

सिद्धान्ती—समानाश्रयत्व का भंग नहीं होता। क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता होने से समानाश्रयत्व का भंग नहीं होता। इसी

कारण अहंकारादिकों के अधिष्ठानभूत चैतन्य का अभिधेयत्वादि (विषयत्वादि) भी ठीक बन जाता है। अहंकार जैसे घटादिकों से पृथक्तया प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा भी, घटादिकों से विलक्षण प्रत्यय का विषय बनता है। घटादि 'इदम्' (यह) प्रत्यय का विषय होता है। आत्मा, अहंकारादि पदार्थ 'अहम्' आकार से प्रतीत होते हैं इस कारण अहंकारादि अध्यस्यमान पदार्थ के साथ आत्मा का सादृश्य भी बन जाता है। और अविद्या के कारण उसके सांशत्व, विषयत्व, परिच्छिन्नत्व भी संभव होते हैं। इसलिये आत्मा, अहंकारादि आरोप्यों का अधिष्ठान हो सकता है। परन्तु अध्यास में प्रमाणदोष की आवश्यकता होती है। इस अध्यास में अविद्या को ही दोषत्व है। आत्मा और अहंकार के अध्यास में, अविद्या ही महादोष है। आत्मा के विषयत्व, परिच्छिन्नत्व आदि मानने में अपसिद्धान्त की शंका भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि आत्मा सदैव अविषय ही होता है—यह नियम नही। उसे 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्व' = 'मैं' प्रत्यय का विषयत्व है' इस प्रकार अध्यासभाष्य में भाष्यकार ने ही मुख्य आत्मा को विषयत्वादि न होने पर भी अमुख्य आत्मा का विषयत्व स्वीकृत किया है।

इसके अतिरिक्त, 'साक्षात् प्रकाशमानत्व ही अधिष्ठानत्व का प्रयोजक है' 'उस अधिष्ठान का विषयत्व भी अधिष्ठानत्व का प्रयोजक है यह गौरवदोष के कारण नहीं कहा जा सकता। परन्तु अधिष्ठान को विषयत्व के बिना ही साक्षात् प्रकाशमानत्व होता है—यह कहीं भी अनुभव में नहीं आता। ऐसी शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि न्याय के मत में अधिष्ठान को क्वचित् मन के द्वारा अपरोक्षत्व रहता है और कहीं दो नेत्रों से अपरोक्षत्व होता है। वैसे ही हमारे मत में कोई बाधक न होने से अधिष्ठान में स्वयं भी अपरोक्षता रहती है।

शंका—स्वयं अपरोक्ष होनेवाले आत्मा में अध्यास का कोई उदाहरण क्या आप दिखा सकते हैं ?

समाधान—स्वयं अपरोक्ष होनेवाले (स्वयंप्रकाश) आत्मा में अज्ञान, शोक, मोह, स्वप्नादिकों का अध्यास हुआ प्रतिदिन अनुभव में आने से न्याय के मत में नेत्रों का विषय होनेवाली शुक्ति में (अधिष्ठान में) जैसा रजतादि भ्रम स्वीकार किया गया है वैसे ही स्वयं अपरोक्ष होनेवाले आत्मा में अहंकारादिकों का भ्रम होता है। इसमें कोई बाधक नहीं है।

शंका—स्वयंप्रकाश आत्मा का ज्ञात अंश और अज्ञात अंश का असंभव होने से अधिष्ठानत्व कैसे ?

समाधान—कुछ दूरी पर स्थित दो वृक्ष वृक्षत्वेन प्रतीत होने पर भी उनका यथार्थ भेद ज्ञात नहीं होता—यह माना जाता है। ऐसा न माना जाय

तो उनके अभेद भ्रान्ति का उदय ही नहीं होगा इसी उदाहरण के ज्ञात हुए आत्मा में भी अज्ञातत्व का संभव होने से उसमें अधिष्ठानत्व की संभावना हो सकती है। क्योंकि भेद ही वस्तु का स्वरूप है। वस्तु का स्वरूप धर्म नहीं है। क्योंकि धर्म को वस्तु का स्वरूप मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। यह संक्षेपशारीरक के प्रथम अध्याय में बताया गया है। इसी न्याय से शंख पीतवर्ण है, शर्करा कटु है आदि-आदि अन्य प्रत्यक्ष भ्रमों में भी, प्रत्यक्षप्रमा का 'चित्व' रूप सामान्यलक्षण की अनुवृत्ति होती है। 'चित्व' लक्षण भ्रम तथा प्रमा (यथार्थ ज्ञान) दोनों के लिये साधारण प्रत्यक्ष लक्षण है। इसलिये 'चित्व' की भ्रम में अतिव्याप्ति की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सामान्य लक्षण होने से भ्रम भी उसका लक्ष्य है। 'प्रमाण-चैतन्य का अबाधित, योग्य, वर्तमान, विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभिन्नत्व' ही यथार्थ-प्रत्यक्ष का लक्षण है। इस कारण इस लक्षण की भी भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि भ्रम का विषय बाधित होता है और प्रमा का विषय अबाधित होता है।

यहां तक 'ज्ञानगत प्रत्यक्ष' और 'विषयगत प्रत्यक्ष' दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष, जीवसाक्षि और ईश्वरसाक्षि भेद से दो प्रकार का है—बताया गया। अब अन्य प्रकार से उसका विभाग बताते हैं—

उक्तं प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण द्विविधम्, इन्द्रियजन्यं तदजन्यं चेति। तत्रेन्द्रियाजन्यं सुखादिप्रत्यक्षम्, मनस इन्द्रियत्वनिराकरणात्। इन्द्रियाणि पञ्च-घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वगात्मकानि। सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्वस्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति। तत्र घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भाञ्जनयन्ति। चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः। श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात्। अत एवानुभवो भेरीशब्दो मया श्रुत इति। वीचीतरङ्गादिन्यायेन कर्णशष्कुलीप्रदेशेऽनन्तशब्दोत्पत्तिकल्पनागौरवम्, भेरीशब्दो मया श्रुत इति प्रत्यक्षस्य भ्रमत्वकल्पनागौरवं च स्यात्। तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्॥

अर्थ—यहांतक बताया हुआ प्रत्यक्ष प्रकारान्तर से दो प्रकार का है। १ इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, और २ इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष। उनमें सुखादिप्रत्यक्ष

इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है, क्योंकि हमने मन के इन्द्रियत्व का निराकरण किया है। घ्राण, रसन, चक्षु, श्रोत्र और त्वक्—ये पांच इन्द्रियां हैं। सब इन्द्रियां अपने-अपने विषय से संयुक्त होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान को पैदा करती हैं। परन्तु उनमें से घ्राण, रसन और त्वक् तीन इन्द्रियां अपने स्थान में स्थित रहती हुई ही गंध, रस और स्पर्श विषयों का क्रमशः प्रत्यय (अनुभव) उत्पन्न करती हैं। परन्तु चक्षु और श्रोत्र दो इन्द्रियां स्वयं ही जहां विषय हो वहां जाकर अपने-अपने विषयों का ग्रहण करती हैं। चक्षु के समान परिच्छिन्न होने से श्रोत्र का भी भेरी, मृदंगादि स्थानों में गमन संभव है। इसी कारण 'भेरी शब्द को मैंने सुना' 'मृदंगध्वनि को मैंने सुना' अनुभव होता है। नैयायिक वीचीतरंग न्याय से कर्णशष्कुलीके प्रदेश में अनंत शब्दों की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु इस प्रकार मानने में गौरव है और 'मैंने भेरी का शब्द सुना' इस प्रत्यक्ष-ज्ञान में भ्रम की कल्पना करना भी दूसरा गौरव है। इस प्रकार हमने प्रत्यक्ष का व्याख्यान किया।

विवरण—इन्द्रियजन्य (इन्द्रिय से उत्पन्न हुआ) और इन्द्रियाजन्य (इन्द्रिय से उत्पन्न न हुआ) इस भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। यहां इन्द्रियजन्य पद के इन्द्रिय शब्द से पंच ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण किया जाता है। नैयायिकों की तरह छह इन्द्रियां या औरों की तरह पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रियां मिलकर दस इन्द्रियां नहीं मानी जातीं। क्योंकि कर्मेन्द्रियों को ज्ञान जनकत्व नहीं तथा मन को इन्द्रियत्व नहीं—इस बात को हमने पहले बताया है।

इन्द्रियों के अस्तित्व में यदि प्रमाण पूछो तो दो प्रमाण हैं—एक अनुमान और दूसरी श्रुति। १—रूपादि ज्ञान सकरणक हैं, २—क्योंकि उन्हें क्रियात्व है, ३—छेदन क्रिया की तरह। इस अनुमान से इन्द्रियों का अस्तित्व सिद्ध होता है। काष्ठादिकों का छेदन (काटना) क्रिया है। कोई भी क्रिया विना करण (साधन) के संभव नहीं होती। रूपादिकों का ज्ञान भी क्रिया है। क्रिया कहते ही वह सकरणक होनी चाहिये। अर्थात् जिसके व्यापार से रूप का ज्ञान होता है वह रूपज्ञान में करण है। जिससे शब्द का ज्ञान होता है वह श्रोत्र, इत्यादि अनुमान से घ्राणादि ज्ञानेन्द्रियों की सिद्धि होती है। उसी तरह 'जीवात्मा शरीर त्याग कर जब जाने लगता है तब उसके पीछे पीछे सब प्राण (इन्द्रियां) शरीर छोड़कर जाते हैं' (बृ. उ. ४।३।३८) यह श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है।

बौद्धों का कहना है कि 'इन्द्रियां, विषयों को बिना प्राप्त हुए ही विषय-ज्ञान कराती हैं' अतः इनका निराकरण करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि

'ये सब ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने विषयों से संयुक्त होकर ही स्व स्व विषय का ज्ञान उत्पन्न करते हैं ।

परन्तु उनमें भी फलबलकल्प्य विशिष्ट स्वभाव का आश्रय करके अवान्तर भेद बताते हैं । घ्राण, रसन और त्वक् तीन इन्द्रियां नासिकाग्र, जिह्वाग्र और समस्त शरीर आदि अपने अपने स्थान में स्थित होकर ही गन्ध, रस और स्पर्श आदि स्वस्व विषय का अनुभव उत्पन्न करते हैं । (वे अपने स्थानों से निकलकर विषय के समीप नहीं पहुँचते किन्तु उनके समीप आये हुए गंधादि विषयों का ग्रहण करते हैं) परन्तु चक्षु और श्रोत्र दो इन्द्रियां अपने गोलकादि स्थान से बाहर निकलकर विषय प्रदेश में पहुँचती हैं और क्रमशः रूप और शब्द का ग्रहण करती हैं ।

शंका—अपने स्थान से निकल कर विषय के समीप चक्षुरिन्प्रिय के जाने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय प्रदेश में पहुँचना संभव नहीं । क्योंकि कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न हुए आकाश का विषयप्रदेश में जाना कैसे हो सकता है, कारण, श्रोत्र आकाश रूप है और आकाश सर्वव्यापक है ।

समाधान—श्रोत्रेन्द्रिय, आकाश के सत्वगुण से उत्पन्न हुआ है । यद्यपि वह व्यापक आकाश से उत्पन्न हुआ है तथापि तेज आदि के सत्वगुण से उत्पन्न हुए चक्षुरादिकों की तरह परिच्छिन्न है । इस कारण उसका भेरी प्रभृतियों के प्रदेश में जाना संभव है । शब्द प्रदेश में श्रोत्र का गमन होने के कारण ही (जहां शब्द पैदा होता है वहां श्रोत्र के पहुँचने से ही) 'मैंने नगाडे का शब्द सुना, मैंने गाय का शब्द सुना' इत्यादि अनुभव होता है । नैयायिक श्रोत्र और शब्द के संयोग की व्यवस्था, वीचीतरंग न्याय से लगाते हैं । वीची से तरंग, उससे दूसरा, उससे तीसरा इस तरह क्रम से असंख्य तरंग जैसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार नगाड़े और दण्ड के संयोग से वहां के आकाश में प्रथम शब्द उत्पन्न होता है, इसी असमवायिकारण से दूसरा शब्द उत्पन्न होता है, उससे तीसरा शब्द उत्पन्न होता है, इस परंपरा से श्रोत्रेन्द्रिय से संयुक्त होने वाले अन्त्य शब्द की उत्पत्ति होती है, और स्वस्थान पर ही स्थित श्रोत्रेन्द्रिय से उस अन्त्य शब्द का संबंध होकर शब्द का प्रत्यक्षज्ञान होता है । यह नैयायिकों की प्रक्रिया है ।

परन्तु इस प्रक्रिया में अनन्त शब्द और उनकी उत्पत्ति इत्यादि गुरु कल्पना (कल्पनागौरव) करनी पड़ती है । 'वीचीतरंगादि' यहां आदि शब्द से 'कदम्बमुकुल' न्याय भी समझना चाहिये । कदम्ब पुष्प के चारों ओर पखुडियां जैसी एकदम फैलती हैं, उसी तरह प्रथम पैदा हुए एक शब्द से दस दिशाओं में दस शब्द उत्पन्न होते हैं, उससे और दस, इस क्रम से

उत्तरोत्तर शब्दों की उत्पत्ति होकर जहां कर्णशष्कुली प्रदेश होगा वहां उससे उस शब्द का संबन्ध होता है। नैयायिकों की प्रक्रिया में कल्पनागौरव के सिवाय एक और दोष होता है। नगाडे का शब्द सुनकर यह नगाडे का शब्द है—यह प्रत्यक्षज्ञान होता है। नैयायिकों के कथनानुसार प्रथम शब्द से दूसरा आदि क्रम से कर्णशष्कुली प्रदेश में अन्त्य शब्द के उत्पन्न होने पर 'मैंने भेरीशब्द सुना' इस प्रत्यक्ष को भ्रम कहना पड़ेगा। परन्तु प्रत्यक्षज्ञान में भ्रमत्व की कल्पना करने में भी गौरव है।

॥ इति प्रत्यक्षप्रमाणम् ॥
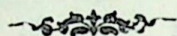
अथानुमानपरिच्छेदः २

इस प्रकार समस्त वादियों को सम्मत तथा समस्त प्रमाणों में ज्येष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रथमतः निरूपण करके तदनन्तर ग्रन्थकार बहुत से ऐसे वादियों को सम्मत, कुछ इनेगिने वादियों को असम्मत ऐसे अनुमान प्रमाण के निरूपण की प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

अथानुमानं निरूप्यते। अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या। व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेस्तत्त्वेन तज्जन्यत्वाभावान्नानुमितित्वम्।

अर्थ—प्रत्यक्षनिरूपण के अनन्तर अनुमान का निरूपण किया जाता है। जो अनुमिति प्रमा का करण हो वह अनुमान है। और अनुमिति प्रमा, व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्य है। व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादिकों को व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्यत्व नहीं है। इसलिये अनुव्यवसाय, स्मृति, शाब्दज्ञान आदि को अनुमितित्व नहीं है।

विवरण—जिस ज्ञान से 'अनुमिति' नामक यथार्थ ज्ञान (प्रमा) होता है वह ज्ञान 'अनुमान' नाम का द्वितीय प्रमाण हैं। यहाँ पर 'अनुमान' नामक दूसरे प्रमाण का लक्षण किया है। इसलिये 'अनुमितिकरण' यह अनुमान प्रमाण का लक्षण है और 'अनुमान' यह लक्ष्य है। 'अनुमीयते—अनेन इति अनुमानम्' जिस ज्ञान के कारण अग्न्यादिकों का अनुमान किया जाता है, जिस व्याप्तिज्ञान से अनुमिति प्रमा पैदा की जाती है वह (व्याप्तिज्ञान) अनुमान है। इस रीति से व्युत्पन्न 'अनुमान' पदार्थ लक्षण है और अव्युत्पन्न (रूढ़) अनुमान शब्दार्थ, लक्ष्य है। 'व्याप्तिज्ञान' रूप अर्थ में जब 'अनुमान' शब्द व्युत्पन्न रहता है तब वह अनुमान नामक द्वितीय प्रमाण का लक्षण होता है और लोकप्रसिद्ध 'अनुमान' उस लक्षण का लक्ष्य रहता है। अर्थात् व्युत्पन्न अनुमान लक्षण, और अव्युत्पन्न (रूढ़) अनुमान, लक्ष्य है।

अब 'अनुमिति करण' यहाँ अनुमिति प्रमा का लक्षण बताते हैं 'व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या अनुमितिः—व्याप्तिज्ञानत्व से (विषयत्वादिरूप से नहीं) युक्त व्याप्तिज्ञान से जो प्रमा होती है, वह अनुमिति प्रमा है। 'यह घट है' इस घटज्ञान में 'घटत्व' प्रकार है, इसलिये इस ज्ञान को घटत्वप्रकारक घटज्ञान, कहते हैं। इसी तरह 'यह व्याप्ति' इस ज्ञान में व्याप्तित्व प्रकार है, इसलिये इस व्याप्तिज्ञान को व्याप्तित्वप्रकारक ज्ञान

कहते हैं। इसी प्रकार 'धूम वह्निव्याप्य है' इत्याकारक व्याप्तिप्रकारक ज्ञान में 'व्याप्ति' प्रकार है । ऐसे व्याप्तिज्ञानत्वेन रूपेण जो व्याप्तिज्ञानजन्य ज्ञान हो उसे अनुमितिज्ञान कहते हैं। 'धूम वह्निव्याप्य है' जहां धूम होता है वहां अग्नि रहती है—यह व्याप्ति का सामान्य उदाहरण है। ऐसे व्याप्तिज्ञानत्वेन रूपेण व्याप्तिज्ञान से जो ज्ञान होता है वह अनुमितिज्ञान है। अन्यथा 'यह व्याप्ति है' इस व्याप्ति के (व्याप्तिविषयक) ज्ञान से भी 'पर्वत वह्निमान् है' यह ज्ञान होने लगेगा। परन्तु होता नहीं है। इसलिये 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' का अर्थ 'व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेन' विवक्षित है।

शंका—'धूम वह्निव्याप्य है' यह व्याप्तिप्रकारक ज्ञान 'पर्वत वह्निमान् है' इस अनुमिति के प्रति जैसे कारण होता है वैसे ही व्याप्तिज्ञान का अनुव्यवसाय, स्मृति, ध्वंस आदि के प्रति भी कारण है (यह भी व्याप्तिज्ञान-जन्य हैं) अतः अनुमिति का लक्षण इनमें अतिव्याप्त होता है। क्योंकि 'मैं वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वत को जानता हूँ' यह अनुव्यवसाय ज्ञान है। इन्द्रियों से होनेवाला जो प्रथम ज्ञान है, वह व्यवसाय ज्ञान कहलाता है और पश्चात् होनेवाला तद्विषयक मानस ज्ञान, अनुव्यवसाय ज्ञान कहलाता है। इस व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय में व्यवसाय ज्ञान कारण है (उसे व्याप्ति-ज्ञानजन्यत्व है) इसलिये 'व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्य ज्ञान को अनुमिति ज्ञान कहा जाता है' यह अनुमिति ज्ञान का लक्षण, व्याप्तिज्ञान के अनुव्य-वसाय ज्ञान में अतिव्याप्त होता है।

समाधान—यद्यपि यह सच है कि व्याप्ति का अनुव्यवसाय व्याप्तिज्ञान-जन्य होता है। तथापि उस अनुव्यवसाय ज्ञान में जो जन्यत्व है, उस जन्यत्व से निरूपित (उस जन्यत्व से ज्ञात होने वाला) जो व्याप्तिज्ञान का कारणत्व है, वह व्याप्तिज्ञान के विषयत्व रूप से होता है। व्याप्तिज्ञानत्व के रूप से नहीं होता। उसी प्रकार व्याप्तिज्ञानजन्य स्मृति, शाब्दबोध, उसका ध्वंस आदिकों को भी व्याप्तिज्ञानजन्यत्व होने पर भी उनमें व्याप्तिज्ञान, विषयत्व रूप से उनका कारण होता है। व्याप्तिज्ञानत्व रूप से नहीं होता। 'यह घट' इस ज्ञान में 'घट' उस ज्ञान का विषय होता है और विषयत्व रूप से उस ज्ञान का जनक होता है। ज्ञानत्व रूप से जनक नहीं होता। उसी प्रकार पूर्वोक्त अनुव्यवसायादि ज्ञान, व्याप्तिज्ञान-जन्य होने पर भी व्याप्तिज्ञान का उनके साथ विषयत्व, प्रतियोगि-त्वादि रूप से संबंध रहता है। ज्ञानत्व रूप से उन्हें उसका जनकत्व नहीं होता। इसलिये उक्त अनुमितिलक्षण की अनुव्यवसायादि में अतिव्याप्ति नहीं है। अनुमिति का 'व्याप्तिज्ञानजन्या' इतना ही लक्षण यदि किया होता तो उस लक्षण की अनुव्यवसाय आदि में अति-

व्याप्ति हुई होती। परन्तु 'व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या' इतना कहने से कारण (लक्षण में 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' यह पद जोड़ने के कारण) लक्षण पर अतिव्याप्ति दोष नहीं आने पाता।

'ज्ञानं प्रति विषयस्य कारणत्वम्' किसी भी ज्ञान में उसका विषय कारण होता है—यह नियम है। इस नियम के अनुसार 'व्याप्तिज्ञान अपने अनुव्यवसाय का 'विषयकत्व' धर्म से कारण होता है। वह अपनी स्मृति का भी 'समानविषयक-अनुभवत्व' धर्म से कारण होता है। वह अपने ध्वंस का भी 'प्रतियोगित्व' धर्म से कारण होता है। 'व्याप्तिज्ञानत्व' धर्म से कारण नहीं होता। वह (व्याप्तिज्ञान) तो 'व्याप्तिज्ञानत्व' धर्म से केवल अनुमिति को ही उत्पन्न करता है। इसलिये पूर्वोक्त अनुव्यवसायादिकों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

'दण्ड' पदार्थ इन्धनत्व (काष्ठत्व) धर्म से (रूप से) यद्यपि ज्वलन (जलना) क्रिया में कारण होता है, तथापि 'घट' का कारण अपने 'दण्डत्व' धर्म से ही होता है। वहां दण्ड की कारणता का अवच्छेदक धर्म दण्डत्व है, इन्धनत्वादि नहीं। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञान को जो अनुमिति कारणत्व है, वह 'व्याप्तिज्ञानत्व' धर्म से ही है। विषयत्वादि धर्मों से (रूपों से) नहीं। अर्थात् यहां कारणतावच्छेदक व्याप्तिज्ञानत्व है। इससे उक्त लक्षण पर अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

अनुमिति के करण को अनुमान कहते हैं। परन्तु अनुमिति का करण क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर अग्रिम ग्रन्थ से उसका समाधान करते हैं—

अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानं तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः, न तु तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितौ करणम्। तस्यानुमितिहेतुत्वासिद्ध्या तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्।

अर्थ—व्याप्तिज्ञान अनुमिति करण (साधन) है, और उसका (व्याप्ति ज्ञान का) संस्कार अवान्त व्यापार है। तृतीय (तीसरा) लिंगपरामर्श अनुमिति का करण नहीं है। क्योंकि उसमें अनुमिति का हेतुत्व (कारणत्व) ही असिद्ध है। इसलिये असाधारण कारणस्वरूप करणत्व दूरनिरस्त (अत्यन्त खण्डित) होता है।

विवरण—'धूम वह्निव्याप्य है' इत्याकारक व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण है। अर्थात् व्याप्तिज्ञान ही अनुमान है।

शंका—आपने पहले 'अनुमिति व्याप्तिज्ञानजन्य है' कहा था, जिससे व्याप्तिज्ञान अनुमिति का कारण है—यह अर्थ निष्पन्न होता है। और अब व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का करण बताया जा रहा है। ये दोनों बातें कैसे

संगत हो सकती हैं ? (एक ही को कारणत्व तथा करणत्व कैसे हो सकता है ?)।

उत्तर—कारणत्व और करणत्व—ये दोनों यदि परस्पर विरोधी होते तो एक ही व्याप्तिज्ञान को कारण तथा करण नहीं कहा जा सकता था। परन्तु ये दो धर्म (कारणत्व-करणत्व) परस्पर विरोधी नहीं हैं। किन्तु करणत्व, कारणत्व का ही एक विशेष है। क्योंकि असाधारण कारण को ही करण कहते हैं। जैसे एक ही ब्राह्मण पर ब्राह्मणत्व और परिव्राजकत्व रहता है वैसे ही एक ही व्याप्ति ज्ञान पर कारणत्व तथा करणत्व इन अविरोधी धर्मों के रहने में कोई दोष नहीं है। इसीलिए हम 'दण्ड घट में कारण है' और 'दण्ड से घट को उत्पन्न करता है' इत्यादि व्यवहार करते हैं। इस कारण एक ही पदार्थ को कारण और करण कह सकते हैं।

प्राचीन नैयायिक अनुमिति के प्रति लिङ्ग को (हेतु = धूमादि) ही कारण मानते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है। क्योंकि जहाँ लिंग (हेतु) प्रत्यक्ष योग्य नहीं होता वहां परामर्श को व्यापारत्व संभव नहीं होता। अर्थात् व्यापार के न होने से लिंग को करणत्व भी नहीं मान सकते। क्योंक 'व्यापारवत् (व्यापार युक्त) जो असाधारण कारण' उसे ही 'करण' संज्ञा है। सिवाय धूलि में धूम का भ्रम होने से 'पर्वत वह्निमान् है' ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। यहां पर लिंग के न होते हुए भी अनुमिति हुई। इसलिये 'लिंग अनुमिति में करण है' नहीं कहा जा सकता। केवल धूम का ज्ञान हुआ और व्याप्तिज्ञान (व्याप्ति स्मृति) नहीं हुआ, अर्थात् केवल पर्वत धूमवान् है, पर्वत पर धूम है—एतावन्मात्र ज्ञान होने से 'वह वह्निमान् है' यह अनुमिति नहीं होती। और प्रत्यक्ष के अयोग्यहेतुक स्थल में किसी व्यापार का भी संभव नहीं। इसलिये लिंगज्ञान को भी करण नहीं माना जा सकता। परामर्श, अनुमिति में करण क्यों नहीं ? इसे ग्रन्थकार आगे बतावेंगे। अतः व्याप्तिज्ञान, अनुमिति करण (अनुमान) है—कहने से लिंग, लिंगज्ञान, और लिंगपरामर्श को ही अनुमितिकरणत्व है—माननेवाले नैयायिक-वैशेषिकों का खण्डन हो गया।

शंका—आपने 'व्याप्तिज्ञान, अनुमिति के प्रति करण है' बताया। परन्तु यहां व्यापार कौन सा है ? क्योंकि 'जो असाधारण कारण व्यापार से युक्त रहता है उसे ही करण कहते हैं। व्याप्तिज्ञान में व्यापार कौन सा है, समझ में नहीं आता।

समाधान—अन्तःकरण पर रहनेवाला व्याप्तिज्ञान का संस्कार ही मध्यवर्ती व्यापार है। तस्मात् व्याप्तिसंस्कार से युक्त होने के कारण व्याप्तिज्ञान करण है, अर्थात् व्याप्ति ज्ञान, संस्कार द्वारा अनुमिति में करण होता है।

परन्तु नैयायिक तृतीय लिंगपरामर्श को ही अनुमिति के प्रति करण कहते हैं। महानस में जब धूम और अग्नि की व्याप्ति ज्ञात होती है तब धूम का जो ज्ञान होता है, वह प्रथम लिंगज्ञान (हेतुज्ञान = धूमज्ञान) है। उसके बाद वह व्यक्ति वन में जाता है। वहां उसे पर्वत पर धूम दीखता है—यह द्वितीय लिंगज्ञान है। और उसके बाद 'यह पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है' ज्ञान होता है, इसमें भी 'धूम' विषय है। इसलिये यह तृतीय लिंगज्ञान है। और यही परामर्श कहलाता है। इसके अनन्तर अग्रिम क्षण में ही 'पर्वत वह्निमान् है' अनुमिति होती है। इसलिये यह तृतीय लिंगपरामर्श (वह्नि व्याप्यत्व = व्याप्ति रूप धर्म से पर्वतनिष्ठ धूमज्ञान) ही अनुमिति का करण है—यह मानना होगा। इनके मत में 'जो असाधारण कारण हो वही करण है' ऐसा करण का लक्षण है। इस कारण वे मध्य में (बीच में) व्यापार नहीं मानते। तात्पर्य यह है कि—प्रथमतः 'पर्वत धूमवान् है' यह ज्ञान होता है। अनन्तर 'जहां धूम रहता है वहां अग्नि भी रहती है' अर्थात् धूम वह्निव्याप्य है—इस प्रकार व्याप्ति का स्मरण होता है।

तदनन्तर 'व्याप्तिविशिष्ट (व्याप्ति से युक्त) धूम पर्वत पर है इस प्रकार तृतीय ज्ञान होता है—यही लिंगपरामर्श है। तदनन्तर उत्तर क्षण में ही अनुमिति होती है। इसलिये यह तृतीय लिंगपरामर्श ही अनुमितिकरण (अनुमान) है।

परन्तु नैयायिकों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। क्योंकि पक्षधर्मताज्ञान ('पर्वत धूमवान् है' इस प्रकार पक्षपर हेतु का ज्ञान) से महानस में गृहीत व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध (जागृत) होता है, तदनन्तर व्याप्ति का स्मरण होते ही वह्नि की अनुमिति होती है। परन्तु लिंगज्ञान या पक्षधर्मताज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं होती। इस अन्वय-व्यतिरेक से (संस्कार उद्बुद्ध होने पर व्याप्तिस्मरण यदि हुआ तो अनुमिति होती है, यह अन्वय, और संस्कारोद्बोध के अभाव में अनुमिति नहीं होती, यह व्यतिरेक) अनुमिति में व्याप्तिज्ञान ही कारण है, परामर्श, अनुमिति में कारण नहीं है, यह सिद्ध होता है। क्योंकि 'परामर्शसत्त्वे अनुमितिः, परामर्शाभावे अनुमित्यभावः' परामर्श होने पर ही अनुमिति होती है, और उसके न होने पर नहीं होती, इस प्रकार परामर्श के विषय में अन्वयव्यतिरेक नहीं दिखाये जा सकते। क्योंकि जब पक्षधर्मता ज्ञान और व्याप्तिज्ञान के कारण ही अनुमिति होती है तब बिना परामर्श के भी वह होती है—यह अनुभव है। इस कारण व्यतिरेकव्यभिचार हो जाता है। इसलिये परामर्श को अनुमिति का कारण नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में उसे, करण (असाधारण कारणस्वरूप) कहना कैसे संभव है ? 'कारण' शब्द सामान्य

कारण का वाचक है और उनमें से जो असाधारण हो उसे ही 'करण' संज्ञा है। अर्थात् 'कारणत्व' व्यापक (करणत्व की अपेक्षा अधिक देश में रहनेवाला) धर्म है और 'करणत्व' उसका व्याप्य (कारणत्व की अपेक्षा न्यून देश में रहनेवाला) धर्म है । 'जहां व्यापक नहीं होता वहां व्याप्य भी नहीं होता' अर्थात् परामर्श जब अनुमिति के प्रति कारण ही नहीं तब वह 'करण' नहीं यह पृथक् कहना आवश्यक नहीं है।

जिस प्रकार लिंगपरामर्श अनुमिति के प्रति करण नहीं उसी प्रकार ज्ञायमान (ज्ञात होनेवाला) लिङ्ग (हेतु) भी अनुमिति के प्रति करण नहीं हो सकता अर्थात् मूलस्थ 'तृतीय लिंगपरामर्श' शब्द, गायमान लिंग का उपलक्षक है। ज्ञान में विषय होनेवाला लिंग ही अनुमिति के प्रति करण है, ऐसा मानने पर 'पर्वतो वह्निमान् भविष्यद्धूमात्' (पर्वत वह्निमान् है क्योंकि उस पर अग्रिम क्षण में ही धूम उत्पन्न होगा) आदि स्थलों में सबको जो अनुमिति होती है वह नहीं होगी। क्योंकि उस समय वहां लिंग नहीं है। इसलिये वहां पर उसके कारणत्व का व्यभिचार होता है। अतः उसमें करणत्व तो है ही नहीं। अतः प्राचीन नैयायिकों का यह मत ठीक नहीं है। इसलिये व्याप्तिज्ञान ही करण है।

आपके कथनानुसार व्याप्तिज्ञान ही संस्कार द्वारा अनुमिति का करण मान लिया जाय तो अनुमिति को संस्कारजन्य मानना होगा। और संस्कार-जन्यज्ञान, स्मृतिरूप होने से, अनुमिति को भी स्मृति कहना होगा। इस आशंका का निराकरण करते हैं—

न च संस्कारजन्यत्वेनानुमितेः स्मृतित्वापत्तिः, स्मृतिप्रागभावस्य संस्कारमात्रजन्यत्वस्य वा स्मृतित्वप्रयोजकतया संस्काध्वंससाधारणसंस्कारजन्यत्वस्य तदप्रयोजकत्वात् ।

अर्थ—अनुमिति को व्याप्तिज्ञान संस्कारजन्य मान लिया जाय तो उस अनुमिति को 'स्मृति' कहना होगा। क्योंकि 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' संस्कार से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं—यह स्मृति का लक्षण अनुमिति पर घटित होता है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि स्मृतिप्रागभापजन्यत्व, या केवल संस्कारजन्यत्व स्मृतित्व का प्रयोजक (कारण) माना गया है। इस कारण संस्कारध्वंस और स्मृति दोनों को साधारण ऐसा 'संस्कारजन्यत्व' रूप प्रयोजक, स्मृति का नहीं माना जा सकता।

विवरण—प्रथमतः महानस में व्याप्तिज्ञान होने पर, उसका अन्तः-करण पर सूक्ष्म संस्कार होता है। वही संस्कार पर्वत पर धूम के देखने पर

उद्बुद्ध होता है, तदनंतर व्याप्ति का स्मरणात्मक ज्ञान होता है ततः पश्चात् अनुमिति होती है यह क्रम है। इस क्रम को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याप्तिज्ञान से संस्कार और संस्कार से अनुमिति होती है। अर्थात् अनुमिति में संस्कार कारण है।

परन्तु संस्कार को अनुमिति में कारण कहने पर 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण अनुमिति में घटित हो जाने से अनुमिति को भी स्मृति कहना होगा। किन्तु यह अभीष्ट नहीं है। क्योंकि स्मृति, अनुभवरूप नहीं है, और अनुमिति अनुभवरूप है, और 'मैंने कल वह्नि का अनुमान किया था' ऐसी अनुमिति की स्मृति, अनुभवसिद्ध है। इसलिये व्याप्तिज्ञान करण और संस्कार अवान्तर व्यापार है ऐसा आप भी नहीं कह सकते। अर्थात् आपके पक्ष में भी दोष है—शंकाकार का शंका करने में यह आशय था।

संस्कारजन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं—यह स्मृति का लक्षण गृहीत कर वादी ने यह शंका की थी। परन्तु 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि वह स्मृति और संस्कारध्वंस दोनों के लिये साधारण है। अर्थात् वह लक्षण केवल स्मृति में ही घटित न होकर संस्कारध्वंस में भी घटित होता है। कारण, संस्कारनाश भी संस्कारजन्य ही होता है। संस्कार ही यदि नहीं होगा तो नाश किसका होगा?

'ध्वंसं प्रति प्रतियोगिनः कारणत्वम्' ध्वंस में प्रतियोगी, कारण होता है—यह नियम है। अर्थात् अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण 'संस्कार-जन्यत्व' यह स्मृति का निर्दुष्ट लक्षण नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'संस्कारजन्यत्व' स्मृति का प्रयोजक नहीं है। इसीलिये अनुमिति में संस्कार-जन्यत्व होने पर भी 'स्मृतित्व' नहीं आ पाता। क्योकि 'संस्कारजन्यत्व' स्मृति का लक्षण ही नहीं है।

'संस्कारजन्यत्व' यदि स्मृति में प्रयोजक नहीं है तो स्मृति में कौन प्रयोजक है?

'स्मृतिप्रागभावजन्यत्व' या 'संस्कारमात्रजन्यत्व' को स्मृति का प्रयोजक समझना चाहिये।

प्रागभाव का अर्थ है—कार्य की उत्पत्ति से पूर्व स्थित, कार्य का अभाव। जिसका प्रागभाव रहता है उसी की उत्पत्ति होती है इसलिये प्रत्येक कार्य में उसका प्रागभाव, कारण होता है। इस नियम के अनुसार स्मृति के प्रति भी उसका प्रागभाव कारण है ही। इस कारण—

स्मृतिप्रागभावजन्यत्व को ही स्मृति का प्रयोजक मानना पड़ता है। 'स्मृतिप्रागभावजन्यत्व' रूप स्मृतिलक्षण मानने पर संस्कारध्वंस में अति-

व्याप्ति नहीं होती । क्योंकि संस्कारध्वंस, स्मृतिप्रागभावजन्य नहीं है, अपितु संस्कारजन्य है । इसलिये स्मृतिप्रागभावजन्यत्व ही स्मृतित्व में प्रयोजक है ।

शंका—प्रत्येक कार्य के प्रति यदि उसका प्रागभाव कारण होता है तो प्रत्येक कार्य का 'तत्तत्प्रागभावजन्यत्व' ही लक्षण किया जाय । फिर किसी भी कार्य के प्रति दूसरा प्रयोजक मानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । 'गो' का लक्षण 'गोप्रागभावजन्यत्व' ही करना चाहिये । तब प्रत्येक पदार्थ के भिन्न-भिन्न लक्षण जो किये गये हैं वे सब व्यर्थ होंगे । ऐसी स्थिति में स्मृतिप्रागभावजन्यत्व को स्मृति का प्रयोजक कैसे माना जा सकता है ? सिवाय स्मृतिलक्षण स्मृतिघटित होने से आत्माश्रय दोष भी आता है ।

समाधान—वादी का उपर्युक्त कथन ठीक है । इस अरुचि के कारण ही 'संस्कारमात्रजन्यत्वं वा' यह दूसरा स्मृतिप्रयोजक बताया गया है । इस पक्ष में कोई दोष नहीं आने पाता ।

यद्यपि संस्कारध्वंस, संस्कारजन्य है तथापि संस्कारमात्रजन्य (केवल संस्कारजन्य) नहीं है । क्योंकि संस्कारध्वंस के प्रति चिरतरकालीन उद्बोधाभाव (चिरकाल संस्कारोंका उद्बोध, न होना) भी कारण होता है । परन्तु स्मृति को संस्कार के सिवाय किसी भी कारण की अपेक्षा नहीं होती। अनुमिति, लिंगज्ञानादि असाधारण कारणजन्य है अर्थात् संस्कारमात्रजन्य नहीं है । इसलिये उसे स्मृतित्व प्राप्त नहीं होता । 'संस्कारमात्रजन्यत्व' का अर्थ है कि संस्कार से जो अन्य, उससे जन्य न होकर केवल संस्कारजन्य । अनुमिति, संस्कारजन्य होने पर भी, संस्कार से भिन्न जो व्याप्तिज्ञान उससे भी वह उत्पन्न होती है । इसलिये अनुमिति को स्मृति नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न भिन्न हैं ।

शंका—अनुमिति में स्मृतित्वापत्ति न होने पर भी आपके पक्ष में अन्यान्य दोष तो आते ही हैं । क्योंकि जब व्याप्तिस्मरण से अनुमिति होती है तब संस्कार, स्मृति को उत्पन्न कर नष्ट हो जाते हैं । परन्तु ऐसे स्थल में अनुमिति का होना तो अनुभवसिद्ध है । किन्तु आपके कथनानुसार संस्कार (व्यापार) तो वहाँ है नहीं। इस कारण संस्कारजन्यत्व व्यभिचरित होता है ।

ग्रन्थकार इस शंका का अनुवाद कर समाधान करते हैं—

न च यत्र व्याप्तिस्मरणादनुमितिस्तत्र कथं संस्कारो हेतुरिति वाच्यम् । व्याप्तिस्मृतिस्थलेऽपि तत्संस्कारस्यैवानुमितिहेतुत्वात् । न हि स्मृतेः संस्कारनाशकत्वनियमः, स्मृतिधारादर्शनात् । न चानुद्बुद्धसंस्कारादप्यनुमित्यापत्तिः, तदुद्बोधस्यापि सहकारित्वात् ।

अर्थ—जहां व्याप्तिस्मरण से अनुमिति होती है वहां संस्कार को ही उसकी कारणता कैसे ? यह शंका आपको नहीं करनी चाहिये। क्योंकि जहाँ व्याप्तिस्मृति से अनुमिति होती है वहाँ भी व्याप्ति के संस्कार को ही अनुमिति हेतुत्व होता है। स्मृति को नियम से संस्कारनाशकत्व भी नहीं होता। अर्थात् स्मृति के प्रति कारणीभूत अनुभवजन्य संस्कार का स्मृति उत्पन्न होने पर नाश होने का कोई नियम नहीं है। क्योंकि धारावाहिक (स्मृति का सतत होते रहना) स्मृति का सभी को अनुभव है। यह भी शंका ठीक नहीं होगी कि 'स्मृति में संस्कारनाशकत्व यदि न मानें तो अनुद्बुद्ध (उद्बुद्ध न हुए) संस्कार से भी अनुमिति होने का प्रसंग आवेगा।'

क्योंकि स्मृति के प्रति संस्कारोद्बोध में भी सहकारि कारणता होने से स्मृति होने से पूर्व संस्कारोद्बोध होना ही चाहिये।

संस्कारोद्बोध का अर्थ है कि संस्कारों की जागृति = कार्योन्मुखत्व।

विवरण—व्याप्ति का स्मरण होने पर जहां अनुमिति होती है वहां संस्कारजन्यत्व कहां है ? इससे यह प्रतीत होता है कि संस्कारजन्यत्व व्यभिचरित है। क्योंकि व्याप्ति का स्मरण होने पर संस्कार का नाश हो जाता है। परन्तु ऐसी शंका करना ठीक नहीं।

क्योंकि व्याप्तिस्मृति से जहां अनुमिति होती है वहां भी हम व्याप्ति के संस्कार को ही अनुमिति में हेतु मानते हैं। क्योंकि 'स्मृति के होने पर उसके कारणभूत संस्कार नष्ट होते हैं', ऐसा सिद्धान्त हमारा नहीं है। इस कारण संस्कारजन्यत्व व्यभिचरित नहीं होता।

उपर्युक्त सिद्धान्त न मानने में दो कारण हैं—एक लाघव और दूसरा अनुभव। 'स्मृति होते ही पूर्व संस्कार नष्ट होते हैं। यह मानने पर उसी विषय की पुनः स्मृति होने पर अग्रिम स्मृति में कारण होनेवाला दूसरा ही संस्कार मानना पड़ेगा। अग्रिम स्मृति होने पर पूर्वस्मृतिजन्य संस्कार भी नष्ट हो गया, तब तीसरी स्मृति के समय दूसरी स्मृति से उत्पन्न हुआ संस्कार मानना होगा। ऐसे अनन्त संस्कारों की कल्पना करने की अपेक्षा एक व्याप्ति संस्कार को ही अनुमिति के प्रति कारण मानने में लाघव है। और अनुभव भी ऐसा ही है। व्याप्ति के संस्कार से व्याप्ति का स्मरण होता है—यह अनुभव कहीं भी बाधित नहीं है। स्मृति परंपरा का अनुभव होने से स्मृति को संस्कार नाशकत्व नहीं है। परन्तु तार्किक लोग 'स्मृति को उत्पन्न कर स्मृतिजनक संस्कार नष्ट हो जाता है, क्योंकि संस्कार स्मृति के लिये ही रहता है और स्मृति को उत्पन्न कर वह कृतकार्य हो जाता है। इस कारण संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति होने पर संस्कार का नाश होना अवश्यंभावी है' ऐसा मानते हैं।

तार्किकों के इस (स्मृति के होते ही पूर्व संस्कार का नाश होता है) अभ्युपगम के अनुसार यदि विचार किया जाय तो स्मृतिपरंपरा में द्वितीय तृतीय स्मृति की उत्पत्ति का कोई कारण ही नहीं रहता। पहली स्मृति में कारण बने हुए एक संस्कार का नाश होने पर भी दूसरे संस्कार से स्मृति होगी' यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि इस पक्ष में अनंत संस्कारों की कल्पना करनी पड़ती है, जो कि गौरव दोष से दूषित है। और ऐसा मानने में अनुभव या अन्य कोई प्रमाण भी नहीं है।

शंका—संस्कार व्यक्तियों का आनन्त्य न होने पर भी उद्‌बोधक के सहित स्थित एक संस्कार से जो एक स्मृति उत्पन्न होती है, वह ही स्वयं नष्ट होते होते दूसरे संस्कार को उत्पन्न कर के नष्ट होती है। फिर वह उत्पन्न हुआ संस्कार उससे अग्रिम स्मृति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार स्मृति-परंपरा (धारा) का होना युक्तियुक्त होता है।

समाधान—तार्किकों की यह कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती। स्मृति के होते ही उसके कारणभूत संस्कार का नाश होता है, ऐसी कल्पना करने की अपेक्षा जिस अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न हुआ वही संस्कार, उद्‌बोधक निमित्त से युक्त होने पर उससे स्मृति उत्पन्न होती है। परन्तु उस संस्कार से उत्पन्न हुई स्मृति, अपने उत्पादक संस्कार का नाश नहीं करती, किन्तु स्वजनक उस संस्कार को अधिक दृढ करती है। अतः स्मृति, स्वजनक संस्कार का नाश करती है, ऐसी कल्पना करने की अपेक्षा वह स्वजनक संस्कार को दृढ करती है, ऐसी कल्पना करने में ही अतिशय लाघव है। कल सुने हुए शास्त्रार्थ का आज स्मरण होता है और उस स्मरण से पूर्व संस्कार दृढ होता है। इससे यह स्पष्ट है कि स्मृति, स्वजनक संस्कार का नाश नहीं करती। श्रुत शास्त्रार्थ का स्मरण होने पर यदि उसके कारणभूत संस्कारों का नाश हुआ होता, और उस स्मृति के द्वारा अन्य नवीन ही संस्कार उत्पन्न किया होता तो शास्त्रार्थ में दृढत्व कैसे आता ?

सिवाय संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति, और स्मृति के होने पर उत्पन्न होनेवाले संस्कार के द्वारा ही स्मृति का नाश होता है, यह यदि माना जाय तो संस्कार को ही स्मृतिजनकत्व और उसका विनाशकत्व है, यह कहना होगा। इसी प्रकार स्मृति से उत्पन्न हुए संस्कार में ही स्मृतिजन्यत्व और नाश्यत्व है, यह भी कहना होगा। इस प्रकार अनेक विरुद्ध पदार्थों की कल्पना करनी पड़ती है। 'स्मृति को संस्कारनाशकत्व है' यह पक्ष श्रेयोवह नहीं है।

'संस्कार ही अनुमिति में हेतु है' यह मानने पर उद्‌बुद्ध न हुए संस्कार से भी अनुमिति होने लगेगी—यह आशंका उचित नहीं है। क्योंकि पक्ष-

धर्मताज्ञानजन्य संस्कार का उद्‌बोध होना भी अनुमिति में सहकारि कारण है, अर्थात् उद्‌बुद्ध संस्कार से ही अनुमिति होती है।

एवं च अयं धूमवानिति पक्षधर्मताज्ञानेन, धूमो वह्निव्याप्य इत्यनुभवाहितसंस्कारोद्‌बोधे च सति, वह्निमानित्यनुमितिर्भवति, न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं तज्जन्यवह्निव्याप्यधूमवानित्यादिविशेषणविशिष्टं ज्ञानं वा हेतुत्वेन कल्पनीयम्, गौरवात् मानाभावाच्च।

अर्थ—इस प्रकार 'यह धूमवान् है' ऐसा पक्षधर्मताज्ञान होने पर और 'धूम वह्निव्याप्य है' इस अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार का उद्‌बोध होने पर 'वह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति होती है। परन्तु पक्षधर्मताज्ञान और अनुमितिज्ञान इन दोनों में व्याप्ति का स्मरण या तज्जन्य (व्याप्तिजन्य) वह्निव्याप्य धूमवान् इत्यादि विशेषणविशिष्ट ज्ञान, इनमें से किसी की भी अनुमिति के प्रति हेतुरूप से कल्पना करना योग्य नहीं है। क्योंकि कल्पना करने में गौरव दोष है तथा कोई प्रमाण भी नहीं है।

विवरण—पूर्वोक्त प्रकार से व्याप्तिज्ञान में अनुमिति का करणत्व है। और व्याप्तिज्ञान का संस्कार व्यापार है। तथा पक्षधर्मताज्ञानजन्य संस्कारोद्‌बोध; सहकारी है।

इतना होनेपर 'यह पर्वत वह्निमान् है' ऐसी अनुमिति होती है।

इस कारण पूर्वोक्त अनुमिति की सामग्री और अनुमिति इन दोनों में गौरव दोष के तथा प्रमाणाभाव के कारण परामर्श आदि की कल्पना की आवश्यकता नहीं है।

'पर्वतो वह्निमान्' इसे एक ही अनुमित्यात्मक ज्ञान समझनेवालों के निराकरणार्थ सिद्धान्ती कहता है—

तच्च व्याप्तिज्ञानं वह्निविषयकज्ञानांश एव करणम्, न तु पर्वतविषयकज्ञानांश इति पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवानुमितित्वं न पर्वताद्यंशे, तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात्।

अर्थ—और वह व्याप्तिज्ञान वह्निविषयक ज्ञान अंश में ही करण है, पर्वतविषयक ज्ञान अंश में नहीं। इसलिये 'पर्वतवह्निमान् है' इस ज्ञान को वह्नि अंश में ही अनुमितित्व है, पर्वत आदि अंश में नहीं। पर्वत आदि अंश में उस ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है। यह हमने प्रत्यक्षपरिच्छेद में उपपादन किया है।

विवरण—प्रत्यक्ष परिच्छेद में—जिस अनुमितिज्ञान में पक्ष, इन्द्रियसन्निकृष्ट रहता है उस अनुमितिज्ञान में अनुमित वह्नि-आदि अंश में ज्ञान को अनुमितित्व रहता है और इन्द्रियसन्निकृष्ट पर्वत आदि अंश में प्रत्यक्षत्व रहता है—उपपादन किया है। 'मैं पर्वत को देखता हूँ और वह्नि का अनुमान करता हूँ' यही अनुभव में आता है। इसलिये वहां अनुमिति और प्रत्यक्ष, दो प्रकार का ज्ञान मानना पड़ता है। जातित्व, उपाधित्व आदि तार्किकों की परिभाषा में कोई प्रमाण नहीं है, यह पीछे कह चुके हैं। इसकारण एक ही ज्ञान में अंश भेद से परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व के होने में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त उपपादन से 'अनुमिति में कारण व्याप्तिज्ञान है' यह सिद्ध होने पर भी व्याप्ति का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न पैदा होता है। इसलिये ग्रन्थकार अग्रिम ग्रन्थ से व्याप्ति का स्वरूप बताते हैं।

व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा। सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते। तच्च सहचारदर्शनं भूयो दर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्।

अर्थ—अशेष साधनों का जो आश्रय, तदाश्रित जो साध्य, उससे हेतु का जो सामानाधिकरण्य—यही व्याप्ति है। और उस व्याप्ति का ग्रहण, व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार के दर्शन से होता है। उस सहचारदर्शन में भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन रूप विशेष का कोई आदर नहीं है क्योंकि उस व्याप्ति में प्रयोजक सहचारदर्शन ही है।

विवरण—व्याप्तिस्वरूप क्या है? यह प्रश्न है। उसका उत्तर यह है कि—'अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यम्।' इसका अर्थ इस प्रकार है—अशेष = समस्त, साधन = धूम, के आश्रय = पर्वत आदि, के आश्रित = अग्न्यादि साध्य, के साथ हेतु का (धूम का) सामानाधिकरण्य ही जिसका रूप है, वह व्याप्ति है। इसी का निष्कृष्ट लक्षण इस प्रकार है—'साधनतावच्छेदकावच्छिन्नसाधनाश्रयाश्रितसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा' इस लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा। 'वह्निमान् धूमात्' इस अनुमिति में धूम, साधन है। साधनता, धूमनिष्ठ है। साधनता का अवच्छेदक धूमत्व है। उस धूमत्व से अवच्छिन्न (पर्वत, चत्वर, आदि भिन्न-भिन्न स्थान के साधनरूप) धूम व्यक्तियां हैं। उनकी आश्रय पर्वत आदि पदार्थ हैं, उन्हीं का आश्रय की हुई, साध्यतावच्छेदकरूप वह्नित्व से

अवच्छिन्न वह्निरूप साध्य व्यक्तियों, के साथ धूमव्यक्तियों का सामानाधिकरण्य (पर्वतादि समान अधिकरण पर वृत्तित्व) होना ही व्याप्ति का स्वरूप है। अर्थात् पर्वत आदि पक्ष पर धूम और अग्नि का होना 'यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' इस आकार का जो सामानाधिकरण्य (एकाधिकरणवृत्तित्व) वही व्याप्ति का स्वरूप है। इस प्रकार व्याप्ति का लक्षण करने से, किसी एक वह्नयादि साधन व्यक्ति के आश्रय महानसादि में रहनेवाले किसी एक धूमादि साध्य का सामानाधिकरण्य ग्रहण कर 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' यह यदि किसी ने अनुमान किया तो वह्निरूप असद्हेतु में व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति होगी—ऐसी आशंका करने पर उसका निवारण इस प्रकार होगा—महानस में अग्नि है, इसलिये महानस उसका आश्रय है। महानस में उसके आश्रय से धूम भी रहता है। इसलिए महानस की अग्नि को साधन बनाकर, और महानस के ही धूम को साध्य बनाकर उन दोनों का सामानाधिकरण्य है अर्थात् ये दोनों एक ही अधिकरण महानस में रहते हैं। इसी आधार पर जहां अग्नि वहां धूम, ऐसी व्याप्ति मानकर (१) पर्वत धूमवान् है (२) क्योंकि उसपर अग्नि है' यह अनुमान यदि कोई करे तो इसमें अग्नि रूप हेतु सत् न होकर असत है, क्योंकि वह्नि व्याप्य धूम की तरह धूम व्याप्य वह्नि नहीं है। अयोगोलक में (तपाकर लालकिये हुए लोहेके गोले में) अग्नि होता है, किन्तु धूम नहीं होता। इसलिये वह्नि सत् हेतु नहीं है, किन्तु व्यभिचारी है। यहां पर साधनतावच्छेदक (वह्नित्व) से अवच्छिन्न—समस्त वह्नियों के आश्रय महानस, पर्वत, तप्तायोगोलक इ० इनमें से अयोगोलक रूप आश्रयपर साध्यतावच्छेदक (धूमत्व) से अवच्छिन्न हुआ एक भी धूम नहीं है। इस कारण उनका (वह्नि और धूम का) पूर्वोक्त सामानाधिकरण्य नहीं दिखाया जा सकता। इसलिये व्याप्ति का लक्षण वह्नि रूप असत् हेतु पर अतिव्याप्त नहीं है।

शंका—ऐसी व्याप्ति का ग्रहण किस प्रमाण से होता है? तर्क से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करना रूप जो तर्क है, वह व्याप्ति के अधीन है। सहचारदर्शन से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि दो पदार्थों का साहचर्य एक बार या बार-बार दीखने पर भी उसका (साहचर्य का) क्वचित् व्यभिचार भी दिखाई देता है। इस शंका का समाधान 'सा च०' ग्रन्थ से किया है। व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार दर्शन से उस व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है। जैसे धूम अग्नि का व्यभिचार दिखाई न देते हुए उनका सहचार दीखने से ही धूम वह्नि व्याप्य है, यह ज्ञान होता है। जहाँ धूम हो वहां अग्नि अवश्य ही होती है। धूम है और अग्नि न हो, यह कभी नहीं होता।

इस रीति से धूम और अग्नि के व्यभिचार का अनुभव न आकर सहचार के अनुभव होने से ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है। दो पदार्थों का नियमेन एकत्र दीखना ही सहचारदर्श है। चाहे वह अनेक बार देखने से हुआ हो या एकबार के देखने से हुआ हो। केवल व्यभिचारशून्य सहचार दर्शन की आवश्यकता है अर्थात् जिनका सहचार ज्ञात हुआ हो उनकी व्याप्ति का ग्रहण होता है और जिनका सहचार ज्ञात नहीं हुआ उनकी व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता। इस अन्वय व्यतिरेक के द्वारा सहचार दर्शन ही व्याप्तिज्ञान में हेतु है, यह लाघव से सिद्ध होता है। इसलिये सहचारदर्शन में ही व्याप्ति का प्रयोजकत्व है। भूयो दर्शन या सकृद्दर्शन उसमें प्रयोजक नहीं है।

इसरीति से अनुमिति में व्याप्तिज्ञान करण होने से उसे ही अनुमानत्व है। यह सिद्ध कर अब वेदान्त सिद्धान्त में नैयायिकों की तरह अनुमान का त्रिविधत्व (तीन प्रकार) स्वीकार नहीं किया है, इस आशय से ग्रन्थकार कहते हैं—

तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव। न तु केवलान्वयि। सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वरूपकेवलान्वयित्वस्यासिद्धेः।

अर्थ—और वेदान्तमत में वह अनुमान अन्वयिरूप एक ही है। केवलान्वयि नहीं। क्योंकि हमारे मत में समस्त धर्म, ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होने से, जिस अनुमान का साध्य, अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी हो ऐसे केवलान्वयी की असिद्धि है।

विवरण—नैयायिक केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि भेदसे तीन प्रकार का लिंग (हेतु) मानते हैं। किन्तु वेदान्त सिद्धान्त में अन्वयिरूप एक ही लिङ्ग का स्वीकार किया गया है। अन्वयिरूप का अर्थ है अन्वयमुख व्याप्तिज्ञानरूप।

शंका—नैयायिकों के बताये हुए लिंग के तीन भेद लोक में प्रसिद्ध हैं, तब आप एक ही प्रकार का अनुमान किस तरह स्वीकार कर रहे हैं ?

समाधान—नैयायिकों के पहले भेद का निराकरण 'नतु केवलान्वयि'-ग्रंथ से किया है। नैयायिकों के कथनानुसार—केवलान्वयि लिंग हमें मान्य नहीं है। हम तो अन्वयिरूप एक ही लिंग मानते हैं। क्योंकि उनके स्वीकृत केवलान्वयि लिंग का साध्य, अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होता है, अर्थात् केवलान्वयि लिंग का साध्य, कभी भी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं हुआ करता। (केवलान्वयि लिंग के साध्य का अभाव कभी नहीं रहता)। परन्तु हमारे मत में ऐसा कोई साध्य पदार्थ

ही संभव नहीं है। क्योंकि 'नेहनानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से ब्रह्मातिरिक्त समस्त वस्तुओं में ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रहता है। अर्थात् ब्रह्म में रहने वाला समस्त वस्तुओं का जो अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता समस्त वस्तुओं में है। (ब्रह्म में कोई भी द्वैत वस्तु नहीं होती) इस कारण अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यक ऐसे केवलान्वयित्व की सिद्धि नहीं हो पाती।

इस प्रकार नैयायिकाभिमत तीनों लिङ्गों में से केवलान्वभी रूप पहले भेद का निराकरण कर केवल व्यतिरेकी रूप दूसरे भेद का निराकरण करते हैं—

नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकिरूपत्वम्। साध्याभावे साधनाभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात्। कथं तर्हि धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमितिः ? अर्थापत्तिप्रमाणादिति वक्ष्यामः।

अर्थ—केवलव्यतिरेकि अनुमान भी नहीं हो सकता (अनुमान में केवलव्यतिरेकि रूपता भी नहीं है) क्योंकि साध्य के अभाव में साधनाभाव निरूपित व्याप्तिज्ञान का, साधन के द्वारा साध्य की अनुमिति कर्तव्य होने पर (करनी हो तो) कोई उपयोग नहीं है।

शंका— धूमादि हेतु के होने पर अन्वय व्याप्ति का ज्ञान न रखने वाले व्यक्ति को भी व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से ही अग्नि की अनुमिति कैसे हो जाती है ?

समाधान—वह अनुमिति अर्थापत्ति प्रमाण से होती है यह हम आगे बतावेंगे।

विवरण—व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होने वाली अनुमिति का कारणत्व ही, व्यतिरेकित्व है। नैयायिकों ने व्यतिरेकव्याप्ति का परिष्कृत लक्षण किया है—'साध्याभावव्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्वं-व्यतिरेकव्याप्तिः' साध्य का अभाव जहां हो वहां नियम से रहने वाला जो साधन का अभाव, उसका प्रतियोगित्व ही व्यतिरेक व्याप्ति कहलाती है। यथा— साध्य (अग्नि) का जहाँ अभाव रहता है वहां साधन (धूम) का भी अभाव रहता है। इसलिये धूम, साध्याभावव्यापकीभूत अभाव का प्रतियोगी होता है। उसका इस प्रकार प्रतियोगी होना (जहां वह्नि का अभाव हो वहां धूम का भी अभाव रहना) ही व्यतिरेकव्याप्ति है। धूम का सत्व (अस्तित्व) यदि हो तो वन्हि का भी सत्व (अस्तित्व) रहता है। इस

कारण व्याप्य (धूम) से व्यापक (वह्नि) की कल्पना हो सकती है। परन्तु दो अभावों का कार्यकारणभाव और व्याप्यव्यापकभाव इसके विपरीत रहता है। यथा—जहां जहां वन्हि का अभाव रहता है, वहां वहां धूम का भी अभाव रहता है। इस कारण साध्य जो अग्नि; उसके अभाव से, साधन जो धूम; उसका अभाव, सिद्ध किया जाता है। परन्तु उसका अनुमिति के लिये क्या उपयोग ? अर्थात् कोई उपयोग नहीं। इससे अधिक से अधिक लाभ हुआ तो साध्य के अभाव से साधन का अभाव सिद्ध होगा, परन्तु साध्य की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि साधन से साध्य का अनुमान किया जाता है। यह प्रसिद्ध है, और उस अनुमिति में साध्य साधन का व्याप्तिज्ञान, उपयुक्त है। परन्तु साध्याभाव और साधनाभाव के—व्याप्तिज्ञान का अनुमिति में कोई उपयोग नहीं है। (१) पृथ्वी, इतर (अन्य) से भिन्न है, (२) गन्धवत्व के कारण, (३) जो इतर से भिन्न नहीं रहता, वह गन्धवत् भी नहीं रहता जैसे जलादि' इत्यादि केवल व्यतिरेकिलिंग के उदाहरण नैयायिकों ने दिये हैं। परन्तु वास्तव में ये सब उदाहरण, अर्थापत्ति प्रमाण के उदाहरण हैं। क्योंकि गन्धवत्व, इतर भेद का उपपादक है, अर्थात् पृथ्वी का गन्धवत्व ही 'पृथ्वी इतरों से भिन्न है' यह ज्ञान करा सकता है।

शंका—अन्वय व्याप्ति का ज्ञान न रहने पर भी व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञान से भी अनुमिति होती है। अर्थात् 'जहां धूम रहता है वहां अग्नि होता है' इत्याकरक अन्वय व्याप्ति का जिसे ज्ञान नहीं है ऐसे व्यक्ति को भी 'जहां अग्नि नहीं है वहां धूम भी नहीं है। इत्याकारक व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से भी अनुमिति हो सकती है। परन्तु अन्वयिरूप एक ही लिंग को मानने वाले आप के मत में वह अनुमिति कैसे उपपन्न हो सकेगी ?

समाधान—जिसे अन्वयव्याप्ति का ज्ञान नहीं रहता उसे अर्थापत्ति प्रमाण से अग्नि आदि का ज्ञान होता है। अनुमान से नहीं। इस कारण आप की उपर्युक्त शंका ही ठीक नहीं है। अर्थापत्तिप्रमाण की आवश्यकता को हम आगे बतावेंगे। आप के व्यतिरेकि अनुमान का अर्थापत्ति प्रमाण में अन्तर्भाव हो सकता है। इसलिये व्यतिरेकि अनुमान, पृथक्तया मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

अब नैयायिकों के माने हुए तीसरे भेद का निराकरण करते हैं

अत एवानुमानस्य नान्वयव्यतिरेकिरूपत्वं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात्।

अर्थ—इसीलिये अनुमान को अन्वय व्यतिरेकिरूपता भी नहीं है। क्योंकि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान में अनुमिति के प्रति हेतुत्व नहीं है।

विवरण—जब कि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान में अनुमिति जनकत्व नहीं है तब नैयायिकों द्वारा मानी हुई अन्वय, व्यतिरेकि–उभयरूपता, अनुमान में संभव नहीं होती। क्योंकि अन्वयरूप और व्यतिरेकरूप दोनों में से एक अन्वय-व्याप्ति ज्ञान से ही यदि अनुमिति हो सकती है तो व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति हेतु मानना व्यर्थ है। 'व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति के प्रति हेतुत्व नहीं है' यह बात केवल व्यतिरेकि का निराकरण करते समय हम बता चुके हैं।

इस प्रकार 'अन्वयिरूप एक ही अनुमान है' यह सिद्ध कर अब उसका द्विविधत्व बताते हैं—

तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम्। तत्र स्वार्थं तूक्तमेव, परार्थं तु न्यायसाध्यम्। न्यायो नामावयवसमुदायः। अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः, उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा, न तु पञ्चावयवरूपाः। अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुपदर्शनसम्भवेनाधिकावयवद्वयस्य व्यर्थत्वात्।

अर्थ—और वह अनुमान, स्वार्थ और परार्थ भेद से दो प्रकार का (स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान) है। उनमें से स्वार्थानुमान तो बता ही चुके हैं। इसलिये परार्थानुमान को ही बताते हैं। वह न्याय साध्य है। न्याय का अर्थ है अवयवों का समूह। अनुमान के अवयव तीन ही प्रसिद्ध हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन—उन अवयवों के ये तीन स्वरूप हैं। तार्किक लोग पांच अवयव मानते हैं। परन्तु हमारे मत में अनुमान के पांच अवयव नहीं हैं। क्योंकि उपर्युक्त किन्हीं तीन अवयवों से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता का ठीक ठीक ज्ञान होने के कारण अधिक दो अवयवों की कल्पना करना व्यर्थ है।

विवरण—अपने विवाद का विषय बने हुए अर्थ के साधक अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं। अर्थात् अपने मन में किसी विशिष्ट स्थान पर विशिष्ट पदार्थ है या नहीं–ऐसा संशय उत्पन्न होने पर जिस बाह्य प्रत्यक्ष लिंग के ज्ञान से वह निवृत्त हो, वह स्वार्थानुमान है। इस स्वार्थानुमान को पहले ही ('व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार के दर्शन से व्याप्ति का ग्रहण होता है' पीछे बताया है। यह व्याप्ति ज्ञान ही स्वार्थानुमान है) बताचुके हैं।

दूसरी व्यक्ति के विवाद का विषय बने हुए पदार्थ के साधक अनुमान को परार्थानुमान कहते हैं। वह परार्थानुमान न्याय से सिद्ध होता है। यहां 'न्याय' शब्द का अर्थ अवयव समुदाय है, यह मूल में ही बताया है। अर्थात् अवयवघटित वाक्य ही 'न्याय' है। न्याय का परिष्कृत लक्षण इस प्रकार है—'अनुमान प्रयोजक वाक्यार्थ ज्ञान जनकवाक्यत्वं न्यायत्वम्'—अनुमान प्रयोजक जो वाक्यार्थ ज्ञान, उसे उत्पन्न करने वाले वाक्य को ही न्याय कहते हैं। ऐसे ही न्याय से उत्पन्न हुए ज्ञान का प्रयोज्य (कार्य) व्याप्तिज्ञान है और वही परार्थानुमान है। परार्थानुमान के अवयव तीन ही प्रसिद्ध हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण, या उदाहरण, उपनय और निगमन। यथा—'पर्वत वह्नि-मान् है' यह प्रतिज्ञा रूप अवयव का उदाहरण है। 'क्योंकि उस पर धूम है' यह हेतुरूप अवयव है। 'जो जो धूमवान् रहता है वह वह अग्निमान् रहता है, जैसे महानस' यह उदाहरण रूप अवयव है। 'वैसे ही यह पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है' यह उपनय रूप अवयव है। 'इसलिये वह अग्निमान् है' यह निगमन रूप अवयव है। अनुमान के इन पांचों अवयवों को नैयायिक मानते हैं। परंतु वेदान्ती इस प्रकार पांच अवयव नहीं मानते। किन्तु धर्ममीमांसकों के तीन अवयवों का स्वीकार करते हैं। क्योंकि तीन अवयव समुदाय से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता (व्याप्ति विशिष्ट हेतु का पक्ष पर रहना) का ज्ञान यदि होता है तो अधिक दो अवयवों को मानना व्यर्थ है। मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत किये गये पूर्वोक्त दो पक्षों में से पहले पक्ष में उपनय और निगमन का कार्य, हेतु और प्रतिज्ञा के द्वारा हो सकता है। और दूसरे पक्ष में हेतु और प्रतिज्ञा का कार्य, उपनय और निगमन से हो सकता है। इसलिये प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को मानने पर उप-नय और निगमन रूप अधिक अवयवों के मानने की आवश्यकता नहीं है, और उनका स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा और हेतु रूप अवयवों की आवश्यकता नहीं होती। अनुमिति ज्ञान के उपयुक्त ज्ञान को पैदा करना ही सब अवयवों का कार्य है।

इस प्रकार अनुमान का निरूपणकर उसका प्रकृत प्रसंग में उपयोग बताते हैं—

एवमनुमाने निरूपिते तस्माद् ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसिद्धिः। तथा हि, ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वा-द्यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरूप्यम्। न च दृष्टान्तासिद्धिः, तस्य साधितत्वात्। न चाप्रयोजकत्वं शुक्तिरूप्यरज्जुसर्पादीनां मिथ्यात्वे ब्रह्मभिन्नत्वस्यैव लाघवेन प्रयोजकत्वात्।

अर्थ—इस रीति से अनुमान का निरूपण कर चुकने पर अब उसी अनुमान के द्वारा ब्रह्म भिन्न समस्त प्रपञ्च की मिथ्यात्व सिद्धि हो जाती है। तथाहि—ब्रह्मभिन्न (ब्रह्म से भिन्न) सर्व (समस्त पदार्थ जात) मिथ्या (असत्य) है। क्योंकि वह सब ब्रह्मभिन्न है। जो ब्रह्मभिन्न रहता है वह मिथ्या होता है, जैसे शुक्तिरूप्य। 'इस अनुमान में तीसरे दृष्टान्त रूप अवयव की सिद्धि नहीं होती'। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि शुक्तिरूप्य का मिथ्यात्व हमने प्रत्यक्ष परिच्छेद में सिद्ध कर दिखाया है। उसी तरह 'ब्रह्मभिन्नत्व' हेतु अप्रयोजक (साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ) है, यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि शुक्तिरूप्य, रज्जुसर्प आदि के मिथ्यात्व में लाघव से ब्रह्मभिन्नत्व हेतु में ही प्रयोजकत्व है।

विवरण—यहां तक अपने पक्ष में अनुमान का स्वरूप क्या है—बताया। इस तरह के अनुमान से ही 'ब्रह्मभिन्न सर्व प्रपंच मिथ्या है,' यह सिद्ध होता है। मीमांसकों को मान्य ऐसे दो पक्षों में से प्रथम पक्ष, हमें अधिक संमत है इसलिये प्रतिज्ञादि अवयव त्रयात्मक वाक्य का मूल में उपयोग किया गया है। इस अनुमान में 'ब्रह्मभिन्न सर्व' पक्ष है। इसमें 'सर्व' शब्द का प्रयोग, शुक्तिरूप्यादि उदाहरण में सिद्धसाधन दोष के निवारणार्थ किया गया है। और ब्रह्म में बाध प्रसंग के निवारणार्थ 'ब्रह्मभिन्न' कहा गया है। रज्जुसर्पादि उदाहरणों में मिथ्यात्वरूप साध्य की सिद्धि होने पर भी सिद्ध-साधन दोष नहीं आ पाता। क्योंकि अन्यान्यवादियों ने भी 'वाक् और मन दोनों अनित्य हैं' प्रतिज्ञा में अंशतः सिद्ध साधन दोष का स्वीकार किया है।

शंका—शुक्तिरूप्य के मिथ्यात्व में कोई प्रमाण न होने से शुक्तिरूप्य का दृष्टान्त असिद्ध है। उसके मिथ्यात्व में अनुमान प्रमाण कहें तो अनवस्था दोष होगा।

समाधान—शुक्तिरूप्य के मिथ्यात्व का प्रतिपादन हमने प्रथम परिच्छेद में किया है। इसलिये दृष्टान्त असिद्ध नहीं है।

शंका—यह अनुमान अप्रयोजक है अर्थात् सर्व, ब्रह्मभिन्न रहे, परन्तु मिथ्या नहीं। इससे अन्यान्य पदार्थों में सत्यत्व होने पर भी ब्रह्मभिन्नत्व हो सकता है।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि शुक्तिरजतादि के मिथ्यात्व में कारण, अविद्या से अतिरिक्त दोषजन्यत्व न होकर लाघव से ब्रह्मभिन्नत्व ही है। ऐसा लाघवरूप अनुकूल तर्क होने से अनुमान, मिथ्यात्व साधन में अप्रयोजक नहीं है।

शंका—शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थों में जो प्रत्यक्षसिद्ध मिथ्यात्व है, उसका क्या लक्ष्य है ? जिस मिथ्यात्व को आप समस्त प्रपंच में अनुमान से साधन करना चाह रहे हैं।

इस शंका का समाधान—

मिथ्यात्वं (२) च स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। अभिमतपदं वस्तुतः स्वाश्रयाप्रसिद्ध्या असंभववारणाय। यावत्पदमर्थान्तरवारणाय। तदुक्तम्—

सर्वेषामेव भावानां स्वाश्रयत्वेन सम्मते।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता॥ इति। चि० ७।

अर्थ—मिथ्यात्व से यह विवक्षित है कि स्वाश्रय से अभिमत जितनी वस्तु हो, तन्निष्ठ (उसमें रहनेवाला) अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व। इस मिथ्यात्व के लक्षण में 'अभिमत' पद, वस्तुतः स्वाश्रय की अप्रसिद्धि होने से उसपर आनेवाले असंभव दोष की निवृत्ति करने के लिये है और 'यावत्' पद, अर्थान्तर का निवारण करने के लिये है। इसविषय में चित्सुखी में इस प्रकार कहा है—'स्वाश्रय से सम्मत पदार्थ में स्थित अत्यन्ताभाव का सब पदार्थों में प्रतियोगित्व रहता है, यही सब पदार्थों का मिथ्यात्व है।

विवरण—घटादि किसी कार्य की समवाय से स्थिति, कपालादि अपने कारण प्रदेश के अतिरिक्त प्रदेश में नहीं हुआ करती। अर्थात् कपाल, तन्तु आदि कारण, जिस स्थान में होते हैं उससे भिन्न स्थान में घट, पट आदि कार्य हुआ करते हैं ऐसा कोई नहीं मानता, और वे कार्य, कपालादि कारणों में भी नहीं रहते, यह प्रमाण सिद्ध है। परन्तु उसके विपरीत प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। इसलिये सब कार्य मिथ्या हैं। इस विषय में "यदसद्भासमानं तन्मिथ्यास्वप्नगजादिवत्।" जो वास्तव में न हो कर भी भासता हो वह मिथ्या है। जैसे स्वप्नगजादि। यह सांप्रदायिकों का अभ्युपगम है ब्रह्मभिन्न समस्त पदार्थों का मिथ्यात्व बतानेवाले अनुमान प्रमाण का उपन्यास ऊपर हम कर ही चुके हैं। 'परन्तु उस अनुमान का प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होता है, क्योंकि सृष्टि में सभी पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। इसलिये पूर्वोक्त अनुमान से उनका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता' परन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है। क्योंकि चन्द्रबिम्ब, एक प्रादेशमात्र हमें प्रत्यक्ष दीखता है। परन्तु शब्द प्रमाण से उस प्रत्यक्ष प्रत्यय का बाध हो जाता है। इससे जो प्रत्यक्ष दिखाई दे वह सत्य ही है, यह नियम नहीं। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस ब्रह्म में नानात्व (द्वैत) का लेश तक नहीं है। इत्यादि अर्थ के आगम, ब्रह्म

भिन्न वस्तु का निषेध करते हैं। इस कारण समस्त द्वैत, मिथ्या है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार हमने यहां पर घटादि पदार्थों के मिथ्यात्व का केवल दिग्दर्शन करा दिया है।

अब मूल ग्रन्थ को विवृत करते हैं—

स्वाश्रयत्व से अभिमत जितना पदार्थ हो उसमें स्थित जो 'स्व' का (आश्रितका) अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। भाव रूप से स्वीकार किये हुए घटादि पदार्थों के आश्रय रूप से (अधिकरण) अभिमत कपालादि उपादान कारणभूत पदार्थ में विद्यमान, वास्तविकरूपसे (वस्तुतः) घट का जो अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व (घट का वस्तुतः वहां न रहना) ही मिथ्यात्व है। इसी का प्रकृत विषय से संबंधित दूसरा उदाहरण—उपर्युक्त लक्षण में 'स्व' शब्द से समस्त प्रपञ्च की विवक्षा है। उसके आश्रय रूप से ब्रह्म है। इस प्रकार स्वाश्रयत्व से अभिमत ब्रह्म में स्थित समस्त प्रपंच का अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व समस्त प्रपंच में है। अर्थात् ब्रह्म में प्रपञ्च का लेश तक नहीं है, यही प्रपंच का मिथ्यात्व है।

शंका—इस मिथ्यात्व के लक्षण में 'अभिमत' पद का क्यों निवेश किया है? 'स्वाश्रययावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्' इतना ही मिथ्यात्व का लक्षण किया जाय।

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि सभी स्वाश्रयों में स्वात्यन्ताभाव का असंभव (स्वयं के ही अत्यन्ताभाव का जो असंभव, उसका निवारण करने के लिये लक्षणमें 'अभिमत' पद की आवश्यकता है। अन्यथा 'जितना भी स्वाश्रय' शब्द से शुक्त्यादि भी गृहीत हो सकते हैं, उनमें रहने वाला जो अत्यंताभाव अर्थात् शुक्त्यादिकों का ही अत्यन्ताभाव लेना होगा, परन्तु यह तो असंभव ही है। इसलिये लक्षण, असंभव दोष से दूषित होता है, उसके निवारणार्थ 'अभिमत' पद का निवेश, लक्षण में किया गया है। वस्तुतः शुक्त्यादि, रजतादिकों का आश्रय नहीं है, तथापि 'इदं रजतम्' यह भ्रम होने पर शुक्ति को उसका आश्रय मानना पड़ता है। इस प्रकार स्वाश्रयत्व से अभिमत शुक्ति आदि पदार्थों में जो रजतादिकों का अत्यन्ताभाव उसका प्रतियोगित्व, शुक्तिरूप्यादिकों में है, इसलिये लक्षण में 'अभिमत' पद का निवेश करना उचित ही है।

शंका—यदि 'अभिमत' पद के निवेश करने से ही मिथ्यात्व लक्षण का निर्वाह हो जाता है तो पुनः 'यावत्' पद के निवेश की क्या आवश्यकता?

समाधान—लक्षण में 'अभिमत' पद के निवेश करने पर भी जबतक 'यावत्' पद का निवेश न किया जाय तब तक लक्षण निर्दुष्ट नहीं हो पाता।

लक्षण में 'यावत्' पद के निवेश न करने पर कपि संयोग के आश्रय रूप से अभिमत जो वृक्ष है, उस पर मूलावच्छेदसे (मूल प्रदेश में विद्यमान) विद्यमान जो कपि संयोग का अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व शाखावच्छेद से विद्यमान कपिसंयोग में है। इस कारण सामानाधिकरण्यरूप अर्थान्तर की सिद्धि हो जाती है। इस अर्थान्तर के निवारणार्थ लक्षण में 'यावत्' पद का अवश्य निवेश करना चाहिये। जिससे, स्वाश्रयत्व से अभिमत जितना भी शाखादि पदार्थ है उसमें कपि संयोग का अत्यन्ताभाव नहीं है। इस कारण अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी, कपिसंयोग नहीं बन पाता। इसलिये 'अर्थान्तर-सिद्धि' रूप दोष नहीं है। हमारे मत में 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' पूर्वोक्त सत्य ज्ञानानन्त लक्षण ब्रह्माख्य आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। ऐसी श्रुति होने से तार्किकों के द्वारा नित्य माने गये आकाशादि में भी जन्यत्व ज्ञात होता है। जन्य होने से वे कार्य हैं। कोई भी कार्य, अपने कारण के आश्रित रहता है। इस कारण आकाशादि सभी कार्य, ब्रह्मरूप आश्रय में स्थित हैं। इसलिये पूर्वोक्त लक्षण पर अव्याप्ति दोष नहीं आपाता। यह लक्षण, प्राचीन विद्वानों को भी सम्मत है। इस विषय में 'सर्वेषामेव' इत्यादि चित्सुखाचार्य की कारिका उद्धृत की गई है।

इस प्रकार प्राचीन वेदान्तियों के द्वारा किये गये जगन्मिथ्यात्व साधक अनुमान का उपपादन कर, नवीन वेदान्तियों का मिथ्यात्व के अनुमान का प्रकार बताते हैं—

यद्वा अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी पटत्वात् पटान्तरवदित्याद्यनुमानं मिथ्यात्वे प्रमाणम्। तदुक्तम्—

अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः।
अंशित्वादितरांशीवदिगेषैव गुणादिषु॥ इति। चि० ८।

अर्थ—अथवा (१) यह पट, एतत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। (२) क्योंकि उसमें पटत्व है। (३) अन्य पट के समान। यह अनुमान, मिथ्यात्व में प्रमाण है। इस विषय में चित्सुखाचार्य ने इस प्रकार कहा है— (१) अवयवी पदार्थ में उसके अवयव में विद्यमान जो अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता होती है। (२) क्योंकि उसमें अवयवित्व है। (३) अन्य अवयवी के समान। गुणादिकों के मिथ्यात्व का अनुमान करने का यही मार्ग है।

विवरण—यहां '(१) यह पट, इस तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। (२) क्योंकि उसमें पटत्व है। (३) अन्य पटों के समान। इस

अनुमान में 'अयं पटः' इस शब्द से वह पूरा (सम्पूर्ण) पट विवक्षित है। उस का उसी पट में विद्यमान किसी एक तन्तु में अत्यन्ताभाव है। इस-कारण वह पट, एक तन्तु में विद्यमान अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है। यहां पर एक तन्तु के अवच्छेद से रहने वाला पट का जो अत्यन्ता-भाव, वह 'तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है, यह समझना चाहिये जिससे पहले की तरह अर्थान्तरता नहीं हो पायगी। यथा—एक तन्तु पर संयोग संबन्ध से जैसे पट रहता है वैसे ही उस पट का अत्यन्ताभाव भी रहता है। अतः प्रतियोगी और उसके अभाव का सामानाधिकरण्य ही अर्थान्तर है। और इस अनुमान से उसी की सिद्धि होती है। मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो पाती। परन्तु 'तादात्म्य संबन्ध से वृत्ति' विशेषण देने पर, अर्थान्तर की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध से ही अभाव लेना अभीष्ट होने से संयोग संबंध से अभाव का ग्रहण ही नहीं किया जा सकेगा।

इसी तरह एक और व्यधिकरण-धर्मानवच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व' विशेषण, अत्यन्ताभाव में जोड़ देना चाहिये। (व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न अभाव का ग्रहण करने पर अर्थान्तर नहीं होता)। तथा हि—तन्तु पर तादात्म्य-सम्बन्ध से तथा पटत्व धर्म से पट का अत्यन्ताभाव न रहने पर भी 'घटत्व' धर्म से वह रहता है क्योंकि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस तन्तु पर घटत्वरूप से पट नहीं है, प्रतीति होती है। ऐसे अभाव को ही व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव कहते हैं। अर्थात् 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस अभाव की पट में रहने वाली जो प्रतियोगिता, वह पट से व्यधिकरण (पट पर न रहने वाले घटत्व) धर्म से, अवच्छिन्न (युक्त) है। ऐसे अभाव का ग्रहण कर मिथ्यात्व-साधक पूर्वोक्त अनुमान से तन्तु पर घटत्वेन पट का अभाव रूप अर्थान्तर की ही सिद्धि होती है। इस दोष के निवारणार्थ 'व्यधिकरण धर्म से जिसकी प्रतियोगिता अवच्छिन्न नहीं है' इतना विशेषण लगा कर अत्यन्ताभाव का ग्रहण करना चाहिए। जिससे व्यधिकरणधर्मा-वच्छिन्न अभाव को लेकर अर्थान्तरसिद्धि रूप दोष, उपर्युक्त अनुमान पर नहीं आता। क्योंकि अब उस अभाव का ग्रहण ही नहीं हो सकेगा।

अब 'पटः' शब्द से जिस किसी भी पट को पक्ष न बनाकर 'अयं पटः' इसे पक्ष बनाया है। कारण यह है कि जिस किसी पट को पक्ष बनाकर 'एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व' को साध्य किया जाय तो वही अर्थान्तर दोष पुनः प्राप्त होता है। क्योंकि अन्य कोई भी पट, एतत्तन्तुनिष्ठ नहीं होता। इसलिये 'अयं पटः' इतना पक्ष कोटि में रखना पड़ा। इसी प्रकार इसी दोष के निवारणार्थ 'एतत्कालीनत्व' विशेषण भी देना चाहिये।

इसपर कदाचित् आप यह कहें कि 'इस तन्तु में पटका समवाय है' इस प्रत्यक्ष अनुभव का बाध होगा। परन्तु यह भी उचित नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण, भ्रम और प्रमा दोनों के लिये साधारण होने से 'चन्द्र प्रादेशमात्र है' इस प्रत्यक्ष अनुभव का शास्त्र से जैसा बाध होता है वैसे समवाय के प्रत्यक्ष का कहीं बाध तो नहीं होता, इस प्रकार के सन्देह मात्र से ही समवाय का प्रत्यक्ष, बाधित समझा जाता है। इसलिये तन्तु और पट के समवाय के प्रत्यक्ष का बाध रूप दोष नहीं होता। इस विषय में चित्सुखाचार्य्य की सम्मति ऊपर निर्दिष्ट कर ही चुके हैं। इसीप्रकार अन्यान्य अनुमानों में भी बताया जा सकता है। 'रूप, रूपी पदार्थ में विद्यमान अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगि है। क्योंकि उसपर गुणत्व है। स्पर्श के समान। क्रिया आदि में भी ऐसी ही अनुमानों की कल्पना कर लेनी चाहिये।

किन्तु आपका यह मिथ्यात्वानुमान 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है। यह शंका और उसका समाधान ग्रन्थकार स्वयं करते हैं—

न च घटादेर्मिथ्यात्वे सन् घट इति प्रत्यक्षेण बाधः। अधिष्ठानब्रह्मसत्तायास्तत्र विषयतया घटादेः सत्यत्वासिद्धेः। न च नीरूपस्य ब्रह्मणः कथं चाक्षुषादिज्ञानविषयतेति वाच्यम्। नीरूपस्यापि रूपादेः प्रत्यक्षविषयत्वात्। न च नीरूपस्य द्रव्यस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वमिति नियमः। मन्मते ब्रह्मणो द्रव्यत्वासिद्धेः। गुणाश्रयत्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यत्वमिति तेऽभिमतम्। न हि निर्गुणस्य ब्रह्मणो गुणाश्रयता नापि समवायिकारणता, समवायासिद्धेः। अस्तु वा द्रव्यत्वं ब्रह्मणः, तथाऽपि नीरूपस्य कालस्येव चाक्षुषादिज्ञानविषयत्वेऽपि न विरोधः।

अर्थ—घटादि ब्रह्मभिन्न पदार्थों में, ब्रह्मभिन्नत्व होने से ही मिथ्यात्व है, इस प्रकार अनुमान करने पर 'सन् घटः'—विद्यमान-घट,—इस प्रत्यक्ष ज्ञान से उसका बाध होता है, यह कहना ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि यह 'विद्यमान घट' इस ज्ञान में अधिष्ठानरूप ब्रह्मसत्ता विषय है इस कारण उस सत्ता से पृथक् स्थित घटादि पदार्थों के सत्यत्व की सिद्धि नहीं होती।

इस पर आप यदि पूछें कि रूपरहित ब्रह्म, चाक्षुष ज्ञानका विषय कैसे होता है? तो उसका उत्तर यह होगा कि रूपरहित रूप में प्रत्यक्षविषयता

जैसी आपने मानी है। वैसी ही रूपरहित ब्रह्म में चाक्षुषज्ञान-विषयता के होने में कोई विरोध नहीं है।

परन्तु नीरूप रूप, गुण है, और नीरूप द्रव्य में चाक्षुष प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं होती—ऐसा हमारा विशेष नियम है, तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि हमारे मत में ब्रह्म, द्रव्य नहीं है। कारण यह है कि 'गुणाश्रयत्व या समवायिकारणत्व को ही तार्किकों ने द्रव्य माना है।' परन्तु निर्गुण ब्रह्म में गुणाश्रयत्व का संभव नहीं। समवायिकारणत्व रूप लक्षण का ब्रह्म में संभव नहीं। क्योंकि समवाय नामक कोई पदार्थ ही नहीं है। अथवा 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से ब्रह्म को द्रव्य मान लेने पर भी जैसे रूप-रहित काल का प्रत्यक्ष होता है वैसेही ब्रह्म का भी यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष हो तो इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

विवरण—"ब्रह्म से भिन्न समस्त प्रपंच मिथ्या" यह अनुमान ऊपर किया गया है। परन्तु ब्रह्म से भिन्न घट-पटादि समस्त पदार्थ, असत् न होकर, सत् हैं। यह अनुभव प्रत्यक्ष है, और इस प्रत्यक्ष ज्ञान से अनुमान का बाध हो जाता है।

परन्तु ऐसा समझना अनुचित है, क्योंकि 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान में सन् और घट ये दो विषय हैं। उनमें 'सन्' इस ज्ञान का विषय सत् ब्रह्म है और 'घट' इस ज्ञान का विषय, सद्भिन्न असत् घट है। इसलिये 'सन् घटः' इस प्रत्यक्षज्ञान का विषय, अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता होने से, उससे भिन्न की (घटादि असत् पदार्थों की) सत्यता सिद्ध नहीं होती।

शंका—रूपरहित ब्रह्म का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, तब 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष का विषय सत् ब्रह्म है, कैसे कह सकते हैं?

समाधान—'नीरूप पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता' आपका यह नियम, अव्यभिचारी नहीं है, किन्तु व्यभिचारी है। क्योंकि रूप से रहित रूपादिकों का प्रत्यक्ष होता है। अतः नीरूप पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, यह नियम व्यभिचरित है।

इस पर आप यह कहें कि 'रूपरहित रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता' ऐसा नियम हमारा नहीं है, किन्तु 'रूपरहित द्रव्य में चाक्षुष प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं होती' यह नियम है।

तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि हमारे मत में 'ब्रह्म' की द्रव्य में गणना नहीं है। अतः द्रव्य के विषय में आपका विशेष नियम होने पर भी हमारी कोई हानि नहीं है।

शंका—ब्रह्म में द्रव्यत्व नहीं है, यह आप कैसे कहते हैं?

समाधान—तार्किकों ने द्रव्य के दो लक्षण दिये हैं, उन दोनों की ब्रह्म में संभावना न हो सकने से उसमें द्रव्यत्व नहीं है। आपके यहाँ 'गुणाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्'-गुण के आश्रय को द्रव्य कहा गया है। परन्तु 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ६-११) इस श्रुति में ब्रह्म को स्पष्टतया निर्गुण कहा है। इसलिये सत्त्वादि गुणरहित ब्रह्म, रूपादि गुणों का भी आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि वैशेषिकों को सम्मत रूपादि गुण, सत्त्वादि तीन गुणों के ही परिणाम हैं। इस कारण 'गुणाश्रयत्व' रूप द्रव्यलक्षण, ब्रह्म में घटित नहीं होता। 'समवाय' पदार्थ का अस्तित्व ही न होने से ब्रह्म में समवायिकारणता नहीं है। उसके न होने से 'समवायिकारणत्व' रूप द्रव्य लक्षण भी ब्रह्म में घटित नहीं होता।

अथवा ब्रह्म में यथा कथंचित् द्रव्यत्व मान भी लें तथापि 'नीरूप द्रव्य, प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होता' यह नियम नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि 'इस काल में यहां घट नहीं है' इस प्रतीति के बल पर अध्वर मीमांसकों ने जैसे इन्द्रियविषयता, काल में स्वीकार की है, उसी प्रकार 'सन् घटः' इत्याकारक प्रतीति में अन्य किसी कारण के न होने से उस अनन्यथा-सिद्ध प्रतीति के बलपर हम भी ब्रह्म में चाक्षुषत्व स्वीकार करते हैं। इसलिये ब्रह्म-व्यतिरिक्त पदार्थ की चाक्षुषता में ही 'महत्त्व के साथ उद्भूतरूपवत्त्व' प्रयोजक होता है। ब्रह्म की चाक्षुषता में नहीं।

"रूपरहित काल का प्रत्यक्ष मानने पर 'आकाश में बलाका' इस प्रतीति के बलपर आकाश का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष कहना होगा" इस आशंका के कारण पूर्व समाधान में अरुचि होने से दूसरा समाधान कहते हैं—

यद्वा, त्रिविधं सत्त्वम्—पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं च। पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः, व्यावहारिकं सत्त्वमाकाशादेः, प्रातिभासिकं सत्त्वं शुक्तिरजतादेः। तथा च घटः सन्निति प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकसत्त्वविषयत्वेन प्रामाण्यम्। अस्मिन्पक्षे च घटादेर्ब्रह्मणि निषेधो न स्वरूपेण, किन्तु पारमार्थिकत्वेनैवेति न विरोधः। अस्मिन्पक्षे च मिथ्यात्वलक्षणे पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमत्यन्ताभावविशेषणं द्रष्टव्यम्। तस्मादुपपन्नं मिथ्यात्वानुमानमिति।

अर्थ—अथवा, पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रतिभासिक भेद से तीन प्रकार का सत्त्व है। ब्रह्म का सत्त्व, पारमार्थिक है। आकाशादि भूत भौतिकों का सत्त्व, व्यावहारिक है। शुक्तिरजत, स्वप्नगज आदि का सत्त्व, प्राति-

भासिक है। इस कारण 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष का प्रामाण्य, व्यावहारिक सत्त्व, उसका विषय होने के कारण है। इस पक्ष में घटादिका ब्रह्म में स्वरूपतः निषेध नहीं किया जाता किन्तु परमार्थतः ही उसका निषेध किया जाता है। अतः कोई किसी प्रकार से विरोध नहीं होता। और इस पक्ष में पूर्वोक्त मिथ्यात्व के लक्षण में, 'जिसकी प्रतियोगिता पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न है' यह विशेषण, अत्यन्ताभाव में देना चाहिये। इस रीति से पूर्वोक्त मिथ्यात्वानुमान सर्वथा उपपन्न है।

विवरण—पारमार्थिकत्व, व्यावहारिकत्व और प्रातिभासिकत्व—ये सब, विषयभेद के कारण एक ही सत्त्व के तीन प्रकार हैं। ब्रह्म का सत्त्व, पारमार्थिक है, आकाशादिकों का सत्त्व, व्यावहारिक और रज्जु-सर्पादिकों का सत्त्व, प्रातिभासिक हुआ करता है। प्रातिभासिक सत्ता का, व्यावहारिकसत्ता से बाध होता है, और व्यावहारिक सत्ता का ब्रह्म की—पारमार्थिक सत्ता से बाध होता है। ब्रह्म की सत्ता का किसी से भी बाध न होने से वह पारमार्थिक है। 'घटः सन्'—घट विद्यमान है, इस प्रकार घटसत्ता का जो प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसका व्यावहारिक सत्त्व, विषय है और उस प्रत्यक्ष में प्रामाण्य भी व्यावहारिक सत्त्वविषयत्वेनैव ही है, अर्थात् व्यावहारिक सत्ता में ही उसे प्रामाण्य है। पारमार्थिक सत्ता में नहीं।

यदि आप ऐसा कहें कि सत्त्व की त्रिविधता के स्वीकार पक्ष में वृक्ष पर कपिसंयोग और उसका अभाव दोनों का सामानाधिकरण्य जैसे सिद्ध होता है, वैसे ही ब्रह्म में घट और उसका अभाव दोनों का सामानाधिकरण्य सिद्ध होगा, परन्तु घटादिकों का उससे मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा।

तो उसपर हमारा यह उत्तर है कि ब्रह्म में घटादि पदार्थों का जो निषेध किया गया है, वह स्वरूपेण (व्यावहारिक रूप से = यह व्यावहारिक घट नहीं) नहीं किया गया है। किन्तु पारमार्थिकत्व रूप से (यह घट पारमार्थिक = वास्तविक, नहीं) किया गया है। और 'जो जो पारमार्थिक से भिन्न रहता है, वह वह मिथ्या होता है' यह नियम है। घट, पारमार्थिक से भिन्न है, इस कारण घटादिकों के मिथ्यात्व के साथ कोई विरोध नहीं है।

शंका—इस त्रिविध सत्ता पक्ष में 'स्वाश्रयत्वेनाभिमत यावत्' मिथ्यात्व का लक्षण, उचित नहीं होगा। क्योंकि स्वाश्रयत्व से अभिमत यावत् (ब्रह्म) में व्यावहारिकत्व धर्म से घटादि के अभाव का संभव नहीं होता, इसलिये उनमें अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नहीं कह सकते।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि इस त्रिविध सत्ता पक्ष में मिथ्यात्व लक्षणगत अत्यन्ताभाव में विशेषण देना चाहिये, अर्थात् जिसकी

प्रतियोगिता पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न है ऐसा अत्यन्ताभाव। ऐसा करने से लक्षण पर पूर्वोक्त दोष नहीं आवेगा। ब्रह्म में घटादि का अभाव व्यावहारिकत्व रूप से हमें विवक्षित नहीं है। किन्तु पारमार्थिकत्व रूप से या व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व रूप से अभाव का ग्रहण करना है। अर्थात् व्यधिकरण धर्म से जिसकी प्रतियोगिता अवच्छिन्न है, ऐसे अभाव का ही ग्रहण करना है। ब्रह्म में व्यावहारिकत्व रूप से घटादिकों के होने पर भी पारमार्थिकत्व रूप से उनका ब्रह्म में अत्यन्ताभाव है ही। इस कारण 'पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक स्वात्यन्ताभाव सामानाधिकरण्यम्'—पारमार्थिकत्व धर्म से जिसकी प्रतियोगिता अवच्छिन्न है ऐसे स्व के अत्यन्ताभाव का, स्व से सामानाधिकरण्य रहना ही मिथ्यात्व का निष्कृष्ट लक्षण सिद्ध होता है और वह घटादि में उपपन्न होता है। अतः मिथ्यात्व का अनुमान सर्वथा युक्तियुक्त है।

॥ इति अनुमान-परिच्छेदः समाप्तः ॥

अथ उपमान-परिच्छेदः ३

प्रतिज्ञात छह प्रमाणों में से प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण का निरूपण किया गया। अब उद्देशक्रम के अनुसार क्रमप्राप्त उपमान प्रमाण के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं।

अथोपमानं निरूप्यते। तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्। तथा हि; नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनंगतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः, 'अयं पिण्डो सोसदृश' इति। तदनन्तरं भवति निश्चयः, अनेन सदृशी मदीया गौरिति। तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम्।

अर्थ—अब उपमान प्रमाण का निरूपण किया जाता है। 'सादृश्य प्रमा के करण' को उपमान कहते हैं। वह इस प्रकार है—जिस व्यक्ति ने शहर में गोव्यक्ति को देखा हो वह अरण्य में जाकर जब 'गवय' को देखता है (चक्षुरिन्द्रिय का गवय के साथ सन्निकर्ष होता है) उस समय उसे 'यह व्यक्ति, गाय जैसी है' ज्ञान होता है। तदनन्तर उसे 'इस गवय जैसी ही मेरी गाय है' निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इन दो ज्ञानों में से अन्वय और व्यतिरेक के बल से गवय में होने वाला जो गोसादृश्यज्ञान (यह गवय, गाय जैसा है) है, वह करण (उपमान) है, और गोनिष्ठ, गवय का सादृश्यज्ञान (इसके जैसी ही मेरी गाय है) फल (उपमिति) है।

विवरण—अनुमान का निरूपण करने के अनन्तर उपमान प्रमाण ही निरूपण का विषय होता है। इसीलिये यहां उसके निरूपण की प्रतिज्ञा की है। निरूपण का अर्थ है—वस्तु के लक्षण, प्रमाण तथा स्वरूप का कथन करना। उनमें से यहाँ प्रथमतः उपमान का लक्षण कहना है इसलिये ग्रन्थकार ने 'तत्र' शब्द का प्रयोग किया है। 'अनुमान' शब्द के समान ही अव्युत्पन्न उपमान शब्द, लक्ष्य है और 'उपमीयते अनेन तत् उपमानम्' इस रीति से व्युत्पन्न उपमान शब्द, लक्षण है। सादृश्य प्रमा (उपमिति) के करण (असाधारण-कारण) को उपमान प्रमाण कहते हैं। नगर में 'गाय' को देखा हुआ व्यक्ति अरण्य में जाकर कदाचित् उसे 'गवय' पशु दिखाई देने पर 'यह प्राणी गाय जैसा है' इस प्रकार गवय में गाय का सादृश्य-ज्ञान होना ही उपमान है (यही उपमान का स्वरूप है) इसके अनन्तर ही 'मेरी गाय

इस पशु जैसी ही है' इस प्रकार होनेवाली सादृश्य प्रमा को ही उपमिति कहते हैं। अर्थात् उपमानरूप सादृश्यज्ञान और उपमितिरूप सादृश्यप्रमा के मध्य में अन्य कोई व्यापार विद्यमान नहीं रहता। इसलिये 'असाधारणं कारणं करणम्' इतना ही करण-लक्षण यहां स्वीकार किया है। उसे व्यापार-घटित मानने की यहाँ आवश्यकता नहीं। यहाँ 'सादृश्य ज्ञान' को प्रमाण और प्रमा भी कहा है। दोनों के सादृश्यज्ञान रूप होने पर भी उनमें भेद है।

प्रमाण रूप सादृश्यज्ञान में 'गो' की 'गवय' को उपमा दी गई है। अर्थात् इस ज्ञान में 'गो' उपमान और 'गवय' उपमेय है। और प्रमारूप सादृश्यज्ञान में 'गो' को 'गवय' की उपमा दी गई है। अर्थात् इस ज्ञान में 'गवय' उपमान और 'गो' उपमेय है। यही दोनों में भेद है। इनमें प्रथम सादृश्यज्ञान, द्वितीय सादृश्यज्ञान का जनक (कारण) है। और द्वितीय सादृश्यज्ञान, फल (कार्य) है। इस प्रकार उनमें जन्य-जनक भाव है। इस सादृश्यज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियादिकों से नहीं होती, अतः उपमान, एक पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है।

उपमान को वेदान्ती तथा नैयायिक दोनों के मानने पर भी उसमें जो भेद है, उसे बताना भी अनुचित न होगा। नैयायिक का अभिमत उपमान प्रमाण—

किसी आरण्यक व्यक्ति से 'गवय गोसदृश होता है' सुनकर अरण्य में गये हुए शहरी व्यक्ति का गवय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर 'यह गोसदृश है' ऐसा गो-सादृश्यज्ञान होता है। तदनन्तर आरण्यक व्यक्ति के बताये हुए 'गवय, गोसदृश होता है' वाक्यार्थ का स्मरण होता है। इसके पश्चात् 'अयं गवयपदवाच्यः=यह गवय पशु 'गवय' शब्द का वाच्य अर्थ है—यह ज्ञान होना ही उपमिति है। इनके मत में उपमान प्रमाण वस्तु-बोधक न होकर शक्तिग्राहक है। 'गवय' पद की एक विशिष्ट पशु में शक्ति है' इस प्रकार ज्ञान कराना ही उपमान का प्रयोजन है।

परन्तु वेदान्तियों के मत में उपमान का यह प्रयोजन नहीं है। उनके मत में 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इस गवय जैसी ही मेरी गौ है—यह ज्ञान ही, उपमान का फल (उपमिति) है। अनुभव भी 'इस पशु जैसी मेरी गाय है' ऐसा ही होता है। अतः 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य के स्मृति रूप व्यापार की कल्पना कर पश्चात् उससे 'गवय, गवयशब्द का वाच्य है' ज्ञान की कल्पना करना, यह सब अनुभव के विरुद्ध है।

नैयायिक 'यह व्यक्ति गवय पद का वाच्य है' इस प्रकार उपमिति ज्ञान नहीं मानते किन्तु 'गवय गवयपद का वाच्य है' इस प्रकार के ज्ञान को उपमान का फल (उपमिति) बताते हैं।

परन्तु जहां पर गो, गवय, गज, अज आदि सामने स्थित हों वहाँ पर 'इनमें से 'गवय पद का वाच्य कौन सा है' इस प्रकार किसी के प्रश्न कर देने पर उसे 'गवय-गवय पद का वाच्य है उत्तर दिया जाय तो हँसी उड़ेगी। वहां तो 'यह व्यक्ति गवय पद का वाच्य है' यही उत्तर देना चाहिये, और ऐसा मानने पर उपमान को शक्तिग्राहक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एक गवय की शक्ति को वह दिखा सकेगा किन्तु अन्य गवय में उस शक्ति का ज्ञान कराने में उस का उपयोग नहीं होगा। इसलिये अनुभव के अनुरूप ही उपमिति का स्वीकार करना चाहिये।

शंका—आपके मत में उपमान यदि शक्तिग्राहक नहीं है (उपमिति-रूप प्रमा से यदि गवयादि पदार्थों की शक्ति = वाच्यत्व का ज्ञान नहीं होता) तो उसका होना ही व्यर्थ है, क्योंकि अनुमान जैसे जगन्मिथ्यात्व को सिद्ध करता है, इस प्रकार उपमान का कोई उपयोग नहीं दिखाई देता।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वैतब्रह्मसाक्षात्कार होने तक मुमुक्षु को चित्तशुद्ध्यर्थ वेदोक्त कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। कर्मानुष्ठान को यागसम्बन्धी 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' प्रकृतिभूत दर्श-पौर्णमासादि के समान विकृतिभूत सौर्ययागादिकों का अनुष्ठान करना चाहिये। इस प्रकृति-विकृतिभाव के ज्ञान की अपेक्षा होती है। और वह ज्ञान, सादृश्यमूलक होने से उपमान प्रमाण के अधीन है, अतः हमारे मत से तो इस ज्ञान को करा देना ही उपमान का उपयोग है।

इस पर आप यदि यह शंका करें कि 'अनेन सदृशी मदीया गौः' आदि ज्ञान, प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भी हो सकेगा। उसके लिये उपमान को एक स्वतंत्र रूप से प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं अग्रिम ग्रंथ से देते हैं—

न चेदं प्रत्यक्षेण संभवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात्। नाप्यनुमानेन, गवयनिष्ठगोसादृश्यस्यातल्लिङ्गत्वात्।

नापि 'मदीया गौरेतद्गवयसदृशी, एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वाद्, यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी, स तत्सदृशः, यथा मैत्रनिष्ठसादृश्यप्रतियोगी चैत्रो मैत्रसदृश' इत्यनुमानात्तत्संभव इति वाच्यम्। एवंविधानुमानानवतारेऽप्यनेन सदृशी मदीया गौरिति प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात्। उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्च। तस्मादुपमानं मानान्तरम्।

इत्युपमानपरिच्छेदः ॥ ३ ॥

अर्थ—'यह गवयनिष्ठ सादृश्य ज्ञान, प्रत्यक्ष से भी हो सकता है' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि उस समय गो व्यक्ति से इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं रहता। अनुमान प्रमाण से उसका (सादृश्यका) ज्ञान होता है, कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि 'गवय' में रहने वाला 'गो' का सादृश्य, गो में रहने वाले गवय के सादृश्य का लिङ्ग (साधक हेतु) बन नहीं सकता।

इस पर (१) 'मेरी गाय इस गवय जैसी है'। (२) क्योंकि उसमें एतद्गवयनिष्ठ सादृश्य का प्रतियोगित्व है। (३) जो जिसमें रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह उसके जैसा होता है।

उदाहरण—'चैत्र, मैत्र में रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी है, इसलिये वह मैत्र जैसा है' ऐसे अनुमान से 'गवयनिष्ठ सादृश्य का ज्ञान हो सकेगा' यह शंका करना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा अनुमान न करने पर भी 'इस गवय जैसी मेरी गाय है' यह ज्ञान होता है, यह बात अनुभवसिद्ध है और इस ज्ञान के अनन्तर 'मैं इस बात को उपमान प्रमाण से जानता हूँ' यही अनुव्यवसाय होता है। इसलिये उपमान स्वतंत्र प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

विवरण—सांख्य दर्शनकार प्रत्यक्ष में ही उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव करते हैं। उनका कहना है कि गवय के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर उसमें जो गोसादृश्य का ज्ञान होता है और वह जैसे प्रत्यक्षात्मक ही रहता है, उसी प्रकार 'गो' का स्मरण होने के बाद 'गो' में जो गवयसादृश्य का ज्ञान (जिसे आप उपमिति कहते हैं) होता है वह भी प्रत्यक्षरूप ही है, यह मानना चाहिये। क्योंकि गवय में भासित होने वाला सादृश्य, गो में भासित होने वाले सादृश्य से भिन्न नहीं है। जो सादृश्य गवयनिष्ठ है वही गोनिष्ठ है। क्योंकि किसी एक जाति का, अन्य जाति में रहने वाला जो भूयोऽवयव-सामान्ययोग (बहुत से अवयवों का साम्य रूप संबंध) रूप सम्बन्ध को सादृश्य कहते हैं। और ऐसे सादृश्य का गवय में जिस प्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है उसी प्रकार गो में भी उसका प्रत्यक्ष होना ही उचित है। इसलिये सादृश्य, प्रमाणान्तर नहीं है, उसका प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव होता है।

परन्तु सांख्य का यह अभ्युपगम ठीक नहीं है, क्योंकि आपके कथनानुसार यद्यपि सादृश्य सर्वत्र एक सा ही है तथापि उसके धर्मी और प्रतियोगी सर्वत्र भिन्न भिन्न होते हैं, इसलिये तत्तद् विशेष व्यक्ति पर रहने वाला सादृश्य भिन्न होता है, यह मानना ही पड़ेगा। सादृश्य जिसमें प्रतीत होता है, वह उस सादृश्य का धर्मी होता है, उसी को सादृश्य का अनुयोगी भी कहते हैं। और जिसका सादृश्य भासित होता है उसे प्रतियोगी कहते हैं। 'गोसदृशो गवयः' इस ज्ञान में—गवय में, गो का सादृश्य भासित होता है, इसलिये इस सादृश्य का 'गवय' धर्मी या अनुयोगी और 'गो' प्रतियोगी है, यह

कहना चाहिये। परन्तु यह धर्मिप्रतियोगिभाव 'गवय-सदृशी गौः' गवय जैसी मेरी गाय है, इस ज्ञान में नहीं रहता। यहां पर 'गो' धर्मी और गवय प्रतियोगी होता है। इसलिये गोगत और गवयगत सादृश्य को एकरूप (समान) ही मान लेने पर जिस व्यक्ति को 'गोसदृशो गवयः' इस प्रकार गवयनिष्ठ गोसादृश्य का ज्ञान हुआ है उस व्यक्ति को 'गोगतगवयसादृश्यं पश्यामि' मैं गोनिष्ठ गवयसादृश्य को देखता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिये, परन्तु होता नहीं। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति में सादृश्य पृथक् पृथक् ही रहता है, यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसीलिए गवय-प्रत्यक्ष होने के कारण उसके साथ चक्षु का संनिकर्ष होता है अतः तद्गत सादृश्य प्रत्यक्ष भासित होता है। परन्तु गोव्यक्ति, वहां पर उस समय समीप नहीं होने से उसके साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं रहता। इसलिये गोनिष्ठ सादृश्य, प्रत्यक्ष का विषय हो नहीं सकता। तस्मात् 'सादृश्य का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है' यह सांख्यमत, युक्ति तथा अनुभव के विरुद्ध होने से सर्वथा उपेक्षणीय है।

इस पर कदाचित् वैशेषिक कहे कि—प्रत्यक्ष में उपमान का अन्तर्भाव न होनेपर भी अनुमान में उसका अन्तर्भाव हो सकेगा। इसका निराकरण करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं—उपमान प्रमाण का अनुमान में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि 'गो' के साथ गवय के सादृश्य का ज्ञान, अनुमान प्रमाण से होना संभव नहीं। 'अनुमान से गवय-सादृश्य का ज्ञान होता है' स्वीकार करनेवाले वैशेषिकों को यहां इस प्रकार अनुमान करना चाहिये—(१) मेरी गौ, इस गवय से निरूपित (गवयप्रतियोगिक) सादृश्य से युक्त है। (२) क्योंकि वह गोनिरूपित (गोप्रतियोगिक अर्थात् 'गो' जिसका प्रतियोगी है अर्थात् 'गवय' जिसका अनुयोगी है) सादृश्य से युक्त है! (३) इस गवय के समान।

परन्तु ऐसा अनुमान होना संभव नहीं। क्योंकि उस पर 'स्वरूपासिद्धि' दोष आता है। 'हेतु का पक्ष पर न रहना' स्वरूपासिद्धि दोष कहलाता है। यहां पर हेतु है—'गोप्रतियोगिक सादृश्य'। वह (हेतु) 'गो' रूप पक्ष पर नहीं रहता। गो में गवयनिरूपित सादृश्य रहेगा, परन्तु गोनिरूपित (स्वयं (गो) का) सादृश्य कैसे रह सकेगा ? सादृश्य भेद घटित होने से, दो पदार्थों में भेद के बिना उनमें सादृश्य है, नहीं कहा जा सकता। और जो हेतु अपने पक्ष पर रहता ही नहीं, वह वहां पर साध्य की सिद्धि कैसे कर सकेगा। इस लिये अनुमान से उपमान की गतार्थता नहीं होती। इस पर वैशेषिक ऐसा कहें कि—आपके कथनानुसार यदि हम अनुमान करें तो हमारे पक्ष में उपर्युक्त दोष आवेगा, परन्तु हम वैसा अनुमान नहीं करते। हम अनुमान प्रयोग इस प्रकार करते हैं—(१) मेरी गाय इस गवय जैसी है।

(२) क्योंकि उसमें एतद्गवयनिष्ठ सादृश्य का प्रतियोगित्व है (यह गवय जिस सादृश्य का अनुयोगी है और यह गो जिसकी प्रतियोगी है ऐसे सादृश्य की प्रतियोगी है अर्थात् गवय का सादृश्य गो पर रहता है) (३) जो पदार्थ, जिस पदार्थगत सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह पदार्थ उस पदार्थ के सदृश रहता है । जैसे—चैत्र, मैत्र में रहने वाले अपने सादृश्य का प्रतियोगी (आधेय) है, इसलिये वह मैत्रसदृश है । अर्थात् मैत्र व्यक्ति यदि चैत्र व्यक्ति जैसा है तो चैत्र भी मैत्र जैसा अवश्य ही होगा । ऐसा अनुमान करने पर कोई दोष नहीं आने पाता । इसलिये अनुमान से ही उपमान चरितार्थ हो जाता है ।

परन्तु यह शंका भी ठीक नहीं है । क्योंकि इस अनुमान पर किसी प्रकार का दोष न आने पर भी प्रत्येक सादृश्य प्रमा के समय ऐसा अनुमान किया ही जाय, यह कोई नियम नहीं है । विना अनुमान के भी 'अनेन सदृशी मदीया गौः' ऐसी अबाधित प्रतीति होती है । इसलिये जहां पर साध्य (वह्नि आदि) प्रत्यक्ष है, वहां पर भी आप 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' अनुमान करते हैं, परन्तु उतने से ही प्रत्यक्ष प्रमाण की व्यर्थता जैसे सिद्ध नहीं होती (अनुमान से प्रत्यक्ष अगतार्थ है) वैसे ही अनुमान से यद्यपि उक्त सादृश्य-ज्ञान सिद्ध होने पर भी उपमिति प्रमा का पृथक् अनुभव होने से उपमान प्रमाण, अनुमान से चरितार्थ नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त इस सादृश्यज्ञान के अनन्तर 'अहम् अनुमिनोमि' मैं गवय-सादृश्य का अनुमान करता हूँ, यह अनुव्यवसाय नहीं होता । किन्तु 'उप-मिनोमि' मैं उपमान से जानता हूँ—यह अनुव्यवसाय होता है । इससे भी गोनिष्ठ सादृश्यज्ञान, अनुमित्यात्मक न हो कर उपमित्यात्मक है, यह सिद्ध होता है । अतः 'उपमान' यह स्वतंत्र पृथक् प्रमाण है, यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये ।

॥ इति उपमानपरिच्छेदः ॥

अथ आगमपरिच्छेदः ४

उपमान प्रमाण का निरूपण करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त आगम प्रमाण (शब्द प्रमाण) के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं ।

अथागमो निरूप्यते । यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत-संसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम् । वाक्यजन्य-ज्ञाने च आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि ।

अर्थ—अब आगम प्रमाण (शब्द प्रमाण) का निरूपण किया जाता है । जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग, अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता, वह वाक्य, प्रमाण होता है । वाक्यजन्य ज्ञान में, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्यज्ञान ये—चार कारण होते हैं ।

विवरण—इस प्रकार उपमान प्रमाण का निरूपण करने के अनन्तर अब शब्द प्रमाण का निरूपण करना क्रम से ही प्राप्त है । 'यस्य', इत्यादि वाक्य से शब्द प्रमाण का लक्षण बताया है । जिसका निष्कृष्ट अर्थ इस प्रकार है—जिसका पदार्थ-संसर्ग, किसी भी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं होता और वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग के बोधक वाक्य को ही शब्द प्रमाण कहते हैं । यहां पर वाक्य के संसर्ग में 'मानान्तराबाधितत्व' और 'तात्पर्य-विषयीभूतत्व' ये दो विशेषण दिये गये हैं । इन दोनों की आवश्यकताओं का क्रम से विचार करें । 'मानान्तराबाधितत्व' विशेषण के न देने पर 'वह्निना सिञ्चेत्' = अग्नि से सेचन करे, इस वाक्य में अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि इस वाक्य का अग्नि-सेचन रूप अर्थ, वक्ता के तात्पर्य का विषय है । उपर्युक्त विशेषण के देने पर उसका निवारण हो जाता है । क्योंकि अग्नि-करणक (अग्निसाध्य) सेचन, यद्यपि तात्पर्य का विषय है तथापि प्रत्यक्ष-प्रमाण से बाधित हो रहा है । सेचन का होना द्रव पदार्थ से ही संभव है । अग्नि जैसे अद्रव पदार्थ से द्रवद्रव्यकरणक व्यापार रूप सेचन का होना संभव नहीं । इसी प्रकार 'तात्पर्यविषयीभूतत्व' विशेषण के न देने पर 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' उस प्रजापति ने अपनी वपा को उपट (खरोंच) कर निकाला, इत्यादि श्रुतिवाक्य पर अव्याप्ति दोष आता है । क्योंकि अपनी वपा का स्वयं उच्छेद करना रूप अर्थ, प्रमाणान्तर से बाधित है, क्योंकि वपोत्खेद होने पर जीवित रहना ही असंभव है ।

इस कारण ऐसे वाक्य को प्रमाण वाक्य नहीं कहा जा सकेगा। अन्यथा वेद का प्रामाण्य नष्ट होगा। अतः इस अव्याप्ति के निराकरणार्थ 'तात्पर्य-विषयीभूतत्व' विशेषण देना आवश्यक है। यहां पर श्रुति के तात्पर्य का विषय, याग की अवश्यकर्तव्यता ही है। अर्थात् स्वयं ब्रह्मदेव ने भी इतनी श्रद्धा से याग (यज्ञ) किया, तब हम संसारी मनुष्यों को तो वह अवश्य ही कर्तव्य है—इस प्रकार बोधन कराना ही उस मंत्र का तात्पर्य है। जो किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता। इसलिये वह श्रुतिवाक्य, प्रमाण वाक्य होने से उपर्युक्त अव्याप्ति नहीं होने पाती।

शब्द के लक्षण में 'वाक्यस्य' कहने की आवश्यकता यह है कि—शब्द प्रमाण से जिस अर्थ का हमें ज्ञान होता है वही अर्थ, अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है। इसलिये अन्य प्रमाणों को भी शब्द या आगम कहना पड़ेगा। इसके निराकरणार्थ लक्षण में 'वाक्यस्य' अवश्य ही निविष्ट करना चाहिये। अन्यथा—'यह घट है' इस चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय 'घट' है और वह बाधित भी नहीं है। ऐसे प्रत्यक्ष में, शब्द का लक्षण अतिव्याप्त होगा।

शंका—आपके मत में घटादि सभी जगत् मिथ्या है। तब शब्द से व्यक्त किया हुआ सभी अर्थ बाधित है। ऐसी स्थिति में 'अबाधितार्थकत्व' रूप विशेषण, संसर्ग में कभी संभव ही नहीं हो सकता। इसलिये यह लक्षण, असंभव दोष से दूषित है।

समाधान—घटादि पदार्थों में पारमार्थिक सत्ता रूप से बाधितत्व होने पर भी उनका व्यावहारिक प्रामाण्य अबाधित ही है। क्योंकि 'बाधित' शब्द से व्यवहारकालीन बाध ही विवक्षित है। इसी कारण 'नेह नानास्ति किंचन' श्रुति से स्वर्गादि-साध्य-साधन भाव का बाध होने पर भी उपर्युक्त दोष नहीं आता। इस रीति से शब्द प्रमाण का लक्षण सिद्ध होता है। अतः 'शब्द का अनुमान में ही अन्तर्भाव होने से उसे पृथक् प्रमाण के रूप में मानने की आवश्यकता नहीं' कहने वाले वैशेषिकों का खण्डन हो जाता है। वैशेषिकों का कथन है कि—(१) 'वत्सं बधान' वत्स को बांधो, आदि पद अर्थ-संसर्गज्ञानपूर्वक हैं (२) क्योंकि उनमें आकांक्षा आदिकों से युक्त पद-समूहत्व है। (३) 'दण्ड से गाय लाओ' आदि पदसमूह के समान। ऐसे अनुमान से शब्द प्रमाण गतार्थ होता है। इसलिये शब्द को स्वतंत्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं। दण्डादि पदों की शक्ति के अनुमान के लिये अन्य पदों का दृष्टान्त देकर उनकी शक्ति का अनुमान कर लेना चाहिये। इस पर वेदान्तादि शब्द प्रामाण्यवादी शास्त्रकारों का कथन है कि—'ऐसे अनुमान से शब्द प्रमाण गतार्थ होता है' कहने पर शाक्य, भिक्षु आदि के

वाक्य में भी वह संसर्ग है ही, इस कारण वे भी प्रमाण होने लगेंगे। 'उनके वाक्यों में प्रामाण्य प्राप्त होना हमें इष्ट ही है' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि श्रुति से तत्प्रतिपादित अर्थ का बाध होने से शाक्यादिकों के वाक्य अप्रमाण हैं। तस्मात् बौद्धादि नास्तिकों के मूल प्रमाणरहित दर्शनों में अप्रामाण्य सिद्ध करने के लिये शब्द प्रमाण को पृथक् स्वीकार करना ही चाहिये।

इसके अतिरिक्त यह ज्ञान, आकांक्षा, योग्यता आदि की सहायता से होता है, वहां अनुमान का नियत रूप से अनुभव नहीं आता। इससे भी अनुमान प्रमाण की अपेक्षा शब्द प्रमाण का पृथक् फल सिद्ध होता है। इस कारण भी शब्द रूप प्रमाण पृथक् सिद्ध होता है। यही प्रदर्शित करने के लिये ग्रन्थकार ने आकांक्षादिकों के निरूपण की 'वाक्यजन्यज्ञाने च' आदि वाक्य से प्रतिज्ञा की है। आकांक्षादि पदों के अर्थ और लक्षणों को ग्रन्थकार अग्रिम ग्रन्थ से स्वयं कथन करते हैं।

तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाङ्क्षा। क्रियाश्रवणे कारकस्य कारकश्रवणे क्रियायाः करणश्रवणे इतिकर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात्। अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधाद् योग्यत्वमुपात्तम्। तदवच्छेदकं च क्रियात्वकारकत्वादिकमिति नातिव्याप्तिः 'गौरश्व' इत्यादौ। अभेदान्वये च समानविभक्तिकप्रतिपाद्यत्वं तदवच्छेदकमिति तत्त्वमस्यादि वाक्येषु नाव्याप्तिः।

अर्थ—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य ज्ञान, इनमें से पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा में विषय होने की योग्यता को आकांक्षा कहते हैं। क्रिया का श्रवण होने पर कारक के ज्ञान की इच्छा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार कारक का श्रवण होने पर क्रिया की और करण का श्रवण होते ही इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होती है। (इस आकांक्षा के लक्षण में 'योग्यत्व' पद की आवश्यकता को बताते हैं) जिज्ञासारहित व्यक्ति को भी वाक्यार्थ का बोध होने से उसमें (बोध में) आकांक्षा का लक्षण अव्याप्त न हो इसलिये लक्षण में 'योग्यत्व' पद दिया है। क्रियात्व, कारकत्व आदि धर्म, उस योग्यता के अवच्छेदक होने से आकांक्षा के लक्षण की 'गो, अश्व, पुरुष' आदि पदसमूह में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेदान्वय-प्रतिपादक वाक्यों में समान विभक्तिवाले पदों से प्रतिपाद्यत्व ही अवच्छेदक है। इसलिये वहां भी लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—दो अथवा अधिक पदों में से एक पद का श्रवण होने पर

उसके ज्ञान के लिये समीपस्थित दूसरे पद के ज्ञान की अपेक्षा होती है। उस दूसरे पद को प्रथम पद की या अन्य पदों की अपेक्षा होती है। ऐसी परस्पर अपेक्षा की योग्यता जिन पदों में रहती है उन पदों को साकांक्ष शब्द कहते हैं। जैसे 'गामानय' गाय को लाओ। इस वाक्य में 'गाम्' और 'आनय' दो पद हैं। वैसे ही 'आनय' मध्यम पुरुष के एकवचन की क्रिया का 'त्वं' कर्ता भी अर्थतः ही प्राप्त होता है। इन तीन पदों में से 'आनय' पद के उच्चारण करते ही, 'क्या लावें और कौन लावे' यह आकांक्षा उत्पन्न होती है। अर्थात् 'आनय' क्रिया को 'गाम्' और 'त्वं' इन कारकों की अपेक्षा होती है। इसी तरह 'गाम्' इस कर्म कारक को 'आनय' क्रिया की अपेक्षा होती है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' स्वर्गेच्छुव्यक्ति दर्श-पूर्णमास याग करे। इस श्रुति वाक्य से दर्शपूर्णमासयाग, स्वर्ग का करण (साधन) है, ऐसा ज्ञान होने पर 'कथम्' इन दर्शपूर्णमासों से स्वर्ग किस प्रकार साधा जाय—इस प्रकार इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होती है अर्थात् इतिकर्तव्यता, जिज्ञासा का विषय होती है, और इस आकांक्षा की निवृत्ति 'समिधो यजयति' 'इडो यजति'—समिध् यागादि–प्रयाज अनुयाजादि से दर्शपूर्णमास याग को करे, आदि वाक्यों से होती है। इस प्रकार क्रिया को कारक की, कारक को क्रिया की और करण को इतिकर्तव्यता की परस्पर जिज्ञासा होने की योग्यता का होना अर्थात् ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न कराने वाले पदों का वाक्य में होना ही आकांक्षा का लक्षण है।

आकांक्षा का 'जिज्ञासाविषयत्व' इतना लक्षण करने पर भी सर्वत्र समन्वय हो जाता है, तब 'जिज्ञासाविषयत्व-योग्यत्व' इतना गुरुभूत लक्षण क्यों किया गया है?

इस आशंका का निराकरण 'अजिज्ञासोः' आदि ग्रन्थ से ग्रन्थकार करते हैं। वाक्यार्थ-ज्ञान की इच्छा न रखने वाले व्यक्ति को भी वाक्य को सुनते ही उसके अर्थ का ज्ञान होता है। परन्तु उस समय उन पदार्थों को जिज्ञासाविषयत्व नहीं रहता। 'जिज्ञासाविषयत्व' मात्र आकांक्षा का लक्षण-करने पर ऐसे स्थलों में उसका असंभव हो जाता है। अर्थात् इस लक्षण की जिज्ञासारहित वाक्यार्थ बोध में अव्याप्ति होती है। उसे दूर करने के लिये लक्षण में 'योग्यत्व' पद का निवेश आवश्यक है।

जिज्ञासारहित व्यक्ति को होने वाले वाक्यार्थ-बोध में पदार्थों को परस्पर जिज्ञासाविषयत्व न होने पर भी उसकी योग्यता उनमें रहती है, अर्थात् वे पदार्थ परस्पर की जिज्ञासा में विषय बनने के योग्य रहते हैं। अतः उक्त अव्याप्ति का निराकरण हो जाता है। पदार्थ में यह योग्यता किस धर्म से आती है? अर्थात् इस योग्यता का अवच्छेदक (भेदक) धर्म कौन सा आप

मानते हैं? लक्ष्यता के अन्यूनानतिरिक्तवृत्तिधर्म को ही अवच्छेदक कहते हैं। अर्थात् जो धर्म अपने लक्ष्य से अन्यत्र कहीं नहीं रहता और यावत् (समस्त) लक्ष्य पर रहता है वह ही अवच्छेदक बन सकता है। जैसे दण्ड, घट का कारण है। परन्तु दण्ड में घट के प्रति जो कारणता है, वह किस धर्म से है, ऐसी आकांक्षा होने पर दण्ड में विद्यमान पार्थिवत्व या पीतदण्डत्व को उसका अवच्छेदक नहीं कह सकते। क्योंकि पार्थिवत्व यद्यपि यावत् दण्डों में रहने पर भी दण्डभिन्न पटादिकों पर भी रहता है, इसलिये वह अतिरिक्त वृत्ति है। उसी तरह पीतदण्डत्व, रक्तदण्ड में नहीं रहता इसलिये यह पीत-दण्डत्व, न्यून वृत्ति है, अतः न्यून या अधिक प्रदेश में न रहने वाला ऐसा दण्डत्व धर्म ही यहां पर अवच्छेदक है, समझना चाहिये। इस प्रकार आप प्रकृत स्थल में योग्यता का अवच्छेदक किसे कहते हैं? अर्थात् योग्यता में अन्यून, अनतिरिक्त वृत्ति कौन सा धर्म आपको सम्मत है! 'अर्थवत्पदवत्त्व'—वाक्य में अर्थयुक्त पदों का होना, इसे यदि आप अवच्छेदक मानें तो उस धर्म से अवच्छिन्न योग्यता से घटित जो आकांक्षालक्षण, वह 'गौरश्वः' आदि पदसमूह में' अतिव्याप्त होगा। इसलिये उसे अवच्छेदक नहीं मान सकते। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि हम अर्थवत्पदवत्त्व को योग्यतावच्छेदक नहीं मानते, अपितु कारक पर विद्यमान कारकत्व और क्रिया पर विद्यमान क्रियात्व ही योगतावच्छेदक हैं, कहते हैं। केवल 'गाय, घोड़ा, पट' आदि पदों में क्रियात्व या कारकत्व अवच्छेदक नहीं। इसलिये ऐसे निराकांक्ष पदों पर जिज्ञासा विषयत्व योग्यत्वरूप आकांक्षा का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता। इसी प्रकार इतिकर्तव्यताबोधक वाक्य में इतिकर्तव्यतात्व ही अवच्छेदक समझना चाहिये। 'गौरश्वः' आदि पद-समूह में अतिव्याप्ति न होने के लिये क्रियात्व, कारकत्व आदिकों को योग्यता का अवच्छेदक मानने पर भी 'तत्त्वमसि' आदि अभेदार्थक वाक्यों में क्रियात्व या कारकत्व आदि का अवच्छेदक होना संभव नहीं। इसलिये उन वाक्यों में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है।

समाधान—तत्त्वमस्यादि वाक्यों में क्रियात्व, कारकत्व को हम अवच्छेदक नहीं कहते। किन्तु जिनकी विभक्ति समान (एक) है ऐसे पदों से प्रतिपाद्यत्व—ऐसे स्थल पर अवच्छेदक हम मानते हैं। 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' ये पद, समानविभक्तिक हैं अर्थात् दोनों की भी 'प्रथमा' यह एक ही विभक्ति है। और उन पदों से जीव और ब्रह्म का अभेद प्रतिपाद्य है। अतः उपर्युक्त अव्याप्ति नहीं हो पाती।

समानविभक्तिकपद-प्रतिपाद्यत्व को अवच्छेदक मानने पर 'गौरश्वः' आदि स्थल में लक्षण की पुनः अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि वहां पर 'गौः' और 'अश्वः' आदि पद भी एक ही प्रथमा विभक्ति में हैं।

परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि 'गौरश्वः' आदि पदसमूह से वहां अभेद प्रतिपाद्य नहीं है। गाय कभी अश्व नहीं होती। और न अश्व कभी गाय। इसलिये उन पदों का अभेद प्रतिपादकत्व मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध होगा। अर्थात् उनका अभेदार्थ मानने के लिये योग्यतारूप कारण के अभाव में (न होने पर) उन पदों के अभेदान्वय का संभव नहीं। इसलिये समानविभक्तिक-पद-प्रतिपाद्यत्व रूप अवच्छेदक, जो अभेदान्वय स्थल में अवश्य अपेक्षित होता है उसका यहां संभव नहीं है। इसलिए उक्त अतिव्याप्ति की शंका करना ठीक नहीं है। इस प्रकार भेदान्वयस्थल में क्रियात्व-कारकत्वादि और अभेदान्वय स्थल में समानविभक्तिकपद-प्रतिपाद्यत्व, योग्यता का अवच्छेदक धर्म होता है। सर्वत्र एक अवच्छेदक मानने की अपेक्षा स्थल-विशेष में भिन्न-भिन्न अवच्छेदक मानने में गौरव है तथापि वह फलमुख होने से उस पर अननुगम रूप दोष नहीं आता।

नैयायिक आकांक्षा का इस प्रकार लक्षण करते हैं—

'पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम्' इसका अर्थ इस प्रकार है—अपने को अपेक्षित दूसरे पद के अभाव के कारण (अनुच्चारण के कारण) एक पद का शाब्दबोध न होना ही आकांक्षा है। जैसे—'गामानय'= गाय लाओ। यह वाक्य है। परन्तु यदि कोई 'गाम्' इतना ही पद कहे, तो उसे अपेक्षित 'आनय' पद के अभाव के कारण 'गाम्' पद से अन्वय का (शाब्द ज्ञान का) बोध नहीं होता। अर्थात् 'गाम्' के साथ 'आनय' पद का उच्चारण होने पर ही अन्वय-बोध होगा। विना उसके नहीं होगा। इसलिये वह वाक्य साकांक्ष है। और ऐसे आकांक्षायुक्त वाक्य से ही वाक्यार्थबोध होता है। नैयायिकों के आकांक्षालक्षण का यह आशय है।

परन्तु यह नैयायिकाभिमत आकांक्षा, वाक्यार्थ-निर्णायक मीमांसकों को मान्य नहीं है। इसलिये वह अग्राह्य है। वाक्यार्थ के निर्णयार्थ ही मीमांसा प्रवृत्त हुई है। इसलिये वाक्यार्थ-निर्णय के प्रसंग में मीमांसकों का मत ही अधिक ग्राह्य है। इसी आशय से ग्रन्थकार कहते हैं—

एतादृशाकाङ्क्षाऽभिप्रायेणैव बलाबलाधिकरणे 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र वैश्वदेवयागस्यामिक्षाऽन्वितत्वेन न वाजिनाकाङ्क्षेत्यादिव्यवहारः।

अर्थ—हमारा बताया हुआ आकांक्षा का लक्षण मीमांसकों को भी अभिमत होने से इसी प्रकार की आकांक्षा को मानकर बलाबलाधिकरण में 'वह आमिक्षा वैश्वदेवी (विश्वेदेव देवताक) है, और वाजिन वाजिदेवताक है' इस वाक्य का विचार करते समय वहाँ पर वैश्वदेव याग का आमिक्षा के साथ

अन्वय होने से वाजिनान्वय की उसे आकांक्षा नहीं रहती। इसलिये वैश्वदेव याग का वाजिन से अन्वय नहीं होता, कहा है।

विवरण—पूर्वमीमांसा के तीसरे अध्याय के तीसरे पाद में 'बलाबलाधिकरण' नामक अधिकरण है। 'सन्दिग्ध-वाक्यार्थ का, विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और संगति, इन पाँच अवयवों से निर्णय करना' इसे 'अधिकरण' यह पारिभाषिक संज्ञा मीमांसकों की है। इस अधिकरण में श्रुति, लिङ्ग आदिकों के दौर्बल्य, प्राबल्य का विचार किया है। इस कारण इसे 'बलाबलाधिकरण' कहते हैं। इस अधिकरण का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१४) इस सूत्र ने श्रुत्यादिकों के बलाबल का निर्णय किया है। यहाँ पर श्रुति-लिङ्गादिकों के बलाबल का विचार ही विषय है। क्योंकि एक ही स्थल में जब श्रुति-लिङ्ग आदि अनेक की प्राप्ति होती है, तब उनमें से बलवत् और दुर्बल प्रमाण का विचार कर दुर्बल का बाध करके बलवत् प्रमाण के द्वारा निर्णय करना होता है। इस विषय में मीमांसा का उदाहरण इस प्रकार है—"ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" यह श्रुति, ऐन्द्रीऋचा से गार्हपत्य का उपस्थान करे, बताती है। और 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रसश्चसि दाशुषे' इस वचन में 'इन्द्र' यह लिङ्ग है। इससे उस मन्त्र का इन्द्रोपस्थान में विनियोग करना बताया गया है। ऐसी परिस्थिति में लिङ्ग से श्रुति का बाध करके इन्द्रोपस्थान किया जाय? या श्रुति से लिंग का बाध कर गार्हपत्योपस्थान किया जाय? ऐसा संशय उपस्थित होता है।

इस पर इस प्रकार पूर्वपक्ष किया जाता है—जब कि श्रुति, गार्हपत्य का उपस्थान (स्तवन) करने को कहती है और 'इन्द्र' रूप लिङ्ग इन्द्रोपस्थान करना, बता रहा है, तब 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्जुहोति' यहाँ पर जैसे व्रीहि से अथवा यव से याग करे—ऐसा विकल्प स्वीकार किया गया है वैसे ही यहाँ पर भी अपनी इच्छा के अनुसार इन्द्र या गार्हपत्य का उपस्थान करे, अर्थात् उनके उपस्थान का विकल्प या समुच्चय समझा जाय।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उपर्युक्त 'श्रुतिलिङ्गवाक्य०' आदि सूत्र से सिद्धान्त बताया है। जो इस प्रकार है—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या इनकी एकत्र प्राप्ति होने पर आगे आगे के लिङ्गादि दुर्बल हैं। अर्थात् लिंगादि पाँचों की अपेक्षा श्रुति प्रबल है। वाक्यादिकों की अपेक्षा लिंग प्रबल, और सबकी अपेक्षा समाख्या दुर्बल है। गार्हपत्योपस्थानरूप श्रुत्यर्थ संनिकृष्ट है और इन्द्रोपस्थान रूप लिङ्गगम्य अर्थ विप्रकृष्ट है। गार्हपत्योपस्थान रूप अर्थ साक्षात् श्रुति के द्वारा बताये जाने के कारण प्रथमतया बुद्धि में शीघ्र उपस्थित होता है परन्तु 'इन्द्र' रूप लिङ्ग का अर्थ शीघ्र उपस्थित

नहीं होता। क्योंकि लिंग से इतना ही प्रतीत होता है कि इन्द्र का और इस मंत्र का सम्बन्ध है। इतना ही अर्थ प्रथमतः मन में उपस्थित होता है और पश्चात् 'जब कि इनका संबन्ध है तब इस ऋचा से इन्द्रोपस्थान करे' इस प्रकार श्रुति का अनुमान करना पड़ता है। इस प्रकार 'ऐन्द्रया इन्द्रमुपतिष्ठेत्' ऐसी श्रुति की कल्पना करने से पूर्व ही उक्त श्रुति 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' स्वार्थ का विधान कर देती है। यही न्याय लिंगादि अन्य प्रमाणों की ओर लगाकर उनके द्वारा वाक्यादिकों का बाध समझना चाहिये। इस अध्याय का विषय अंगांगिभाव बताना ही होने से उसकी तदनुरूप संगति की कल्पना कर लेनी चाहिये।

प्रकृत में बलाबलाधिकरण का स्वरूप बताने का प्रयोजन यह है कि वाक्य और श्रुति की एक जगह प्राप्ति होने पर श्रुति के द्वारा वाक्य का बाध किस प्रकार होता है, इसका 'आमिक्षावाजिनन्याय' उदाहरण है। इस अधिकरण का भी संक्षेप में स्वरूप बताते हैं—'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इस श्रुति वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—तपे हुए दूध में दही डालने पर फटे हुए दूध में जो घन भाग तैयार होता है—वह आमिक्षा, वैश्वदेवी = विश्वेदेवदेवताका है और जो पानी बचा रहता है उसे वाजिन कहते हैं, वह वाजिदेवताओं के लिए है। इस अधिकरण में 'वाजिभ्यो वाजिनम्' रूप वाक्यांश, विषय है। यहां पर जिसका वाज (आमिक्षा रूप अन्न) है—वह वाजी, इस (मत्वर्थीय इन्) व्युत्पत्ति से वाजि शब्द, विश्वेदेवबोधक है, और वैश्वदेव याग में ही वाजिन् द्रव्य का विधान है? मानें, या वाजी नामक कोई अन्य देवता है? और उसका बोधक यह वाजिन् शब्द है, ऐसा समझ कर वाजिदेवताक एक स्वतंत्र याग का विधान है? इस प्रकार संशय उत्पन्न होता है। तब पूर्वपक्ष इस प्रकार करते हैं—उक्त व्युत्पत्ति से वाजिन में वैश्वदेव याग का ही अंगत्व समझना चाहिये।

शंका—'तप्ते पयसि-वाक्य में आमिक्षा नामक द्रव्य भी कहा गया है तब उस उत्पत्तिशिष्ट आमिक्षा द्रव्य से वाजिन का बाध होगा' परन्तु यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि दोनों का जब कि विधान है तब इन दो द्रव्यों का विकल्प समझ लिया जाय अथवा वाजिन तथा आमिक्षा दोनों का समुच्चय कर (मिलाकर) वैश्वदेव याग करे।

इस पर सिद्धान्त किया गया कि—वाजिन में वैश्वदेवयागांगत्व का होना संभव नहीं। क्योंकि 'वैश्वदेवी आमिक्षा' यहां वैश्वदेवी शब्द से 'विश्वेदेव जिसकी देवता है' यह अर्थ विवक्षित है। विश्वेदेव शब्द से 'साऽस्य देवता' इस पाणिनिसूत्र से देवता अर्थ में तद्धित 'अण्' प्रत्यय किया है। इसलिये आमिक्षा की विश्वेदेव रूप देवता तद्धितश्रुतिरूप प्रमाण से प्राप्त है, और

वाजिन का विश्वेदेव से जो संबंध होगा, यह समभिहाररूप वाक्य से ही होगा। अतः श्रुति प्रमाण, वाक्य प्रमाण की अपेक्षा प्रबल होने से श्रुति से वाक्यप्राप्त वाजिन का बाध होता है। क्योंकि वैश्वदेव याग की देवता-विषयक आकांक्षा, -तद्धितश्रुति से प्राप्त होने के कारण प्रबल हुई आमिक्षा से ही शांत होती है, पुनश्च उस याग को वाजिन की आकांक्षा नहीं रहती। क्योंकि वाजिन से अन्वय करते समय वह वाजिन, निराकांक्ष हुए वैश्वदेव याग की जिज्ञासा में विषय होने के योग्य नहीं है। इसलिये यहां वाजिन और आमिक्षा का विकल्प या समुच्चय स्वीकार न कर आमिक्षा से वैश्वदेव याग करे और वाजिन द्रव्य से वाजिदेवताक स्वतंत्र (पृथक्) याग करे। इस प्रकार दो पृथक् यागों का विधान है।

ग्रन्थकार ने जो पदार्थ, जिज्ञासा के विषय होने में योग्य रहता है तद्विषयक ही आकांक्षा मीमांसकों को मान्य होती है। नैयायिकों की अभिमत आकांक्षा, प्रमाणरहित होने से मान्य नहीं है। अतः उसका स्वीकार न किया जाय, यह कथन करने के लिये ही यहां बलाबलाधिकरण का और आमिक्षा का उल्लेख किया है। इससे वेदान्तियों का बताया आकांक्षा—लक्षण ही युक्त है।

अब नैयायिकाभिमत आकांक्षा और मीमांसकों से बताई हुई आकांक्षा में क्या भेद है? नैयायिक के पक्ष में दोष बताते हैं। नैयायिक—एक पद को दूसरे पद की आकांक्षा मानते हैं और वह अन्वयबोधाभावरूप (अन्वयबोध के प्रागभाव रूप) है।

वेदान्ती—आकांक्षा, पद की न मानकर उनके अर्थ को, स्वीकार करते हैं। और वह अन्वय-बोध प्रागभावस्वरूप न होकर, जिज्ञासाविषयत्व योग्यत्वरूप (भावरूप) स्वीकार करते हैं। नैयायिकों के समान आकांक्षा को पदनिष्ठ और अभाव रूप मानने पर 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्' इस श्रुतिवाक्य में-वैश्वदेव याग का जैसे आमिक्षा से अन्वय होता है, उसी प्रकार वाजिन से भी अन्वय होने लगेगा, और इस याग के दो द्रव्य हैं, ऐसा अनुपपन्न अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा। जिससे कर्म में विप्रतिपत्ति होगी। क्योंकि आमिक्षा पद के समान वाजिन पद को भी विश्वेदेवान्वयबोधप्रागभावरूप आकांक्षा है ही। तस्मात् आकांक्षा, वाजिनादि पदों की न होकर अर्थ की रहती है, और वह अन्वयबोधाभावरूप न होकर जिज्ञासा-विषयत्वयोग्यत्वरूप ही स्वीकार करनी चाहिये।

आपके कथनानुसार आकांक्षा का लक्षण स्वीकार करने पर भी वाजिन का वैश्वदेव के साथ अन्वय होने का अति प्रसंग नहीं टलता। अर्थात् आपक

आकांक्षा का लक्षण निराकांक्ष (आकांक्षा रहित) वाजिन में अतिव्याप्त होता है। इस आशय की शंका कर ग्रन्थकार उसका—समाधान भी करते हैं।

ननु तत्रापि वाजिनस्य जिज्ञासाऽविषयत्वेऽपि तद्योग्यत्वमस्त्येव। प्रदेयद्रव्यत्वस्य यागनिरूपितजिज्ञासाविषयतावच्छेदकत्वादिति चेद्, न। स्वसमानजातीयपदार्थान्वयबोधविरहसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वस्यैव तदवच्छेदकत्वेन वाजिनद्रव्यस्य स्वसमानजातीयामिक्षाद्रव्यान्वयबोधासहकृतत्वेन तादृशावच्छेदकाभावात्। आमिक्षायां तु नैवं वाजिनाऽन्वयस्य तदाऽनुपस्थितत्वात्।

उदाहरणान्तरेष्वपि दुर्बलत्वप्रयोजक आकाङ्क्षाविरह एव द्रष्टव्यः।

अर्थ—'तप्ते पयसि' इत्यादि वाक्य में भी वाजिन को—वैश्वदेव याग की जिज्ञासा का विषयत्व न होने पर भी जिज्ञासा का विषय होने की योग्यता है ही। (वैश्वदेव याग को वाजिन की आकांक्षा होना रूप दोष आपके पक्ष में भी आता ही है) क्योंकि प्रकृत में यागनिरूपित (याग की जिज्ञासा-विषयत्व योग्यता का) अवच्छेदक 'प्रदेयद्रव्यत्व' (देने के योग्य द्रव्य होना) है, और वह प्रकृत वाजिन में भी है।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि हम केवल प्रदेयद्रव्यत्व को ही योग्यता का अवच्छेदक नहीं मानते। किन्तु स्वसमानजातीय पदार्थ के अन्वयबोधाभाव से सहकृत (युक्त) प्रदेयद्रव्यत्व ही प्रकृत स्थल में योग्यता का अवच्छेदक है। इस कारण वाजिन से अन्वय करते समय उक्त अवच्छेदक नहीं है, किन्तु आमिक्षा से याग का अन्वय करते समय उक्त योग्यता-वच्छेदक (प्रदेयत्व) रहता है। क्योंकि आमिक्षा से याग का अन्वय करते समय उसका वाजिन से अन्वय उपस्थित (प्राप्त) ही नहीं होता। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी (श्रुति-लिंग आदि की युगपत्प्राप्तिरूप उदाहरणों में भी) श्रुति से अन्य लिंगादि प्रमाणों में 'पारदौर्बल्य' न्याय से आकांक्षा का अभाव रहता है, इस प्रकार समझ लेना चाहिये।

विवरण—शंका करने वाले का आशय यह है कि—आप जिज्ञासा विषयत्व को तो आकांक्षा का लक्षण मानते नहीं, किन्तु आपके मत में जिज्ञासाविषयत्व योग्यत्व ही आकांक्षा का लक्षण है। परन्तु ऐसा मानने पर 'वाजिन का भी वैश्वदेव याग से अन्वय होने लगेगा' इस प्रकार का दोष आपके पक्ष में भी स्थित है। क्योंकि वैश्वदेव याग की आकांक्षा, श्रुति प्रमाण से प्राप्त आमिक्षा से ही शान्त हो जाने के कारण उस याग की

जिज्ञासा में वाजिन के विषय न होने पर भी उसमें (वाजिन में) जिज्ञासा विषय बनने की योग्यता तो है ही। कारण यह है कि प्रकृत स्थल में याग की योग्यत्वरूप आकांक्षा का अवच्छेदक, प्रदेयद्रव्यत्व को ही मानना चाहिये। तथाहि—

याग का अर्थ है—देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग (दान) उस त्याग (दान) को देय पदार्थ (वस्तु) की अपेक्षा रहती है। अर्थात् 'किस वस्तु का त्याग (दान) करें, ऐसी द्रव्याकांक्षा याग को होती है, तब समीप में पठित प्रदेय द्रव्य से वह आकांक्षा पूर्ण होती है। अतः जो द्रव्य सन्निहित होते हैं, वे 'देने के योग्य हैं' ऐसा निश्चित होते ही वे द्रव्य, याग की जिज्ञासा के विषय होते हैं। अर्थात् आमिक्षादि द्रव्यों में जिज्ञासा का विषय होने की योग्यता ही, योग्यता का अवच्छेदक धर्म है अर्थात् 'प्रदेयद्रव्यत्व' ही अवच्छेदक धर्म है, यह आपको मानना चाहिये। ऐसा मानने पर वह प्रदेय द्रव्यत्व जैसे आमिक्षा में है वैसे ही वाजिन में भी है। क्योंकि वाजिन, आकाश जैसा अदेय (देने के अयोग्य) पदार्थ तो है नहीं। जिस प्रकार आमिक्षा प्रदेय द्रव्य है उसी प्रकार वाजिन भी है। इसलिये उस अवच्छेदक से अवच्छिन्न (युक्त) योग्यत्वरूप आकांक्षालक्षण, प्रकृत वाजिन में अतिव्याप्त होता है। अतः हमारे पक्ष में जो दोष आपने दिया, वही आपके मत में भी आता है।

इस पूर्व पक्ष का 'इति चेत्' पदों से अनुवाद कर 'न' आदि ग्रन्थ से उसका समाधान बताया है। उसका आशय इस प्रकार है—हम प्रदेय द्रव्यत्व मात्र को ही यहां योग्यता का अवच्छेदक मानते होते तो आपके कथनानुसार वह दोष हमारे पक्ष में भी आया होता। परन्तु हम केवल प्रदेय द्रव्यत्व को योग्यतावच्छेदक नहीं मानते, और वैसा मानना उचित भी नहीं है। कारण यह है कि द्रव्य में, प्रदेयत्व धर्म के होने मात्र से ही वह द्रव्य (पदार्थ) याग की जिज्ञासा का विषय होने योग्य रहता ही है यह नियम यदि कर दिया जाय ('प्रदेयद्रव्यत्व' मात्र ही योग्यता का अवच्छेदक मानने पर) तो जिस वाक्य से एक बार शाब्दबोध हो गया है उसी से पुनः शाब्दबोध होने का प्रसंग प्राप्त होगा। अर्थात् 'वैश्वदेवी आमिक्षा' इस वाक्य से एक बार 'आमिक्षा से वैश्वदेव याग करे' यह अर्थ प्रतीत होने पर भी आमिक्षा का प्रदेय द्रव्यत्व रूप धर्म निवृत्त न होने से पुनः पुनः उस वाक्य से वही अर्थ प्रतीत होने का अतिप्रसंग प्राप्त होगा। इसलिये प्रदेयद्रव्यत्वरूप धर्म को योग्यतावच्छेदक नहीं स्वीकार कर सकते। अतः हम 'प्रदेयद्रव्यत्व में 'स्वसमानजातीय०' इत्यादि विशेषण देकर जो प्रदेयद्रव्यत्व, अपने सहित कहे गये अन्य प्रदेय द्रव्य के अन्वयबोधाभाव से युक्त होने का (जिस प्रदेय द्रव्य का याग के साथ अन्वय होते समय

यागसन्निधिपठित अन्य द्रव्य से अन्वित होने का) ज्ञान यदि न हो तो उस प्रदेय द्रव्य में प्रदेयद्रव्यत्वरूप धर्म ही, योग्यता का अवच्छेदक होता है' ऐसा मानते हैं। यहां 'स्वसमानजातीयपदार्थान्वयबोधाभाव' विशेषण है और 'प्रदेयद्रव्यत्व' विशेष्य है। इस विशेषण से विशिष्ट हुए प्रदेय द्रव्यत्व को ही अवच्छेदक माना है। इस कारण उन विशेषण विशेष्य में से एक के न होने पर भी विशिष्टाभाव सिद्ध होता है।

वाजिन में 'प्रदेयद्रव्यत्व' रूप विशेष्य तो है परन्तु 'अन्वयबोधाभाव' रूप विशेषण नहीं है। कारण यह है कि याग का वाजिन के साथ अन्वय करते समय अपने साथ पढ़े गये आमिक्षा द्रव्य के साथ याग के अन्वय का ज्ञान हुआ रहता है। इसलिये विशेषण के न होने से 'विशिष्टद्रव्यत्व' वहाँ नहीं है। अर्थात् वाजिन में हमारा माना हुआ विशिष्टयोग्यतावच्छेदक न होने से वह (वाजिन) याग की जिज्ञासा के विषय होने योग्य नहीं है। इसलिये हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं आने पाता।

इस पर यदि आप कहें कि इस प्रकार के विशिष्ट अवच्छेदक के मानने पर याग का आमिक्षा के साथ भी अन्वय न हो सकेगा। क्योंकि आमिक्षा के साथ अन्वित होते समय याग का अपने समीप में पठित वाजिन के साथ अन्वय होने का ज्ञान नहीं है, नहीं कहा जा सकता। (याग और वाजिन के अन्वय का ज्ञान तो रहता ही है) अर्थात् वाजिन के साथ उसके अन्वय का ज्ञान होते रहने से 'अन्वयबोधाभाव' रूप विशेषण वहां भी नहीं है, तब आपका विशिष्ट अवच्छेदक वहां कैसे होगा ? उसके न होने पर आमिक्षा, यागनिरूपित (याग की) जिज्ञासा की षिषय भी कैसी बनेगी ? अर्थात ऐसे अवच्छेदक के मानने पर याग की जिज्ञासा का विषय न वाजिन होता है और न आमिक्षा ही होती है। क्योंकि जैसे वाजिन से अन्वय होते समय आमिक्षा-न्वय उपस्थित रहता है उसी प्रकार आमिक्षा से अन्वय करते समय वाजिना-न्वय भी उपस्थित रहता है।

परन्तु यह शंका ठीक नहीं है, कारण, वाजिनान्वय जैसी आमिक्षान्वय के समय स्थिति नहीं है। आमिक्षा, श्रुतिप्रमाण से प्राप्त है, इसलिये वह वाक्य प्रमाण से प्राप्त होने वाले वाजिन की अपेक्षा पूर्वोक्त बलाबलाधिकरण न्याय से प्रबल है। प्रबल होने से आमिक्षा का याग से प्रथमतः अन्वय होता है, उस समय वाजिनान्वय की प्राप्ति भी नहीं रहती। क्योंकि वाक्य से प्राप्त वाजिन, प्रथम लिंग की तदनन्तर श्रुति की कल्पना कर याग के साथ अन्वित होने के योग्य हो पाता है। परन्तु आमिक्षा साक्षात् श्रुत होने से उसे अन्वित होने में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिये वह प्रथम क्षण में ही याग से अन्वित होती है। उस समय वाजिनान्वयबोध का अभाव होने से

उससे (अभाव से) विशिष्ट अवच्छेदक का होना आमिक्षा में संभव है। अत एव याग को आमिक्षाविषयक जिज्ञासा होती है, और उसकी पूर्ति प्रत्यक्षश्रुत आमिक्षा से होती है । तत्पश्चात् वाजिनान्वय के समय में आमिक्षान्वयबोध के विद्यमान होने से उक्त योग्यतावच्छेदक का वाजिन में होना संभव नहीं । इस कारण 'वाजिन से याग का अन्वय होने लगेगा' यह दोष हमारे पक्ष में नहीं होता ।

इसी न्याय से जहां श्रुति लिंगादिकों में से दो की प्राप्ति होगी वहां श्रुत-होने से प्रबल हुए पदार्थ के साथ एक बार अन्वय होने के बाद, दुर्बल लिंगा-दिकों से प्राप्त पदार्थों के साथ याग का अन्वय नहीं होता, समझ लेना चाहिये । तस्मात् उक्त विशिष्टयोग्यतावच्छेदक से युक्त आकांक्षा लक्षण, जो पूर्वोत्तर मीमांसासम्मत है, सर्वथा समुचित है । इस प्रकार आकांक्षा का लक्षण बताकर अब योग्यतारूप दूसरे (वाक्यार्थ ज्ञान के) कारण का निरूपण-करते हैं—

योग्यता च तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गाबाधः । वह्निना सिञ्च-तीत्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्न योग्यता । 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादावपि तात्पर्यविषयीभूतपशुप्राशस्त्याबा-धाद् योग्यता । तत्त्वमस्यादिवाक्येष्वपि वाच्याभेदबाधेऽपि लक्ष्यस्वरूपाभेदबाधाभावाद् योग्यता ।

अर्थ—तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का बाध न होना ही योग्यता है । 'अग्नि से सिंचन करता है' आदि वाक्य में योग्यता नहीं है । क्योंकि उस वाक्य का अग्निकरणक आर्द्रीकरणरूप अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है । 'उस प्रजापति ने अपनी वपा (पेट के भीतर कोमल महीन वस्तु) को खींच-कर निकाला और उससे अग्नि में हवन किया' आदि वाक्य का पशुप्राशस्त्य ही तात्पर्यविषयीभूत अर्थ है और वह किसी प्रमाण से बाधित न होने के कारण उस वाक्य में योग्यता है । उसी तरह 'वह ब्रह्म तू है' आदि वाक्य में भी योग्यता के लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि 'तत्' और 'त्वम्' इन पदों के वाच्य अर्थ में अभेद का बाध होने पर भी लक्ष्यार्थभूत चैतन्य के अभेद रूप अर्थ का बाध नहीं होता ।

विवरण—वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का (कर्मत्वादि संबंध का) बाध न होना—योग्यता का लक्षण है । 'वत्सं बधान' बछड़े को बांधो, इस वाक्य में योग्यता है । क्योंकि यहां वत्सकर्मक बन्धन—तात्पर्यविषयी-भूत संसर्ग है । वह किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता । परन्तु, यहाँ

'संसर्गाबाधः' न कहकर केवल 'तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गः' इतना ही लक्षण यदि किया होता तो 'अग्निना सिञ्चेत्' आदि वाक्य पर उसकी अतिव्याप्ति हुई होती। इस आशय से ग्रन्थकार ने 'वह्निना' इत्यादि कहा है। 'अग्नि से सिंचन करे' इस वाक्य का 'अग्नि-करणक सेचन' रूप अर्थ वक्ता के तात्पर्य का विषय है। परन्तु उस करणत्व संसर्ग का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाध होता है। क्योंकि दाहक अग्नि से तद्विरुद्ध आर्द्रीकरण क्रिया का होना संभव नहीं। इसलिये उक्त योग्यता के लक्षण की ऐसे वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी तरह 'जलेन दहेत्' इत्यादि वाक्य में योग्यता नहीं है—समझना चाहिये।

'संसर्गाबाधः' इतनाही लक्षण न कर उस संसर्ग में 'तात्पर्यविषयीभूत' विशेषण क्यों दिया ? यह 'स प्रजापतिः' आदि वाक्य से बताया गया है।

'संसर्गाबाधः' इतनाही लक्षण यदि करें तो 'स प्रजापतिः' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में अव्याप्ति होगी। क्योंकि अपनी वपा का उत्खेद करने पर कोई जीवित नहीं रह सकता। इस कारण उस वाक्य का कर्मत्व रूप संसर्ग अन्य प्रमाणों से बाधित होता है, इसलिये वह अर्थ, तात्पर्यविषयीभूत होना चाहिये,—यह हमारा कहना है। प्रकृत स्थलमें प्रत्यक्ष वपा का उत्पाटन, श्रुति के तात्पर्य का विषय नहीं है किन्तु पशुप्राशस्त्य ही श्रुति को विवक्षित है। जो प्रजाकाम हो 'स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत' वह इस प्रजापतिदेवताक तूपर = शृंगरहित पशुका आलंभन = हनन करे' इस विधिका प्रशस्तत्व बताने के लिये 'स प्रजापतिः' इत्यादि वाक्य श्रुति में पठित है। जिस पशु को सींग नहीं होते उसे 'तूपर' कहते हैं। इस गुणवाद रूप अर्थवाद का वाच्यार्थ इस प्रकार है कि पूर्व समय में पशु नहीं ही थे, तब प्रजापति ने अग्नि में अपनी वपा का हवन करते बराबर तूपर–अज उत्पन्न हुआ। इससे तात्पर्य इतना ही है कि तूपर पशुका हवन कर प्राजापत्य याग करने से विपुल पशुओं की प्राप्ति होती है। (मी. १–१–१०) इस अर्थ का किसी प्रमाण से बाध नहीं होता। इसकारण उस वाक्य में योग्यता की अव्याप्ति नहीं होती।

इसी प्रकार 'सोऽरोदीयद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' उसने रुदन किया इसलिये उसे 'रुद्र' कहते हैं। ऐसे अर्थवाद-वाक्यों में योग्यता है–समझना चाहिये। क्योंकि इस वाक्य का तात्पर्यार्थ इस प्रकार है—'बर्हिषि रजतं न देयम्' बर्हियाग में रजत का दान न करे, इस निषेध का यह अर्थवाद है। जो बर्हियाग में रजत देगा उसे एक वर्ष के भीतर ही रुदन का प्रसंग प्राप्त होता है। इस लिये बर्हियाग में रजतदान अप्रशस्त है। यह उस वाक्य का तात्पर्य-विषयभूत अर्थ है।

'तत्त्वमसि' वह ब्रह्म तू है 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं सच्चिदानन्द रूप ब्रह्मरूप हूं, इत्यादि वाक्यों में जीव और ब्रह्म का अभेद ही तात्पर्यविषयभूत संसर्ग है। और वह आपके कथनानुसार बाधित होता है। क्योंकि 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पदका अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है, और 'त्वं' पद का अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है। किन्तु उन परस्परविरुद्धधर्म-युक्त चैतन्यों में अभेद का संभव नहीं, इसलिये वह अर्थ बाधित होता है। इसीतरह 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में 'अहं' और 'ब्रह्म' इनके अभेदान्वय का संभव नहीं होता। इसलिये आपका योग्यता-लक्षण अभेदार्थक वाक्यों में अव्याप्त होता है।

इस शंका का 'तत्त्वमस्या'दि वाक्य से निराकरण इस प्रकार किया है—'तत्त्वम्' इत्यादि पदों का वाच्य (शक्य = शक्ति से ज्ञात होने वाला) अर्थ, श्रुति को विवक्षित नहीं है। किन्तु उन पदों का लक्ष्य (लक्षणा से ज्ञात होनेवाला—शुद्ध चैतन्य का अभेद रूप) अर्थ बताने में ही श्रुति का तात्पर्य है और वह अबाधित होने से पूर्वोक्त दोष नहीं आता। इसीतरह जहां पर (गंगायां घोषः) लक्ष्यार्थ विवक्षित रहता है वहां लक्ष्यार्थ का अबाध रहनारूप दृष्टि से ही योग्यता का लक्षण विवक्षित है। तस्मात् 'तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गाबाधः योग्यता' यह योग्यता का निर्दोष लक्षण है।

अब क्रमप्राप्त आसक्ति का लक्षण बताते हैं—

आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः। मानान्तरोपस्थापितपदार्थस्यान्वयबोधाभावात्पदजन्येति। अत एताश्रुतपदार्थस्थले तत्तत्पदाध्याहारः 'द्वारम्' इत्यादौ 'पिधेहि' इति। अत एव 'इषे त्वा'इत्यादिमन्त्रे 'छिनद्मि' इति पदाध्याहारः। अत एव विकृतिषु 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इति पदप्रयोगः।

अर्थ—अव्यवधान से (बीच में अन्य पदों का व्यवधान = उपस्थिति न होकर) जो पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति होने वाले पदार्थों का अन्वय में बोध नहीं होता, इसलिये 'पदजन्य' यह पद लक्षण में दिया है। पदजन्य पदार्थोपस्थिति अपेक्षित होने से ही जहां पर क्रिया-कारकादि दूसरा पद नहीं कहा हो ऐसे 'द्वारम्' इस एक शब्द के अर्थ की पूर्ति करने के लिये 'पिधेहि' ऐसे पदों का अध्याहार करना पड़ता है, और इसी कारण 'इषे त्वा' इत्यादि मंत्रों में 'छिनद्मि' ऐसे पद का ही अध्याहार करना चाहिये। यह निर्णय मीमांसा में किया है (मी० २-१-४७) ऐसी ही पदजन्य—उपस्थिति मीमांसकों को मान्य होने से सौर्यादि विकृति यागों में 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि'

मैं सूर्यदेवता को उद्देश्य कर सावित्र हवि का निर्वाप करता हूँ—इन पदों का उच्चारण करना चाहिये, यह सिद्धान्त किया गया है।

विवरण—पदजन्य पदार्थ की अव्यवधान से उपस्थिति होना ही आसत्ति है। जिस क्रिया-कारकादि पदसमूहरूप वाक्य से शाब्दबोध होता है उस वाक्य के पद, अन्य पदों के व्यवधान से (प्रतिबंध से) रहित होने चाहिये। जैसे—'गाम्' और 'आनय' ये दोनों पद, एक के बाद एक ऐसे क्रम से, बीच में अन्य पद के व्यवधान से रहित, उच्चारण करने से ही, उससे वाक्यार्थ-बोध होता है। परन्तु यदि कोई 'गाम्' कह कर चुप हो जाय या बीच में ही अप्रकृत कोई शब्द कह दे, बाद 'आनय' कहे तो श्रोता को उस वाक्य से कुछ भी अर्थबोध नहीं होगा। इसलिये आसत्ति, शाब्द-बोध में कारण रहनी है। इसी प्रकार 'चन्द्रं भुंच्व ओदनं पश्य' इत्यादि वाक्यों से भी अर्थबोध नहीं होता। क्योंकि यहाँ 'चन्द्रं' का 'पश्य' क्रिया से संबंध है। परन्तु 'पश्य' क्रिया, अव्यवधान से नहीं कही गई है। 'भुंच्व' और 'ओदनम्' इन दो पदों के व्यवधान से कही गई है। इस कारण ऐसे वाक्य में आसत्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' ऐसे पदसमूह में यद्यपि क्रिया-कारकादि समस्त पद उपस्थित रहते हैं और उनमें परस्पराकांक्षा तथा अन्वययोग्यता भी रहती है, तथापि उन पदों की अव्यवधान से उपस्थिति न होने के कारण उस वाक्य से 'देवदत्त ने खाया' और 'पर्वत अग्निमान् है। इस अर्थ की प्रतीति नहीं होती।

यहाँ अव्यवधान से जो पदार्थोपस्थिति होनी है। वह पदजन्य हो-यह क्यों कहा, उस का कारण ग्रंथकार ने 'मानान्तरोपस्थापित०' आदि ग्रन्थ से बताया है। उसका निष्कर्ष यह है—सामने घट दीखने पर भी कोई व्यक्ति अंगुलि-निर्देश करते हुए 'सोमदत्त! देखो' कहता है। उस समय सोमदत्त को घट का बोध होता है, परन्तु उस वाक्यार्थ में घट का अन्वय-बोध (शाब्दबोध) होता नहीं। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उस समय घट का बोध होता है।

आसत्ति के लक्षण में 'पदजन्य' यदि न दें तो प्रत्यक्षात्मक उपस्थिति भी 'सोमदत्त पश्य' इस वाक्य में अव्यवधान से ही होती है, अतः उस लक्षण की प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवृत्ति के लिये 'पदजन्य' पद आवश्यक है। घट का ज्ञान उक्त वाक्य के अव्यवधान से होने पर भी वह पदजन्य नहीं अर्थात् 'घटम्' इत्याकारक पद से नहीं हुआ है, इस लिये अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

पदार्थ की उपस्थिति पदजन्य होने पर ही उस पदार्थ का शाब्दबोध होता है और अन्य उपाय से पदार्थ का बोध हुआ तो वह प्रत्यक्षादि अन्य

प्रमाणों से होता है, यह आप कह रहे हैं। किन्तु ऐसा मानने पर 'द्वारम्' इतना ही शब्द श्रवण करने के बाद 'पिधेहि' क्रिया का जो ज्ञान होता है वह शाब्दबोधात्मक नहीं है कहना पड़ेगा। क्योंकि यहाँ पर 'विधान' अर्थ की उपस्थिति पदजन्य नहीं होती। किन्तु सभी शास्त्रकारों ने तो 'पिधान' क्रिया का ज्ञान शाब्दबोधात्मक माना है। तब सिद्धान्त में इसकी उपपत्ति किस प्रकार होगी? यह आकांक्षा होने पर ग्रन्थकार ने 'अत एवाश्रुत०' इत्यादि ग्रंथ से उसका समाधान बताया है। तथा हि—'पिधेहि' क्रिया का जो शाब्दबोध होता है वह पदजन्य ही होता है। क्योंकि पदजन्य पदार्थ-बोध ही शाब्दबोध में कारण होने से ऐसे अश्रुत पदार्थ स्थल में 'पिधेहि' पद का अध्याहार (योजना) करना होता है। इस प्रकार ऐसे अध्याहृत पद से ही इस बोध के होने से यहाँ आसक्ति-लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। प्रत्युत (विपरीत) 'पदार्थोपस्थिति' पदजन्य होनी चाहिये' यह सिद्धान्त ही, इस उदाहरण से पुष्ट होता है।

'द्वारम्' के अनन्तर 'पिधेहि' क्रिया (पद) का अध्याहार बिना किये भी उसके पिधानरूप अर्थ के अध्याहार करने से भी उपर्युक्त बोध की उपपत्ति का संभव हो सकता है' इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि वृत्ति के द्वारा जिस अर्थ की उपस्थिति नहीं होती वह अर्थ (पदार्थ) भी शाब्दबोध का विषय होता है, ऐसा मानने पर अनेक दोष उपस्थित होंगे।

१. जिस पद से पदार्थ का किसी प्रकार का संबंध हो उस पदार्थ का शाब्दबोध होता है—यह कहने पर 'घट शब्द' आकाश के साथ समवाय संबंध से संबद्ध होने से 'घटमानय' वाक्यका 'आकाशमानय' अर्थ भी होने लगेगा। इसलिये पद-पदार्थों का वृत्तिरूप विशेष संबंध ही मानना चाहिये।

और उसे मानने पर सर्वत्र वृत्ति के द्वारा ही शाब्दबोध के होने से 'द्वारम्' में मात्र विना वृत्ति के भी सामान्य संबंध से 'पिधेहि' अर्थ का शाब्द-बोध होता है, यह मानने में गौरव है।

२–वैसे ही 'द्वारम्' यहां द्वितीया का जो कर्मत्व रूप अर्थ है उसका कहीं भी अन्वय नहीं होगा। क्योंकि पदजन्य अर्थ का पदजन्य अर्थ से ही अन्वय करने का नियम है।

३-इसी प्रकार 'पुष्पेभ्यः' शब्द का उच्चारण कर 'स्पृहयति' पद का अध्याहार न करके सामान्य इच्छा रूप अर्थ का अध्याहार करने से 'स्पृह्' धातु के योग में ही होने वाली चतुर्थी विभक्ति की उपपत्ति नहीं लगेगी। तस्मात् प्रकृत में भी 'पिधेहि' पद का ही अध्याहार करना चाहिये। केवल पिधानादि

अर्थ का अध्याहार कर शाब्दबोध की उपपत्ति नहीं लग सकती। पदजन्य पदार्थोपस्थिति का ही पूर्व मीमांसकों ने भी स्वीकार किया है, यह प्रदर्शित करने के लिये ग्रन्थकार ने 'अत एव 'इषे त्वा' इत्यादि कहा है। उसका विवरण मीमांसा के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में इस प्रकार किया है—

'इषे त्वोर्ज्जे त्वा०' यह श्रुति, इस अधिकरण का विषय है। यहां संशय इस प्रकार किया है कि यह समस्त मंत्ररूप एक ही वाक्य है या विभिन्न दो वाक्य हैं? इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि यह एक ही वाक्य, मानना चाहिये, क्योंकि यह मंत्र अदृष्ट पदार्थ है। और दो अदृष्ट अर्थों की कल्पना करने की अपेक्षा, एक अदृष्ट के मानने में ही लाघव है। यहां क्रिया पद श्रुत नहीं है। इसलिये यह मंत्र कर्मप्रकाशक होने से दृष्टार्थ है, नहीं मान सकते। तस्मात् यह अदृष्टार्थ-प्रतिपादक एक वाक्य है, यही कहना चाहिये।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्' (२-१-४७) सूत्र से सिद्धान्त बताया है—ये दो भिन्न वाक्य हैं, ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि 'इषे त्वा' और 'उर्ज्जे त्वा' ये पद सम (परस्पर) की आकांक्षा नहीं रखते हैं।

यहां क्रिया पद के न होने पर भी ये दो वाक्य कैसे माने जा सकेंगे? इसका उत्तर यह है कि 'इषे त्वा' के बाद 'छिनत्ति' क्रिया का अध्याहार करना चाहिये, और 'उर्ज्जे त्वा' के अनन्तर 'अनुमार्ष्टि' = सम्मार्जन करता है, क्रिया का अध्याहार करना चाहिये। ये दोनों वाक्य क्रमशः पलाश-शाखा के छेदन और मार्जन रूप दो पृथक् कर्मों का प्रकाशन करने वाले दृष्टार्थक ही हैं, अर्थात् 'इषे त्वा' का अर्थ हे पलाश शाखे! मैं तुझे इच्छित अन्न के लिये तोड़ता हूँ। और 'उर्ज्जे त्वा' का अर्थ हे पलाशशाखे! मैं तुम्हारा रस के लिये अथवा बल के लिये सम्मार्जन करता हूँ। यह अर्थ निश्चित होता है। इसी तरह दूसरे एक वेदवाक्य में अश्रुत पद का अध्याहार बताने के लिये भी मीमांसा में एक अधिकरण बताया गया है। तथाहि—आग्नेय नामक प्रकृतियाग में 'देवस्य त्वा सवितुः······अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि मंत्र पठित हैं, उसका निर्णय मीमांसा में नवमाध्याय के प्रथम पाद में ३७-३९ सूत्रों से किया है। तथाहि उपर्युक्त मंत्र में 'अग्नि' शब्द का सौर्यादि विकृति याग में ऊह किया जाय या न किया जाय। अर्थात् 'अग्नि' शब्द के स्थान पर 'सूर्य' शब्द की योजना की जाय या न की जाय—यह संशय आने पर 'सवितुः' यहां 'सवितृ' शब्द का ऊह न करने के लिये जैसे पीछे के अधिकरण में बताया गया है, उसी प्रकार यहां पर 'अग्नि' पद का ऊह न किया जाय—यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सवित्रादि शब्द प्रत्यक्ष कर्म से संबद्ध नहीं हैं इसलिये उनका ऊह संभव न होने पर भी 'अग्न्यादि' शब्द तो प्रत्यक्ष कर्म से संबद्ध होने से विकृतियाग में

'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' यह ऊह करना चाहिये। यह सिद्धान्त किया है। यहां पर भी पदाध्याहार ही बताया गया है। सारांश यह है कि 'पद का अध्याहार न कर पद के अर्थ का अध्याहार किया जाय' यह मानने पर मीमांसा के पूर्वोक्त अधिकरणों से विरोध होता है। इसलिये उस पक्ष को छोड़कर पदाध्याहार पक्ष का ही स्वीकार करना चाहिये। तस्मात् आसक्ति के लक्षण में 'पदजन्य पदार्थोपस्थिति' का स्वीकार करना उचित ही है।

'पदजन्यपदार्थोपस्थिति, शाब्दबोध में कारण है। यह बताया गया। परन्तु वह पदार्थ कितने प्रकार का है, यह आकांक्षा होने पर ग्रन्थकार कहते हैं—

पदार्थश्च द्विविधः—शक्यो लक्ष्यश्चेति। तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः, यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृतिविशिष्टे वस्तुविशेषे वृत्तिः। सा च शक्तिः पदार्थान्तरम्। सिद्धान्ते कारणेषु कार्य्यानुकूलशक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात्।

अर्थ—और वह पदार्थ शक्य तथा लक्ष्य भेद से दो प्रकार का है (उनमें शक्य का अर्थ है शक्ति रूप वृत्ति से युक्त और लक्ष्य का अर्थ है लक्षणा रूप वृत्ति से युक्त)। पदों के वाच्य अर्थ में स्थित मुख्य वृत्ति को ही शक्य पद की घटक शक्ति कहते हैं। जैसे—'घट' पद की तल तथा मध्य भाग में वर्तुल आकार से युक्त वस्तु विशेष में रहने वाली वृत्ति ही शक्ति कही जाती है। वह शक्ति, पृथक् (अतिरिक्त) पदार्थ है। क्योंकि कारण में विद्यमान होती हुई कार्योत्पत्ति के अनुकूल (जनक) समस्त (यावत्) शक्ति को सिद्धान्त में पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है।

विवरण—कुछ लोग शक्य, लक्ष्य और गौण भेद से तीन पदार्थ मानते हैं। किन्तु मूल में 'पदार्थ द्विविध है' कहकर उनका निराकरण किया है। गौण पदार्थ का लक्ष्य पदार्थ में ही अन्तर्भाव होता है, यह आगे चलकर ग्रन्थकार स्वयं कहेंगे। पद का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध उसे वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति शक्ति तथा लक्षणा भेद से द्विविध है। इनमें से 'शक्ति' नामक वृत्ति से युक्त पदार्थ को शक्य या वाच्य और लक्षणा नामक वृत्ति से युक्त पदार्थ को लक्ष्य, यह शास्त्रीय संज्ञा है। इस कारण शक्य और लक्ष्य में से शक्य पदार्थ का निरूपण कर्तव्य होने पर पदार्थ को 'शक्य' संज्ञा जिस शक्ति के कारण प्राप्त होती है। उस शक्ति का ही यहां निरूपण किया है। वृत्तिरूप संबंध साक्षात् और परम्परा भेद से दो प्रकार का है। उनमें से पद का पदार्थ के साथ मुख्य (साक्षात्) अर्थात् प्रथमोपस्थित जो

संबंध=वृत्ति, उसे शक्ति कहते हैं—यह शक्ति का लक्षण है। उदा०—'घट' पद से प्रथमतः ही बड़े वर्तुल—मध्य भाग वाले, कृश कण्ठ वाले पदार्थ की उपस्थिति 'शक्ति' वृत्ति से होती है। परन्तु लक्ष्य पदार्थ के साथ पद का पहले जैसा साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् पद श्रवण होने के अनन्तर प्रथमतः ही लक्ष्य पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, अपितु शक्य (वाच्य) पदार्थ के द्वारा, परम्परा से (शक्य पदार्थ ज्ञान के व्यवधान से) होता है। इस कारण शक्ति का लक्षण लक्ष्य पदार्थ में अतिव्याप्त नहीं होता।

प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि 'पद के साथ अर्थ का जो सम्बन्ध उसे शक्ति कहते हैं। वह शक्ति द्रव्य-गुणादि सात पदार्थों से पृथक् (अतिरिक्त) पदार्थ नहीं है। किन्तु 'इस पद से यह अर्थ समझना' इत्याकारक जो ईश्वरेच्छा (आत्मगुणरूप पदार्थ) उसी में शक्ति का अन्तर्भाव होता है। आधुनिक 'देवदत्तादि' नाम में भी शक्ति है ही। क्योंकि 'पिता ग्यारहवें दिन पुत्र का नाम रखे' ऐसी ईश्वरेच्छा वहां भी रहती ही है।'

और नवीन नैयायिक—"ईश्वरेच्छा को शक्ति रूप न मानकर उसे केवल इच्छारूप ही मानते हैं। इस कारण आधुनिक संकेत में शक्ति का होना सिद्ध है।

नैयायिकों के मत का खण्डन करने के लिये ग्रन्थकार ने 'सा च शक्तिः' इत्यादि वाक्य से शक्ति को पृथक् पदार्थ सिद्ध किया है। तथाहि—प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार शक्ति का ईश्वरेच्छारूप होना संभव नहीं। क्योंकि मनुष्य की इच्छा से नदी-नगर आदिकों की जो संज्ञायें रूढ हुई हैं, उनमें ईश्वरेच्छा नहीं होती। अब नव्य नैयायिकों के कथनानुसार सामान्य इच्छारूप शक्ति को मानें तो वह भी संभव नहीं। क्योंकि मनुष्य पट आदि की इच्छा से घट आदि पद का उच्चारण करे तो वहां भी इच्छा के विद्यमान होने के कारण घट पद की पट में भी शक्ति का स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिये इस वृत्ति रूप शक्ति को पृथक् पदार्थ के रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। इतना ही नहीं, हम वेदान्तियों ने संसार की समस्त वस्तुओं के कारणों में विद्यमान कार्योत्पादनानुकूलता (कार्य उत्पन्न करने की योग्यता) को ही शक्ति समझ, सामान्यशक्ति को भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकृत किया है। तब पदनिष्ठ अर्थबोध रूप कार्य की जनक शक्ति हमारे मत में पृथक् पदार्थ है, यह तो अत्यन्त स्पष्ट है।

हमलोग 'अर्थापत्ति' प्रमाण से शक्ति का पार्थक्य (पृथक् पदार्थत्व) सिद्ध करते हैं। तथाहि—केवल अग्नि, दाह करने में समर्थ है, किन्तु मणि के सान्निध्य से दाह नहीं होता। इस कारण मणि के सान्निध्य से दाहकारणीभूत अग्नि की शक्ति नष्ट हो गई, यह कल्पना करनी पड़ती है। इसलिये

यह नष्ट होनेवाला शक्तिरूप पदार्थ, अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा विलक्षण (पृथक्) पदार्थ सिद्ध होता है। यदि यह कहें कि—प्रतिबन्धक का अभाव, कार्यमात्र के प्रति कारण होता है। यहां तो मणि रूप प्रतिबन्धक पदार्थ के विद्यमान होने से प्रतिबंधकाभावरूप कारण नहीं है, इसीलिये दाहरूप कार्य नहीं होता।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव अभावरूप होने से उसमें किसी भाव कार्य के प्रति कारणता नहीं बन सकती। इसके अतिरिक्त (१) दाहादिकार्य वह्निनिष्ठ दाहानुकूल शक्तिरूप पदार्थ से युक्त है, (२) क्योंकि उसमें कार्यत्व है, (३) घटादि के समान। यह अनुमान भी शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध करता है। इसी प्रकार 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इस परमात्मा की अनेकविध (सत्त्वादिगुणों से अनेकरूप) पर (सूक्ष्म), कार्यगम्य शक्ति है। 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञानगोचराः' सब पदार्थों में अचिन्त्य (अनिर्वचनीय) और कार्यज्ञानैकगम्य शक्तियाँ हैं, आदि अनेक श्रुतियाँ शक्ति का पार्थक्य सिद्ध करती हैं। तस्मात् शक्ति, अतिरिक्त पदार्थ है और पदनिष्ठ शक्ति भी इच्छारूप नहीं है। तब पदनिष्ठ शक्ति का ज्ञान किस प्रमाण से होता है ? उत्तर है कि 'अनुमान प्रमाण उसमें ज्ञापक है।'

सा च तत्तत्पदजन्यपदार्थज्ञानरूपकार्य्यानुमेया। तादृशशक्तिविषयत्वं शक्यत्वम्। तच्च जातेरेव न व्यक्तेः। व्यक्तीनामानन्त्येन गुरुत्वात्। कथं तर्हि गवादिपदाद् व्यक्तिभानमिति चेत्, जातेर्व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्वादिति ब्रूमः।

अर्थ—और वह पदनिष्ठ शक्ति, तत्तद् विशेष पद से तत्तद् विशेष पदार्थ के ज्ञानरूप कार्य से अनुमेय (अनुमान प्रमाण से जानने योग्य) है। पदार्थ में ऐसे शक्ति की विषयता होना उसकी शक्यता है। वह शक्यत्व (ता) जाति में ही रहता है, व्यक्ति में नहीं। क्योंकि व्यक्ति अनंत (असंख्य) होने से प्रत्येक व्यक्ति में पृथक् शक्यत्व मानने में गौरव है। व्यक्ति में यदि शक्यत्व (शक्ति) नहीं है तो 'गो' आदि पदों के श्रवण करते ही सास्नादिमान् गोव्यक्ति का ज्ञान कैसे होता है ?' उत्तर यह है कि—जाति, व्यक्ति ज्ञानरूप एक ही ज्ञान से संवेद्य होने से, जाति ज्ञान के होते ही व्यक्तिज्ञान और व्यक्ति ज्ञान के होते ही उसमें ही जातिज्ञान होता है। ऐसा हम कहते हैं।

विवरण—'घट' पद के श्रवण करते ही कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ का ज्ञान (स्मरण) होता है। 'पट' पद के श्रवण करने पर कंबुग्रीवादिमान् पदार्थ की मनमें उपस्थिति नहीं होती। अतः इस अन्वयव्यतिरेक से 'घट'

पद की शक्ति 'कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ में है' यह सिद्ध होता है। इस विषय में अनुमान-प्रयोग इस प्रकार—

(१) 'पदार्थज्ञान, पदनिष्ठ-स्वबोधानुकूल-शक्तिपूर्वक है (२) क्योंकि वह पदार्थ-ज्ञान पदजन्य-पदार्थज्ञान कार्यरूप है, (३) जैसे घटरूप पदार्थ का ज्ञान 'घट' पद की कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ में विद्यमान शक्ति से युक्त है।' इस अनुमान से पदनिष्ठ शक्ति, अतिरिक्त सिद्ध होती है। इस प्रकार शक्ति का निरूपण किया। अब 'तादृश०' इत्यादि वाक्य से उस शक्ति से युक्त ऐसे शक्य पदार्थ का स्वरूप बताया है। पूर्वोक्त शक्ति से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का जो विषय होता है वह पदार्थ 'शक्य' होता है। अर्थात् उस पदार्थ में उस पद का शक्यत्व रहता है। जैसे—'घट' पद से 'घटत्व' अर्थ का बोध होता है, अतः 'घट' पद की शक्ति से होनेवाले इस ज्ञान में 'घटत्व' विषय रहता है अर्थात् वह 'घटत्वविषयक' घटत्व का ज्ञान है। इस कारण घटपद का 'घटत्व' शक्य है, अर्थात् शक्यत्व घटनिष्ठ है।

'पदका शक्य अर्थ कौन सा ?' इस विषय में तत्तद् शास्त्रकारों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ लोग 'गो' पद की सास्नादिमान् (सास्ना = गाय के कण्ठ के नीचे लटकती मांसमय झालर) गोव्यक्ति में शक्ति मानते हैं। नैयायिक—जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति है ('गो' पद की गोत्वविशिष्ट गोव्यक्ति में शक्ति रहती है अर्थात् गोत्वविशिष्ट गो, गोपद का शक्य है) ऐसा कहते हैं। इन सब कल्पों का निरसन करने के उद्देश्य से ग्रन्थकार ने पूर्वोत्तर मीमांसा-साधारण शक्यत्व कहां रहता है, यह 'तत्र' आदि ग्रन्थ से बताया है। गवादि (गो आदि) पदों की शक्ति, जाति में ही रहती है, इसे स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि व्यक्ति में शक्ति मानने पर गोव्यक्तियों के अनंत होने से उनमें रहने वाली शक्तियां भी अनन्त माननी होंगी। परन्तु इस प्रकार अनन्त शक्तियों की कल्पना करने में बहुत गौरव है। इसके अतिरिक्त एक 'गो' पद से एक व्यक्ति में शक्तिग्रहण (शक्तिज्ञान) होने पर भी अन्य गोव्यक्ति का उस पद से ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहां की शक्ति भिन्न है, और उसका ज्ञान होने के लिये अन्य गोनिष्ठ शक्ति का ज्ञान आवश्यक है। इस रीति से असंख्य गौओं की शक्ति का ज्ञान सहस्र युगों में भी नहीं हो पायगा। इस प्रकार 'गो' आदि पदों की शक्तिग्रह का होना संभव ही नहीं होगा। ऐसे अनेक दोष व्यक्तिशक्तिवाद में पैदा होते हैं। तस्मात् व्यक्ति में शक्ति को नहीं मान सकते।

नैयायिकों के 'जातिविशिष्ट व्यक्ति-शक्तिवाद' पक्ष में भी अनन्त व्यक्तियों का ज्ञान न होने के कारण अमुक शब्द की अमुक अर्थ में ही शक्ति है, ऐसा नियम नहीं किया जा सकेगा, आदि पूर्वोक्त दोष तदवस्थ ही हैं।

इसलिये मीमांसकों का अभिमत जातिशक्तिवाद ही स्वीकार करना चाहिये। यह मानने पर गोत्व जाति के एक होने से एक व्यक्ति में गोत्व जाति का ज्ञान होने पर भी सर्वत्र गोत्व जाति के एक होने से अन्य व्यक्तियों में भी शक्तिग्रह होता है, और इस पक्ष में लाघव भी है।

शंका—प्रत्यक्ष परिच्छेद में 'जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतया०' इत्यादि कहकर जाति और उपाधि का खण्डन किया है। और यहां पदों की शक्ति 'सकलप्रमाणागोचर' ऐसी जाति में है—ऐसा कहते हैं, अतः यह कैसे संभव है? जाति पदार्थ ही यदि आपके मत में नहीं हैं तो आप उसमें शक्ति को भी कैसे मान सकेंगे।

समाधान—शंका ठीक है। परन्तु उसका उत्तर इस प्रकार है—हमने (ग्रन्थकार ने) पहिले जाति का खण्डन नहीं किया है किन्तु नैयायिकों की 'जाति अतिरिक्त पदार्थ है' इस परिभाषा का ही खण्डन किया है अर्थात् जाति स्वतंत्र (पृथक्) पदार्थ नहीं, इतना ही बताया है, इसीलिये वहां 'घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानम्' यह कहकर 'घटत्वादि' धर्म के सद्भाव का (अस्तित्वका) अंगीकार किया है। 'घटत्व घट की अपेक्षा अतिरिक्त एवं उसमें समवाय संबंध से रहने वाला पदार्थ है' यह नैयायिकों का मत सर्वथा अयोग्य है। तस्मात् यहां 'जाति' शब्द को घटत्वादि आकृतियों का वाचक समझना चाहिये। अतएव भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में (अ १-३-२७) 'आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः' इत्यादि कहकर जाति शब्द के स्थान पर 'आकृति' शब्द की ही योजना की है। अतः यहां पर भी जाति शब्द की योजना आकृति को उद्देश्य करके ही की गई है। यह समझना चाहिये। इसलिये किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। नैयायिक जिस अनुगत धर्म को जाति कहते हैं, वह जाति शब्द अनुगत धर्मरूप अर्थ में ही यहां प्रयुक्त किया है। 'गोत्वादि अनुगत धर्मरूप अर्थ में शब्दों की शक्ति है' इस सिद्धान्त पर ऐसी शंका उठती है कि—'व्यक्ति में या जातिविशिष्ट व्यक्ति में पद की शक्ति को स्वीकार करने वाले हमारे मत में जैसे आपने दोष दिये वैसे ही आपके स्वीकृत किये हुए इस जातिशक्तिवाद में भी दोष हैं। क्योंकि 'गामानय' 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि व्यक्तिमात्रबोधक वाक्यों का अर्थ जातिशक्तिवादी आपके मत में 'गोत्व जाति को लाओ' और 'व्रीहित्व जाति का प्रोक्षण करो' होने लगेगा। परन्तु वैसा होना संभव नहीं। क्योंकि अमूर्त 'जाति' पदार्थ का आनयन किंवा प्रोक्षण असंभव है। इस कारण यहांपर जो केवल व्यक्ति का बोध होता है, उसकी अनुपपत्ति होगी अर्थात् व्यक्तिबोध नहीं होगा।

यह महादोष जातिशक्तिवाद में आता है, ऐसी स्थिति में आप व्यक्तिबोध की उपपत्ति कैसे लगाते हैं ?

व्यक्तिभान की इस उपपत्ति को मीमांसा के भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न प्रकार से बताया है। कितने ही विद्वान् अर्थापत्तिप्रमाण से व्यक्ति का भान (ज्ञान) मानते हैं। हम 'गामानय' इस उत्तम वृद्धवाक्य को सुनकर मध्यमवृद्ध के द्वारा गोव्यक्ति को लाया हुआ देखते हैं। उसे यदि व्यक्तिबोध न हुआ होता तो 'आनयन' क्रिया में व्यक्ति का अन्वय ही न हुआ होता। इसलिये 'अर्थापत्ति' प्रमाण से ऐसे वाक्यों में व्यक्तियों का भान होना स्वीकार करना चाहिये।

परन्तु यह मत योग्य नहीं है। क्योंकि 'गामानय' इस वाक्य में यद्यपि वैसा ज्ञान (व्यक्तिभान) हो सकता है तथापि 'गौरस्ति' इस वाक्य में उक्त प्रकार से कैसी भी अन्वयानुपपत्ति संभव नहीं है। अतः यहां व्यक्तिबोध नहीं होगा, यह दोष इस पक्ष में आता है, इसलिये ग्रन्थकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने इस ग्रन्थ में उस पक्ष का किंचिन्मात्र भी उल्लेख न कर अन्य तीन आचार्यों के ही तीन मतों का उल्लेख किया है। उनमें से ग्रन्थकार को तीसरा भाट्ट पक्ष (कुमारिल भट्ट का पक्ष) ही विशेषतः सम्मत है। तथापि प्रथमतः दो पक्षों को बताकर अनन्तर तीसरा पक्ष सिद्धान्त के रूप में बतावेंगे। उक्त शंका का 'न च०' इत्यादि वाक्य से अनुवाद कर 'जातेः' आदि ग्रन्थ से प्रथम पक्ष के समान समाधान बताया है। नैयायिकों के समान वेदान्ती धर्म को धर्मी की अपेक्षा पृथक् नहीं मानते, किन्तु धर्म और धर्मी का तादात्म्य (ऐक्य) मानते हैं। इस कारण वस्तुतः यद्यपि जाति ही शक्य है तथापि जाति और व्यक्तिरूप धर्म-धर्मी का अभेद होने से एक ज्ञान से ही जाति और व्यक्ति का ज्ञान हो जाता है अर्थात् जाति का ज्ञान होते ही उसमें ही व्यक्ति का ज्ञान होता है एवं व्यक्ति के ज्ञान में जाति भी भासती है, यह तात्पर्य है। इसलिये जातिशक्तिवाद में व्यक्तिभान की अनुपपत्ति नहीं हो पाती।

पद से व्यक्ति का ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि पद की शक्ति व्यक्ति में है ही नहीं। तब 'व्यक्ति का भान होता है' यह भी आप कैसे निश्चय करेंगे ? और शक्ति के न होने पर भी पद से पदार्थ का ज्ञान होता है, ऐसा मानने पर जिस किसी भी शब्द से जिस किसी अर्थ का ज्ञान होने लगेगा। ऐसी शंका के निरसनार्थ ग्रन्थकार पूर्वोक्त समाधान की अरुचि से, अग्रिम ग्रन्थ के द्वारा प्रभाकर मतानुसार व्यक्तिबोध की उपपत्ति को बताते हैं।

यद्वा, गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती न तु ज्ञाता हेतुः। जातौ तु ज्ञाता। न व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानमपि कारणं गौरवात्। जातिशक्तिमत्त्वज्ञाने सति व्यक्तिशक्तिमत्त्व-ज्ञानं विना व्यक्तिधीविलम्बाभावाच्च।

अत एव न्यायमतेऽप्यन्वये शक्तिः स्वरूपसतीति सिद्धान्तः। ज्ञायमानशक्तिविषयत्वमेव वाच्यत्वमिति जातिरेव वाच्या।

अर्थ—अथवा 'गौः' इत्यादि पदों की व्यक्ति में स्वरूपतः विद्यमान शक्ति है (और वह व्यक्ति के ज्ञान होने में कारण है) व्यक्ति में विद्यमान वह शक्ति ज्ञात होकर व्यक्ति के बोधन में कारण नहीं होती। किन्तु जाति के बोधन में मात्र वह शक्ति ज्ञात होकर ही कारण होती है। 'व्यक्ति' अंश में व्यक्ति-शक्ति का ज्ञान भी कारण है, यह मानना आवश्यक नहीं है। क्योंकि व्यक्तिशक्तिज्ञान तथा जातिशक्तिज्ञान—दोनों को शाब्दबोध में कारण मानने में गौरव (दोष) होता है। और जाति के शक्तिमत्त्व (शक्ति) का ज्ञान होने पर व्यक्तिशक्ति का ज्ञान न होने पर भी व्यक्ति के ज्ञान होने में विलम्ब (देर) नहीं लगता। इसीलिये जहां शक्ति का ज्ञान न होते हुए भी वस्तु का ज्ञान होता है, वहां शक्तिज्ञान की कल्पना करना अनुचित है, अतएव न्यायमत में भी 'शक्ति अन्वय में स्वरूपसती (स्वरूपतः विद्यमान) रहती है' (वह ज्ञात नहीं रहती) सिद्धान्त किया है।

(शंका—व्यक्ति में शक्ति को स्वरूपसती मानने पर व्यक्ति भी गवादि पदों की वाच्य होने लगेगी, अतः इसका समाधान करते हैं)—ज्ञायमान शक्ति में (शक्तिजन्यज्ञान में) जो पदार्थ विषय होता है, वही वाच्य होता है—इस प्रकार 'वाच्य' का लक्षण (परिभाषा) होने से (ज्ञायमान-शक्ति-विषय) जाति ही 'गवादि' पदों का वाच्य ठहरती है। (व्यक्ति, वाच्य नहीं होती) अतः पूर्वोक्त दोष नहीं आने पाता।

विवरण—शक्ति के विषय में प्रभाकर के सिद्धान्त का आशय इस प्रकार है—कारण की सत्ता कार्य में आवश्यक रहती है, परन्तु कुछ कार्यों की उत्पत्ति में कारण का स्वरूपतः रहना आवश्यक होता है, परन्तु कितने ही कार्यों में कारण के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके केवल ज्ञान से भी कार्य निष्पन्न हो सकता है।

उदाहरणार्थ—घटादि कार्यों की उत्पत्ति में आवश्यक दण्डादिकारणों की स्वरूपतः सत्ता आवश्यक होती है, दण्ड के ज्ञानमात्र से घट की उत्पत्ति

नहीं होती अर्थात् दण्ड की स्वरूपसत्ता ही घट में कारण होती है। किन्तु धूम से अग्नि का अनुमान जब होता है उस समय अनुमिति में यद्यपि धूम कारण है तथापि उसकी स्वरूपतः सत्ता आवश्यक नहीं होती। धूलि को ही धूम समझकर उसके सहारे से भी 'पर्वत वह्निमान् है' यह अनुमिति होती है। अतः कहीं वस्तु की स्वरूपसत्ता कारण होती है और कहीं उसका ज्ञान अर्थात् ज्ञातसत्ता कार्य की जनक होती है। इसी प्रकार प्रकृत में भी व्यक्ति और जाति दोनों में शक्ति, मान लेनी चाहिये। व्यक्ति के बोध के लिये शक्ति की स्वरूपसत्ता आवश्यक है और जाति के ज्ञान के लिये शक्ति की ज्ञात सत्ता को कारण मानकर व्यक्तिबोध की उपपत्ति लगानी चाहिये, अर्थात् 'गौः' इत्यादि पदों से गोव्यक्ति का ज्ञान होने के लिये 'इस व्यक्ति में शक्ति है' इस प्रकार के शक्तिज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, अपितु वह शक्ति व्यक्ति में स्वरूपतः होने पर भी व्यक्ति का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि गवादि पदों में व्यक्तिबोधक सामर्थ्य रहता ही है। परन्तु जाति का ज्ञान होने के लिये मात्र 'यह जाति शक्तिमती है' यह ज्ञान रहना आवश्यक होता है।

शंका—जिस प्रकार जातिज्ञान के लिये उसकी शक्ति का ज्ञान होना आवश्यक है उसी प्रकार व्यक्तिज्ञान के लिये भी व्यक्ति-शक्तिज्ञान कारण है, यह क्यों न कहा जाय? सभी जगह ज्ञात शक्ति को ही कारण मानने में लाघव भी है, क्योंकि एक ही प्रयोजक मानना पड़ता है।

ग्रन्थकार 'न व्यक्त्यंशे' वाक्य से उपर्युक्त शंका का अनुवाद कर समाधान करते हैं। व्यक्ति अंश में उसकी शक्ति का ज्ञान भी कारण होता होता है यह मानने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि ऐसा मानने पर जाति-ज्ञान के लिये जातिशक्तिज्ञान और व्यक्तिज्ञान के लिये व्यक्तिशक्तिज्ञान—इस प्रकार दो ज्ञान शाब्दबोध में कारण मानने होंगे। परन्तु एक पद के शाब्दबोधार्थ दो ज्ञानों को कारण मानने में 'गौरव' दोष होता है। अतः इसकी अपेक्षा जातिशक्तिज्ञान से जाति की उपस्थिति (ज्ञान) होते ही वहां स्वरूपतः विद्यमान शक्ति से ही व्यक्तिज्ञान हो जाता है, यह मानने में लाघव है, क्योंकि इस पक्ष में दो कारणों की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

शंका—व्यक्ति अंश में शक्ति ज्ञान को कारण मानने में यद्यपि गौरव है तथापि वह फलमुख है, क्योंकि पदगत शक्ति का ज्ञान हुए बिना उस शक्तिमान् पद के ज्ञान से भी पदार्थज्ञान कैसे संभव हो सकेगा? अतः इस प्रकार के फलमुख गौरव दोषावह नहीं हुआ करते। इसलिये व्यक्ति और जाति के शक्तियों का ज्ञान ही उनके बोध में करण होता है कहना होगा।

इसके अतिरिक्त शक्तिज्ञान के विना अर्थात् केवल पद का ज्ञान होने से ही पदार्थ की उपस्थिति मान ली जाय तो जिस व्यक्ति को म्लेच्छ भाषा का

ज्ञान न हो उसे भी उस भाषा के शब्द सुनकर स्वरूपतः विद्यमान शक्ति से ही पदार्थज्ञान होने लगेगा। अतः आवश्यक गौरव का भी स्वीकार कर ज्ञानद्वय से ही (दो शक्तियों के ज्ञान से ही) पदार्थज्ञान का होना स्वीकार करना चाहिये।

ग्रन्थकार ने 'जातिशक्ति०' आदि वाक्यों से इस शंका का समाधान किया है। तथाहि—इस गौरव को फलमुख नहीं कह सकते। क्योंकि पद-श्रवण होने पर अर्थात् व्यक्तिशक्ति का ज्ञान न होने पर भी जातिशक्ति-ज्ञान से जातिज्ञान होते ही तत्काल तदभिन्न व्यक्ति का भी ज्ञान हो जाता है। उसके होने में विलम्ब नहीं लगता। इस अबाधित अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः दो ज्ञानों को कारण मानने की भी आवश्यकता नहीं होती। हम इस अबाधित अनुभव के बल से जातिशक्तिज्ञान ही व्यक्ति-ज्ञान के प्रति कारण है, मानते हैं। यह मानने से 'म्लेच्छ भाषा के शब्दों से अनभिज्ञ को बोध होने लगेगा' आदि आपत्ति भी उपस्थित नहीं होगी। क्योंकि म्लेच्छ-भाषा के शब्दों की वाच्य जातियों से संबन्धित शक्तियों का ज्ञान न होने से ही अनभिज्ञ व्यक्ति को उससे अर्थबोध नहीं होने पाता। इसी प्रकार ज्ञानद्वय-कल्पनारूप गौरव का भी स्वीकार नहीं करना पड़ता।

शंका—जातिज्ञान उसकी शक्ति के ज्ञान से होता है और व्यक्तिज्ञान 'स्वरूपतः विद्यमान' शक्ति से ही होता है—यह मानने में विनिगमक क्या है? इसके विपरीत, शक्तिज्ञान से ही व्यक्ति का बोध होता है, किन्तु जाति का स्वरूपतः विद्यमान शक्ति से ज्ञान होता है, क्यों न माना जाय? अर्थात् व्यक्तिज्ञान में ज्ञात शक्ति की अपेक्षा होती है और जातिज्ञान में स्वरूप सती शक्ति की आवश्यकता होती है व्यक्तिशक्तिज्ञान से ही शीघ्रतया जातिज्ञान होता है अर्थात् व्यक्तिशक्तिज्ञान, जातिज्ञान में प्रयोजक है, यह मानने में क्या अड़चन है? अर्थात् आपके पक्ष में विनिगमनाविरह दोष आता है।

समाधान—हमारे मत में उपर्युक्त दोष नहीं आने पाता। क्योंकि व्यक्ति-शक्तिज्ञान के होने पर अविलंबेन जाति का ज्ञान होता है—ऐसा नियमेन अनुभव नहीं है। 'अयं गोपदवाच्यः' यह व्यक्ति 'गो' पद का वाच्य है—इस वाक्य से व्यक्तिशक्तिज्ञान (सामने स्थित गोव्यक्ति 'गो' पद का वाच्य है, इस प्रकार शक्ति का ज्ञान) होता है, परन्तु वहां जाति की उपस्थिति नहीं होती। इस रीति से व्यक्तिशक्तिज्ञान, जातिज्ञान में व्यभिचारी साधन है, और यह व्यभिचार ही व्यक्तिशक्तिज्ञान को कारण न मानने में तथा जातिशक्तिज्ञान को ही कारण मानने में विनिगमक है। इसके अतिरिक्त

व्यक्तिशक्तिज्ञान में कारणता यदि स्वीकार की जाय तो संसारभर के यच्च यावद् व्यक्तियों का ज्ञान होना अशक्य होने से शक्तिग्रह का संभव ही न होगा, और अनंत शक्तियों के मानने में महान् गौरव है। ये सब दोष व्यक्ति-शक्तिवाद पक्ष में आते हैं, इसलिये व्यक्तिशक्तिज्ञान में कारणता नहीं मानी जा सकती। हमारे उपर्युक्त कथन में नैयायिकों की भी सम्मति है। क्योंकि नैयायिक भी कुछ स्थलों में स्वरूपसती शक्ति और कुछ स्थलों में ज्ञातशक्ति को कारण मानते हैं। इस प्रकार प्रभाकर-मत का नैयायिकों से स्वीकार किया गया होने से ही ग्रन्थकार 'अत एव' आदि ग्रन्थ कह रहे हैं। पद और अन्वय दोनों में शक्ति के होने पर भी पदजन्य ज्ञान के लिये शक्ति की ज्ञात सत्ता ही कारण होती है, परन्तु अन्वयबोधार्थमात्र उसकी स्वरूपसत्ता के रहने से भी अन्वयबोध हो सकता है। इस रीति से एकबार स्वरूपसत्त्व के स्वीकार किये जाने पर, इसी न्याय से जातिबोध में ज्ञायमानत्वेन शक्ति को और व्यक्तिज्ञान में स्वरूपेणैव शक्ति को कारण क्यों न माना जाय। इस-लिये अन्वय में स्वरूपसत्तारूप शक्ति का नैयायिकों से किया हुआ स्वीकार हमारे पक्ष का पोषक ही है।

शंका—किसी रीति से क्यों न हो, आप व्यक्ति में शक्ति को तो मानते ही हैं। अतः शक्तियुक्तत्वरूप शक्यत्व व्यक्ति में भी है। तब 'तच्च जातेरेव न व्यक्तेः' कह कर व्यक्तिशक्ति का आप निरास क्यों करते हैं? अर्थात् यह पूर्वोत्तरविरोध होगा। इस शंका का 'ज्ञायमान०' आदि वाक्य से निरसन किया गया है। व्यक्ति में शक्ति के मानने पर भी 'व्यक्ति' शक्य होगी, व्यक्ति में शक्यत्व होगा—ऐसा हम नहीं मानते। क्योंकि 'जिस पदार्थ में शक्यत्व (शक्तियुक्तत्व) होता है वह पदार्थ शक्य होता है।' यह नियम हमारा नहीं है। अर्थात् हमारी 'शक्तियुक्तत्वं शक्यत्वम्' शक्य पदार्थ की परिभाषा नहीं है। किन्तु हमारी परिभाषा तो 'ज्ञायमानशक्तिविषयत्वम्'—ज्ञानविषयी-भूत (ज्ञान का विषय होने वाली) शक्ति में जो पदार्थ विषय रहता है वह 'शक्य' है—प्रसिद्ध है। इसी आशय से—'तादृशशक्तिविषयत्वम्' यह शक्य की परिभाषा हमने की है। प्रकृत में व्यक्ति में शक्ति तो है परन्तु वह ज्ञायमान नहीं है (उसका वहां ज्ञान नहीं रहता) इसलिये व्यक्ति में शक्यत्व नहीं आ पाता। किन्तु शक्यत्व जातिनिष्ठ ही है। इस प्रकार शक्यत्वलक्षण में 'ज्ञायमान' पद का निवेश करने से सिद्धान्त में पूर्वोत्तर-विरोध रूप दोष नहीं रहता।

यहां तक बताये गये प्रभाकर-मत में अरुचि इस प्रकार पैदा होती है—यदि व्यक्ति को आप शक्य नहीं मानते तो उसमें शक्ति की कल्पना भी किस लिये करते हैं? क्योंकि एक पद में 'स्वरूपसती' और 'ज्ञायमाना' शक्तियों को

मानना भी कल्पना-गौरव ही है। 'जाति और व्यक्ति के शक्तियों का ज्ञान कारण हैं' इस पक्ष में जिस गौरव-दोष को आप देते हैं, वही दोष आप के पक्ष में भी आता है। इस पर आप (प्रभाकर) यदि कहें कि "इस गौरव को हम स्वीकृत करते हैं, क्योंकि व्यक्ति में शक्ति के न मानने पर तो एक ही पद से जाति और व्यक्ति दोनों की प्रतीति का संभव नहीं होगा। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से पद की शक्ति व्यक्ति में भी हम मानते हैं, परन्तु उसके लिये ज्ञान-द्वयकल्पना करना व्यर्थ तथा गौरवपूर्ण है इसलिये हम ज्ञानद्वय का स्वीकार नहीं करते।"

परन्तु यह कथन भी आपका ठीक नहीं बैठता। क्योंकि यदि आप यहां पर व्यक्तिबोध के लिये शक्ति का स्वीकार करें तो 'गंगायां घोषः' यहां 'गंगा' पद से 'गंगातीर' की प्रतीति होने से गंगा' शब्द की 'तीर' अर्थ में भी शक्ति है, यह आपको स्वीकार करना होगा। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' आदि वाक्यों में 'काक' पद की मार्जार आदि में भी शक्ति को मानना होगा। इसके अतिरिक्त व्यक्ति में शक्यत्व न आ पाये एतदर्थ शक्यत्वलक्षण में 'ज्ञायमान' पद का निवेशरूप गौरव भी आप को स्वीकार करना पड़ता है। अतः स्वरूपसती शक्ति को मानने वाला आप का पक्ष गौरवपूर्ण होने से अनुपपन्न है। प्रभाकर-मत में इस प्रकार अरुचि मान कर ग्रन्थकार स्वाभीष्ट समाधान बताते हैं।

अथवा व्यक्तेर्लक्षणयाऽवगमः। यथा नीलो घट इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुणविशिष्टे लक्षणा, तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणा। तदुक्तम्—'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति। एवं शक्यो निरूपितः।

अर्थ—अथवा व्यक्ति का बोध लक्षणा से मान लीजिये। जिसप्रकार 'नील घट' इस वाक्य में नीलगुणवाचक नील शब्द की गुणी में (नील गुण से युक्त अर्थ में) लक्षणा स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार जातिवाचक पदों की भी जातिविशिष्ट व्यक्तियों में लक्षणा कर लेनी चाहिये। अतएव मीमांसकों ने 'जो अर्थ अनन्यलभ्य (अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं होता) हो वही शब्दार्थ होता है' यह बताया है। इस रीति से शक्य पदार्थ का निरूपण किया गया।

विवरण—आप (प्रभाकर) प्रथमतः व्यक्ति में स्वरूपसती शक्ति मानते हैं, जिससे व्यक्ति में भी शक्यत्व आता है। उसे हटाने के लिये शक्यत्व के लक्षण में 'ज्ञायमान' पद का निवेश किया जाता है, परंतु इतना करने पर भी शक्तिद्वयकल्पनारूप गौरव नहीं टलता। अतः इस

गुरुकल्प के स्वीकार करने की अपेक्षा भाट्ट मत के अनुसार ही व्यक्ति बोध की व्यवस्था लगाना उचित है। वह व्यवस्था इस प्रकार है—वास्तव में 'नील' शब्द गुण (नीलरूप) का वाचक है। परन्तु नीलपदवाच्य नीलगुण को घट द्रव्य तो कह नहीं सकते। इस कारण जब 'नीलो घटः' हम कहते हैं तब इस शब्द के वाच्यार्थ का ग्रहण न हो सकने से नील शब्द की नीलगुणयुक्त अर्थ में लक्षणा कर 'नीलो घटः' का 'नीलगुणयुक्तः' (नीलगुणविशिष्टो घटः) अर्थ (शास्त्रकारों द्वारा) किया जाता है। अर्थात् यहां पर यद्यपि एक ही 'नील' पद से नील गुण और तद्विशिष्ट घट दोनों अर्थ प्रतीत होते हैं। तथापि एक ही पद से दो अर्थों की प्रतीति होने के लिये 'नील' पद की नील गुण और तद्विशिष्ट दोनों अर्थों में शक्ति कोई नहीं मानता। किन्तु लक्षणा वृत्ति से ही नीलगुणविशिष्ट अर्थ का बोध होने के कारण नील शब्द की नीलगुणरूप अर्थ में ही शक्ति है और 'नीलगुणविशिष्ट' रूप अर्थ लक्ष्य (लक्षणा से ज्ञेय) है। उसी प्रकार घटत्वजातिवाचक 'घट' पद की 'घटत्वजातिविशिष्ट-घट व्यक्ति' रूप अर्थ में लक्षणा समझ लेनी चाहिये। इसी प्रकार गुणवाचक की गुण विशिष्ट में और जातिवाचक की जातिविशिष्ट अर्थ में लक्षणा स्वीकार कर प्रकृत में भी 'गो' आदि एक ही पद से जाति का शक्ति से बोध होता है और गोव्यक्ति का लक्षणा से बोध होता है—इसरीति से व्यक्तिबोध की उपपत्ति लग जाती है। स्वरूपसत् और ज्ञायमान दो शक्तियों की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती। तथा इस पक्ष में शक्यत्वलक्षण में 'ज्ञायमान' विशेषण का निवेशकर 'ज्ञायमानशक्तिविषयत्वम्' इस गुरुभूत लक्षण के स्वीकार करने का भी प्रसंग नहीं आता। इसी प्रकार (इस पक्ष में) 'गंगायां घोषः' में 'गंगा' पद की 'तीर' अर्थ में शक्ति मानने का भी प्रसंग नहीं आता। क्योंकि 'तीर' अर्थ की प्रतीति लक्षणा से ही हो जाती है। इसलिये इस पक्ष का स्वीकार करके ही व्यक्तिबोध की उपपत्ति लगानी चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रभाकर ने अपने मत के पोषक रूप में तार्किकों ने भी 'अन्वय में स्वरूपसती शक्ति को माना है' कहा है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि तार्किकों का स्वरूपसत्तारूप शक्तिवाद भी गुरुभूत ही है। और अन्वय वाक्यगम्य है, पदगम्य नहीं, इस कारण पद में अन्वयबोध करा देने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिये पदों की केवल जाति में ही शक्ति है। और व्यक्ति, अन्वय तथा गंगादि पदों से तीरादि-बोध यह सब लक्षणागम्य मानने में अत्यन्त लाघव है। अतः 'शक्ति-विषयत्व' ही शक्यत्व का लक्षण ठीक बैठता है। ग्रन्थकार ने अपने इस कथन में 'तदुक्तम्' इत्यादि ग्रंथ से मीमांसकों की संमति प्रदर्शित की है।

उस वाक्य का तात्पर्य इस प्रकार है—अभिधा वृत्ति से अन्य लक्षणादि वृत्ति से जिस अर्थ का ज्ञान हो सकता हो, उस में पद की शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं; अन्यथा दूसरी लक्षणावृत्ति को कहीं अवकाश ही नहीं मिलेगा। क्योंकि सभी जगह शक्ति से ही पदार्थोपस्थिति हो सकेगी। यदि शब्द की अभिधारूप एक ही वृत्ति मान लें तो 'तुम शत्रु के घर भोजनार्थ मत जाओ' इस उद्देश्य से 'विषं भुङ्क्ष्व'—विष खाओ, इस प्रकार किसी हितचिन्तक व्यक्ति के कहने पर उन पदों की 'शत्रुगृह में भोजननिवृत्ति' रूप अर्थ में भी शक्ति है, मानना होगा। इस अतिप्रसंग का निवारण करने के लिये यदि लक्षणा नामक वृत्ति को अभिधा वृत्ति से पृथक् मानना आवश्यक हो तो जहां (जिस अर्थ में) लक्षणा की प्रवृत्ति का संभव है वहां (उस अर्थ में) उस शब्द की शक्ति मानना अनुचित है। इसलिये जो अर्थ लक्षणादिलभ्य न हो उसी अर्थ में शब्द की शक्ति माननी चाहिये। इसी न्याय से शब्द की एक अर्थ में शक्ति मानकर उसी शब्द से प्रतीयमान अन्य समस्त अर्थों को लक्ष्य समझना चाहिये। क्योंकि 'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्' एक ही शब्द के अनेक अर्थ हैं—यह मानना अन्याय है।

प्रकृत में भी शब्द की जाति रूप अर्थ में शक्ति मानने पर व्यक्तिबोध लक्षणा से होता है, यही कहना उचित होगा।

शंका—यदि ऐसी बात है तो विपरीत ही 'अर्थात् व्यक्ति में शब्द की शक्ति और जाति का भान लक्षणा से होता है' क्यों न माना जाय ?

समाधान—शब्द की शक्ति समस्त व्यक्तियों में है या किसी एक व्यक्ति में है ? समस्त व्यक्तियों में यदि आप उसे कहें तो 'गामानय' कहने पर समस्त गौओं को ले आने का प्रसंग प्राप्त होगा। इस आपत्ति से बचने के लिये 'एक व्यक्ति में शक्ति है' कहो तो 'अन्य गोव्यक्ति में शक्ति नहीं है' कहना होगा। यदि अन्य व्यक्ति में भी शक्ति है कहो तो अश्वादि अर्थों में भी उस शब्द की शक्ति प्राप्त होगी। इसलिये व्यक्तिशक्तिवाद सर्वथा अनुपपन्न है। अतः जाति में ही पद की शक्ति और व्यक्ति आदि का बोध लक्षणाजन्य है, यही मत युक्तियुक्त है। इस प्रकार 'शक्तिविषयत्वं शक्यत्वम्' और 'तच्च जातेरेव न व्यक्तेः' यह हमारा मत सर्वथा उपपन्न है।

इसरीति से शक्य और लक्ष्य इन दो पदार्थों में से शक्य पदार्थ का निरूपण किया गया। अब लक्ष्यपदार्थ के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—

अथ लक्ष्यपदार्थो निरूप्यते। तत्र लक्षणाविषयो लक्ष्यः। लक्षणा च द्विविधा-केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति।

तत्र शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा, यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणा।

अर्थ—अब लक्ष्य पदार्थ का निरूपण किया जाता है तत्रेति—शक्य और लक्ष्य में से लक्ष्य वह होता है जो (पदार्थ) लक्षणा में (लक्षणा-जन्य ज्ञान में) विषय हो। केवल लक्षणा और लक्षितलक्षणा भेद से लक्षणा दो प्रकार की है। उनमें शक्य का साक्षात्सम्बन्ध जहां हो वह केवल लक्षणा है। जैसे—'गंगापर घोष' इस वाक्य में गंगा पद की गंगा पदवाच्य गंगाप्रवाहरूप पदार्थ के साथ साक्षात् संयोग से सम्बद्ध रहने वाले तीर रूप अर्थ में केवल लक्षणा है।

विवरण—शक्य पदार्थ का निरूपण करने के अनन्तर लक्ष्य पदार्थ ही आकांक्षा का विषय होता है। अतः लक्ष्य पदार्थ का निरूपण करना उचित है। जिस प्रकार 'शक्तिविषयत्व' यह शक्य का लक्षण बताया उसी प्रकार 'लक्षणा में जो पदार्थ विषय होता है वह लक्ष्य' यह लक्ष्य पदार्थ का सामान्य लक्षण है। परन्तु लक्षणा क्या वस्तु है? इस जिज्ञासा को शांत करने के लिये यहां पर लक्षणा का लक्षण कहना उचित था। किन्तु शास्त्रान्तरों में प्रसिद्ध लक्षणा के लक्षण 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' को गृहीत कर यहां 'लक्षणा च' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा लक्षणा के प्रकारों का वर्णन किया है।

प्रसंगतः लक्षणा के स्वरूप को बताना अनुचित न होगा। शक्ति और लक्षणा ये दोनों शब्द की सम्बन्धरूप वृत्तियां हैं। इनमें जो पदार्थ प्रथमतः उपस्थित (ज्ञात) होता है, उसके साथ पद का मुख्य सम्बन्ध रहता है और वही शक्ति है। ऊपर मुख्य सम्बन्ध कहने से अमुख्य सम्बन्ध भी प्रतीत होता है। अमुख्य सम्बन्ध वह है—पद का श्रवण होते ही मुख्यत्वेन प्रथमतः जिसका ज्ञान नहीं होता, वरन् उसके लक्ष्य अर्थ का शक्यार्थ के साथ संबंधज्ञान होने के अनन्तर ज्ञान हो। यही लक्षणा वृत्ति है। इसी कारण 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' यह लक्षण लक्षणा का किया गया है। पद के वास्तविक अर्थ का मुख्य वृत्ति से ही सर्वत्र बोध मानना उचित है, परन्तु जहां इस मुख्य वृत्ति का संभव ही नहीं रहता वहां इस अमुख्य वृत्ति का स्वीकार करना पड़ता है। इस संबन्ध में अग्रिम अभियुक्त-वचन ध्यान में रखने योग्य है।

'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते॥'

जहां पर मुख्य अर्थ का अन्य प्रमाणों के साथ विरोध रहने से उसका (मुख्यार्थ का) ग्रहण नहीं किया जाता वहां पर मुख्य (वाच्य) अर्थ के

साथ अविनाभूत (नित्यसंबद्ध) अर्थ की कल्पना करना ही लक्षणा है। जैसे 'गंगायां घोषः' यहां पर गंगा पद का मुख्य (शब्द-श्रवण होते ही प्रथमतः मन में उपस्थित होने वाला) अर्थ 'प्रवाह' (भगीरथ-रथ-मार्गा-वच्छिन्न-जलप्रवाह) है। परन्तु उस प्रवाह पर घोष (ग्वाले का घर) वृत्तित्व (रहना) संभव नहीं। अतः गंगापद का मुख्यार्थ प्रवाह में प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ विरोध होता है। इसलिये मुख्यार्थ को छोड़कर उसके साथ (प्रवाहरूप मुख्यार्थ के साथ) संयोग सम्बन्ध से नित्यसंबद्ध तीररूप अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। इसे लक्षणा कहते हैं। यहां प्रथमतः तीर का ज्ञान नहीं होता किन्तु प्रवाहरूप मुख्य (शक्य) अर्थ का ज्ञान होने के अनन्तर होता है। इस कारण गंगापद का उस लक्ष्य अर्थ के साथ मुख्य सम्बन्ध न होकर अमुख्य सम्बन्ध है। प्रवाहरूप अर्थ का विद्यमान संयोग सम्बन्ध भी प्रकृत में लक्षणा है। यद्यपि यह संयोग सम्बन्ध गंगा और तीर का सम्बन्ध है और इसी कारण वह पदवृत्ति नहीं है किन्तु प्रवाहवृत्ति है, तथापि स्वप्रतियोगिवाचकत्व रूप परंपरा सम्बन्ध से तीर पद के साथ भी गंगापद का सम्बन्ध है, इसी कारण यह अमुख्य सम्बन्ध है। इस रीति से लक्षणाजन्य तीरादि पदार्थों के ज्ञान में विषय होने वाला तीरादि पदार्थ लक्ष्य है।

यह शक्य सम्बन्ध (मुख्य संबन्ध) कहीं पर साक्षात् संयोगादि संबन्ध रूप रहता है और कहीं पर परंपरा से रहता है, इस कारण लक्षणा के भी दो प्रकार हो जाते हैं। संबन्ध के अनुरोध से 'केवल लक्षणा' और 'लक्षित लक्षणा' ये उनके नाम हैं। शक्य (वाच्य, मुख्य) अर्थ से साक्षात् संबंध यदि हो तो उसे केवल लक्षणा कहते हैं। जैसे—प्रवाहरूप वाच्यार्थ का तीररूप लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् संयोग सम्बन्ध है, इसलिये 'गंगायां घोषः' में केवल लक्षणा है।

अब शक्यपरंपरासम्बन्धरूप द्वितीय लक्षणा के प्रकार को बताते हैं—

यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षित-लक्षणा, यथा द्विरेफपदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपदघटितपर-म्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्तिः।

अर्थ—जहां पर शक्यार्थ के परम्परासम्बन्ध के द्वारा अर्थान्तर (वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ) की प्रतीति होती हो वहां लक्षितलक्षणा समझनी चाहिए। जैसे 'द्विरेफ' (अर्थात् दो रेफ (रकार) रूप अर्थ में शक्त) पद की भ्रमर पद से घटित परंपरासम्बन्ध से मधुकर रूप अर्थ में वृत्ति है।

(शक्यार्थ रूप दो रेफों के परंपरासम्बन्ध के द्वारा द्विरेफ पद से मधुकर रूप अर्थ की प्रतीति होने से यह लक्षितलक्षणा है।)

विवरण—द्विरेफ शब्द के सुनते ही मधुकर (भौंरा) अर्थ की प्रतीति होती है। किन्तु मधुकर, द्विरेफ शब्द का वाच्यार्थ नहीं है। क्योंकि 'द्वि' का अर्थ दो और 'रेफ' का अर्थ रकार, यही 'द्विरेफ' शब्द का वाच्यार्थ है। इसलिये द्विरेफ पद की 'जिस शब्द में दो रेफ हों वह शब्द' इस अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। किन्तु इस रीति से तो 'शर्करा' आदि दो रेफों से युक्त पदों की भी उपस्थिति होती है, उसके निवारणार्थ 'भ्रमर' रूप अर्थ में ही वह निरूढ लक्षणा है—कहना चाहिये। उस भ्रमर पद का भ्रमररूप अर्थ से शक्ति संबन्ध है इस कारण मधुकर अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् 'द्विरेफ' पद का दो रेफ रूप अर्थ में शक्तिरूप सम्बन्ध, और उन दो रेफों का लक्षणा के द्वारा भ्रमर पद से सम्बन्ध, और उस भ्रमर पद का मधुकर रूप अर्थ के साथ शक्ति सम्बन्ध, इस प्रकार परंपरासम्बन्ध के द्वारा 'द्विरेफ' पद से मधुकर अर्थ की प्रतीति होती है।

'द्विरेफ' पद से भ्रमररूप अर्थ का बोधन शक्तिवृत्ति से न होकर, लक्षणा से होता है, इसमें संदेह नहीं, किन्तु 'गंगायां घोषः' यहां पर जैसे प्रवाहरूप शक्यार्थ का तीररूप लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् संयोग संबन्ध है, वैसे द्विरेफ पद का जो दो रेफरूप वाच्यार्थ उसका भ्रमर या मधुकररूप अर्थ से साक्षात् कोई भी सम्बन्ध नहीं है, किन्तु द्विरेफ पद से लक्षित भ्रमर पद के द्वारा दो रेफों का भ्रमर अर्थ से संबंध होता है, इस कारण यह शक्य परम्परासंबन्धरूप लक्षितलक्षणा है। यहां पर शक्ययुक्त भ्रमरपद-प्रतिपाद्यत्व (वाच्यरूप रेफद्वयों से युक्त भ्रमरपद से प्रतिपाद्य = वाच्य) ही 'द्विरेफ' पद का मधुकररूप अर्थ के साथ संबन्ध है। इस संबन्ध में भ्रमर पदघटक (अवयव) है। इसलिये यह संबन्ध भ्रमर पद से घटित कहा जाता है। यहां पर दो लक्षणाएँ करनी होती हैं। उनमें 'द्विरेफ' पद की रेफद्वययुक्त भ्रमर पद में जो लक्षणा की जाती है उसे केवल लक्षणा कहते हैं। कारण यह है कि शक्य (वाच्य) रेफद्वय का रेफद्वययुक्त भ्रमर पद के साथ अवयवावयविभावरूप साक्षात् सम्बन्ध है और मधुकररूप अर्थ का उसके साथ साक्षात् संबन्ध नहीं है किन्तु भ्रमर पद के साथ वाच्य-वाचकभाव संबंध है। अर्थात् यहां शक्य के साथ संबंध न होकर लक्षित के साथ लक्ष्य का संबंध है। इस कारण शक्य के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध करना यदि अपेक्षित हो तो वह लक्षित के द्वारा ही होगा। इसलिये वहां संभवनीय परंपरा संबन्ध अर्थात् स्वलक्ष्यपदवाच्यत्व (स्व = (रेफद्वय) से लक्ष्य भ्रमर पद का वाच्यत्व मधुकर अर्थ में है। यहां पर वाच्यार्थ का संबन्ध न होकर

वाच्यार्थ से लक्षित भ्रमरपद का मधुकर रूप लक्ष्यार्थ के साथ संबन्ध होने के कारण इस लक्षणा को 'लक्षितलक्षणा 'यह अन्वर्थ संज्ञा दी गई है।

कुछ लोग शब्द की शक्ति, लक्षणा और गौणी रूप तीन वृत्तियों को मान कर शक्य, लक्ष्य और गौण रूप से पदार्थ को भी त्रिविध बताते हैं। परन्तु उसका निराकरण 'पदार्थश्च द्विविधः' कहकर कर दिया गया है। उसी का विवरण करने के लिये गौणी वृत्ति का लक्षितलक्षणा वृत्ति में ही अन्तर्भाव होने से उस वृत्ति से युक्त गौण पदार्थ को पृथक्रूप से स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इसी बात को बताते हैं—

गौण्यपि लक्षितलक्षणैव। यथा सिंहो माणवक इत्यत्र सिंह-शब्दवाच्यसम्बन्धिक्रौर्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः।

अर्थ—गौणी भी लक्षितलक्षणा ही है। जैसे—'यह बटु सिंह है' इस वाक्य में 'सिंह' शब्द का वाच्यार्थ जो सिंह पशु उसके साथ सम्बद्ध रहने वाले क्रूरत्वादि धर्मरूप सम्बन्ध से माणवक (बटु) की प्रतीति होती है।

विवरण—'सिंहो माणवकः' यह बटु (कुमार) सिंह है, यहां पर 'सिंह' शब्द का सिंह पशु वाच्यार्थ है। परन्तु उसके साथ बटु का किसी प्रकार से भी संबन्ध नहीं है, इस कारण यहां शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का संभव नहीं है। अतः शब्द की गौणी नामक पृथक् वृत्ति माननी चाहिये। इस प्रकार गौणी-वृत्तिवादी कह सकता है।

परन्तु यहां शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् संभव न होने पर भी 'द्विरेफ' पद के समान परंपरासम्बन्ध का संभव हो सकता है। इस कारण 'लक्षितलक्षणा' नामक लक्षणा के द्वितीय प्रकार में गौणीवृत्ति का अन्तर्भाव होता है, इसलिये गौणी वृत्ति को पृथक् रूप से मानने की आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि 'गंगायां घोषः' और 'द्विरेफः' इन शब्दों से प्रतीयमान तीर और मधुकररूप अर्थों की उपपत्ति लगाने के लिये शक्य-साक्षात्संबंध और शक्य-परंपरासंबन्ध रूप द्विविध संबन्ध के कारण केवललक्षणा और लक्षित-लक्षणा नामक लक्षणा के दो भेदों का स्वीकार अवश्य करना चाहिये। उनका स्वीकार कर लेने पर 'सिंहो माणवकः' इत्यादि स्थलों में भासमान परंपरा संबन्ध से उस वाक्यार्थ की उपपत्ति लगजाने के कारण गौणी को पृथक् वृत्ति मानना व्यर्थ है।

प्रश्न—प्रकृत में शक्यार्थ का परम्परा संबन्ध कौन सा है ?

उत्तर—प्रकृत में 'सिंह पशु' इस वाच्यार्थ का माणवक के साथ अभेद का संभव न होने से तात्पर्यानुपपत्ति के कारण लक्षणा का स्वीकर करना पड़ता

है, और वह लक्षणा 'यह बटु सिंह के समान क्रूरत्वादि गुणों से युक्त है' इस अर्थ में ही माननी चाहिये, अर्थात् प्रकृत में सिंह पशु—'सिंह' शब्द का वाच्यार्थ है और क्रौर्यादिगुणविशिष्ट बटु—यह उस शब्द का लक्ष्यार्थ है। वाच्य अर्थ का माणवक से साक्षात् संबन्ध न होने पर भी सिंहरूप वाच्यार्थ से संबद्ध अर्थात् उसमें तादात्म्य संबन्ध से विद्यमान-शौर्यादि गुणों के द्वारा सिंह पशु माणवक से सम्बद्ध है। जैसे सिंह क्रौर्यादि गुणों से युक्त है वैसे ही माणवक भी है। इसलिए प्रकृत में सिंह शब्द 'स्ववाच्यवृत्ति-क्रौर्यादिसामानाधिकरण्य' संबन्ध से लक्ष्यभूत माणवक के साथ सम्बद्ध है। स्व (सिंह शब्द) के वाच्य सिंह पशु में विद्यमान क्रौर्यादि गुणों का अधिकरण जैसे सिंह है वैसे माणवक भी है। इस कारण दोनों में क्रूरत्वादिगुणयुक्तत्व होने से यही यहां पर शक्य सम्बन्ध है। यहां भी पूर्ववत् सिंह पद की 'स्ववाच्यवृत्तित्व' इस साक्षात् संबन्ध रूप केवललक्षणा से लक्षित क्रौर्यादि गुणों का माणवक के साथ सामानाधिकरण्य संबन्ध होने से यह लक्षितलक्षणा है। इसरीति से लक्षितलक्षणा में ही गौणी वृत्ति का अन्तर्भाव होने से उस वृत्ति से विशिष्ट गौण पदार्थ भी पृथक् नहीं है। अतः 'पदार्थ द्विविध है' यह मत सर्वथा योग्य है।

इस रीति से सम्बन्ध के कारण होने वाले लक्षणा के द्विविधत्व को बताया अब सर्वप्रसिद्ध जहल्लक्षणादि भेद से लक्षणा के तीन प्रकारों को बताते हैं।

प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा–जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। तत्र शक्यमनन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा, यथा विषं भुङ्क्ष्वेत्यत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते।

अर्थ—अन्य प्रकार से यह लक्षणा—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा—त्रिविध है। उनमें से जिस लक्षणा में वाच्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में न होकर अन्यार्थ (शक्यभिन्न अर्थ) की प्रतीति होती है (शक्यार्थ भासित न होकर केवल लक्ष्यार्थ भासित होता है) उसे जहल्लक्षणा कहते हैं। जैसे—'विष खा' इस वाक्यगत पदों से विषभक्षण रूप वाच्यार्थ का ज्ञान न होकर 'शत्रु के घर मत जाओ' इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है अतः यह जहल्लक्षणा है।

विवरण—१—लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का यत्किंचित् भी अन्तर्भाव न होना अर्थात् वाच्यार्थ का सर्वथैव त्याग कर केवल लक्ष्यार्थ का स्वीकार करना, २—लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ की भी प्रतीति होना अर्थात् वाच्यार्थ का

सर्वथा त्याग न कर उसका भी लक्ष्यार्थ में स्वीकार करना, ३—शक्यार्थ का कुछ विरुद्ध भाग त्याग कर केवल उसके अविरुद्ध भाग (अंश) का स्वीकार करना, इन तीन कारणों से लक्षणा के जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा नामक तीन भेद होते होते हैं। लक्षणा के ये तीनों नाम अन्वर्थक हैं। 'ओहाक्–' त्यागे = त्याग करना, धातु से सर्वथा त्याग, अंशतः त्याग, और विरुद्धांश का त्याग (अविरुद्ध का त्याग न करना) आदि अर्थों को लेकर लक्षणा के उपर्युक्त नाम रूढ़ हुए हैं ।'तत्र शक्य' इत्यादि ग्रन्थ से जहल्लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण बताया गया है। शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव न होकर केवल लक्ष्यार्थ की ही प्रतीति जहां होती है वहां वाच्यार्थ का सर्वथैव त्याग कर्तव्य होने से उस लक्षणा को जहल्लक्षणा कहते हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'गंगायां घोषः' है। यहां 'गंगा' पद के प्रवाह रूप वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर अर्थात् लक्षणा से बोध्य अर्थ से वाच्यार्थ को पृथक् कर केवल तत्संबंधी तीररूप लक्ष्यार्थ का ही ग्रहण किया जाता है। इसलिये गंगा पद जहल्लक्षणा का उदाहरण है। सभी लोगों के द्वारा जहल्लक्षणा के उदाहरण रूप में दिखाये गये 'गंगायां घोषः' से अतिरिक्त उदाहरण यहां ग्रन्थकार ने दिया है। दूसरा यह भी कारण है कि 'गंगायां घोषः' में केवल 'तीरत्व' धर्म से तीररूप लक्ष्यार्थ का बोध नहीं होता। ऐसा न मानने पर अन्य नदी के तीर में भी तीरत्व होने से उस तीर का भी 'गंगा' पद से बोध होने लगेगा। इसलिये 'गंगातीरत्व' धर्म से ही तीर का बोध मानना चाहिये। और ऐसा मानने पर गंगा पद के वाच्यार्थ का भी तीररूप लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव हो जाने से 'नीलो घटः' वाक्य के 'नील' पद के समान इसे भी कोई अजहल्लक्षणा कह देगा। इसलिये ऐसे विवादास्पद स्थल का उदाहरण न देकर ग्रंथकार ने 'विषं भुङ्क्ष्व' इस 'निसंदिग्धवाक्य को ही उदाहरण के रूप में रखा है। जब कोई व्यक्ति अपने परमप्रिय मित्र से कहे कि 'विषं भुङ्क्ष्व'—विष खाओ, तब 'प्रिय मित्र हलाहल विष खाकर प्राण दे दे' ऐसा उद्देश तो कहने वाले का हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह परम प्रिय है। इसलिये इस वाच्यार्थ के स्वीकार करने पर तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है, इस कारण उस समय श्रोता उस वाक्य का अर्थ इस प्रकार ही समझता है जब कि देवदत्त मेरा शत्रु है और वह भोजन के लिये बुला रहा है और यह यज्ञदत्त मेरा परम प्रिय मित्र होता हुआ मुझे 'विष खाओ' कह रहा है।

ऐसी स्थिति में 'विष क्यों नहीं खाते' यही उसके कहने का उद्देश है। अतः अपने शत्रु देवदत्त के घर भोजनार्थ नहीं जाना चाहिये, वहां भोजनार्थ जाने पर अवश्य ही कोई संकट उपस्थित होगा। ऐसा समझकर ही यह सुनने

वाला व्यक्ति उस वाक्य का अर्थ यही समझता है कि शत्रु के घर भोजन नहीं करना चाहिये।

इस स्थल में 'विषं भुङ्क्ष्व' इस समस्त वाक्य की 'शत्रुगृहे भोजन-निवृत्तिः' रूप अर्थ में लक्षणा है। किन्तु इस लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का यत् किंचित् भी भान अथवा अन्तर्भाव नहीं है। इसलिये यह शुद्ध-जहल्लक्षणा है। इसमें किसी का भी वैमत्य नहीं है।

प्रश्न—यहां शक्य संबन्ध कौन सा है? और यदि वह न हो तो लक्षण के न घट सकने से इसे लक्षणा ही नहीं कह सकते।

उत्तर—'विषं भुङ्क्ष्व' में विष शब्द मुख्य वृत्ति से (अभिधा शक्ति से) विषबोधक न होकर अपकारकत्वरूप शक्यसम्बन्ध से (लक्षणा से) 'शत्रु का अन्न' ही विष शब्द का अर्थ है। इसी प्रकार 'भुङ्क्ष्व' में भुज् धातु अपनी शक्तिवृत्ति से भोजनरूप अर्थ में न होकर वह वैपरीत्य अथवा लक्षणावृत्तिरूप सम्बन्ध से भोजननिवृत्ति का बोधक है। अर्थात् यहाँ पर 'अपकारकत्व' और 'वैपरीत्य' साक्षात् शक्य सम्बन्ध है। इस कारण प्रकृति में लक्षणा का लक्षण अच्छी तरह से घटित हो जाता है। वाक्यार्थ में शब्द की शक्ति न होने पर भी शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का संभव ग्रन्थकार आगे बताने वाले हैं।

इस रीति से शत्रु-अन्न के भोजन की निवृत्तिरूप लक्ष्यार्थ में हाला-हलादिरूप वाच्यार्थ का यत् किंचित् भी ज्ञान नहीं होता। इसलिए यह जहल्लक्षणा है।

अब अजहल्लक्षणा के स्वरूप को बताते हैं—

यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा, यथा शुक्लो घट इत्यत्र हि शुक्लशब्दः। स्वार्थं शुक्लगुण-मन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते।

जहाँ पर लक्ष्यार्थ का अन्तर्भाव करके ही अन्य (लक्ष्य) अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ पर (वाच्यार्थ का त्याग न किया होने से) अज-हल्लक्षणा होती है। जैसे—'शुक्लो घटः' इस वाक्य में शुक्ल शब्द, अपने 'शुक्लगुण' रूप स्वार्थ (वाच्यार्थ) का शुक्लगुणविशिष्ट द्रव्यरूप लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव करके ही शुक्लगुणवान् द्रव्य (घट) रूप अर्थ में लक्षणा-वृत्ति से रहता है। अर्थात् उपर्युक्त अर्थ का बोधन करता है, इसलिए यह अजहल्लक्षणा का उदाहरण है।

विवरण—लक्षणा से प्रतीत होनेवाले लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ भी जब अन्त-र्भूत होता है तब उस लक्षणा को अजहल्लक्षणा कहते हैं। 'शक्यार्थविशिष्ट-

विषयावृत्तिरजहल्लक्षणा' शक्यार्थ से (वाच्यार्थ से) विशिष्ट विषय को विषय करने वाली वृत्ति को अजहल्लक्षणा कहते हैं। क्योंकि—अजहल्लक्षणा में 'गंगायां घोषः' या 'विषं भुङ्क्ष्व' आदि जहल्लक्षणा के उदाहरणों में वाच्यार्थ का जैसे सर्वथा त्याग करना पड़ता है, वैसा इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं करना पड़ता। जैसे—'शुक्लो घटः' में शुक्ल शब्द शुक्ल गुण का वाचक है अर्थात् शुक्ल (शुभ्र) वर्ण उसका वाच्यार्थ है। वह गुण होने से 'घट' अर्थात् द्रव्य नहीं है स्पष्ट है। इस कारण शुक्लशब्द के वाच्यार्थ की वाक्य में—उपपत्ति न लग सकने से (अनुपपत्ति होने से) उस शब्द की शुक्लगुण के साथ नित्यसम्बद्ध रहनेवाले 'शुक्लगुणवान् घट' रूप अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है। किन्तु लक्षणा के स्वीकार करने पर भी शुक्लगुण रूप वाच्यार्थ की सर्वथा अप्रतीति नहीं होती। क्योंकि शुक्लगुणविशिष्ट घट का ज्ञान 'शुक्ल गुण' रूप विशेषण के ज्ञान के विना संभव नहीं है इसलिए यह अजहल्लक्षणा का उदाहरण है। इसी प्रकार 'रक्तो धावति' वाक्य में रक्त शब्द की 'रक्तगुणविशिष्ट अश्व' रूप अर्थ में वृत्ति स्वीकार कर 'लाल घोड़ा दौड़ता है' अर्थ की प्रतीति अजहल्लक्षणा से ही होती है।

अब तीसरी जहदजहल्लक्षणा का लक्षण और उदाहरण बताते हैं—

यत्र हि विशिष्टवाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा, यथा सोऽयं देवदत्त इति। अत्र हि पदद्वयवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यानुपपत्त्या पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम्। यथा वा तत्त्वमसीत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपदवाच्येनान्तःकरणविशिष्टेनैक्यायोगादैक्यसिद्ध्यर्थं स्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः।

अर्थ—जिस वाक्य में विशिष्ट वाचक शब्द अपने विशेषणरूप एकदेश को (एक अंश को) छोड़कर विशेष्यरूप एक अंश का बोधक होता है, वहां जहदजहल्लक्षणा होती है। जैसे—'सोऽयं देवदत्तः'—वह यह देवदत्त—इस वाक्य में 'वह' पद का 'तत्कालविशिष्ट' और 'यह' पद का 'एतत्कालविशिष्ट' अर्थ है। परन्तु 'देवदत्त' परोक्ष और अपरोक्षरूप विरुद्ध उभय कालों से विशिष्ट होकर एक ही समय में स्थित नहीं हो सकता। इसलिये 'वह' और 'यह' दोनों पद केवल देवदत्त रूप विशेष्य अर्थ के ही बोधक हैं अर्थात् दोनों पद केवल विशेष्यपरक हैं। स्वार्थपरक (वाच्यार्थपरक) नहीं हैं। इसलिये यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है। अथवा 'तत् त्वमसि' वह—ब्रह्म तू है—आदि अभेदबोधक वाक्यों में 'तत्' पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादि-

विशिष्ट चैतन्य के साथ ऐक्य का संभव नहीं हो सकता। अतः चैतन्यों की एकता के लिये स्वरूप में (शुद्ध चैतन्य में) उनकी लक्षणा करनी पड़ती है ऐसा साम्प्रदायिक (प्राचीन वेदान्ती) कहते हैं।

विवरण—व्यवहार में 'सोऽयं देवदत्तः' कहा जाता है। इस वाक्य का वाच्यार्थ है 'वह यह देवदत्त'। इसमें 'सः'—वह-शब्द का वाच्यार्थ है 'पूर्वकाल में स्थित' अर्थात् वर्तमान में जिसका प्रत्यक्ष न हो। और 'अयम्' यह-शब्द का वाच्यार्थ है, जिसको उंगली से निर्देश कर सकें ऐसा वर्तमान काल में स्थित व्यक्ति। तत्कालीन देवदत्त तत्काल से विशिष्ट होने से परोक्ष और एतत्कालीन देवदत्त, इस काल से युक्त होने से अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है। किन्तु एक ही देवदत्त का एक ही काल में उस काल से और इस काल से विशिष्ट रहना संभव नहीं। क्योंकि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं। इस कारण पूर्वोक्त वाक्य से तथाकथित विरुद्ध धर्मों से युक्त देवदत्त का ऐक्य संभवनीय नहीं। किन्तु वह वाक्य (सोऽयं देवदत्तः) तत्कालविशिष्ट और एतत्कालविशिष्ट देवदत्त, एक ही है, भिन्न नहीं है—इस उद्देश्य से ही वह वाक्य कहा गया है। इस कारण जहाँ ऐसे विशिष्टों का ऐक्य संभव न हो वहाँ उनके विशेषणों का त्याग कर केवल विशेष्य को ही दोनों पदों का अर्थ स्वीकृत किया जाता है। ऐसी लक्षणा को ही 'जहद-जहल्लक्षणा' या 'भागत्यागलक्षणा' कहते हैं। इसमें विशेषण और विशेष्य-वाचक पदों में से 'विशेषण' के भाग (अंश) को त्याग कर 'विशेष्य' भाग का ग्रहण किया जाता है। इसलिए इस वृत्ति को भागत्याग या जहदजह-ल्लक्षणा कहना सर्वथा योग्य है। प्राचीन वेदान्तियों ने अभेदबोधक महा-वाक्यों का अर्थ लगाने के लिए इस लक्षणा को स्वीकार किया है। परन्तु वेदान्तपरिभाषाकार—श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र को यह साम्प्रदायिक मत मान्य नहीं है—यह अग्रिम ग्रन्थ से ही स्पष्ट होगा। तथापि उन्होंने सम्प्रदाय का अनुसरण कर 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में इस लक्षणा के लक्षण को घटित कर दिखाया है। 'तत्' का अर्थ है सर्वज्ञत्वादिधर्मों से विशिष्ट ईश्वर-चैतन्य और 'त्वम्' का अर्थ है अन्तःकरणोपाधिविशिष्ट अल्पज्ञ चैतन्य। इनका अभेद (ऐक्य) होना संभव नहीं। क्योंकि मायोपाधिक जो सर्वज्ञ ईश्वर है वह अल्पज्ञ जीव कैसे हो सकेगा ?। अर्थात् इस वाच्यार्थ का असं-भव होने पर लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु पहले की तरह जहत् और अजहत् लक्षणाओं का लक्षण इसमें घटित न हो सकने से इस वाक्य में उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि उन शब्दों के वाच्यार्थ का त्याग करने पर चैतन्यरूप विशेष्यांश का भी त्याग करना पड़ता है, और

उसके करने पर उस वाक्य का श्रुति को विवक्षित अभेदार्थ नहीं बन पाता और अहजल्लक्षणा के न्याय से वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग न करने पर भी विवक्षित ऐक्य का असंभव ही रहता है। अतः पूर्वोक्त दोनों लक्षणाओं से भिन्न ऐसी तीसरी जहदजहल्लक्षणा का ही स्वीकार करना पड़ता है। अर्थात् तत्पद के वाच्यार्थ में से सर्वज्ञत्वादि और त्वं पद के वाच्यार्थ में से किंचिज्ज्ञत्वादिरूप औपाधिक विशेषणों का त्याग कर केवल विशेष्यभूत चैतन्य अर्थ को ही दोनों पदों में से स्वीकार करना पड़ता है। इस कारण श्रुतिविवक्षित चैतन्याभेदरूप अर्थ सिद्ध होता है।

इस प्रकार सांप्रदायिक मत को बताकर अब अपने मत के अनुसार 'सोऽयं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अभेदार्थरूप वाक्यार्थ की उपपत्ति बताते हैं—

वयन्तु ब्रूमः—सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचकपदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयोर्विशिष्टयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेवाभेदान्वयाऽविरोधात्। यथा घटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहानित्यत्वान्वयः।

अर्थ—इस विषय में हम तो ऐसा कहते हैं—'वही यह देवदत्त' 'वह = ब्रह्म तू है' आदि वाक्यों में 'सः' 'अयम्' 'तत्' और 'त्वम्' ये विशिष्टवाचक पद यद्यपि विशेष्य के एकदेश के ही बोधक हैं तथापि उस बोध के लिये उन पदों की विशेष्यांश में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि शक्ति वृत्ति से उपस्थित (ज्ञात) हुए तत्कालतया एतत्काल से विशिष्ट देवदत्त के अभेदान्वयरूप अर्थ की अनुपपत्ति रहने पर भी शक्तिवृत्ति से ही उपस्थित हुए विशेष्यों का अभेदान्वय करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यथा—'घट अनित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद के 'घटत्व जाति-विशिष्ट घट' रूप वाच्यार्थ का एकदेश (विशेषणांश) यद्यपि—अनित्यत्व के साथ अन्वित होने के योग्य नहीं है तथापि अन्वययोग्य घटव्यक्तिरूप विशेष्यांश के साथ उसका अन्वय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि—हम 'घट' व्यक्ति को ही अनित्य समझते हैं 'घटत्व' जाति को नहीं–यह ज्ञान शक्ति से ही होता है। अतः यहां लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है।

विवरण—ग्रन्थकारने 'घट' पद की शक्ति 'घटत्वजातिविशिष्ट घट' रूप अर्थ में गृहीत कर अपना मत प्रतिपादन किया है। 'शब्द' की 'विशिष्ट' में शक्ति होती है—ऐसा मानने पर घट पद की 'घटत्व' जाति रूप अर्थ में शक्ति

जैसी है तद्वत् वह 'घट व्यक्ति' रूप अर्थ में भी है—यह सिद्ध होता है। इसलिये जहां पर विशिष्टपदार्थान्वय का बाध होता हो वहां जिस अंश का बाध नहीं हो रहा है उसी अंश में उस शब्द का पर्यवसान मानना चाहिये। क्योंकि जितने अंश में शक्ति रहती है उस सम्पूर्ण अंश का शाब्द बोध में भान होना ही चाहिये यह कोई नियम नहीं है। 'आकाश' शब्द की शब्दाश्रयत्व-विशिष्ट आकाश पदार्थ में शक्ति है, इसलिये 'आकाश है' ऐसा कहने पर शब्दाश्रयत्व का बोध जैसे तात्पर्य का विषय नहीं होता उसी तरह विशिष्टवाचक-पदों का पर्यवसान एकदेश में मानने पर भी मुख्यवृत्ति से ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का अखण्डार्थत्व (ऐक्यार्थत्व) उपपन्न होता है। अतः उसके निमित्त लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं।

अन्य दार्शनिकों ने भी ऐसा ही माना है। 'घट अनित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद का 'घटत्व-विशिष्ट घट' वाच्यार्थ है। परन्तु 'घटत्व' और 'घट' दोनों से भी अनित्यत्व का अन्वय होना संभव नहीं। क्योंकि 'घटत्व' जाति होने से उनके मतानुसार वह नित्य है। हमारे मत में भी उसे व्यावहारिक नित्यत्व तो है ही। इसलिये नैयायिक यहां पर वाच्य के एकदेश रूप विशेष्यांश घट के साथ ही। अनित्यत्व का अन्वय स्वीकार करते हैं और 'घटव्यक्ति अनित्य है' यही उपर्युक्त वाक्य का अर्थ करते हैं। यहां यह बोध शक्ति से ही होता है। इसलिये लक्षणा नहीं स्वीकार करनी पड़ती।

शंका—ऐसा मानने पर 'घट अनित्य है' इस वाक्य में घटरूप विशेष्यांश का नित्यत्व के साथ अन्वय जब बाधित होता है तब उसका घटत्व रूप विशेषणांश में पर्यवसान भी मुख्यवृत्ति से ही होने लगेगा, जिससे 'यह बोध लक्षणा से ही होता है' इस प्रामाणिक व्यवहार का बाध होगा—इस शंका के समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं—

यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः, तत्रैव स्वातन्त्र्येणोपस्थितये लक्षणाऽभ्युपगमः। यथा घटो नित्य इत्यत्र घटपदाद्घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्र्येणानुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा।

अर्थ—जिस वाक्य में पदार्थ के एकदेश की (एक अंश की) विशेषण रूप से उपस्थिति हो वहीं पर उसकी (केवल विशेषण की) स्वतंत्रतया उपस्थिति होने के लिये लक्षणा का अभ्युपगम (स्वीकार) करना पड़ता है। जैसे—'घट नित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद से शक्तिवृत्ति के द्वारा केवल घटत्व की स्वतंत्रतया उपस्थिति (ज्ञान) नहीं होती, इसलिये वैसी (विशेषण

रूप घटत्व की) उपस्थिति होने के लिये घट पद की घटत्वरूप अर्थ में लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है।

विवरण—प्रधानता विशेष्य में रहती है, इसलिये उसका (विशेष्य का) स्वतंत्रतया (केवल व्यक्ति व्यक्ति के रूप से) होने वाला बोध, शक्तिवृत्ति से ही हो सकता है, इसलिये वहां लक्षणा की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु विशेषण में गौणता रहती है, इसलिये जिस वाक्य में स्वतंत्रतया (विशेष्य की अपेक्षा न करते हुए) केवल गुणभूत विशेषण से ही पदार्थ का अन्वय होना होता है, उस वाक्य में उस विशेषण रूप अंश की ही उपस्थिति के लिये लक्षणा अवश्य स्वीकार करनी चाहिये। जैसे 'घट नित्य है' कहने पर घट पद से विशेषण और विशेष्य (घटत्व और घटत्वावच्छिन्न घट व्यक्ति) के साथ परस्पर संबद्ध दोनों अर्थों की उपस्थिति का संभव होने पर भी घटव्यक्ति रूप विशेष्यांश से नित्यत्व का अन्वय हो नहीं सकता। क्योंकि घटव्यक्ति के नित्य न होने से विशेष्यरूप अंश के साथ नित्यत्व का अन्वय-बोध न होकर केवल विशेषणीभूत घटत्वरूप एकदेश के ही साथ नित्यत्व अन्वित होता है, इस प्रकार की उपस्थिति के लिये घट पद की घटत्वरूप अर्थ में लक्षणा ही माननी पड़ती है। क्योंकि पदार्थ, पदार्थ के साथ ही अन्वित होता है। 'पदजन्य पदार्थ की प्रतीति में शक्ति वृत्ति के द्वारा विशेष्यभूत अंश के ही साथ पदार्थ का अन्वय होता है, उसके एकदेश के साथ पदार्थ अन्वित नहीं होता' यह नियम होने से 'घट' पद से विशेष्य निरपेक्ष 'घटत्व' इस विशेषण रूप अंश की उपस्थिति लक्षणा के बिना नहीं हो पाती। अतः ऐसे स्थल पर लक्षणा के बिना नहीं हो पाती। अतः ऐसे स्थल पर लक्षणा माननी ही पड़ती है।

इस प्रकार विशिष्टवाचक पद से केवल विशेष्य की उपस्थिति होने के लिये लक्षणा का स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वहां तो केवल विशेषण की उपस्थिति के लिये लक्षणा माननी पड़ती है, यह नियम बताया गया। अब उसी नियम को प्रकृत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में लगा कर वहां भी लक्षणा के बिना ही अखंडार्थ की उपपत्ति को बताते हैं—

एवमेव तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वम्पदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात्। अन्यथा गेहे घटो-घटे रूपं-घटमानयेत्यादौ घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्यतया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव स्यात्। तस्मात्तत्त्वमसीत्यादिवाक्येषु आचार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेन बोध्या।

अर्थ—इसी न्याय के अनुसार 'तत्त्वमसि' इत्यादि प्रकृत वाक्यों में भी लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शक्तिवृत्ति के द्वारा, स्वतंत्रतया (सर्वज्ञत्वादि विशेषणों की अपेक्षा न करते हुए केवल विशेष्यरूप से) चैतन्यरूप से उपस्थित होने वाले 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों का अभेद से अन्वय होने में कोई भी बाधक नहीं है। अन्यथा (ऐसे स्थल पर यदि लक्षणा को न माने) 'घर में घट है' 'घट में रूप है' 'घट लाओ' आदि वाक्यों में भी घटत्व, गेहत्व आदि धर्मों में गृहादि पदार्थरूप अंशों में अभिमत अन्वय-बोध करादेने की योग्यता न होने से वहां पर भी घटादिपदों का केवल विशेष्यपरत्व लक्षणा से ही होने लगेगा। तस्मात् पूर्वाचार्यों ने 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में जहदजहल्लक्षणा का अभ्युपगमवाद से स्वीकार किया है। ऐसा समझना चाहिये।

विवरण—उपर्युक्त नियम मानने पर विशिष्टवाचक पदों से केवल विशेष्य का ज्ञान होने के लिये लक्षणा का स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं, यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि अभेदार्थक वाक्यों में भी लक्षणारूप गौण वृत्ति को नहीं मानना पड़ता। क्योंकि 'तत् पद से सर्वज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' पद से अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्यरूप विशिष्ट अर्थों के उपस्थित होने पर भी उनका अभेदान्वय बाधित होने पर भी वे पद जहदजहल्लक्षणा के द्वारा केवल केवल शुद्ध (सर्वज्ञत्वादिविशेषरहित) चैतन्य के बोधक होते हैं' यह आप का मन्तव्य (केवल विशेष्यमात्र की उपस्थिति) तो ऊपर बताये नियम से ही हो सकता है और इस कारण लक्षणारूप गौण वृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं होती।

शंका—घट आदि पद स्वाभाविक रूप से ही घटत्वादि विशेषण और घटादि विशेष्य दोनों के बोधक होते हैं अर्थात् उनकी शक्ति उन दोनों में होती है, इसलिये जहां पर उन में से एक ही की उपस्थिति होती हो वहां वह एकदेश, उन पदों का वाच्यार्थ है, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिये 'घट नित्य है' इत्यादि वाक्यों में केवल विशेषण का ज्ञान होने के लिये आप को वहां पर जैसी लक्षणा माननी पड़ती है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में भी उसे मानना पड़ता है, तब 'यहां लक्षणा की आवश्यकता नहीं है' यह आप कैसे कहते हैं?

ग्रन्थकार ने इस शंका का निराकरण 'अन्यथा०' इत्यादि वाक्य से किया है। विशेषण के समान केवल विशेष्य का बोध भी लक्षणा से ही होता है, ऐसा मानने पर 'घर में घट है' इस वाक्य में गृहत्वविशिष्ट गृह इस प्रकार के विशिष्टार्थ-बोधक 'गृह' पद से केवल 'गृह' रूप विशेष्यांश का बोध होने के लिये ऐसे वाक्य में भी लक्षणा का स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि

यहां पर भी वाच्यैकदेशभूत घटत्वरूप अर्थ के साथ 'गृह' पदार्थ का आधेयता-संबन्ध से अन्वय का होना असंभव है। क्योंकि गृह में घटत्व नहीं रहता। उसी प्रकार घट गृह में रहता है, वह गृहत्व जाति में नहीं रह सकता। वैसे ही 'घट में रूप है' इस वाक्य का घटत्व-विशिष्ट घट में अर्थात् घटत्व और घट इन दोनों में रूप है—यह अर्थ उपपन्न नहीं होता, क्योंकि रूप घट में रहता है, उसका घटत्व-जाति में होना संभव नहीं। इसलिये घटत्व का रूप के साथ आधेयता सम्बन्ध से अभिलषित अन्वय हो नहीं सकता। इसलिये इस वाक्य से 'घट में रूप है' इत्याकारक जो बोध होता है वह भी लक्षणा से ही होता है–कहना पड़ेगा। इसी प्रकार 'गाय को लाओ' इस वाक्य में 'गो' इस विशिष्ट पद की भी केवल 'गो' इस अर्थ में' लक्षणा मानकर ही विशेष्य का आनयन (लाना) क्रिया में अन्वय होता है–कहना होगा, क्योंकि वहां भी वाच्यैकदेशरूप (विशेषणरूप) अमूर्त गोत्व का आनयन क्रिया में कर्मत्वरूप से अन्वित होना संभव नहीं है।

इसपर—'गेहे घटः' आदि वाक्यों में हम लक्षणा मानते हैं उसमें क्या बाधक है—यदि कहें तो वह उचित न होगा। क्योंकि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' प्राधान्य से सब व्यवहार हुआ करते हैं, इस नियम के अनुसार उस वाक्य के वाच्यार्थ का प्रधानभूत एकदेशरूप विशेष्य की उपस्थिति होने पर वह अर्थ शक्य (वाच्य) है, यही मानना उचित है। वाक्य में विशेषण की प्रधानता न होने से विशेष्यरहित विशेषण का ज्ञान लक्षणा के विना हो नहीं सकता। इसलिये केवल विशेषणरूप अंश में लक्षणा को अवश्य मानना पड़ता है। क्योंकि 'घट पद का घटत्व वाच्य है' ऐसा प्राधान्य से व्यवहार नहीं होता, इसलिये 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन' यह नियम भी विशेषणविषयक ही है, समझना चाहिये, अर्थात् विशेषण के साथ पदार्थ का अन्वय न होकर विशेष्य के ही साथ होता है, यह उस नियम का अर्थ समझना चाहिये।

शंका—परन्तु ऐसा कहने पर वाक्यवृत्ति, पंचदशी आदि पूर्वाचार्य-कृत वेदान्त-ग्रन्थों के साथ विरोध होता है, क्योंकि 'तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में भागलक्षणारूप लक्षणा माननी पड़ती है, इस कहने से विरोध होता है, उसका परिहार किस प्रकार से होगा ?

समाधान—श्रीमदाचार्य ने तथा विद्यारण्य आदिकों ने 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में जो भागलक्षणा मानी है, वह पूर्वपरंपरा का अनुसरण कर मानी है। वस्तुतः उन्हें भी वैसी लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं थी।

इस पर यदि कोई ऐसा कहे कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य में अभेदान्वय की उपपत्ति लगाने के लिये ही यह तीसरा प्रकार अर्थात् 'जहदजहल्लक्षणा' माना गया है। यदि आपके कथनानुसार इस वाक्य में भी उसका उपयोग न हो तो 'लक्षणा त्रिविधा' इस प्रकार लक्षणा के तीन प्रकार बताने का क्या उपयोग होगा ? इस प्रश्न पर ग्रन्थकार कहते हैं—

जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु—काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्याद्येव। तत्र शक्यकाकपरित्यागेनाशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेण काकेऽकाकेऽपि काकशब्दस्य प्रवृत्तेः।

अर्थ—'कौओं से दही की रक्षा की जाय' इत्यादि वाक्य ही जहदजहल्लक्षणा के उदाहरण हैं। क्योंकि ऐसे वाक्य में 'काक' शब्द के वाच्यार्थ (काकत्वविशिष्टकाक) का परित्याग कर और अशक्यार्थ (अवाच्य = लक्ष्यार्थ–दध्युपघातकत्व) का पुरस्कार कर 'काक' शब्द की काक तथा अकाक (काकभिन्न अर्थात् दही को दूषित करने वाले मार्जारादि प्राणी) अर्थ में प्रवृत्ति है। (इसलिये यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है)

विवरण—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है। मूलग्रन्थस्थ 'इत्यादि' शब्द से 'छत्रिणो यान्ति' इत्यादि उदाहरणों को समझना चाहिये। इस कारण 'लक्षणा त्रिविधा' इस वाक्य के साथ कोई विरोध नहीं हो पाता।

जब कि घर के बड़े लोग बच्चों से कहते हैं कि 'दही की ओर देखना, कौए उसे दूषित न करने पांय' तब केवल कौए दही को दूषित न करें, बिल्ली, कुत्ते आदि उसे दूषित करें' यह उस वाक्य का आशय नहीं होता, अपितु सभी से उसका (दही का) रक्षण करना ही उस वाक्य का तात्पर्य-विषयभूत अर्थ होता है। इसलिये उस वाक्य का श्रोता बालक यह समझता है कि मुझे सभी—दध्युपघातक प्राणियों से दही की रक्षा करने की आज्ञा हुई है। इस प्रकार की प्रतीति उसे काक शब्द की दध्युपघातक प्राणियों में लक्षणा मानने से ही होती है। यहां दधिरक्षणरूप तात्पर्यार्थ की केवल वाच्यार्थ से अनुपपत्ति होनेपर लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है, अतः यही—जहदजहल्लक्षणा है।

शंका—उपर्युक्त वाक्य में लक्षणा का स्वीकार आवश्यक होने पर भी 'विरुद्ध विशेष अंशों का त्याग कर अविरुद्ध विशेष अंशोंका स्वीकार करना' रूप जहदजहल्लक्षणा का लक्षण प्रकृत स्थल में संभव नहीं होता, क्योंकि उसमें 'काक' पदके वाच्यार्थ का त्याग नहीं होता। इसलिये इसे (काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्) जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण कैसे कहा जा सकता है।

समाधान—प्राचीन सांप्रदायिकों ने 'विरुद्धांश-त्यागपूर्वक अविरुद्ध अंश-विशेष का स्वीकार करना' लक्षण जहदजहल्लक्षणा का किया है। परन्तु धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि नवीन वेदान्तियोंने उसे स्वीकार नहीं किया। नवीनों का कहना है कि शक्य और अशक्य अर्थ का सामान्यतया बोध करादेनेवाली जो लक्षणा हो वही जहदजहल्लक्षणा है।

प्रकृत उदाहरण में इस लक्षण का समन्वय होता है। क्योंकि यहांपर 'काक' शब्द काकत्व रूप वाच्यार्थ का त्याग कर अशक्य (वाच्यार्थभिन्न) 'दध्युपघातकत्व' धर्म का पुरस्कार करता है और मार्जार, श्वान आदि लक्ष्यार्थों के साथ वाच्यरूप 'काक' का भी उसी धर्म से (दध्युपघातकत्वरूप) बोध कर देता है। इस रीति से यह वाक्य (काक) और अशक्य (मार्जार आदि) का बोधक होने से जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण हो सकता है इसी प्रकार 'छत्रिणो गच्छन्ति' छातेवाले लोग जा रहे हैं—आदि वाक्य भी इसी लक्षणा के उदाहरण बन सकते हैं। इस वाक्य में भी 'एकसार्थवाहित्व'—एक समूह का घटक होना—सम्बन्ध से 'छत्रिन्' पद शक्य (छत्रवान् लोग) और अशक्य (छत्ररहित लोग) दोनों का भी बोधक है।

इस प्रकार लक्षणा का स्वरूप बताकर अब उसका बीज बताते हैं—

लक्षणाबीजं तु तात्पर्य्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः, काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्य्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्।

अर्थ—परन्तु तात्पर्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा में बीज है। अन्वय की अनुपपत्ति, लक्षणा में बीज नहीं है। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' वाक्य में अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है। (वाक्य के पदों का परस्पर अन्वय लग सकता है) उसी प्रकार 'गंगायां घोषः' आदि वाक्यों में तात्पर्य की अनुपपत्ति का भी संभव होता है। (इसलिये एकमात्र तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा में बीज मानने में लाघव है)

विवरण—'तत्वमसि' आदि अभेदबोधक वाक्यों में गौणी लक्षणा (गौण लक्षणावृत्ति) मानने की आवश्यकता नहीं है, यह ऊपर बताया गया है। इसपर यदि कोई कहदे कि 'जिसप्रकार 'शक्ति' शब्दकी एक वृत्ति है—उसीप्रकार 'लक्षणा' भी शब्द की एक वृत्ति है। इस कारण शक्ति से जैसे शक्यार्थ का ज्ञान होता है वैसे ही लक्षणा से शक्यसम्बद्ध लक्ष्यार्थ का भी ज्ञान होता है, तब उस में गौणत्व कैसा ?

इस शंका के निरसनार्थ यहां पर लक्षणा का बीज बताया गया है। शब्द से लक्षणा के द्वारा लक्ष्यार्थ का ज्ञान होने में जो कारण हो उसे लक्षणा का

बीज कहते हैं। शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को शक्यार्थ या वाच्यार्थ कहते हैं, जहां पर उस वाच्यार्थ की उपपत्ति नहीं लगती वहां अगत्या लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है। इसीलिये उसे मुख्य शक्ति की अपेक्षया गौणत्व समझा जाता है। अर्थात् जहां वाच्यार्थ से ही शाब्दबोध का होना संभव हो वहां लक्षणा को मानने की आवश्यकता नहीं होती।

परन्तु कुछ वादी—मुख्यार्थ के अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा में बीज मानते हैं। अतः उसका निराकरण करने के लिये ग्रन्थकार ने मूल में कहा है-'अन्वयानुपपत्ति, लक्षणा में बीज नहीं है।' क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य में दधिरक्षण का केवल 'काक' शब्द के साथ (उसके मुख्यार्थ के साथ अन्वय मानने पर भी वह अनुपपन्न नहीं होता, इसलिये अन्वयानुपपत्ति-रूप लक्षणाबीज प्रकृत उदाहरण में अव्याप्त रहता है। किन्तु मार्जार आदि प्राणियों को यदि दूषित करने दिया जाय तो 'दधिरक्षण' रूप तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा में बीज मानना आवश्यक है। उसके मानने पर सभी जगह शाब्दबोध की उपपत्ति लग जाती है अतः पृथक्रूप से 'अन्वयानुपपत्ति' रूप लक्षणाबीज मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि 'अन्वयानुपपत्ति और तात्पर्यानुपपत्ति' रूप दो लक्षणाबीज मानने की अपेक्षया सर्वत्र एक को ही बीज मानने में लाघव है।

इसके अतिरिक्त जहां कहीं वाक्य में अन्वयानुपपत्ति रहती है वहां तात्पर्यानुपपत्ति भी रहती है। 'गंगायां घोषः' यह वाक्य अन्वयानुपपत्ति रूप लक्षणाबीज के उदाहरण में दिया जाता है। क्योंकि 'गंगा' पद का मुख्यार्थ प्रवाह का घोष के साथ आधेयता-सम्बन्ध से अन्वय हो नहीं सकता। इस अन्वयानुपपत्ति के कारण गंगापद की 'गंगासम्बन्धी तीर' अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है—यह अन्वयानुपपत्ति को बीज मानने वालों का कहना है। परन्तु यहां जैसी अन्वयानुपपत्ति है वैसी ही तात्पर्या-नुपपत्ति भी है। क्योंकि 'गंगा' पद का 'प्रवाह' रूप मुख्य अर्थ करने पर उस वाक्य के 'तीरप्रतीति-जननयोग्यत्व' रूप तात्पर्य का असंभव हो जाता है। इस कारण इस वाक्य में भी तात्पर्यानुपपत्ति होने से ही लक्षणा का स्वीकार किया जाना चाहिये। तस्मात् भिन्न-भिन्न उदाहरणों में लक्षणा के भिन्न-भिन्न प्रयोजक मानने की अपेक्षया 'तात्पर्यानुपपत्ति' रूप एक ही बीज मानना उचित है। तात्पर्यार्थ के स्वरूप को ग्रन्थकार स्वयं बतावेंगे। 'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में तात्पर्य निश्चय करने के लिये अन्वयानुपपत्ति का उपयोग हो सकता है। इसी प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यहां प्रयोजनासिद्धि का और 'सैन्धवमानय' में देश, काल,

प्रकरण आदिकों का भी तात्पर्य निश्चय करने में उपयोग होता है। अर्थात् तात्पर्यार्थ के निश्चायक कारण भिन्न-भिन्न होते हैं।

नैयायिकों का कहना है कि—'जिस प्रकार शक्ति केवल पदवृत्ति होती है उसी प्रकार लक्षणा भी पदवृत्ति ही है। क्योंकि लक्षणा में भी शक्ति के समान वृत्तित्व है। अतः जो भी वृत्ति हो उसका पदनिष्ठ होना ही उचित है'। इस मत का निराकरण ग्रन्थकार करते हैं—

लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि। यथा गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यत्र गम्भीरायां नद्यामिति पद-द्वयसमुदायस्य तीरे लक्षणा।

अर्थ—लक्षणा केवल पदमात्रवृत्ति नहीं है किन्तु वाक्यवृत्ति भी है। जैसे—'गंभीरायां नद्यां घोषः' गहरी नदीपर ग्वाले का घर है। इस वाक्य में गंभीर और नदी दो पदों के समूह की तीर अर्थ में लक्षणा है।

विवरण—नैयायिक अनुमान करते हैं कि—'लक्षणा, पदमात्रवृत्ति है, क्योंकि उसमें वृत्तित्व है, शक्ति के समान।' परन्तु उनका यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि 'गंभीरायां नद्यां घोषः' वाक्य में पदमात्रवृत्तित्व का व्यभिचार होता है। इस वाक्य में गंभीर विशेषण से विशिष्ट नदी पद की ही तीररूप अर्थ में लक्षणा की जाती है। इस कारण यहां लक्षणा में पदमात्रवृत्तित्व का संभव नहीं हो पाता।

इसके अतिरिक्त इस अनुमान में 'वृत्तित्व' हेतु सोपाधिक है, क्योंकि यहां 'शक्तित्व' उपाधि है। तथाहि—जहां 'पदमात्रवृत्तित्व' रूप साध्य होता है वहां (घट, पट आदि स्थलों में) शक्तित्व भी रहता है। इस कारण 'शक्तित्व' साध्यव्यापक हुआ। और जहां 'वृत्तित्व' रूप हेतु हो वहां 'शक्तित्व' के रहने का कोई नियम नहीं है—जैसे गंभीर और नदी दोनों पदों में लक्षणावृत्ति है किन्तु 'शक्तित्व' नहीं है, इस कारण 'शक्तित्व' साधनाव्यापक हुआ। अतः यह अनुमान सोपाधिकत्व रूप दोष से दूषित है।

'गंभीरायां नद्यां घोषः। वाक्य में नदी में 'गंभीर' विशेषण दिया है। परन्तु गंभीर जल पर घर का होना असंभव है। और यह व्यक्ति तो ऐसा बता रहा है, अतः इन दो-पदों के उच्चारण से नदीशब्द का तीररूप अर्थ ही इस व्यक्ति को विवक्षित होगा, यह प्रतीत होता है, इस कारण यहां पर दोनों पदों की तीररूप अर्थ में लक्षणा है—यह मानना होगा। क्योंकि केवल 'नदी' पद की 'तीर' रूप अर्थ में यदि लक्षणा मानलें तो 'गंभीर तीर पर घोष है' यह अर्थ होने लगेगा। परन्तु तीर में 'गंभीर' विशेषण नहीं दिया जा सकता। क्योंकि तीर गंभीर नहीं होता। यदि

'गंभीर' पद की ही तीर अर्थ में लक्षणा मानें तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'गंभीर' और 'तीर' में अभेद का होना संभव ही नहीं, इसी तरह 'तीर' और 'नदी' का भी अभेदान्वय कभी नहीं बन सकता। इसी प्रकार इन दो पदों में से किसी एक पद की तीररूप अर्थ में लक्षणा कर समीप के पद को उस तात्पर्य का केवल ज्ञापक मान लेने पर भी गंभीर और नदी दो पदों की आवृत्ति करने में कोई कारण नहीं है अतः पुनरुक्ति की उपपत्ति ही नहीं लगाई जा सकती।

इस पर यदि ऐसा कहें कि—'नदी' शब्द की केवल 'तीर' अर्थ में लक्षणा न कर 'नदी तीर' अर्थ में लक्षणा है, और 'नदीतीर' रूप लक्ष्यार्थ के 'नदी' रूप अंश के साथ ही गंभीर पद का अन्वय होता है। ऐसा करने पर कोई दोष नहीं है।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं है—एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ ही अन्वय होता है, उसके एक देश के साथ नहीं। यह शाब्दबोध के विषय में नियम है। अतः 'नदीतीर' पद के नदी रूप एक अंश के साथ गंभीर पद का अन्वय हो नहीं सकता। इसलिये परिशेषन्याय से गंभीर और नदी दोनों पदों की तीररूप अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है। वह अर्थ गंभीर और नदी परस्परान्वित इन दो पदों से निष्पन्न होता है। इस कारण यह वाक्यवृत्ति लक्षणा है। अर्थात् शक्ति के समान लक्षणा भी पदमात्रवृत्ति ही होती है, यह नियम नहीं बनाया जा सकता। प्रत्युत लक्षणा जैसी पदवृत्ति होती है वैसी वाक्यवृत्ति भी होती है—यह मानना पड़ता है।

शंका—लक्षणा का स्वरूप तो 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' बताया गया है। किन्तु वाक्यार्थ में शक्ति के न होने से उसकी शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा कैसे संभव हो सकेगी? इस प्रकार शंका उपस्थित कर उसका समाधान ग्रन्थकार करते हैं—

ननु वाक्यार्थस्याशक्यतया कथं शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा ? । उच्यते । शक्त्या यत्पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा, शक्तिज्ञाप्यश्च यथा पदार्थस्तथा वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः ।

अर्थ—वाक्यार्थ में अशक्यता होने से अर्थात् वाक्यार्थ में शक्यत्व के न होने से उसमें शक्यसंबन्धरूप लक्षणा है—यह कैसे कहा जा सकेगा? ऐसी शंका यदि हो तो समाधान बताते हैं—शक्ति से पदसम्बन्ध के द्वारा जो बोधित किया जाता है उसका संबंध ही लक्षणा है, और पदार्थ जैसे शक्ति से

ज्ञाप्य (बोध्य) होता है, वैसे वाक्यार्थ भी शक्ति से ज्ञाप्य होता है। अतः वाक्य में लक्षणा के स्वीकार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

विवरण—जब किसी शक्यार्थ (वाच्यार्थ) की उपपत्ति नहीं लगती, तब उसकी शक्यार्थसंबद्ध अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है। परन्तु जो अर्थ, वाच्य ही नहीं है उसकी तत्संबद्ध अर्थ में लक्षणा कहना तो वन्ध्यापुत्र का किसी से सम्बन्ध प्रदर्शन करने के समान ही होगा—यह आशय शंका करने वाले का है। इसपर ग्रन्थकार यह समाधान देते हैं—पदार्थ (पदजन्य अर्थ) जैसे शक्य (वाच्य) है वैसे ही वाक्यार्थ भी शक्य (वाच्य) है। इसलिये शक्यसंबंधरूप लक्षणा वाक्य में भी हो सकती है क्योंकि 'जो अर्थ, शक्ति से साक्षात् बोधन किया जाय वही शक्यार्थ है' इस प्रकार शक्य शब्द की व्याख्या यदि हमने स्वीकार की होती तो आपके कथनानुसार हमारे पक्षमें भी वाक्य में लक्षणा की अनुपपत्ति हुई होती। परन्तु शक्यार्थ का वैसा लक्षण न कर 'शक्ति से साक्षात् या परंपरा से जो अर्थ ज्ञात हो वही शक्यार्थ है' लक्षण मानते हैं—इस कारण शक्ति से साक्षात् यद्यपि पदार्थ ही बोधित होता है तथापि परंपरा से वाक्यार्थ भी बोधित होता है। पदसे पदार्थ का ज्ञान होते ही उन पदार्थों के परस्पर अन्वय से हमें जो अर्थ ज्ञात होता है, वही वाक्यार्थ है। वह भी शक्ति से ही परंपरया ज्ञात होता है। इसलिये पदार्थ के समान वाक्यार्थ में भी शक्यता है। इस कारण पद के समान बाक्य की भी अपने शक्यार्थ-सम्बद्ध अर्थ में लक्षणा हो सकती है।

अब लौकिक वाक्य में जैसी लक्षणा हो सकती है उसी प्रकार वैदिक वाक्य में भी लक्षणा होती है—इस बात को ग्रन्थकार कह रहे हैं—

एवमर्थवादवाक्यानां प्रशंसारूपाणां प्राशस्त्ये लक्षणा। सोऽरोदीदित्यादिनिन्दार्थवाक्यानां निन्दितत्वे लक्षणा। अर्थवादगतपदानां प्राशस्त्यादिलक्षणाऽभ्युपगमे एकेन पदेन लक्षणया तदुपस्थितिसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात्। एवं च विध्यपेक्षितप्राशस्त्यरूपपदार्थप्रत्यायकतया अर्थवादपदसमुदायस्य पदस्थानीयतया विधिवाक्येन एकवाक्यत्वं भवतीत्यर्थवादानां पदैकवाक्यता।

अर्थ—इसीप्रकार प्रशंसारूप अर्थवाद-वाक्यों की विधि के प्राशस्त्य में लक्षणा एवं 'सोऽरोदीत्' इत्यादि निन्दार्थक अर्थवादवाक्यों की 'निन्दितत्व' रूप अर्थ में लक्षणा होती है।

शंका—अर्थवादवाक्य के पदों की ही प्राशस्त्यादि अर्थ में लक्षणा होती है—यह क्यों नहीं मानते ?

समाधान—अर्थवादवाक्य के पदों की ही प्राशस्त्य अथवा निन्दित्व रूप अर्थ में लक्षणा यदि मानलें तो एक ही पदसे लक्षणा के द्वारा उन अर्थों की उपस्थिति हो जायगी जिससे अन्य पद व्यर्थ होंगे अर्थात् एक ही पद से प्राशस्त्य या निन्दितत्वादि अर्थ का लक्षणा के द्वारा यदि ज्ञान हो जाय तो अन्य पद व्यर्थ हैं, समझना पड़ेगा। इसलिये अर्थवाद-वाक्य के पदसमूह में विधि से अपेक्षित ऐसे प्राशस्त्यरूप पदार्थ की बोधकता होने के कारण पदस्थानीयत्व होता है। अर्थात् वह पदसमूह एक पद के समान ही होता है। इस कारण उनकी विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता होती है। इसलिये अर्थवाद-वाक्यों की पदैकवाक्यता मानी जाती है।

विवरण—'गंभीरायां नद्यां घोषः' इस वाक्य के किसी एक ही पद की लक्षणा न होकर गंभीर एवं नदी दो पदों की अर्थात् वाक्य की ही तीर अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है।

इसपर यदि कोई कहे कि 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन' यह नियम व्यभिचारी है अर्थात् नित्य (अव्यभिचारी) नहीं। जैसे—'चैत्रस्य गुरुकुलम्' चैत्र के गुरु का कुल इस वाक्य में 'चैत्रस्य' (इस) षष्ठ्यन्तपद का 'गुरुकुलम्' के गुरु शब्द के साथ अन्वय माने बिना गति ही नहीं है, इसलिये एकदेशान्वय का स्वीकार करना पड़ता है तो प्रकृत में भी उसीप्रकार एकदेशान्वय मानकर, गंभीर ऐसी जो नदी, उसका तीर-ऐसा अर्थ करने में क्या दोष है ? इसलिये ग्रन्थकार ने पूर्व समाधान की अरुचि से 'जहाँ वाक्य की लक्षणा माने बिना गति नहीं है', ऐसे वैदिक अर्थवाद-वाक्यों को दिखाया है।

अर्थवाद, विधि अथवा निषेध के साक्षात् बोधक नहीं होते, किन्तु गुणवाद और अनुवाद रूप से वे अपने अर्थ को बताते हैं। परन्तु वह अर्थ सदैव उपपन्न ही हो सो बात नहीं है। इसलिए अर्थवाद-वाक्यों में साक्षात् विधिनिषेधबोधकत्व का संभव नहीं होता। इस कारण अर्थवाद-वाक्यों के मुख्यार्थ को भी सदैव स्वीकार नहीं किया जाता। अतः लक्षणा के द्वारा विधि के प्राशस्त्यादि का ज्ञान करा देना ही अर्थवादवाक्यों का अर्थ माना जाता है।

वेद में 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—वायु अतिवेगवती देवता है—इत्यादि स्तुतिपरक अर्थवाद-वाक्यों की वायव्यपशुयागरूप विधि की स्तुति में लक्षणा माननी चाहिये। इसी प्रकार 'सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इत्यादि निन्दापरक अर्थवादवाक्यों की 'बर्हियाग में रजतदान नहीं करना चाहिये' इस

विवक्षित निषेध के लिए 'जो बर्हियाग में रजतदान करता है वह रोता है' इस प्रकार निन्दा के अर्थ में लक्षणा है, यह स्वीकार करना ही होगा। यहाँ किसी एक पद की लक्षणा है—ऐसा नहीं कह सकते।

शंका—इस उदाहरण में भी प्राशस्त्यादि अर्थों में पदों की ही लक्षणा मान ली जाय। समस्त वाक्य की यह लक्षणा है—यह आग्रह क्यों?

समाधान—अर्थवाद-वाक्य के अन्तर्गत—पदों की ही प्राशस्त्यादि अर्थ में लक्षणा मान लेने पर उनमें से एक ही पद, प्राशस्त्य-द्योतक होगा और अन्य पद व्यर्थ होने लगेंगे। क्योंकि विधि-निषेधों के प्रतिपादक वचनों को ही स्वार्थ में प्रामाण्य होता है, और अर्थवाद उनके प्रत्यक्षरूप से बोधक नहीं होते इस कारण 'आनर्थक्यमतदर्थानाम्' इस नियम से उस वेदभाग को आनर्थक्य प्राप्त होने लगेगा।

परन्तु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि से प्रेरित होकर अक्षरशः ग्रहण किये जाने वाले वेदसमूह को आनर्थक्य प्राप्त होना इष्ट नहीं है। इसलिए अर्थवादवाक्यों की प्राशस्त्यादि अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। अतः सभी वाक्य, विधेय की स्तुति कर उसकी अवश्यकर्तव्यता का ज्ञान करा देने के कारण उन्हें अनर्थकत्व नहीं है—मानना पड़ता है।

अर्थवाद के चार प्रकार होते हैं। उनमें से 'पुराकल्प' और 'परकृति' इन दो प्रकारों का यथासंभव प्राशस्त्य अथवा निन्दा में ही अन्तर्भाव हो जाने से यहाँ स्तुति-निन्दापरक अर्थवाद से उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

शंका—लक्षणा के द्वारा अर्थवादवाक्यों को प्राशस्त्यबोधक मानने पर भी उनकी अनर्थकता (व्यर्थता) कैसे दूर होगी? क्योंकि 'जो वाक्य, विधि-निषेध का साक्षात् बोधक होता है वही सार्थक समझा जाता है', यह मीमांसा का नियम है। और अर्थवाद वाक्यों का साक्षात् विधि-निषेध बोधन न करना तो प्रसिद्ध ही है। ऐसी आशंका के समाधानार्थ ग्रन्थकार 'एवं च विध्यपेक्षित०' ग्रन्थ प्रारंभ करते हैं।

स्तुतिपरक अर्थवाद, प्राशस्त्यबोधन के द्वारा विधि के साथ, और निन्दा-परक अर्थवाद, निषिद्ध पदार्थ के निन्दितत्व को बताते हुए निषेध के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं। इस कारण अर्थवादों को परम्परा से विधि-निषेधबोधकत्व होता है। इसलिये उन्हें व्यर्थ नहीं कह सकते।

इस एकवाक्यता के 'पदैकवाक्यता' तथा 'वाक्यैकवाक्यता' नामक दो प्रकार हैं। इनमें से अर्थवादवाक्यों में पदैकवाक्यता ही होती है। क्योंकि विधि एवं निषेधों को प्रशस्तत्व तथा निन्दितत्व की अपेक्षा रहती है, और समग्र अर्थवादवाक्य, विहित का प्राशस्त्य या निन्दित का निन्दितत्व अर्थ का ही बोधन करते हैं। इसलिए समस्त वाक्य से लक्षणा के द्वारा जितने अर्थ का

ज्ञान होता है उतने ही अर्थ का ज्ञान, प्रशस्त अथवा निन्द्य पदों से भी होता है। इस कारण प्राशस्त्यादि अर्थ, पदार्थरूप ही समझा जाता है। अतः अर्थवाद भी पदरूप है। और उसकी विधि के साथ एकवाक्यता होकर जो बोध होता है, वह पदैकवाक्यता से ही होता है। इसलिए अर्थवादों में पदैकवाक्यता ही होती है। वाक्यैकवाक्यता नहीं होती।

यदि अर्थवाद-वाक्यों में वाक्यैकवाक्यता नहीं होती, तो वह कहां होती है? इस प्रकार आकांक्षा का उत्थापन कर उसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं देते हैं—

क्व तर्हि वाक्यैकवाक्यता ? । यत्र प्रत्येकं भिन्नभिन्नसंसर्गप्रतिपादकयोर्वाक्ययोराकाङ्क्षावशेन महावाक्यार्थबोधकत्वम् । यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यानां 'समिधो यजति' इत्यादिवाक्यानां च परस्परापेक्षिताङ्गाङ्गिबोधकवाक्यतयैकवाक्यता । तदुक्तं भट्टपादैः—

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥ इति ।

अर्थ—अच्छा तो, वाक्यैकवाक्यता कहां होती है? (उत्तर—) जहां भिन्न भिन्न संसर्गप्रतिपादक (अर्थप्रतिपादक) दो वाक्यों को परस्पर आकांक्षा के कारण महावाक्यार्थ-बोधकत्व होता है वहां वाक्यैकवाक्यता होती है। जैसे—'स्वर्गकाम व्यक्ति (पुरुष) दर्श-पूर्णमास याग करे' इत्यादि वाक्य और 'समिध्' नामक याग करे, आदि दूसरे प्रयाजवाक्यों को परस्पर अपेक्षित अंगांगिभावबोधकत्व होने से उनकी जो एकवाक्यता सिद्ध होती है, वही वाक्यैकवाक्यता है। अतएव भट्टपाद ने ऐसा कहा है—प्रथमतः स्वार्थ का बोध कराकर चरितार्थ हुए वाक्यों की परस्पर अंगांगिभाव की अपेक्षा से पुनः समुदायरूप से एकवाक्यता होती है।

विवरण—अर्थवादों के वाक्यरूप होने पर भी उनमें पदैकवाक्यता ही यदि संमत है तो वाक्यैकवाक्यता का उदाहरण कहां होगा? इस आशंका के प्रसंगतः प्राप्त होने पर ग्रन्थकार वाक्यैकवाक्यता का उदाहरण बताते हैं। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' स्वर्गेच्छु पुरुष दर्श-पूर्णमास नामक याग करे—इस विधिवाक्य के सुनते ही 'दर्शपूर्णमास याग स्वर्ग का साधन है' यह अर्थ समझ में आता है। इसी प्रकार 'समिधो यजति'-समिध्संज्ञक याग करे—इत्यादि विधिवाक्य से समिध् याग का विधान भी प्रतीत होता है। परन्तु दर्श-पूर्णमास याग से स्वर्ग कैसे

संपादन-किया जाय? इस प्रकार अंगीभूत याग को अंगों की आकांक्षा होती है। उसी प्रकार 'समिधो यजति' इत्यादि प्रयाजरूप यागों का प्रत्यक्ष फल कुछ भी न बताने के कारण इस याग से क्या साध्य है? ऐसी साध्य (अंगी) की आकांक्षा होती है। इस कारण प्रथमतः स्वार्थ में चरितार्थ हुए दोनों प्रकार के वाक्यों का परस्पर अन्वय होकर समिधादिरूप अंगों का अनुष्ठान कर 'दर्श-पूर्णमास याग से स्वर्ग को पाना चाहिये' इस प्रकार से जो अंगांगिभावरूप महावाक्यार्थ निष्पन्न होता है—उसी को वाक्यैकवाक्यता कहते हैं। यहां एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ अन्वय होता है और उन दो वाक्यों से मिलकर एकरूप तात्पर्य निश्चित होता है, इसलिये इसे वाक्यैकवाक्यता कहते हैं। इसी न्याय के अनुसार अन्यत्र भी अंगबोधक एवं अंगिबोधक वाक्यों की एकवाक्यता समझ लेनी चाहिये।

ग्रन्थकार ने अपने इस कथन में 'तदुक्तम्०' इत्यादि ग्रन्थ से मीमांसकों की सम्मति प्रदर्शित की है। मीमांसकों का यह आशय है—प्रत्येक वाक्य की स्वसंनिहित-पदों से कर्मतादिसंबन्ध से अन्वय होकर पदैकवाक्यता होती है, और प्रत्येक वाक्य का भिन्न भिन्न शाब्दबोध होने पर वह वाक्य यदि अंगी याग का बोधक हो तो उसे अंग की और वह वाक्य अंग प्रतिपादक हो तो अंगी की—इस प्रकार वाक्यों में परस्पर आकांक्षा होती है। दर्श पूर्णमास याग से स्वर्ग–कैसे संपादन किया जाय–इस आकांक्षा की 'प्रयाजादि अंगों का अनुष्ठान कर दर्श-पूर्णमास याग करे' इस प्रकार निवृत्ति होने से दोनों-वाक्यों का परस्पर अन्वय होकर जो एकवाक्यता (एक तात्पर्य-प्रतिपादकत्व) सिद्ध होता है—यही–महावाक्यार्थ है और उसी को वाक्यैकवाक्यता कहते हैं।

इस प्रकार 'पदार्थश्च द्विविधः०' से पदार्थ के द्विविधत्व का आरंभ-किया हुआ निरूपण समाप्त कर उसका उपसंहार करते हैं और प्रकृतप्राप्त आसत्ति में शाब्दज्ञानहेतुत्व को बताते हैं।

एवं द्विविधोऽपि पदार्थो निरूपितः।

तदुपस्थितिश्चासत्तिः। सा च शाब्दबोधे हेतुः, तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात्। एवं महावाक्यार्थबोधेऽवान्तरवाक्यार्थबोधो हेतुः, तथैवान्वयाद्यवधारणात्।

अर्थ—इस प्रकार से शक्य और लक्ष्य दोनों पदार्थों का निरूपण कर दिया।

पदजन्य पदार्थ की अव्यवधान से उपस्थिति को ही आसत्ति कहते हैं। वह शाब्दबोध में कारण होती है। क्योंकि आसत्ति रहने पर शाब्दबोध होता है और आसत्ति के न रहने पर शाब्दबोध नहीं होता—यह अन्वय-व्यतिरेक प्रत्यक्षतया सभी के अनुभव में आता है। इसी प्रकार महावाक्यार्थ का बोध होने में अवान्तर वाक्यों के प्रत्येक वाक्य का ज्ञान कारण होता है, क्योंकि उसके अन्वयादि का भी वैसा ही निश्चय होता है।

विवरण—आसत्ति के लक्षण में 'पदजन्यपदार्थोपस्थितिः' कहा गया है। अब पदार्थ क्या है? और वह कितने प्रकार का है? यह आकांक्षा होने पर पदार्थ के शक्य तथा लक्ष्य भेद से दो प्रकार बताते हुए यहांतक उन्हीं का निरूपण किया गया है और अब प्रसंगप्राप्त पदार्थ-निरूपण को समाप्त कर प्रकृत आसत्ति से उसके संबन्ध को 'तदुपस्थितिश्च' इत्यादि वाक्यों से बताया गया और पदजन्य पदार्थ की जो अव्यवधान से उपस्थिति (प्राप्ति) है, उसी को आसत्ति कहते हैं। इस प्रकार पूर्व प्रकृत आसत्तिलक्षण का उपसंहार किया है। उपर्युक्त स्वरूप की आसत्ति होने पर पदों से शाब्दबोध होता है और वह न हो तो शाब्दबोध नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेक को देखने से आसत्ति शाब्दबोध में कारण है, यह निश्चित होता है। और इसी प्रमाण के द्वारा आसत्ति और शाब्दबोध में कार्य-कारण भाव सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आकांक्षा आदि के द्वारा अवांतर वाक्यों का शाब्दबोध होने पर प्रकरणगत समस्त वाक्यों का मिलकर एक महावाक्यार्थ-बोध होता है, और वह न हुआ हो तो महावाक्यार्थ ज्ञात नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेक से उनमें भी परस्पर ऐसी ही कार्यकारणता सिद्ध होती है।

इस प्रकार शाब्दबोध में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति नामक तीन कारणों का प्रतिपादन कर अब क्रमप्राप्त तात्पर्यज्ञानरूप चतुर्थ अवशिष्ट कारण के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं।

क्रमप्राप्तं तात्पर्यं निरूप्यते। तत्र तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं न तात्पर्यम्। अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरिताद्वेदादर्थप्रत्ययाभाव-प्रसङ्गात्। अयमध्यापकोऽव्युत्पन्न इति विशेषदर्शनेन तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्यभावात्। न चेश्वरीयतात्पर्यज्ञानात् तत्र शाब्दबोध इति वाच्यम्। ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्।

अर्थ—अब क्रमप्राप्त तात्पर्य का निरूपण किया जाता है। तत्रेति। निरूपणीय तात्पर्य के लक्षण प्रमाण को बताते समय यदि 'तत्प्रतीतीच्छयो-

चरितत्वम्' विवक्षित अर्थ की (तात्पर्यार्थ की) प्रतीति की इच्छा से उच्चारितत्व (वाक्य का या शब्द का उच्चारण किया जाना)। यह तात्पर्य का लक्षण करें, तो वह ठीक नहीं होगा। क्योंकि जिस पुरुष को वाक्यार्थ ज्ञान नहीं है ऐसे के द्वारा उच्चारण किये जाने वाले वेदवाक्य से अर्थज्ञान न होने का प्रसंग आवेगा। (अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति के द्वारा कहे गये वेद वाक्य से अर्थप्रतीति नहीं हो सकेगी)

इसके अतिरिक्त 'यह अध्यापक अव्युत्पन्न है' इस प्रकार के विशेष दर्शन (ज्ञान) से उस में तात्पर्यभ्रम का भी अभाव रहता है, इस कारण उसे उसका ज्ञान है—यह भी नहीं कह सकते। अब यदि ऐसा कहें कि उन वाक्यों का अर्थज्ञान ईश्वर के तात्पर्यज्ञान से होता है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व न मानने वाले व्यक्ति को भी उन वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होता देखने में आता है।

विवरण—इस परिच्छेद के आरंभ में बताया गया है कि आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान—ये चार कारण, वाक्यजन्य ज्ञान में हुआ करते हैं। उनमें से आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति—इन तीन कारणों को यहां तक बताया गया। अब क्रमप्राप्त तात्पर्यज्ञान नामक चौथे कारण का निरूपण करना है, इसलिये तात्पर्य किसे कहते हैं? उसमें प्रमाण क्या है? और वह शाब्दबोध में कैसे कारण बनता है? इन सब बातों को बताना आवश्यक है। इस प्रकार तात्पर्य का लक्षण बताना आवश्यक होनेपर प्रथमतः उसका स्वाभिमत लक्षण न बताकर, लोकप्रसिद्धि से प्रथमतः उपस्थित होने वाला नैयायिकाभिमत लक्षण बताते हैं—'वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम्' वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य कहते हैं। वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति श्रोता को हो, इस इच्छा से उसके द्वारा उच्चारण किये हुए शब्द का तात्पर्य उसी अर्थ में होता है। इस प्रकार नैयायिकों का बताया हुआ तात्पर्य का लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि इस लक्षण को मानने पर, संस्कृतभाषानभिज्ञ (पद-पदार्थ-व्युत्पत्तिहीन) व्यक्ति के द्वारा कहे गये वेदवाक्य के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। क्योंकि वक्ता अव्युत्पन्न है। इस कारण 'मेरे द्वारा कहे गये इस वेदवाक्य से श्रोता को अमुक अर्थ की प्रतीति हो' ऐसी इच्छा से वह वेदवाक्य उसके द्वारा कहा जाना संभव ही नहीं।

इसके अतिरिक्त वक्ता को अर्थज्ञान हो, चाहे न हो किन्तु उसके द्वारा 'अग्निमीळे' अक्षरों का उच्चारण होते ही सुनने वाले व्युत्पन्न व्यक्ति को तत्काल 'मैं अग्नि की स्तुति करता हूं' इस अर्थ की प्रतीति होती दिखाई देती है।

शंका—शाब्दबोध में तात्पर्य, कारण न होकर उसका ज्ञान ही कारण होता है, इस कारण अव्युत्पन्न व्यक्ति को अपने द्वारा कहे गये वाक्य का ज्ञान न होने पर भी 'यह वक्ता अव्युत्पन्न है' यह श्रोता को ज्ञात न होने से 'इस व्यक्ति ने यह वाक्य अमुक अर्थ की प्रतीति की इच्छा से ही कहा है' ऐसा समझता है, इस प्रकार भ्रमरूप तात्पर्यज्ञान से उसे उस वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अव्युत्पन्न व्यक्ति के द्वारा कहे गहे वाक्य से अर्थप्रतीति नहीं हो सकेगी।

समाधान—जब की सुनने वाले को यह ज्ञात रहे कि 'यह व्यक्ति अव्युत्पन्न है', तब तो आपके कथनानुसार तात्पर्यभ्रम से ही शाब्दबोध हो सकेगा। परन्तु जब सुनने वाले को यह निश्चित रीति से ज्ञात रहे कि 'यह अध्यापक अव्युत्पन्न है' तब भी उसे वाक्यार्थबोध होता दिखाई देता है। किन्तु भ्रमरूप, या प्रमारूप कोई भी तात्पर्यज्ञान नहीं रहता, अतः नैयायिकों का यह तात्पर्य-लक्षण अव्याप्त रहता है। ऐसे अवसर पर श्रोता के अर्थज्ञान की उपपत्ति नहीं लग सकती।

शंका—काव्य का अध्ययन न किये हुए व्यक्ति के द्वारा भी किसी श्लोक के कहने पर उसे उसके अर्थ का ज्ञान होना संभव नहीं रहता तथापि उस श्लोक के मूलकर्ता कालिदास आदि कवि का तात्पर्यज्ञान, दूसरों को शाब्दबोध होने में कारण समझा जाता है, इसी रीति से वेदकर्ता परमेश्वर ने इस वाक्य का यही अर्थ किया है, इस इच्छा से ही वेदवाक्यों का उच्चारण किया होने से उसके तात्पर्यज्ञान से ही व्युत्पन्न श्रोताओं को उन वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होना संभव है।

समाधान—'परमेश्वर के तात्पर्य ज्ञान से व्युत्पन्न श्रोताओं को वेद-वाक्यों के अर्थ का ज्ञान हो जाता है' यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'परमेश्वर, वेदकर्ता है' यह सिद्धान्त जिन्हें मान्य हो उनके मत में ईश्वर के तात्पर्य-ज्ञान से शाब्दबोध होना मान लिया जा सकता है किन्तु जिन्हें ईश्वर का अस्तित्व ही मान्य न हो उन चार्वाकादि नास्तिकों को वेदवाक्य से शाब्द-बोध नहीं होता है, कहना पड़ेगा। परन्तु अनुभव तो विपरीत है। व्युत्पन्न व्यक्ति आस्तिक हो चाहे नास्तिक हो उसे वैदिक वाक्य के श्रवण होने पर अर्थज्ञान होता दिखाई देता है। इसलिये नैयायिकों का 'वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्'—तात्पर्य का लक्षण निर्दोष नहीं है।

प्रश्न—तो आप अद्वैतवेदान्ती तात्पर्य का कौन सा लक्षण करते हैं?

उच्यते। तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्। गेहे घट इति वाक्यं गेहघटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यं, न तु पटसंसर्गप्रतीतिजन-

नयोग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरं न तु पटसंसर्गपरमित्युच्यते।

अर्थ—हमें तात्पर्य का कौन सा लक्षण अभीष्ट है सो बताते हैं—'पदार्थों के संसर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की वाक्य में योग्यता का होना' ही तात्पर्य है। 'घर में घट है' यह वाक्य, घर और घट के संबंध का अनुभव कराने में योग्य है। न कि गृह और पट के संसर्ग (संबन्ध) बोध कराने में। इसलिये 'गेहे घटः' यह वाक्य घटसंसर्ग पर = गृह और घट के संसर्ग का बोधक है, न कि गृह और पट के संसर्ग का—ऐसा कहा जाता है।

विवरण—तात्पर्य का लक्षण 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्वम्' करने पर उपर्युक्त दोष आते हैं, अतः वैसा लक्षण न कर 'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम्' ही तात्पर्य का लक्षण करना उचित है। वाक्य में वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता को ही तात्पर्य कहते हैं। जैसे—'घर में घट है' इस वाक्य के कहे जाने पर, वक्ता को उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो चाहे न हो, किन्तु उस वाक्य में गृह और घट के आधाराधेयभावरूप संबंध का ज्ञान करा देने की योग्यता रहती है। उस कारण श्रोता को विवक्षित अर्थ का बोध होता है। अर्थात् वाक्य में गृह और घट के आधाराधेयभावरूप संबंध के ज्ञान करा देने की जो योग्यता रहती है उसका ज्ञान ही तात्पर्यज्ञान है। इस तात्पर्यज्ञान से ही सर्वत्र शाब्दबोध होता है।

यह तात्पर्यनिश्चय (यह वाक्य इसी अर्थ का बोधक है–यह निश्चय) उस वाक्यार्थप्रतीति के अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है। 'गेहे घटः' वाक्य के उच्चारण करने पर गृह और घट के ही संबंध का ज्ञान होता है। गृह और पट के संबंध का ज्ञान उस वाक्य से नहीं होता। इस कारण इस वाक्य का इसी अर्थ में तात्पर्य है—यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है।

शंका—जब हमें वाक्यार्थ का बोध होगा तभी यह वाक्य एतत्परक है इस प्रकार उसका तात्पर्यबोध होगा, और तात्पर्यबोध हुए बिना वाक्यार्थ-ज्ञान होना संभव नहीं। अर्थात् शाब्दज्ञान में तात्पर्यज्ञान की और तात्पर्य-ज्ञान में शाब्दबोध की अपेक्षा होती है, इसलिये आप के लक्षण पर अन्योन्याश्रय दोष आता है।

समाधान—हमारे लक्षण पर अन्योन्याश्रय दोष नहीं आ पाता। क्योंकि 'तत्प्रतीतिजनकत्व'—विवक्षित अर्थ की प्रतीति उत्पन्न करने वाला—इतना ही यदि हमारा तात्पर्यलक्षण होता तो अन्योन्याश्रय दोष आ सकता था, किन्तु उस दोष के न आने देने के लिये ही हमने लक्षण में 'योग्यत्व' विशेषण दिया है। प्रकृत में अन्वय आदि की अनुपपत्ति न होना रूप ही योग्यता अभिप्रेत है। 'गेहे घटः' इस वाक्य के सुनने पर गेह और घट का आधाराधेय-

भाव संबंध से जो अन्वय होता है (अर्थात् 'गेहे' इस सप्तम्यन्त पद का आधारता से निरूपित 'घटः' इस प्रथमान्त पद के साथ जो गेहनिष्ठ आधेयता संबन्ध से अन्वयबोध होता है) उसका अन्य किसी भी प्रमाण से बोध नहीं होता इस कारण अन्वय आदि की भी अनुपपत्ति नहीं हो पाती। ऐसे पदों का वाक्य में होना ही तात्पर्य है और उसी से वाक्यार्थ का निश्चय होता है। जैसे— 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में गंगापदवाच्य प्रवाह–इस सप्तम्यन्त पद का घोषरूप प्रथमान्त पद के साथ आधेयता संबन्ध से होने वाला अन्वय अनुपपन्न होने से ही तीररूप अर्थ का ग्रहण कर उसके साथ अन्वय करना पड़ता है, जिससे अनुपपत्ति नहीं हो पाती। अर्थात् उपर्युक्त स्वरूप का तात्पर्यज्ञान ही शाब्दबोध में कारण होता है, और ऐसे तात्पर्यज्ञान में शाब्दबोध की अपेक्षा नहीं होती। इसलिये हमारे लक्षण पर अन्योन्याश्रय दोष के आने की शंका भी नहीं हो सकती अन्वयानुपपत्ति, प्रयोजनासिद्धि, और प्रकरणादि— तात्पर्य के निश्चायक होते हैं।

इस प्रकार हमारे तात्पर्यलक्षण पर 'अव्युत्पन्न पुरुष के द्वारा उच्चारण किये हुए वेदवाक्य से अर्थबोध नहीं होगा' रूप अनुपपत्ति नहीं आ सकती। क्योंकि अव्युत्पन्न के द्वारा कहे गये वेदवाक्य में भी 'विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता' रूप हमारा तात्पर्यलक्षण होने से व्युत्पन्न पुरुष को उस वेदवाक्य का अर्थ ज्ञात हो सकता है। इसके अतिरिक्त हमारे मत में 'ईश्वर के तात्पर्यज्ञान का अर्थबोध में कारण मानना' रूप कल्पनागौरव भी नहीं होता। तस्मात्—वाक्य में विवक्षित अर्थ की प्रतीति होने के योग्य (अनुकूल) पदों का होना ही तात्पर्य का लक्षण है।

शंका—आप के तात्पर्यलक्षण को मान लेने पर भी अनेक अर्थों में रूढ पदों से युक्त वाक्य के तत्तद् अर्थ के अनुरोध से अनेक तात्पर्य मानने होंगे। अर्थात् उक्त लक्षण की अनेकार्थक पदों से युक्त वाक्य में अतिव्याप्ति होगी। इसका समाधान स्वयं ग्रन्थकार करते हैं।

ननु 'सैन्धवमानय' इत्यादिवाक्यं यदा लवणानयनप्रतीतीच्छया प्रयुक्तं तदाऽश्वसंसर्गप्रतीतिजनने स्वरूपयोग्यतासत्त्वाल्लवणपरत्वज्ञानदशायामप्यश्वादिसंसर्गज्ञानापत्तिरिति चेत्। न। तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्यापि तात्पर्यं प्रति विशेषणत्वात्। तथा च यद्वाक्यं यत्प्रतीतिजननस्वरूपयोग्यत्वे सति यदन्यप्रतीतीच्छया नोच्चरितं तद्वाक्यं तत्संसर्गपरमित्युच्यते।

अर्थ—(शंका) 'नमक लाओ' यह वाक्य श्रोता को नमक लाने का

ज्ञान हो इस इच्छा से जब कहा जाय तब उस वाक्य में अश्वसंसर्ग का ज्ञान करा देने की स्वरूपयोग्यता भी रहती है। इस कारण 'यह वाक्य लवणसंसर्गबोधक है' ऐसा ज्ञान होने के समय ही 'वह अश्वादिसंसर्ग का बोधक है' ऐसा ज्ञान भी होने लगेगा। ऐसी शंका करना ठीक नहीं है ! क्योंकि तात्पर्य के लक्षण में 'विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उसका उच्चारण न होना' इस विशेषण का निवेश कर्तव्य है। अर्थात् जो वाक्य उस अर्थ की प्रतीति के उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता से युक्त होकर भी जिस अन्य अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चारित नहीं होता वह वाक्य उसी संसर्ग का बोधक है (वह तत्संसर्गपर है) कहा जाता है।

विवरण—आप ने तात्पर्य का लक्षण 'तत्प्रतीतिजनकत्व' न कर 'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व' किया है। अर्थात् वाक्य में विशिष्ट अर्थ की प्रतीति उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता के रहने पर उसमें तात्पर्य का लक्षण घटित हो जाता है—यह आप के कहने का आशय है। परन्तु ऐसा लक्षण करने पर अनेक अर्थों में रूढ पदों से युक्त वाक्य में दोष आता है। जैसे—कोई व्यक्ति भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' यह आज्ञा सेवक को करे। उस समय सेवक 'नमक' लावे यही उसकी विवक्षा होना उचित है। किन्तु 'सैन्धव' पद के 'नमक' और 'घोडा' दोनों अर्थ होते हैं। इस कारण उस पद में लवण का बोध करा देने की जैसी योग्यता है वैसी ही अश्व की प्रतीति करा देने की भी योग्यता है। इस कारण श्रोता को उस वाक्य के श्रवण करते ही 'नमक' लाने का जैसे ज्ञान होता है, वैसे ही 'घोड़ा' लाने का भी ज्ञान होता है। क्योंकि सैन्धव शब्द दोनों अर्थों का ज्ञान कराने की योग्यता रखता है। तथापि सेवक, स्वामी के उस वाक्य को सुनकर 'घोड़ा' एवं 'नमक' दोनों पदार्थों को नहीं लाता है। किन्तु उस वाक्य से उसे केवल 'लवण' लाने की ही प्रतीति होती है। अतः 'स्वरूपयोग्यत्व' को तात्पर्यलक्षण मान कर अनेकार्थक पदवाले वाक्य में वक्ता की इच्छा का भी अन्तर्भाव न कर उसकी आप कैसी उपपत्ति लगावेंगे ? यह आशय 'ननु' इत्यादि शंका ग्रंथ का है।

परन्तु ऐसी शंका करना उचित नहीं है ; क्योंकि हमें 'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व' इतना ही तात्पर्यलक्षण अभिप्रेत न होकर उसमें 'तदन्यप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्व' यह तात्पर्य विशेषण भी विवक्षित है। इस विशेषण का निवेश करने पर तात्पर्यलक्षण का स्वरूप 'तथा च०' इत्यादि ग्रन्थ से बताया है।

वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति करादेने की योग्यता (सामर्थ्य) जिस वाक्य में होती है एवं जो वाक्य विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ को

बताने की इच्छा से उच्चारण नहीं किया हुआ हो—वही उसका तात्पर्य है। ऐसा तात्पर्य का लक्षण करने पर 'एक ही वाक्य से दो अर्थों की प्रतीति होगी' यह शंका नहीं हो सकती। भोजन के समय वक्ता के द्वारा 'सैन्धव लाओ' वाक्य का उच्चारण, श्रोता को लवण से भिन्न अश्वादि पदार्थ के बोधन की इच्छा से नहीं किया जाता। उस वाक्य में 'लवणप्रतीतिजनन-योग्यता' होती है और लवणेतर पदार्थ की प्रतीति की इच्छा से उसका उच्चारण भी नहीं रहता। इसलिये सेवक को उस वाक्य के सुनते ही 'लवणकर्मक आनयन' = जिसमें लवण कर्म है ऐसी 'आनयन' क्रिया का बोध होता है। अश्वकर्मक आनयन रूप संसर्ग का उससे बोध नहीं होता।

शंका—वक्ता ने 'सैन्धवमानय' वाक्य, अश्वप्रतीति की इच्छा से नहीं कहा, अपितु लवणप्रतीति की इच्छा से ही कहा है—यह उस श्रोता को कैसे ज्ञात हो? इस प्रश्न के उत्तर में 'प्रकरण आदि' अर्थ निश्चायक होते हैं, पहले कह चुके हैं। भोजनप्रसंग में उस वाक्य के कहे जाने से अश्वप्रतीति की इच्छा से वह कहा गया है—यह बोध होना तो संभव ही नहीं, अतः 'तदन्यप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्व' इस तात्पर्य-विशेषण का लक्षण में अन्तर्भाव करने से पूर्वोक्त दोष नहीं आता। और केवल लवणपरक अर्थ की भी उपपत्ति लगजाती है—इस कारण तात्पर्यलक्षण में इच्छादि विशेषणों का निवेश नहीं करना पड़ता।

इस प्रकार तात्पर्यलक्षण में इच्छादि विशेषणों का संनिवेश न करने से ही 'शुकादि' वाक्यों की व्यवस्था लगती है तथा पूर्वोक्त अव्युत्पन्न व्यक्ति के द्वारा कहे गये वेदवाक्य में भी उसकी अव्याप्ति नहीं हो पाती—इत्यादि, ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं—

शुकादिवाक्येऽव्युत्पन्नोच्चरितवेदवाक्यादौ च तत्प्रतीतीच्छाया एवाभावेन तदन्यप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वाभावेन लक्षण-सत्त्वान्नाव्याप्तिः। न चोभयप्रतीतीच्छयोच्चरितेऽव्याप्तिः। तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्य विवक्षितत्वात्।

अर्थ—शुक से कहे गये वाक्य में एवं अव्युत्पन्न व्यक्ति से बोले गये वेदवाक्य में वक्ता की विशेषार्थप्रतीतिविषयक इच्छा ही नहीं रहती इस कारण अन्यार्थ प्रतीति की इच्छा से उस वाक्य को बोला गया है नहीं कहा जा सकता, इसलिये 'तदितरप्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्व' लक्षण उन वाक्यों में घटित होने से अव्याप्ति नहीं हो पाती।

शंका—जो वाक्य दोनों अर्थों की प्रतीति की इच्छा से कहा हो उसमें अव्याप्ति होगी क्योंकि उसमें तदितरप्रतीतीच्छया अनुच्चारितत्व नहीं रहता।

परन्तु यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि 'तदितरप्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्व' विशेषण का 'तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्व' रूप अर्थ हमें विवक्षित है। उभयप्रतीति की इच्छा से उच्चारण किया हुआ वाक्य, केवल तद्भिन्न अर्थ की ही प्रतीति की इच्छा से नहीं कहा रहता, इसलिये वहां पर लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो पाती।

विवरण—'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व' होकर 'तदितरप्रतीतीच्छा से अनुच्चरितत्व' रूप तात्पर्य का लक्षण मानने पर अर्थात् इस प्रकार इच्छाघटित लक्षण के स्वीकार करने पर शुकोच्चारित वाक्य में अव्याप्ति होती है, क्योंकि उच्चारण करते समय 'अमुक अर्थ की प्रतीति हो' या तद्भिन्न अर्थ की प्रतीति न हो' इत्यादि किसी प्रकार की इच्छा शुक में नहीं होती। इस शंका का निराकरण इस प्रकार किया जाता है कि—तोता जब 'स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणम्' आदि पढ़ाए हुए वाक्यों को बोलता है तब उसके मनमें 'इस वाक्य से श्रोता को अमुक अर्थ का बोध हो' इत्याकारक इच्छा जैसे नहीं रहती वैसी ही 'इससे भिन्न अर्थ की श्रोता को प्रतीति न हो' इत्याकारक इच्छा भी नहीं रहती। अर्थात् वह वाक्य उसने तदितरप्रतीति की इच्छा से उच्चारण किया हुआ नहीं रहता, पर विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करादेने की योग्यता तो उस वाक्य में होती है, अतः हमारा तात्पर्यलक्षण वहां घटित होने से लक्षण-समन्वय हो जाता है इस कारण अव्याप्ति न होने से ही उस वाक्य से अर्थबोध होता है। इसी प्रकार अव्युत्पन्न व्यक्ति के द्वारा कहा गया वेदवाक्य भी विवक्षित अर्थ या तद्भिन्न अर्थ की इच्छा से उच्चारण किया नहीं रहता पर अर्थप्रतीतिजननयोग्यत्व उस वाक्य में होता है, इस कारण ऐसे वाक्य में तात्पर्य-लक्षण का समन्वय होता है और ऐसा तात्पर्यज्ञान होने से ही 'अर्थप्रत्ययाभावप्रसंग' नहीं होता।

शंका—तात्पर्य का उक्त लक्षण स्वीकार करने से अव्युत्पन्न व्यक्ति के उच्चरित वाक्य में दोष न आने पर भी अन्यत्र दोष आवेगा। जैसे कोई ज्ञानवान् वक्ता जब दोनों अर्थों की प्रतीति की इच्छा से किसी वाक्य को बोलता हो उस समय उसका वह वाक्य तदितरप्रतीति की इच्छा से अनुच्चरित है, नहीं कह सकते। अतः उक्त लक्षण इस वाक्य में घटित न होने से दोनों अर्थों का बोध होता है—यह अनुपपत्ति दोष आपके मत में आता है अर्थात् तात्पर्यलक्षण की यहां अव्याप्ति है। जो विवक्षित अर्थ की इच्छा से वाक्य बोल सकता है वह उस वाक्य को भिन्नार्थप्रतीति की इच्छा से भी बोल सकता है। अर्थज्ञानरहित वक्ता में भिन्नार्थप्रतीति की इच्छा से उच्चारण करने की योग्यता ही नहीं होती।

'तदन्यमात्र०' इत्यादि वाक्य से इस शंका का निराकरण किया है। 'तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वम्' विशेषण के 'तदितर' पद का 'तदन्यमात्र' अर्थ विवक्षित है। अर्थात् वक्ता के द्वारा कहा हुआ वाक्य दोनों अर्थों की विवक्षा से उच्चारण करने पर भी कोई क्षति नहीं है। उन दोनों अर्थों में उस वाक्य का तात्पर्य है। हमारा कहना केवल इतना ही है कि वह वाक्य तदन्य अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चरित नहीं होना चाहिये—यही उस विशेषण का अर्थ है। जब कोई व्यक्ति 'सैन्धव लाओ' इस एक ही वाक्य को गमनोपयोगी अश्व एवं भोजनोपयोगी लवण–इन दोनों अर्थों की प्रतीति की इच्छा से बोलता है, तब लवणभिन्न जो अश्व अथवा अश्वभिन्न जो लवण—इनकी विवक्षा से वक्ता उस वाक्य को वैसा कहता है, केवल अश्व या केवल तदन्य लवण अर्थ से उस वाक्य का उच्चारण ही नहीं रहता। अतः उक्त तात्पर्यलक्षण की ऐसे स्थल में अव्याप्ति नहीं होती।

शंका—'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' एक बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक समय एक ही अर्थ का बोध कराता है। यह नियम होने से 'अन्याश्रयश्चानेकार्थत्वम्' को आप मानते हैं, और यहां 'सैन्धवमानय' यह एक ही वाक्य, अश्व-लवण-उभयप्रतीति की इच्छा से उच्चरित है—यह कैसे कहते हैं ?

समाधान—एक ही बार कहे हुए 'सैन्धवमानय' वाक्य से युगपत् (एक ही साथ) अश्व एवं लवण दोनों अर्थों का ज्ञान होता है—ऐसा हम नहीं मानते। वक्ता के द्वारा वह वाक्य यद्यपि एक बार ही उच्चरित रहता है तथापि वक्ता के तात्पर्य को समझकर सुनने वाला व्यक्ति उस वाक्य की अपने मन में आवृत्ति करता है (उस वाक्य को दुहराता है) और उसे प्रथम लवण की तदनन्तर अश्व की क्रमशः प्रतीति होती है। अतः उक्त नियम के साथ कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार 'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वे सति तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वम्' यह तात्पर्य का निष्कृष्ट लक्षण सिद्ध होता है। इसका आशय यह है कि विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करा देने की स्वरूपयोग्यता होते हुए उस अर्थ से भिन्न अर्थ ही की प्रतीति की इच्छा से उस वाक्य का उच्चरित न होना, इसी तात्पर्य के ज्ञान होने पर शाब्दबोध होता है और इस तात्पर्यलक्षण पर किसी प्रकार का दोष नहीं आने पाता।

शंका—तत्प्रतीतिजननयोग्यता का अवच्छेदक क्या है ? अर्थात् विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता, शब्द में किस कारण आती है ? क्योंकि 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्वम्' को अवच्छेदक मानें तो अव्युत्पन्न व्यक्ति के द्वारा कहे हुए वेदवाक्य में अव्याप्ति होती है। अतः प्रकृत में 'योग्यतावच्छे-

दक' किसे मानते हैं ? इस शंका को शान्त करने के लिए ग्रन्थकार स्वयं योग्यता के अवच्छेदक को बताते हैं—

उक्तप्रतीतिमात्रजननयोग्यतायाश्चावच्छेदिका शक्तिः, अस्माकं तु मते सर्वत्र कारणतायाः शक्तेरेवावच्छेदकत्वान्न कोऽपि दोषः ।

अर्थ—उक्त यावत् शाब्दप्रतीतिजननयोग्यता की अवच्छेदक 'शक्ति' ही है। हमारे मत में सर्वत्र शक्ति को ही कारणता का अवच्छेदक माना है। इस कारण किसी प्रकार का दोष नहीं है।

विवरण—'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्वम्' को योग्यता का अवच्छेदक मानने में अव्युत्पन्नोच्चरित—वाक्य में दोष आता है, इसलिए वैसा अवच्छेदक स्वीकार न कर 'शक्ति' को ही यावत् (समस्त) शाब्दबोधों की कारणता का अवच्छेदक स्वीकार करते हैं। अर्थात् शब्द में विशिष्ट शक्ति होने पर विशिष्टार्थ—प्रतीति करा देने की योग्यता रहती है—समझना चाहिए। 'सैन्धवमानय' यही वाक्य केवल लवण-विवक्षा से जब कहा गया हो तब 'लवणप्रतीतीच्छया उच्चरितत्व' कारणतावच्छेदक होता है और वही वाक्य, उभय (अश्व और लवण) प्रतीति की इच्छा से कहा हो तब 'तदन्यमात्र-प्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्व' आदि भिन्न-भिन्न अवच्छेदक स्वीकार करने की अपेक्षा समस्त शाब्द (शब्दजन्य) बोधों में 'शक्ति' को ही कारणतावच्छेदक मानने में लाघव है।

किं बहुना केवल शब्दजन्य ज्ञान की जो कारणता उसीका अवच्छेदक 'शक्ति' न होकर संसार की समस्त कार्यों की कारणता का भी कार्यानुकूल-शक्ति को ही हमने अवच्छेदक माना है। तब शाब्दज्ञान की कारणता में अव-च्छेदक 'शक्ति' है—इसे पृथक् बताने की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा मानने पर तृण, अरणि, मणि आदि में दाहजनकत्व का भिन्न-भिन्न तृणत्वादि अवच्छेदक मानने का गौरव भी नहीं हो पाता, या अननुगमदोष भी नहीं हो पाता।

यहाँ पर शाब्दबोध की अवच्छेदक शक्ति का अर्थ आलंकारिकों के मता-नुसार 'सामान्यवृत्ति' समझना चाहिए। आलंकारिक जिस प्रकार शक्य और लक्ष्य अर्थों में पदों की शक्ति ही मानते हैं अर्थात् 'वृत्ति' शब्द के समान ही 'शक्ति' शब्द का अर्थ मानते हैं, उसी प्रकार प्रकृत में ग्रन्थकार ने 'वृत्ति' अर्थ में 'शक्ति' शब्द को मानकर विवेचन किया है। इस कारण 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' आदि स्थलों में तीरादितात्पर्य की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि यहाँ पर

'गंगा शब्द की तीर अर्थ में शक्ति नहीं है' इस शंका का निराकरण हो जाता है तस्मात् यह तात्पर्य का स्वरूप निर्दुष्ट है ।

शंका—शाब्दज्ञान में तात्पर्य को कारण आप कैसे कहते हैं ? क्योंकि विवरणाचार्य ने शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान की आवश्यकता का निषेध किया है । इस शंका का उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं—

एवं तात्पर्यस्य तत्प्रतीतिजनकत्वरूपस्य शाब्दज्ञानजनकत्वे सिद्धे चतुर्थवर्णके तात्पर्यस्य शाब्दज्ञानहेतुत्वनिराकरणवाक्यं तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपतात्पर्यनिराकरणपरम् , अन्यथा तात्पर्यनिश्चयफलकवेदान्तविचारवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

अर्थ—इस प्रकार तत्प्रतीतिजनकत्वरूप तात्पर्यज्ञान, शाब्दज्ञान में कारण सिद्ध होने से चतुर्थवर्णक में विवरणाचार्य ने 'शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान कारण है' इस मत के निरसनार्थ जो वाक्य लिखा है वह, 'तत्प्रतीतीच्छ-योच्चरितत्व' नैयायिकोक्त लक्षण की अयुक्तता दर्शित करने के लिए है। अन्यथा उपनिषद्वाक्यों के तात्पर्य का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त वेदान्त-वाक्य-विचाररूप उत्तरमीमांसा व्यर्थ हो जायगी ।

विवरण—ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुःसूत्री (चार सूत्रों) पर भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य का भाष्य है। उस पर उन्हीं के शिष्य श्रीपद्मपादाचार्य की टीका है, जिसे 'पञ्चपादिका' कहते हैं। उस पञ्च-पादिका पर श्रीप्रकाशात्ममुनि ने व्याख्या रची है, उसे विवरण कहते हैं। इसमें प्रथम सूत्र के चार वर्णक कर विवरण किया है, उनमें से चतुर्थ वर्णक में 'अत्रेदं विचार्यं, किं तात्पर्यमर्थप्रमितिहेतुः किंवा प्रतिबन्धनिरास-हेतुरिति ?' यहाँ यह विचार करना है कि अर्थ के यथार्थ ज्ञान होने में तात्पर्य कारण है या अर्थनिश्चय के प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए उसकी आवश्यकता है ?—ऐसा विकल्प कर 'अर्थज्ञान में तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है' कहा है, और यहाँ पर तो आप तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध में कारण बता रहे हैं, यह कैसे हो सकता है ? इस शंका का उद्भव होने पर श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं—विवरणाचार्य के आशय को न समझने के कारण उपर्युक्त शंका उत्पन्न हुई है। क्योंकि प्रमाणसिद्ध वस्तु का निषेध कोई भी नहीं कर सकता। उपर्युक्त तात्पर्यज्ञान से शाब्दबोध होता है—यह अनुभव सभी को होने के कारण अनुभवसिद्ध वस्तु का निषेध विवरणाचार्य भी कैसे करेंगे। तस्मात् उन्होंने जो तात्पर्य का निषेध किया है वह नैयायिका-भिमत 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व'रूप तात्पर्य का ही किया है, समझना

चाहिए। क्योंकि वैसे तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध में कारण मानना सदोष है। हमारे उपर्युक्त लक्षण पर किसी प्रकार का दोष न आने से उसका निषेध करने का उनका उद्देश नहीं है। क्योंकि तात्पर्यज्ञान में शाब्दबोध की कारणता सर्वथैव नहीं होती—यह मत यदि उनका होता तो वे वेदान्तों (उपनिषदों) के तात्पर्य-निर्णयार्थ प्रवृत्त—शारीरक भाष्य के आधार पर 'विवरण' टीका ही न करते। क्योंकि जिस तात्पर्यज्ञान का अर्थज्ञान में उपयोग नहीं है, उस तात्पर्य के निश्चयार्थ किया हुआ उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक षड्विधलिंगों का विचार व्यर्थ होने लगेगा।

इसके अतिरिक्त 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र के भाष्य में आचार्य ने 'सर्वेषु वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यैवार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि' कहा है, उसके साथ भी विरोध होगा। इसलिए ऐसी मूलोच्छेदक कल्पना न कर उक्तार्थ में ही विवरणाचार्य का तात्पर्य मानना योग्य होगा।

अब रत्नकार आदि के मत से उपर्युक्त तात्पर्य-निरसनपरक विवरण ग्रन्थ की उपपत्ति बताते हैं।

केचित्तु शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन न तात्पर्यज्ञानं हेतुरित्येवं परं चतुर्थवर्णकवाक्यम्। तात्पर्यसंशयविपर्ययोत्तरशाब्दज्ञान-विशेषे च तात्पर्यज्ञानं हेतुरेव। इदं वाक्यमेतत्परम्? उतान्य-परमिति संशये तद्विपर्यये च तदुत्तरवाक्यार्थविशेषनिश्चयस्य तात्पर्यनिश्चयं विनाऽनुपपत्तेरित्याहुः।

अर्थ—कुछ लोग 'शाब्दज्ञानत्व के अवच्छेद से (यावत्-शाब्दज्ञान में) तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है, एतत्परक वह चतुर्थ वर्णक में वाक्य है। तात्पर्य में संशय अथवा विपर्यय (भ्रम) होने पर जो विशेष शाब्दबोध होता है, उसमें तो तात्पर्यज्ञान, कारण होता ही है। यह वाक्य एतत्पर (इस अर्थ का बोधक) है, या अन्यपरक है? ऐसा संशय होने पर या अन्यपर ही है—यह भ्रम होने पर पश्चात् वाक्यार्थ का जो विशेष निर्णय होता है उसकी उपपत्ति तात्पर्यनिश्चय के बिना नहीं हो पाती' ऐसा कहते हैं।

विवरण—रत्नकार आदि कहते हैं कि 'किसी विशेष स्थल पर यद्यपि शाब्दबोध को तात्पर्यज्ञान की अपेक्षा रहती है तथापि शाब्दबोध में सर्वत्र तात्पर्यज्ञान कारण नहीं होता' इस कथन में ही विवरण-वाक्य का तात्पर्य है। इस कारण उन्होंने तात्पर्यज्ञान का सर्वथा निषेध किया है, नहीं कहा जाता और स्वीकार किया है—यह भी नहीं कहा जा सकता। मूल में 'शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन' का यही अर्थ है। शाब्दज्ञानत्व के अवच्छेद से

(व्याप्ति से) अर्थात् शाब्दज्ञान में तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है। (जहां शाब्दज्ञानत्व है वहां तात्पर्यज्ञान है,) इस प्रकार उनकी (शाब्दज्ञानत्व और तात्पर्यज्ञान की) व्याप्ति नहीं है। किन्तु जहां वाक्यार्थज्ञान में—इस वाक्य का यही अर्थ है या अन्य अर्थ है—संशय हुआ हो वहां तात्पर्यज्ञान का वाक्यार्थज्ञान में उपयोग होता है। किंवा वक्ता के आशय को न समझ कर यदि विपरीत अर्थ किसी को भासित हुआ हो तो उसकी निवृत्ति के लिये वहां पर उतना तात्पर्यज्ञान उपयुक्त होता है। इतरत्र शाब्दज्ञानत्व होते हुए भी तात्पर्यज्ञान वहां कारण नहीं रहता। अर्थात् स्थल विशेष पर तात्पर्यज्ञान की शाब्दबोध में अपेक्षा होती है। समस्त शाब्दबोध, तात्पर्यज्ञान के पश्चात् ही हों ऐसा नियम नहीं है। तात्पर्यज्ञान में शाब्दज्ञान की कारणता का निषेध करने में विवरणाचार्य का यही अभिप्राय है। इस रीति से रत्नकार आदिकों ने तात्पर्यज्ञान में कारणता की उपपत्ति को बताया है।

'आहुः' कहकर ग्रन्थकार ने उपर्युक्त समाधान पर अपनी अरुचि सूचित की है। उसका कारण भी यही है कि सामान्यतः समस्त शाब्दबोधों में तात्पर्यज्ञान को ही कारण माना जाय तो शाब्दज्ञाननिष्ठ कार्यता का अवच्छेदक, शाब्दज्ञानत्व ही होता है। परन्तु ऐसा न मानकर संशय-विपर्ययोत्तरशाब्दज्ञान में ही तात्पर्यज्ञान कारण होता है—यदि स्वीकार करें तो 'संशयविपर्ययोत्तरशाब्दज्ञानत्व' इतना गुरुभूत कार्यतावच्छेदक मानना पड़ता है, तथापि कार्यभेदसे कारण का और कारणतावच्छेदक आदि का भेद यदि मानना हो तो इस मत का भी स्वीकार किया जाय। पूर्वाचार्यों के वचन से हमारे मत का विरोध नहीं हो पाता। यह दोनों समाधानों से सिद्ध है।

शंका—तात्पर्यज्ञान, शाब्दबोध में कारण है—यह सिद्ध होने पर भी वह तात्पर्यज्ञान किससे होता है? तब मूलकार उत्तर देते हैं—

तच्च तात्पर्य्यं वेदे मीमांसापरिशोधितन्यायादेवावधार्यते, लोके तु प्रकरणादिना। तत्र लौकिकवाक्यानां मानान्तरावगतार्थानुवादकत्वम्। वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम्।

अर्थ—और वह तात्पर्य, वेदवाक्यों में मीमांसा के द्वारा परिशोधित न्यायों से ही निश्चित होता है। परन्तु लौकिकवाक्यों में प्रकरणादिकों से (तात्पर्य का निश्चय होता है)। तत्र—लौकिक-वैदिक वाक्यों में से लौकिक वाक्य तो प्रमाणान्तरों से ज्ञात हुए अर्थ का ही अनुवाद करते हैं। परन्तु वैदिक वाक्यों का अर्थ, प्रमाणान्तर से अज्ञात होने के कारण अनुवाद रूप नहीं होता।

विवरण—लौकिक और वैदिक भेद से शब्द के दो प्रकार हैं। वैदिक वाक्यों के तात्पर्य का निश्चय पूर्वोत्तर-मीमांसारूप पूजित-विचार से सिद्ध हुए निर्दुष्ट न्यायों के द्वारा ही होना चाहिये। बिना मीमांसा के वेदों का यथार्थ तात्पर्य ज्ञात होना ही संभव नहीं। वेदों के पूर्वोत्तर काण्डों के तात्पर्य-निर्णयार्थ ही पूर्वोत्तर मीमांसाएँ प्रवृत्त हुई हैं। इस कारण वैदिक वाक्यों का तात्पर्यज्ञान, मीमांसा-न्यायों के अधीन होता है।

लौकिक वाक्यों का तात्पर्य प्रकरणादिकों से ज्ञात होता है। उदाहरण 'देवः प्रमाणम्' वाक्य है। यह राजप्रकरण में पठित होने से यहां देव शब्द का राजा अर्थ में तात्पर्य है—निश्चेत होता है। प्रकरणादि के 'आदि' पद से लिंग, औचित्य आदि का ग्रहण करना चाहिये। इस विषय में अभियुक्तों का वचन है—

'अर्थात् प्रकरणाल्लिङ्गादौचित्याद्देशकालतः।
शब्दार्थास्तु विभिद्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥'

अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण, लिङ्ग (शब्दसामर्थ्य), औचित्य, देश और काल से शब्दार्थों का भेद होता है। केवल शब्दस्वरूप से शब्दार्थ में भेद नहीं होता।

लौकिक और वैदिक वाक्यों में एक विशेष यह भी है कि—लौकिक वाक्य जिस अर्थ को बताते हैं, वह प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से अवगत (ज्ञात) ही रहता है, अपूर्व नहीं होता। इस कारण लौकिक वाक्यों में सिद्ध वस्तुओं का अनुवादकत्व ही रहता है। अपूर्वार्थप्रतिपादकत्वरूप स्वतः प्रामाण्य नहीं होता। किन्तु वेदमूलकत्वेन प्रामाण्य होता है। वैदिक-वाक्यों की यह स्थिति नहीं है। वे जिस अर्थ को बताते हैं वह पहले किसी भी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं रहता। इसलिये वैदिक वाक्य, अनुवादरूप न होकर अपूर्व (पुरुषबुद्धि से अगम्य) अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसी कारण उन्हें (वैदिक वाक्यों को) अज्ञातार्थज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य होता है।

पूर्व मीमांसक कार्यपर (साक्षात् विधि-निषेधबोधक) शब्दों का ही स्वार्थ में प्रामाण्य मानते हैं। उनका कहना है कि—व्यवहार में दिखाई देता है कि उत्तम वृद्ध पुरुष (वृद्ध आदमी), मध्यम वृद्ध (तरुण पुरुष) को 'गाय लाओ' 'बछड़ा बांध' इत्यादि आज्ञा देता है। यह सब समीप बैठा बालक देखता रहता है और उससे उसे 'आनयनादि-क्रियान्वित ही 'गो' आदि पदों का अर्थ (शक्तिग्रह) होता है। इस कारण केवल सिद्ध वस्तुप्रतिपादक शब्दों से शक्तिग्रह होना संभव ही नहीं। इसी कारण कार्य-

बोधकत्वेन रूपेण ही शब्दों का प्रामाण्य सिद्ध होता है। सिद्धार्थप्रतिपादक वाक्यों को प्रामाण्य नहीं कह सकते। इसी अभिप्राय से उन्होंने 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' कहा है।

पूर्वमीमांसकों के इस मत का निरसन करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं—

तत्र लोके वेदे च कार्यपराणामिव सिद्धार्थानामपि प्रामाण्यम्, पुत्रस्ते जात इत्यादिषु सिद्धार्थेऽपि पदानां सामर्थ्यावधारणात्। अत एव वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यम्। यथा चैतत्तथा विषयपरिच्छेदे वक्ष्यते।

अर्थ—'तत्र'—लोक और वेद में कार्यबोधक शब्दों के समान सिद्धार्थ-बोधक शब्दों को भी प्रामाण्य होता है। क्योंकि 'तुम्हे पुत्र हुआ है' इत्यादि वाक्यों में सिद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन होने पर भी उनके पदों के सामर्थ्य (शक्ति) का निश्चय हम कर पाते हैं। इसी कारण उपनिषद्-वाक्यों को ब्रह्म के विषय में प्रामाण्य माना जाता है, उसका प्रकार विषयपरिच्छेद में बतावेंगे।

विवरण—कार्यपरक शब्दों के समान सिद्धार्थप्रतिपादक शब्दों को भी प्रामाण्य अवश्य स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि कार्यपरक शब्दों से जिस प्रकार उन शब्दों का सामर्थ्य समझ में आता है उसी प्रकार 'तुम्हे-पुत्र हुआ है' इत्यादि सिद्धार्थपरक शब्दों का भी शक्तिग्रह हमें होता है। 'पुत्रस्ते जातः' किसी को कहने पर सुनने वाले की मुद्रा प्रसन्न होती है, वैसे ही 'कन्या ते गर्भिणी जाता' = तेरी कन्या (अविवाहित पुत्री) गर्भिणी है—इस वाक्य के सुनते ही श्रोता की मुखमुद्रा अप्रसन्न दीखती है। इस मुखप्रसाद और मुखमालिन्य रूप लिंग से उसके हर्ष-विषाद का अनुमान होता है। उपर्युक्त वाक्य से उक्त अर्थ उस पुरुष को यदि ज्ञात न हुआ होता तो उसके मुख पर ऐसा परिणाम हुआ न दिखाई देता। इस अर्थापत्तिरूप प्रमाण से इस पुरुष को उक्त सिद्धार्थबोधक वाक्यों से भी शाब्दबोध (शक्तिग्रह) होता है। तस्मात् कार्यपर शब्दों के शक्तिग्रह के समान सिद्धार्थक पदों का भी शक्तिग्रह स्वीकार करना चाहिये, जिससे सिद्धार्थक पदों में भी प्रामाण्य अर्थादेव सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जैसे कार्यपरक वाक्य से प्रमात्मक—(यथार्थ) ज्ञान पैदा होता है वैसे ही सिद्धार्थबोधक वाक्य से भी प्रमात्मक ज्ञान पैदा होता है। अर्थात् उसके 'प्रमाकरणत्व' रूप प्रामाण्य का कोई निषेध नहीं कर सकता। 'आम्नायस्य

क्रियार्थत्वादानर्थक्य०' इत्यादि सूत्र के द्वारा पूर्व काण्ड के मन्त्र अर्थवाद-रूप वेदभाग को प्रामाण्य नहीं है, इस आशय से पूर्वपक्ष को उठाया गया है। इस कारण स्वतन्त्र-फल-रहित मन्त्रादि में विधिशेषत्वेन प्रामाण्य के प्राप्त न होने पर भी समस्त अनर्थनिवृत्तिरूप प्रयोजन (फल) से युक्त ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषद्वाक्यों में प्रामाण्य सिद्ध होता है। तस्मात् लौकिक एवं वैदिक दोनों शब्दों को कार्य और सिद्ध दोनों अर्थों में प्रामाण्य होता है। वेदान्तवाक्यों को केवल (कार्यसंस्पर्शरहित) ब्रह्मबोधकत्व कैसे होता है ? उनका ब्रह्म रूप अर्थ में ही समन्वय किस प्रकार होता है ? यह सब विषय-परिच्छेद में ग्रन्थकार सविस्तर बतावेंगे। अतः वेदान्त 'ब्रह्मज्ञान का विधान करने के लिये है' ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये।

स्वाभिमत वेद-प्रामाण्य की स्थापना करने के लिये प्रथम नैयायिक और पूर्वमीमांसकों के तद्विषयक मतों को बताते हैं।

तत्र वेदानां नित्यसर्वज्ञपरमेश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति नैयायिकाः। वेदानां नित्यत्वेन निरस्तसमस्तपुंदूषणतया प्रामाण्यमित्यध्वरमीमांसकाः। अस्माकं तु मते वेदो न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात्। उत्पत्तिमत्त्वं च 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ–२–४–१०) इत्यादिश्रुतेः।

अर्थ—'तत्र'—लोक तथा वेद इन में से वेदों को नित्य, सर्वज्ञ ईश्वर के निर्मित होने से प्रामाण्य है—ऐसा नैयायिक कहते हैं। वेद, नित्य (उत्पत्ति-रहित) होने से उनमें पुरुषसुलभ किसी प्रकार के दोष न होने से ही प्रामाण्य है—ऐसा अध्वरमीमांसक (यज्ञकाण्डरूपकर्मपरक वेदभाग का विचार करने वाले पूर्वमीमांसक) मानते हैं। किन्तु हमारे मत में वेद नित्य नहीं हैं क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं। 'यह जो ऋग्वेदादि हैं वह इस महद्भूत का निःश्वसित है' इत्यादि श्रुति से यह उत्पत्तिमत्त्व सिद्ध होता है।

विवरण—इनमें से प्रथम लक्षण नैयायिकों का है। 'वेद, नित्य एवं सर्वज्ञ परमेश्वर के प्रणीत होने से उन्हें प्रामाण्य है' यह उनका मत है। 'कर्ता के दोष से उनमें अप्रामाण्य की कोई शंका न करे, इसलिये वेदों के परमेश्वर प्रणीत होने पर भी वह वेदकर्ता परमेश्वर सर्वज्ञ होने के कारण कर्तृदोषप्रयुक्त अप्रामाण्य उनमें प्राप्त नहीं होता। यह बात 'सर्वज्ञ' विशेषण से सूचित की है। सर्वज्ञत्व, मन्वादि स्मृतिकारों में भी होने से तत्प्रणीत ग्रंथों को भी प्रामाण्य प्राप्त हो सकता है, इसलिये परमेश्वर को 'नित्य' विशेषण दिया है। मन्वादिकों के सर्वज्ञ होने पर भी वे नित्य न होने से उपर्युक्त शंका ही नहीं

उठ सकती। 'प्रणीतत्व' के कहने से वेदान्त और नैयायिक के मतों में वैलक्षण्य सूचित कर दिया गया। वेदान्तमत से वेदों में उत्पत्तिमत्त्व के होने पर भी (वेद, उत्पन्न हुए हैं–यह स्वीकार करने पर भी) वे अन्य कल्प की आनुपूर्वी से विजातीय आनुपूर्वीयुक्त एवं ईश्वरप्रणीत हैं—यह नैयायिकों का कथन वेदान्तियों को मान्य नहीं है।

(पूर्व कल्प के वेद का अनुक्रम भिन्न है और ईश्वर-निर्मित इस कल्प के वेद का अनुक्रम अत्यन्त विलक्षण है—ऐसा नैयायिक मानते हैं। यह अद्वैत वेदान्तियों को सम्मत नहीं है। वे आकाशादिकों के समान वेदों की भी उत्पत्ति मानते हैं। किन्तु उनकी आनुपूर्वी, पूर्वकल्प की आनुपूर्वी के समान ही होती है, यह सिद्ध करते हैं।)

अब मीमांसकों के मत को बताते हैं—हमने वेदों की नित्यता स्वीकार की होने से, उनमें पुरुषगत समस्त दोषों का अभाव है, इस कारण उन्हें प्रामाण्य है। वेदों को यदि अनित्य माना जाय तो उनमें पुरुष-प्रणीतत्व मानना होगा। वेदकर्ता पुरुष में ईश्वरत्व होने पर भी उसमें भक्तपक्षपात आदि दोष होना बहुत संभव है। इस कारण बौद्धप्रणीत आगम के समान वेदों में भी दोष हो सकते हैं। किन्तु वेदों के नित्य होने से उनमें से समस्त पुरुषदोषों का निरसन हो जाता है। उनमें भ्रम-प्रमादादि कोई दोष नहीं कहा जा सकता, इसी कारण वे प्रमाण कहे जाते हैं।

इस प्रकार नैयायिक एवं मीमांसकों के वेदप्रामाण्यविषयक मतों को बताकर अब ग्रन्थकार स्वयं अपना मत बताते हैं। वेद की उत्पत्ति होने से हमारे मत में वे नित्य नहीं हैं। यहां पर 'तु' शब्द उभयपक्षों से अपने मत की विलक्षणता प्रकट करने के लिये है। उत्पत्ति के कारण वेदों के अनित्य होने पर भी प्रलय-काल तक उनकी स्थिरता स्वरूपतः रहती है। इसलिये वे पुरुषदोषों से रहित रहते हैं। उनका पुरुषदोषनिर्मुक्तत्व श्रुतिसिद्ध होने से वेदों के अनित्यत्व में साधक 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु को स्वरूपासिद्ध नहीं कहा जा सकता। 'ऋग्वेदादि, इस महद्भूत का निःश्वसित है' इत्यादि श्रुतियां वेदों की उत्पत्ति में प्रमाण हैं। यहां के 'आदि' शब्द से पुरुषसूक्त की 'ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि श्रुति का ग्रहण करना चाहिये।

'वेद नित्य नहीं हैं' वेदान्तियों के इस कथन से यह प्रतीत होता है कि नैयायिकाभिमत त्रिक्षणावस्थायित्व भी उन्हें अनुमत होना चाहिये। इस शंका के निरसनार्थ 'नापि०' आदि ग्रन्थ से ग्रन्थकार बताते हैं कि 'मीमांसकों का अभिमत 'वेदनित्यत्व' जैसे हमें सम्मत नहीं वैसे ही नैयायिकसम्मत 'अनित्यत्व' भी हमें मान्य नहीं।

नापि वेदानां त्रिक्षणावस्थायित्वम् । य एव वेदो देवदत्तेनाधीतः, स एव वेदो मयाऽधीत इत्यादिप्रत्यभिज्ञाविरोधात् । अत एव गकारादिवर्णानामपि न क्षणिकत्वं, सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधात् ।

अर्थ—वेदों में त्रिक्षणावस्थायित्व भी नहीं है । क्योंकि जिस वेद को देवदत्त ने पढ़ा, उसीको मैंने भी पढ़ा' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध आता है । इसी कारण गकारादि-वर्णों को भी क्षणिकत्व नहीं है, क्योंकि 'वही यह गकार' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध आता है ।

विवरण—वर्णों के समुदायरूप वेदों में त्रिक्षणावस्थायित्व (क्षणिकत्व) नहीं है । जो वस्तु क्षणिक होती है वह तीन क्षण (उत्पत्ति का एक क्षण, स्थिति का दूसरा क्षण, नाश का तीसरा क्षण) ही रहती है । नैयायिक लोग ऐसी वस्तु को क्षणिक—अनित्य आदि कहते हैं । वर्ण-समुदायरूप वेद में स्वरूपतः ऐसा क्षणिकत्व नहीं रहता, क्योंकि कल्प के आरंभ में जो वेद था वही मध्यकाल में एवं वर्तमान काल में भी है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । नैयायिकों के मतानुसार उनमें त्रिक्षणावस्थायित्वरूप क्षणिकत्व रहता है, परन्तु ऐसा मानने पर उस प्रत्यभिज्ञा से विरोध आता है । इसलिये वर्णसमुदायगर्भ वेदों को स्वरूपतः क्षणिक स्वीकार नहीं किया जा सकता । 'अत एव' इत्यादि ग्रन्थ से वर्णों के द्वारा भी उनमें क्षणिकत्व नहीं है—बताया है । जब कि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध होने के कारण पदादि समुदायगर्भ वेद में क्षणिकत्व नहीं होता इसी कारण 'देवदत्त से उच्चारित जो गकार है वही यह है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध आने के कारण वर्णों में भी क्षणिकत्व नहीं होता । एवं च नैयायिकाभिमत-त्रिक्षणावस्थायित्वरूप क्षणिकत्व नहीं है ।

शंका—वर्णसमुदाययुक्त वेदों में और वर्णों में भी यदि क्षणिकत्व नहीं तो आपके मत में वेदों में उत्पत्तिमत्त्व और उस कारण अनित्यत्व किस प्रकार है ? उत्तर देते हैं—

तथा च वर्णपदवाक्यसमुदायस्य वेदस्य वियदादिवत् सृष्टिकालीनोत्पत्तिमत्त्वं प्रलयकालीनध्वंसप्रतियोगित्वं च । न तु मध्ये वर्णानामुत्पत्तिविनाशौ, अनन्तगकारकल्पने गौरवात् । अनुच्चारणदशायां वर्णानामनभिव्यक्तिस्तदुच्चारणरूपव्यञ्जकाभावान्न विरुध्यते । अन्धकारस्थले घटानुपलम्भवत् । उत्पन्नो गकार इत्यादिः प्रत्ययः सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधाद-

प्रमाणम्, वर्णाभिव्यक्तिजनकध्वनिगतोत्पत्तिनिरूपितपरम्परा-सम्बन्धविषयत्वेन प्रमाणं वा। तस्मान्न वेदानां क्षणिकत्वम्।

अर्थ—वेदों में स्वरूपतः एवं वर्णद्वारा भी क्षणिकत्व नहीं है यह सिद्ध होने पर वर्णसमुदाय, पदसमुदाय और वाक्यसमुदायरूप वेदों में आकाश आदि के समान सृष्टिकालीन उत्पत्तिमत्व और प्रलयकालीन ध्वंस का प्रतियोगित्व है। बीच में ही वर्णों की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते, क्योंकि अनंत गकारों की कल्पना करने में गौरव होता है।

वर्णों की अनुच्चारण दशा में (जब कि उनका उच्चारण नहीं किया जाता) उनकी (वर्णों की) अभिव्यक्ति न होने में कारण, उच्चारणरूप व्यंजक का अभाव ही है। अतः अनुच्चारित दशा में उनकी अभिव्यक्ति न होने में कोई विरोध नहीं है। अन्धकारस्थल में (जहां गाढ अन्धकार हो वहां) विद्यमान भी घट, अभिव्यंजक प्रकाश न होने से जैसे नहीं दिखाई देता उसी प्रकार वर्णों के अभिव्यञ्जक उच्चारण के अभाव से विद्यमान वर्ण भी अभिव्यक्त नहीं होते। अभी 'गकार उत्पन्न हुआ' आदि जो प्रत्यय आता है, वह 'वही यह गकार' इस प्रत्यभिज्ञा के विरोध के कारण अप्रमाण है। अथवा वर्णों की अभिव्यक्ति की जनक जो ध्वनिगत उत्पत्ति, उससे निरूपित हुए परंपरा संबन्ध के विषयत्वेन (विषयरूप में) वह प्रत्यय प्रमाण है। तस्मात् वेद, क्षणिक नहीं हैं।

विवरण—'तथा च'—'वेदों में स्वरूपतः एवं वर्णतः भी क्षणिकत्व के सिद्ध न होने पर आकाश-वायु आदि इतर भूत-भौतिक पदार्थों के समान सृष्टिकाल में उत्पन्न होना और प्रलयकाल में ध्वंस को प्राप्त होना आदि उनके धर्म हैं अर्थात् आकाशादिकों के समान सृष्टि के समय वे उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल में नष्ट होते हैं, स्थितिकाल में वे विद्यमान रहते हैं। इस कारण उत्पत्ति एवं प्रलयकाल के बीच वर्णों की उत्पत्ति और नाश नहीं होता। क्योंकि प्रतिक्षण गकारादि वर्ण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं—यह मानने पर गकारादि अनन्त वर्णों की कल्पना करनी पड़ती है और ऐसा करने में गौरव होता है।

शंका—यदि वर्ण नित्य हैं तो वे सदैव अभिव्यक्त क्यों नहीं होते? इस आशंका के समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं—वर्णों के नित्य होने पर भी जिस समय उनका उच्चारण नहीं किया जाता उस समय वे अभिव्यक्त नहीं होते। क्योंकि उच्चारणरूप अभिव्यंजक का अभाव रहता है। इस कारण वर्णों के नित्य होने पर भी उनके सदैव अभिव्यक्त न होने में कोई दोष नहीं है। अन्धकार में विद्यमान घट, नहीं दीखता, उसका अभिव्यंजक प्रकाश है, विना उसके घट का दीखना अशक्य है। अन्धकार में न दीखने के कारण वह है ही नहीं—यह नहीं कहा जाता। उसी प्रकार बिना उच्चारण

किये वर्णों की अभिव्यक्ति नहीं होने मात्र से वे हैं ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता।

'गकार उत्पन्न हुआ' 'वह नष्ट हुआ' यह प्रत्यय (अनुभव) होते रहने के कारण, उच्चारण करते ही उनकी उत्पत्ति होना और उच्चारण बन्द करते ही उनका नाश होना आप स्वीकार क्यों नहीं करते ? ऐसी शंका उठा कर ग्रन्थकार कहते हैं—

यह प्रतीति अप्रमाण है। क्योंकि 'वही यह गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा के साथ उसका विरोध है। अथवा वर्णों की अभिव्यक्ति को उत्पन्न करने वाली ध्वनि की उत्पत्ति से ज्ञात होने वाले 'स्वाश्रयध्वन्यभिव्यंग्यत्व' रूप परंपरा-सम्बन्ध से वैसा प्रत्यय होने के कारण परंपरासबन्धविषयत्वेन वह प्रत्यय प्रमाण है—यह मानना चाहिये। 'काला घट नष्ट हुआ और लाल घट उत्पन्न हुआ' इस प्रकार की एक ही घट में गुण के सम्बन्ध से प्रतीति होती है, उसी प्रकार वर्ण की अभिव्यक्ति करने वाली ध्वनि की उत्पत्ति से वर्णों की उत्पत्ति का परंपरा-सम्बन्ध ज्ञात होता है। इस कारण उस उत्पत्ति-प्रत्यय को साक्षात् प्रमाण न मानकर परंपरा-सम्बन्ध-विषयत्वेन आप चाहें तो प्रमाण मान लें। अतः वेदों में क्षणिकता नहीं है—यह सिद्ध हुआ। क्योंकि वे प्रतिक्षण में उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होते, किन्तु सृष्टिकाल में आकाश आदि इतर पदार्थों के समान उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल में ही नाश को प्राप्त होते हैं। 'स्वाश्रयध्वन्यभिव्यंग्यत्व' का अर्थ है स्वोत्पत्ति का आश्रय जो ध्वनि, उसका विषयत्व—ध्वनिरूप अभिव्यंजक के द्वारा अभिव्यक्त होना। ध्वनि की उत्पत्ति से वर्ण व्यक्त होते हैं।

सिद्धान्ती के इस समाधान पर मीमांसक अपसिद्धान्त की शंका करते हैं—

ननु क्षणिकत्वाभावेऽपि वियदादिप्रपञ्चवदुत्पत्तिमत्त्वेन परमेश्वरकर्तृकतया पौरुषेयत्वादपौरुषेयत्वं च वेदानामिति तव सिद्धान्तो भज्येतेति चेत्। न। न हि तावत्पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वम्। गुरुमतेऽपि अध्यापकपरम्परया पौरुषेयत्वापत्तेः। नापि पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वं पौरुषेयत्वम्। नैयायिकाभिमत-पौरुषेयत्वानुमानेऽस्मदादिना सिद्धसाधनत्वापत्तेः। किन्तु सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम्।

अर्थ—वेदों के क्षणिक न होने पर भी आकाशादि प्रपंच के समान उनमें उत्पत्तिमत्त्व होने से और वह उत्पत्ति परमेश्वरकर्तृक होने से (उनका कर्ता परमेश्वर होने से) पौरुषेयत्व है। इस कारण वेदों के अपौरुषेयत्व का

आपका सिद्धान्त भग्न होगा। यह यदि मीमांसक कहे तो उचित नहीं है। क्योंकि पुरुष के द्वारा उच्चारण किया जाना ही पौरुषेयत्व नहीं है। क्योंकि वैसा मानने पर गुरुमत में भी अध्यापक परंपरा से पौरुषेयत्व की प्राप्ति होने लगेगी। इसी प्रकार 'जिसकी उत्पत्ति पुरुष के अधीन है'—वह पौरुपेय है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नैयायिकों से सम्मत पौरुषेयत्व के अनुमान पर हम वेदान्तियों के द्वारा 'सिद्ध-साधनता' दोष दिया जाता है। इसलिये 'जिसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती ऐसे उच्चारण का विषय होना' ही पौरुषेयत्व है।

विवरण—वेदान्ती के पूर्वोक्त सिद्धान्त पर मीमांसक कहता है—'तुम्हारे मत में भले ही वेदों में क्षणिकत्व न हो तथापि आकाशादि इतर प्रपंच के समान उत्पत्तिमत्त्व है। और उसकी उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर है, इस कारण वेदों में पौरुषेयत्व (पुरुषकर्तृकत्व) है। ऐसा तुम्हारे सिद्धान्त के ही विरुद्ध सिद्ध होता है। क्योंकि तुम्हारा वेदापौरुषेयत्व का सिद्धान्त ईश्वर कर्तृकत्व के कारण बाधित हो जाता है।

परन्तु वेदान्ती कहता है—हमारे मत में भले ही वेद पैदा हुए हों तथापि पौरुषेयत्व न होने से अपसिद्धान्त नहीं हो पाता। हमारे मत पर मीमांसक जो पौरुषेयत्व का दोष देते हैं वह कैसे पौरुषेयत्व को मानकर ? क्या पुरुष के द्वारा उच्चारण किया जाना पौरुषेयत्व है, या पुरुष के अधीन वेदोत्पत्ति का होना पौरुषेयत्व है ? प्रथम पक्ष में मौनी पुरुष के श्लोक को भी अपौरुषेय कहने का प्रसंग प्राप्त होगा। क्योंकि जिसने मौन व्रत धारण किया हो वह अपने श्लोक को मुख से बोलता नहीं किन्तु लिखकर दिखाता है। उच्चारण न करने के कारण आपके लक्षण के अनुसार उसे अपौरुषेय कहना होगा। इसके अतिरिक्त गुरुमत में भी अध्यापक परंपरा से वेदों को पौरुषेय कहना होगा। क्योंकि उनके मत में अध्यापकों की परंपरा से ही वेदों का उच्चारण किया जाता है।

अस्तु, 'पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वं' पौरुषेयत्वम्–इस प्रथम लक्षण को स्वीकार न कर 'पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वम्'–जिसकी उत्पत्ति पुरुष के अधीन होती है, वह पौरु-षेय–इस द्वितीय लक्षण को यदि मानें तो उसपर सिद्धसाधन दोष आता है।

नैयायिक—'वेदाः पौरुषेयाः वाक्यत्वात् भारतादिवत्'— वेद पौरुषेय हैं, क्योंकि वे वाक्य हैं, भारतादिकों के तुल्य। ऐसा अनुमान कर वेदों का पौरुषेयत्व साधन करते हैं। परन्तु हम तथा अन्य कुछ वादी भी नैयायिक संमत अनुमान के द्वारा ही स्वीकृत पौरुषेयत्व को साधन करते हैं। इस कारण उनके पौरुषेयत्वानुमान पर सिद्धसाधनता दोष आता है।

वेदान्तियों को कैसा पौरुषेयत्व मान्य है ? जिसके घटित न होने के

कारण वेदों के उत्पत्तिमान् होने पर भी अपौरुषेयत्व सिद्ध हो जाता है ? इस शंका से प्रेरित होकर ग्रन्थकार 'किन्तु' आदि ग्रन्थ से उसका समाधान करते हैं। 'जिसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती—ऐसे उच्चारण का विषय होना ही हमारे मत में पौरुषेयत्व है। भारतादि ग्रंथों के उच्चारण में पूर्व सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु परमेश्वर सृष्टि के प्रारंभ में सजातीय उच्चारण की अपेक्षा से ही वेदों का उच्चारण करता है इसलिए उन्हें अपौरुषेयत्व है। इसी सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हैं।

तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं वेदानाम्। भारतादीनां तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्। एवं पौरुषेयापौरुषेयभेदेनागमो द्विधा निरूपितः।

अर्थ—ऐसा होने से परमेश्वर ने सृष्टि के आरंभ में पूर्वसर्ग के समय वेदों की सिद्ध आनुपूर्वी के समान ही जिसकी आनुपूर्वी है ऐसे वेद की रचना की। उस आनुपूर्वी से भिन्न (विजातीय) विलक्षण आनुपूर्वीवाले वेद की रचना उसने नहीं की। अतः उसमें (वेदमें) सजातीय उच्चारण की अपेक्षा जिसे नहीं ऐसे उच्चारण का विषयत्वरूप पौरुषेयत्व नहीं है। और भारतादि पौरुषेय ग्रन्थों का उच्चारण, सजातीय उच्चारण की बिना अपेक्षा किए ही होता है अतः उनमें पौरुषेयत्व है। इस प्रकार पौरुषेय अपौरुषेय भेद से आगम दो प्रकार का है। यह हमने इस प्रकरण में निरूपण किया।

विवरण—उपर्युक्त प्रकार का पौरुषेयत्व होने से वेदों में पौरुषेयत्व नहीं है। क्योंकि आद्यसृष्टि के समय परमेश्वर ने पूर्वकल्पसिद्ध अनुक्रम के अनुसार ही जिसका अनुक्रम है ऐसे वेद को रचा। भिन्न अनुक्रम से वेद की रचना नहीं की। पूर्वकल्प में वह जैसा था वैसा ही रचा, उसमें एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं किया गया, इसी कारण उसमें पौरुषेयत्व नहीं है। किन्तु सजातीय उच्चारण की जिन्हें अपेक्षा नहीं होती ऐसे उच्चारण किये जाने वाले अर्थात् विजातीय आनुपूर्वीवाले ग्रंथ ही पौरुषेय होते हैं। महाभारतादि ग्रन्थों में पूर्वकल्प का सजातीय उच्चारण नहीं रहता इसलिए वे पौरुषेय हैं। इस प्रकार चतुर्थ आगम नामक प्रमाण पौरुषेय एवं अपौरुषेय भेद से दो प्रकार का होता है। उसका हमने यहाँ सविस्तर निरूपण किया।

इति वेदान्तपरिभाषायामागमपरिच्छेदः ॥ ४ ॥
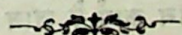
अथार्थापत्तिपरिच्छेदः ५

इस प्रकार आगम प्रमाण का निरूपण कर अब क्रम प्राप्त अर्थापत्तिसंज्ञक पंचम प्रमाण के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—

इदानीमर्थापत्तिर्निरूप्यते। तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्। उपपादकज्ञानं फलम्। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वमुपपाद्यम्। यथा वा रात्रिभोजनस्याभावे तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम्।

अर्थ—अब अर्थापत्ति प्रमाण का निरूपण किया जाता है। तत्रेति—उस प्रमाणरूप अर्थापत्ति में उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना (ज्ञान) ही अर्थापत्ति प्रमा है। इन दो ज्ञानों में से—उपपाद्य ज्ञान प्रमाण (कारण, साधन) है और उपपादक का ज्ञान प्रमा (फल) है। जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है वह उपपाद्य, और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह वहां उपपादक होता है। जैसे—रात्रि-भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले पुरुष का पीनत्व अनुपपन्न (असंभव) है, इस कारण वैसा पीनत्व (पुष्टत्व) उपपाद्य है, और रात्रि-भोजन के अभाव में वैसे पीनत्व (पुष्टि) की अनुपपत्ति (असंभव) है, इस कारण रात्रि-भोजन, उस पुष्टि का उपपादक है।

विवरण—कदाचित् कोई दांभिक पुरुष दिन में भोजन नहीं करता किन्तु उसका शरीर पुष्ट दीखता है। परन्तु भोजन के बिना ऐसी पुष्टि असंभव है। इससे यह निश्चित है कि पुरुष रात्रि में अवश्य ही भोजन करता होगा। इस प्रकार पीनत्व रूप कार्य से रात्रि-भोजन रूप कारण की कल्पना की जाती है। यही अर्थापत्ति प्रमा है। इस प्रमा के प्रमाण को भी अर्थापत्ति ही कहते हैं। सारांश यह है कि एक ही अर्थापत्ति शब्द, प्रमा और प्रमाण का भी वाचक है। इस अर्थापत्ति को ही शास्त्रीय ग्रन्थों में 'अन्यथानुपपत्ति' शब्द से भी कहते हैं। किसी अन्य प्रकार से कार्य की उपपत्ति न हो सकने से जो कारण की कल्पना की जाती है, वह ज्ञान कार्य के ज्ञान से ही होता है। इस कल्पक

ज्ञान को ही उपपाद्य (उपपन्न होने योग्य) ज्ञान कहते हैं। इसलिये वह उपपाद्य (अर्थापत्ति) का करण है। जिसके कारण उपपाद्य की उपपत्ति लगती है वह रात्रि-भोजनादि का ज्ञान, उपपादक (उपपत्ति बतानेवाला) है। तस्मात् कार्यज्ञान के अनन्तर उसकी अन्यथा (अन्य प्रकार से) उपपत्ति न लग सकने के कारण उसके उचित कारण की कल्पना करना ही अर्थापत्ति है। और उपपाद्य का (कल्पक का) ज्ञान. उसका कारण होने से ही वह अर्थापत्ति प्रमाण है। 'येन विना०' इत्यादि ग्रन्थ से उपपाद्य और उपपादक के लक्षण बताये हैं। 'येन विना०' इस वाक्य के प्रथम 'तत्' शब्द से 'यदनुपपन्नं,' के प्रथमान्त 'यत्' शब्द-वाच्य अर्थ का परामर्श किया गया है, और 'तत्र' इस पद से 'येन विना' के यत् शब्दवाच्य अर्थ का परामर्श किया गया है। जिसके बिना जिसकी अनुपपत्ति (अयोग्यरूप से प्रतीति) होती है वह उपपाद्य कहा जाता है। जैसे रात्रि-भोजन के बिना दिन में भोजन न करनेवाले पुरुष का पीनत्व अनुपपन्न होता है, अर्थात् अयोग्यत्वेन प्रतीत होता है। ऐसे पुरुष का शरीर पुष्ट रहना संभव नहीं, इसलिये वह पीनत्व, उपपाद्य है। इसीलिये 'उपपाद का भाव व्यापकीभूताभाव प्रतियोगित्व' रूप लक्षण भी यहां कहा गया है। प्रकृत स्थल में 'पीनत्व' उपपाद्य है और 'रात्रि-भोजन' उपपादक है। उपपाद्यरूप पीनत्व का अभाव, उपपादकरूप रात्रि-भोजन के अभाव का व्यापकीभूत (व्यापक) है, अर्थात् जहां-जहां भोजन का अभाव रहता है वहां-वहां निश्चय से (नियमेन) पीनत्व का भी अभाव रहता है। भोजन के बिना पुष्टि का होना कभी संभव नहीं। अर्थादेव ऐसे व्यापक अभाव का प्रतियोगी पीनत्व है, अतः उपपाद्यलक्षणका 'पीनत्व' रूप लक्ष्य में समन्वय हो जाता है।

इसी प्रकार 'यस्याभावे०' इस वाक्य से उपपादक का लक्षण बताया है। पूर्ववत् यहाँ यत्-तत् शब्दों का व्युत्क्रम (उलटा क्रम) नहीं है। प्रथम 'यस्य' इस शब्द से जिस अर्थ का कथन किया है, उसी का प्रथमान्त 'तत्' शब्द से निर्देश किया है। दिन में भोजन न करने वाले पुरुष के पीनत्व की जिस रात्रि-भोजन के अभाव में अनुपपत्ति होती है, वह रात्रि-भोजन उपपादक है। इस कारण 'उपपाद्याभावव्याप्याभावप्रतियोगित्व' यह उपपादक का लक्षण सिद्ध होता है। उपपाद्य का अभाव उपपादक के अभाव का व्यापक होता है। अर्थात् उपपाद्याभाव व्यापक, और उपपादकाभाव व्याप्य होता है। पीनत्व के अभाव का व्याप्य जो रात्रि-भोजन का अभाव, उसका रात्रि-भोजन प्रतियोगी है। सारांश यह है कि कल्पकज्ञान उपपाद्य होता है और कल्प्य-ज्ञान उपपादक होता है—यह कल्पना अनुपपत्तिमूलक है। एक ही अर्थापत्ति शब्द प्रमा और प्रमाण दोनों का वाचक कैसे होता है? उत्तर देते हैं—

रात्रिभोजनकल्पनारूपायां प्रमितावर्थस्यापत्तिः कल्पनेति षष्ठीसमासेन अर्थापत्तिशब्दो वर्तते, कल्पनाकरणपीनत्वादिज्ञाने त्वर्थस्यापत्तिः कल्पना यस्मादिति बहुव्रीहिसमासेन वर्तते इति फलकरणयोरुभयोस्तत्पदप्रयोगः।

अर्थ—अर्थ (पदार्थ) की आपत्ति (कल्पना) इस षष्ठी तत्पुरुष समास से 'अर्थापत्ति' शब्द, रात्रि-भोजन कल्पनारूप प्रमा अर्थ में रहता है और जिससे पदार्थ की कल्पना होती है, वह अर्थापत्ति प्रमाण, इस बहुव्रीहि समास से अर्थापत्ति शब्द, उस कल्पना के साधनभूत पीनत्वादिज्ञानरूप अर्थ में रहता है इस कारण प्रमा और प्रमाण दोनों अर्थों में 'अर्थापत्ति' संज्ञक एक ही शब्द का प्रयोग होता है।

विवरण—शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त यदि एक ही हो तो एक शब्द, दो अर्थों का वाचक नहीं होगा। प्रकृत में प्रमा एवं प्रमाण अर्थ में अर्थापत्ति शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न-भिन्न है। 'अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः' ऐसा—षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर अर्थापत्ति शब्द का 'कल्पना' अर्थ होने से अर्थापत्ति प्रमा रूप अर्थ होता है। और उसी शब्द की 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत्' बहुव्रीहि समास से व्युत्पत्ति यदि मानी जाय तो अर्थापत्ति प्रमाण अर्थ होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति-निमित्त का भेद होने से एक ही अर्थापत्ति शब्द के प्रमा और प्रमाण ये दो अर्थ हो सकते हैं।

इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमा और प्रमाण का लक्षण बताकर अब उसके भेद को बताते हैं।

सा चार्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति। तत्र दृष्टार्थापत्तिर्यथा—इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यन्ताभाववत्त्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयतीति।

अर्थ—और वह अर्थापत्ति दो प्रकार की है। दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। उनमें से दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण जैसे—'यह रजत है' इस प्रकार आगे दीखनेवाली वस्तु में ज्ञात होनेवाले रजत का उसी पदार्थ में 'यह रजत नहीं' यह निषेध (उस रजत में) सत्यत्व होने पर अनुपपन्न होता है। इस कारण (वह निषेध) उस रजत में सद्भिन्नत्व या सत्यत्वात्यन्ताभाववत्त्व रूप मिथ्यात्व की कल्पना करा देता है।

विवरण—दृष्टार्थापत्ति एवं श्रुतार्थापत्ति भेद से अर्थापत्ति के दो प्रकार हैं। उनमें से जिस अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। जैसे—सामने दीखने वाले पदार्थ का प्रथम 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान होता है। परन्तु किसी आप्त के कहने पर अथवा स्वयं वहां जाकर उसे हाथ में लेकर देखने के पश्चात् 'यह रजत नहीं है' ऐसा ज्ञान होता है। वास्तव में वह रजत यदि सत् (वस्तुभूत) पदार्थ होता तो उसका निषेध कैसे होता। अतः ऐसी कल्पना की जाती है कि यहां पर वास्तव में रजत की सत्ता नहीं अर्थात् रजत सत्य नहीं है। वह सद्भिन्न अर्थात् असत् (मिथ्या) है। अथवा इस रजत में सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार उसके सत्यत्वात्यन्ताभावस्वरूप मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। यह मिथ्यात्व की कल्पना निषेध के कारण होती है और रजत तथा शुक्ति दोनों विषय दृष्ट हैं। इस कारण रजत की इस मिथ्यात्वकल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। इस प्रकार दृष्टार्थापत्ति के द्वारा रजत के मिथ्यात्व का निश्चय होता है। क्योंकि सत्य-पदार्थ का त्रिकाल में भी निषेध होना संभव नहीं।

अब श्रुतार्थापत्ति का लक्षण एवं उदाहरण बताते हैं—

श्रुतार्थापत्तिर्यथा—यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तरकल्पनम्। यथा 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते।

यथा वा जीवी देवदत्तो गृहे नेति वाक्यश्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्त्वं बहिः सत्त्वं कल्पयति।

अर्थ—श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण इस प्रकार है—जब कि सुनाई देने वाले वाक्य की स्वार्थानुपपत्ति के द्वारा (वाक्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण) अन्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है, इसी को श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। जैसे—'आत्मवेत्ता शोक (संसार) से तर जाता है' इस श्रुति में शोक शब्द वाच्य समस्त बन्धों में बताये हुए ज्ञाननिवर्त्यत्व की अन्यथा उपपत्ति का संभव न होने से समस्त बन्धों में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। अथवा 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है' इस वाक्य के सुनने पर जीवित पुरुष का घर न होना उसके बहिःसत्त्व की कल्पना कराता है।

विवरण—सुने हुए वाक्य के मुख्य अर्थ का असंभव होने पर उस अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिये जो अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। जैसे—'छान्दोग्योपनिषद्' में—'आत्मवेत्ता पुरुष समस्त

शोक को पार कर जाता है' कहा गया है। यहां 'शोक' शब्द का अर्थ 'कर्तृत्वादि समस्त बन्ध' है, और ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है, ऐसा श्रुति का आशय है। परन्तु श्रुतिका यह अर्थ उपपन्न नहीं होता। क्योंकि किसी वस्तु की निवृत्ति उसके ज्ञान से नहीं हुआ करती। हमें पुस्तक का ज्ञान होने पर वह पुस्तक नष्ट हो जाय—ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। ज्ञान केवल अज्ञान का ही निवर्तक होता है। इसलिये इस श्रुतार्थ की अनुपपत्ति होती है। अतः उसकी उपपत्ति लगाने के लिये समस्त बन्ध, ज्ञान-निवर्त्य हैं, (ज्ञान से नष्ट होने योग्य हैं) यह सिद्ध करने के लिये बन्ध अज्ञानमूलक है, (शुक्ति-रजतादि के समान वास्तव में न होकर अज्ञान से ही भासित होता है) ऐसी कल्पना करनी पड़ती है। यही श्रुतार्थापत्ति है। इस रीति से आत्मा के दुःखित्वादि को मिथ्या सिद्ध करना ही अर्थापत्ति प्रमाण का उपयोग है।

इस प्रकार वेदान्तोपयोगी उदाहरण बताकर 'यथा वा०' इत्यादि वाक्य से लौकिक उदाहरण बताया है। 'देवदत्त जीवित है किन्तु घर में नहीं है' इस वाक्य के सुनने पर जो पुरुष घर में नहीं और घर के बाहर भी नहीं उसका जीवित रहना संभव नहीं। इस कारण अर्थात् ऐसी कल्पना करनी पड़ती है कि वह जीवित होते हुए जब घर में नहीं है तब वह बाहर होना ही चाहिये। इस प्रकार कल्पना करना भी श्रुतार्थापत्ति का ही उदाहरण है। इस रीति से श्रुत (शब्द से ज्ञात होने वाले) अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिये उसके उपपादक (उपोद्बलक) अन्य अर्थ की कल्पना करना ही श्रुतार्थापत्ति कही जाती है।

इसी श्रुतार्थापत्ति के अवान्तर भेदों को बताते हैं—

श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा—अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च। तत्र, यत्र वाक्यैकदेशश्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्त्याऽन्वयाभिधानोपयोगि पदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्तिः। यथा द्वारमित्यत्र 'पिधेहि' इत्यध्याहारः, यथा वा 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र 'स्वर्गकाम' इति पदाध्याहारः।

अर्थ—श्रुतार्थानुपपत्ति के दो भेद हैं—एक अभिधानानुपपत्ति और दूसरी अभिहितानुपपत्ति। उनमें से जब हम वाक्य का एक देश (एक भाग) सुन लेते हैं, किन्तु उस एक पद के या कुछ भाग के अन्वय की अनुपपत्ति होने पर उस पद के साथ अन्वित होने योग्य किसी दूसरे पद की कल्पना (अध्याहार) करते हैं, तब उसे अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। जैसे—हम

'द्वारम्' कपाट शब्द को सुनकर (उसके अन्वय की उपपत्ति लगाने के लिये) 'पिधेहि' (लगादो) पद का अध्याहार करते हैं, या 'विश्वजित् याग करे' इस विधि के श्रवण करने पर (उस याग का सफलत्व सिद्ध करने के लिये) 'स्वर्गकाम' (स्वर्ग की इच्छा करने वाला) पद का अध्याहार करते हैं— बस यही अभिधानानुपत्ति कहलाती है ।

विवरण—क्रियावाचक पदों को कारकों की आकांक्षा रहती है, और कारकों को क्रिया की अपेक्षा रहती है । बिना उसके केवल क्रियार्थक या कारकार्थक पद, विवक्षित अर्थ को नहीं दिखा सकते । कितनी ही जगह ऐसे पद श्रुत न रहने पर भी वक्ता के तात्पर्यविषयभूत अर्थ की उपपत्ति के लिये उनकी कल्पना करके ही अन्वयबोध कर लेना होता है । ऐसे अध्याहाररूप कल्पना को अभिधानानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति कहते हैं । जैसे— किसी कार्य में अत्यन्त व्यग्र हुआ व्यक्ति शीघ्रता के कारण 'द्वार-द्वार' इतना कहकर ही चुप हो जाता है । उस समय वहाँ की सब परिस्थिति देख कर उस वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिये 'द्वार' इस कर्मवाचक पद को इस समय 'लगाओ' इस क्रियावाचक पद की ही आकांक्षा है—यह समझकर उस पद का अध्याहार कर उस वाक्य को पूर्ण करते हैं— यही अभिधानानुपपत्ति है ।

इसी अभिधानानुपपत्ति का मीमांसक-संमत वैदिक उदाहरण—'यथा वा०' इस वाक्य से दिखाया है । किसी पुरुष की फलरहित कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती । श्रुति ने 'विश्वजिता यजेत'—विश्वजित्-संज्ञक याग करे—ऐसा कर्म का विधान किया है । किन्तु 'वायव्यं श्वेतमालभेत पशुकामः' (जिसे पशु की कामना हो वह वायु देवता को उद्देशकर श्वेत पशु का आलभन करे) इत्यादि विधि के समान प्रत्यक्ष कोई फल नहीं कहा है । तब इस श्रुत्यर्थ की सफलता के लिये एवं उस याग में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिये सभी को अभिलषित स्वर्ग-सुख की ही फलत्वेन कल्पना करनी चाहिये । और ऐसे स्वर्गकाम (स्वर्गेच्छु) पुरुष को विश्वजित् करना चाहिये—यह उस विधि का अर्थ किया जाता है । यहाँ क्रियावाचक पद की कर्तृवाचक पद के बिना अनुपपत्ति होती है, इसलिये कर्तृवाचक पद का अध्याहार करना पड़ता है । अन्यथा उस विधि की उपपत्ति का संभव नहीं । अन्वय की अनुपपत्ति होने पर 'विश्वजिता' इत्यादि विधिदर्शक पद उपपाद्य हैं । उससे 'स्वर्गकामः' इस उपपादक पद की कल्पना होती है । अतः प्रकृत स्थल में अर्थापत्ति के लक्षण का समन्वय होता है । इसी प्रकार अन्य भी उपपाद्य और उपपादक को पहचान कर प्रकृत लक्षण का समन्वय कर लेना चाहिये ।

इस पर शंका और उसका समाधान—

ननु द्वारमित्यादावन्वयाभिधानात्पूर्वमिदमन्वयाभिधानं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति कथं ज्ञानमितिचेत्। न। अभिधानपदेन करणव्युत्पत्त्या तात्पर्यस्य विवक्षितत्वात्। तथा च द्वारकर्मकपिधानक्रियासंसर्गपरत्वं पिधानोपस्थापक-पदं विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं तत्रापि सम्भाव्यते।

अर्थ—'द्वारम्' इत्यादि एकदेशरूप वाक्य के उस पद का अन्वय असुक पद के साथ है, इस प्रकार अन्वय का कथन करने से पूर्व उस (द्वार) पद का अन्वयाभिधान, पिधानार्थक पद न होने से ही अनुपपन्न हुआ है, यह आपने कैसे जाना? यदि पूछो तो उचित नहीं है। क्योंकि हमें अभिधानपद से करण-व्युत्पत्ति के द्वारा तात्पर्य अर्थ ही विवक्षित है। इस कारण द्वारकर्मक पिधान क्रिया ही उस वाक्य का अर्थ, पिधानवाचक पद के बिना ही अनुपपन्न हुआ है, यह ज्ञान उस एकदेशरूप वाक्य में भी हो सकता है।

विवरण—अभिधान का अर्थ है अन्वय, और उसकी अनुपपत्ति का अर्थ है अन्वय-बोधाभाव—यह अभिधानानुपपत्ति शब्द का अर्थ है। प्रथम 'द्वारकर्मक पिधान = जिसमें 'द्वार' कर्म है, ऐसी पिधान क्रिया। इस प्रकार यदि अन्वय-बोध होगा तो वह अन्वयबोध पिधानार्थक पद के अभाव में कैसे हो सकेगा? और अन्वयबोध ही यदि न हो तो असुक अन्वयबोध की असुक पद के न होने से अनुपपत्ति हुई है—यह ज्ञान भी कैसे हो सकेगा? और उस ज्ञान का होना यदि संभव नहीं तो आप पिधानार्थक पद के बिना इस अन्वयबोध के अनुपपन्न होने से 'पिधेहि' पद का अध्याहार करने की कल्पना किस पर से करते हैं?

यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि भावे व्युत्पत्ति को स्वीकार कर 'अभिधान' शब्द का अन्वयबोध रूप अर्थ यदि माना जाय तो आपका दिया हुआ दोष हमारे पक्ष में आता है। परन्तु हमने उस अर्थ से 'अभिधान' शब्द का प्रयोग नहीं किया, अपितु 'अभिधीयते अनेन इति अभिधानम्' इस करण व्युत्पत्ति को मानकर 'अभिधानानुपपत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। अभिधान शब्द का अर्थ है—तात्पर्य। वक्ता ने जिस तात्पर्य से शब्दोच्चारण किया हो उसी तात्पर्यार्थ की अनुपपत्ति होना ही 'अभिधानानुपपत्ति' है। ऐसा कहने के अनन्तर प्रकरण आदि पर से 'द्वारकर्मक पिधान' वक्ता के इस तात्पर्य का बोध होता है और यहां पिधानार्थक पद का उच्चारण न किया होने से उसकी अनुपपत्ति होती है। अतः इस अनुपपत्ति का परिहार करने के लिये

'पिधेहि' पद का अध्याहार किया जाता है। इस कल्पना को ही अभिधानानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। इस अनुपपत्ति का ज्ञान कल्पना से पूर्व ही होता है और प्रकरणादि से पिधानार्थक पद ही वक्ता को अभिप्रेत है—यह ज्ञान होता है। तस्मात् हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है।

अब अभिहितानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति के लक्षणादि बताते हैं—

अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति, तत्र द्रष्टव्या। यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिकज्योतिष्टोमयागगततयाऽवगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते।

अर्थ—जहां पर वाक्य से ज्ञात हुआ अर्थ अनुपपन्न (प्रमाणान्तरविरुद्ध) है, यह ज्ञात होने पर वाक्य अन्य अर्थ की कल्पना कराता है, वहां पर 'अभिहितानुपपत्ति' संज्ञक अर्थापत्ति होती है, ऐसा समझना चाहिये। जैसे—'स्वर्गेच्छु पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे' इस वाक्य में क्षणिक ज्योतिष्टोम यागगतत्वेन अवगत हुए स्वर्गसाधनत्व की अनुपपत्ति होने से क्षणिक याग—यह साधन है और स्वर्गप्राप्ति–यह फल है। इनके मध्यवर्ती अपूर्व की कल्पना की जाती है।

विवरण—प्रमाणभूत वाक्य का अर्थ उपपन्न होने के लिये उस वाक्यार्थ से बहिर्भूत अर्थ की कल्पना किये बिना अन्य मार्ग ही नहीं है। क्योंकि बिना उसके उस वाक्यार्थ में पुरुष-प्रवृत्ति का ही संभव नहीं। अतः ऐसे वाक्य की व्यवस्था लगाने के लिये अन्य (वाक्यार्थ बहिर्भूत) पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है। यही अभिहितानुपपत्ति है, क्योंकि यहां अभिहित (उक्त) अर्थ की अनुपपत्ति होती है। जैसे—'स्वर्गेच्छु पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे' वाक्य से याग, स्वर्ग का साधन है, ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु यह श्रुत्यर्थ ठीक नहीं बैठता, क्योंकि क्रिया क्षणिक होती है और देवता के उद्देश से हविःप्रक्षेप रूप क्रिया ही याग है। ज्योतिष्टोम याग क्षणिक है—याग होते ही वह कर्म समाप्त (नष्ट) होता है। और याग के होते ही यजमान स्वर्गस्थ हुआ दिखाई नहीं देता। स्वर्ग का साधन ही यदि ऐसा विनाशी है तो उससे स्वर्ग कैसे साधा जाय ? कारण के ही नष्ट होने पर कार्य कैसे होगा ? इस कारण श्रुति से बताया हुआ अर्थ (याग, स्वर्ग का साधन है) अनुपपन्न होता है। इसलिये श्रुत्यर्थ की उपपत्ति जिस प्रकार हो ऐसे पदार्थ की कल्पना करनी चाहिये। वह पदार्थ, 'अपूर्व' ही है। यद्यपि याग विनाशी है तथापि वह अपने स्थितिक्षण में ही (उत्पन्न होते ही) स्वर्ग के साधनभूत एक विलक्षण अपूर्व (अदृष्ट) को उत्पन्न करता है, तब नष्ट होता है।

वह अपूर्व याग और स्वर्ग का मध्यवर्ती व्यापार है। उस व्यापार से युक्त हुए याग से कालान्तर में स्वर्गरूप फल प्राप्त हो सकता है। जिससे 'याग स्वर्ग का साधन है' इस श्रुत्यर्थ की अनुपपत्ति नहीं हो पाती। क्योंकि व्यापार के कारण व्यापारी (व्यापारवान्) साधन की अन्यथासिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार पुरुष के स्वर्गगामित्व की उपपत्ति लगाने के लिये 'आत्मा देह से भिन्न है' ऐसी कल्पना करना भी अभिहितानुपपत्ति है।

इस रीति से श्रुतार्थापत्ति के दो प्रकार बताये गये। परन्तु इस पर नैयायिकों का कहना है कि 'अर्थापत्ति' कोई स्वतन्त्र प्रमाण न होकर अनुमान में ही उसका अन्तर्भाव होता है। प्रमाण तो चार ही हैं—१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान और ४ शब्द। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'—देवदत्त पुष्ट है, किन्तु वह दिन में भोजन नहीं करता, और बिना भोजन के पुष्ट होना संभव नहीं, अतः अर्थात् वह रात में भोजन करता होगा। यह कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से मीमांसक लोग करते हैं। परन्तु वास्तव में यहां पर रात्रि-भोजन का अनुमान ही किया जाता है। तथाहि—१-देवदत्त रात में भोजन करता है, २-क्योंकि वह दिन में भोजन बिना किये भी पुष्ट है, ३-व्यतिरेक से घट के समान। जहां-जहां रात्रि-भोजन का अभाव रहता है वहां दिन में भोजन न करने पर पीनत्व का भी अभाव रहता है, जैसे—घट दिन में या रात में कभी भी भोजन नहीं करता, तो वह पुष्ट हुआ भी नहीं दिखाई देता। ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति से ही अर्थापत्ति चरितार्थ हो जाती है। इस कारण अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

नैयायिक के इस मत का निरसन करने के लिये ग्रंथकार कहते हैं—

न चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवितुमर्हति। अन्वयव्याप्त्यज्ञानेनान्वयिन्यनन्तर्भावात्। व्यतिरेकिणश्चानुमानत्वं प्रागेव निरस्तम्। अत एवार्थापत्तिस्थलेऽनुमिनोमीति नानुव्यवसायः, किं तु अनेनेदं कल्पयामीति।

अर्थ—इस अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि अन्वयव्याप्ति का ज्ञान न होने से अन्वयि लिंग (अनुमान) में इसका अन्तर्भाव नहीं होता, और व्यतिरेकी लिंग के अनुमानत्व का तो पहले ही निराकरण कर दिया है। इसी कारण अर्थापत्ति स्थल में 'मैं अनुमान करता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, अपितु 'इससे मैं इसकी कल्पना करता हूँ' ऐसा ही व्यवहार होता है।

विवरण—नैयायिकों से हम ऐसा प्रश्न करते हैं कि 'आप अर्थापत्ति प्रमाण का अन्वयी अनुमान में अन्तर्भाव करना चाहते हैं या व्यतिरेकी अनुमान

में ? अन्वयी अनुमान में अन्तर्भाव बताना ठीक नहीं, क्योंकि जो दिन में बिना भोजन किये पुष्ट रहता है, वह रात्रि-भोजनवान् होता है अर्थात् रात में जीमता है, ऐसे सहचार दर्शन के हीन होने से अन्वयी लिंग का तो संभव नहीं। प्रत्युत् जो पीन (पुष्ट) होता है वह भोजनवान् होता (जीमता) है। इस प्रकार भोजन और पीनत्व में व्याप्ति दीखती है। रात्रि-भोजन और पीनत्व में व्याप्ति नहीं है। 'पीनत्व, भोजन का अनुमापक है और 'दिवा अभोजन'—दिन में भोजन न करना–रात्रि-भोजन का कल्पक है यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'दिवा अभोजन' और 'रात्रि-भोजन' में व्याप्ति नहीं है। तस्मात् अन्वयी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं कर सकते।

अच्छा तो—'जो-जो रात्रि-भोजनाभाववान् होता है वह दिन में बिना भोजन किये पीनत्वाभाववान् (पुष्ट नहीं) होता है जैसे घट' ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति का स्वीकार कर व्यतिरेकी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव कहें तो वह भी संभव नहीं। क्योंकि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान अनुमिति में करण ही नहीं बन सकता, यह पहले कह चुके हैं। साध्याभाव और साधनाभाव के व्याप्तिज्ञान का उपयोग, साधन से साध्य की अनुमिति होने में नहीं हो सकता, यह भी हम पहले बता चुके हैं। तस्मात् व्यतिरेकी अनुमान में भी अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसलिये अर्थापत्ति को अनुमान से भिन्न एवं स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहिये। अनुभव भी इस बात का पोषक है। अर्थापत्ति प्रमाण से जो रात्रिभोजन का ज्ञान होता है वह यदि अनुमान से हुआ होता तो मैं 'रात्रि-भोजन का अनुमान करता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय हुआ होता, प्रत्युत 'दिन में बिना भोजन किये पुष्ट दीखनेवाले पुरुष के पीनत्व से उसके रात्रि-भोजनत्व की कल्पना करता हूँ' इस प्रकार अर्थापत्ति-प्रमाणजन्य ज्ञान का ही अनुभव आता है और वैसा अनुव्यवसाय भी होता है। मनुष्य के ज्ञान का ज्ञापक प्रमाण अनुव्यवसाय ही है। अतः अनुभव के अनुसार 'अर्थापत्ति' संज्ञक पृथक् प्रमाण की कल्पना करनी ही चाहिये।

'इसके बिना यह अनुपपन्न है' यह ज्ञान, व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान ही है या उससे पृथक् है ? दिन में बिना भोजन किये किसी व्यक्ति का पुष्ट होना रात्रि-भोजन के अभाव में असंभव है—इस प्रकार जो अनुपपत्ति का ज्ञान होता है, वह व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान ही है ऐसा यदि आप कहें तो वह योग्य नहीं होगा। क्योंकि यह मानने पर तो हमारे सिद्धान्त को (अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव) स्वीकार किया-सा होगा। इसलिये द्वितीय पक्ष (व्यतिरेक-व्याप्तिज्ञान से पृथक् ज्ञान) स्वीकार करें तो उसका निरूपण करना आपको अशक्य है। इस कारण द्वितीय पक्ष का भी आप स्वीकार नहीं कर सकते—

इस आशय से नैयायिक आक्षेप करता है और ग्रन्थकार उसका संक्षेप से समाधान करते हैं—

नन्वर्थापत्तिस्थले—इदमनेन विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं करणमित्युक्तं, तत्र किमिदं तेन विनाऽनुपपन्नत्वम् ?। तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वमिति ब्रूमः।

अर्थ—शंका—अर्थापत्ति के स्थल में 'यह इसके बिना अनुपपन्न है' यह ज्ञान करण (साधन) है—ऐसा आपने बताया। किन्तु 'उसके बिना अनुपपन्न होना' क्या है ? तो इसके उत्तर में हम कहते हैं—उस अभाव का व्यापक बना जो अभाव उसका प्रतियोगित्व—अनुपपन्नत्व है।

विवरण—किसी वाक्य के प्रसिद्ध अर्थ की अनुपपत्ति हुए बिना उसके भिन्न अर्थ की कल्पना नहीं की जाती। इसलिये अर्थापत्तिज्ञान को अर्थापत्ति में आप करण बताते हैं परन्तु उस अनुपपत्ति का स्वरूप, नैयायिक के द्वारा पूछे जाने पर धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं—अपने अभाव का व्यापक जो अभाव उसका प्रतियोगित्व ही अनुपपत्ति है। जैसे—जहां भोजन का अभाव रहता है, वहां पीनत्व का भी अभाव रहता है। क्योंकि भोजन नहीं और पुष्टत्व हो—यह कभी संभव नहीं। इसलिये पीनत्वाभाव, भोजनाभाव का व्यापक है और भोजनाभाव पीनत्वाभाव का व्याप्य है। इसी प्रकार जहां रात्रि-भोजन का अभाव हो वहां दिन में भोजन न करनेवाले पुरुष के पीनत्व का भी अभाव रहता है। दिन में न जीमने वाले पुरुष का पीनत्वाभाव, रात्रि-भोजन का व्यापक है, ऐसे व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व-पीनत्व में होना ही अनुपपन्नत्व है। यही उपपाद्य ज्ञान है। देवदत्त में वैसा पीनत्वाभाव नहीं है। किन्तु पीनत्वाभाव का अभाव है—अर्थात् वह पुष्ट है। इस कारण उसमें रात्रि-भोजन का अभाव होना शक्य नहीं। इसलिये पीनत्व, रात्रि-भोजन का उपपाद्य है, अर्थात् रात्रि-भोजनाभाव का व्यापक जो पीनत्वाभाव उसका प्रतियोगी पीनत्व है, इसी ज्ञान को अनुपपत्ति ज्ञान कहते हैं। और इसी के बलपर रात्रि-भोजन की कल्पना होती है। इसलिये आपका उपर्युक्त प्रश्न अयोग्य है, क्योंकि व्यतिरेकव्याप्तिरूप अनुपपन्नत्व को न मान कर ही हमें दूसरी उपपत्ति का निरूपण करते बनता है।

एवमर्थापत्तेर्मानान्तरत्वसिद्धौ व्यतिरेकि नानुमानान्तरम्, पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते इत्यादौ गन्धवत्त्वमितरभेदं विनाऽनुपपन्नमित्यादिज्ञानस्य करणत्वात्। अत एवानुव्यवसायः पृथिव्यामितरभेदं कल्पयामीति।

इति वेदान्तपरिभाषायामर्थापत्तिपरिच्छेदः ॥ ५ ॥

अर्थ—इस रीति से 'अर्थापत्ति' पृथक् प्रमाण है, यह सिद्ध होने पर दूसरा व्यतिरेकी अनुमान मानने की आवश्यकता नहीं रहती। पृथ्वी अन्य पदार्थों से भिन्न है आदि स्थलों में पृथ्वी का 'गन्धवत्त्व' इतर भेद के बिना अनुपपन्न है। वह पृथ्वी से भिन्न पदार्थों में ही हो सकता है, पृथ्वी में नहीं। यही ज्ञान करण है। इसी कारण 'मैं पृथ्वी में इतर भेद की कल्पना करता हूं' ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है।

विवरण—'अनेन इदं कल्पयामि' इस अनुव्यवसाय से 'अर्थापत्ति' पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है। ऐसा स्वीकार करने पर अन्वयरूप एक ही अनुमान मानने योग्य रहता है। अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानने पर 'व्यतिरेकी' नामक अनुमान का दूसरा प्रकार मानने का प्रयोजन ही नहीं रहता। क्योंकि अन्वयी लिंग से ही अनुमित्यात्मक ज्ञान हो जाता है। किन्तु नैयायिक जिसे व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं और उससे होने वाले ज्ञान को अनुमिति ज्ञान समझते हैं, वह वस्तुतः अनुमिति ज्ञान न होकर अर्थापत्तिज्ञान ही है और उस ज्ञान में कारण भी अर्थापत्ति ही है।

शंका—१. पृथ्वी, जलादि अन्य पदार्थों से भिन्न है,
२. क्योंकि उसमें गन्ध है,
३. व्यतिरेक से जल के तुल्य,

इस उदाहरण में जिसपर से उसे अर्थापत्ति कहा जा सके ऐसा कौन सा अनुपपत्तिज्ञान है? इसके उत्तर में कहते हैं—पृथ्वी का गन्धवत्त्व ही उसका उपपादक है। अन्य (इतर) पदार्थों से भिन्न हुए बिना पृथ्वी में गन्धवत्त्व (गंध) का होना अनुपपन्न है। यह अनुपपत्तिज्ञान ही वहां करण है। क्योंकि इतरभेद के अभाव का व्यापक जो गन्धाभाव उसका प्रतियोगी गंध है। क्योंकि जल में इतर भेद नहीं होता तो वहां गंध भी नहीं रहता। इसलिये इतरभेदज्ञान, अर्थापत्ति ही है। व्यतिरेकी अनुमान के अन्य समस्त उदाहरण, अर्थापत्ति प्रमाण के ही हैं। तस्मात् यह पृथक् प्रमाण सिद्ध हुआ।

॥ अर्थापत्तिपरिच्छेदः समाप्तः ॥

अथानुपलब्धिपरिच्छेदः ६

इस प्रकार प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों के लक्षण, प्रमाण आदि बताये गये, अब ग्रन्थकार षष्ठ प्रमाण का प्रतिज्ञापूर्वक निरूपण करते हैं।

इदानीं षष्ठं प्रमाणं निरूप्यते। ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। अनुमानजन्यातीन्द्रियाभावानुभवहेतावनुमानादावतिव्याप्तिवारणाय अजन्यान्तं पदम्। अदृष्टादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारणहेतुसंस्कारेऽतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति विशेषणम्।

अर्थ—अब छठे प्रमाण का निरूपण किया जाता है। ज्ञान रूप करण से उत्पन्न न होनेवाला जो अभावानुभव का (अभाव प्रत्यक्ष का) असाधारण कारण हो वही अनुपलब्धि रूप छठा प्रमाण है। अनुमानप्रमाणजन्य जो अतीन्द्रिय अभाव का अनुमिति रूप अनुभव, उसका कारण अनुमानादि होता है, उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिये अनुपलब्धि लक्षण में 'अजन्यान्त' (ज्ञानकरणाजन्य) पद आवश्यक है, एवं अदृष्टादि साधारण कारणों में अतिव्याप्ति न हो इसलिये 'असाधारण (कारण) पद आवश्यक है। अभावस्मृति का असाधारण कारण जो संस्कार, उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिये 'अनुभव' पद आवश्यक है।

विवरण—अब छह प्रमाणों में से अन्त्य षष्ठ अनुपलब्धि प्रमाण का निरूपण (लक्षण प्रमाणादि कथन) कर्तव्य है। ज्ञानरूपी करण जिसका जनक न हो, ऐसा जो अभाव का अनुभव, (अभाव प्रत्यक्ष) उसका जो असाधारण कारण—उसे अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। अनुमितिप्रमामें व्याप्तिज्ञान, एवं उपमितिप्रमा में सादृश्यज्ञान, तथा शाब्दप्रमा में पदज्ञान—करण होता है, और उससे अनुमिति, उपमिति तथा शाब्दप्रमा होती है। परन्तु अभावप्रमा, ज्ञानकरणजन्य नहीं है। अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं होता। इसलिये वह ज्ञानकरणाजन्य होता है। ऐसे अनुभव का असाधारण कारण अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) है। उपलब्धि = ज्ञान और अनुपलब्धि = ज्ञान का अभाव, अतः अनुपलब्धि का यह लक्षण उचित है।

इस लक्षण में 'अभावानुभव' पद का निवेश न कर 'ज्ञानकरणाजन्य अनुभवासाधारणकारण', इतना ही लक्षण यदि करते तो उसकी प्रत्यक्ष

प्रमाण में अतिव्याप्ति हुई होती, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान भी ज्ञानकरणजन्य नहीं रहता, उसे करण की आवश्यकता नहीं होती, इसीलिये तो नैयायिकों ने 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। लक्षण में 'अभाव' पद का निवेश करने पर अतिव्याप्ति का निरसन हो जाता है। क्योंकि प्रत्यक्ष (चक्षुरादि प्रमाण) अभावप्रत्यक्षज्ञान के करण नहीं होते। अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुपलब्धि से होता है, अर्थात् घट ज्ञानाभाव के कारण घटाभाव का ज्ञान होता है। 'यदि अत्र भूतले घटः स्यात्, तर्हि उपलभ्येत; नोपलभ्यते तस्मान्नास्ति।' —यदि इस भूतल पर घट होता तो दिखाई देता। जबकि नहीं दीखता तो वह नहीं है—इसी तरह अभाव का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। इस कारण उस पदार्थ के ज्ञान का अभाव, उस पदार्थ के अभाव ज्ञान में कारण होता है। इसलिये इस प्रमाण की 'अनुपलब्धि' संज्ञा अन्वर्थक है।

शंका—'अभावानुभवासाधारणकारणम्' इतना ही अनुपलब्धि का लक्षण किया जाय। उसमें 'ज्ञानकरणाजन्य' पद किसलिये निविष्ट किया है? ऐसा कौन सा 'अभावानुभव' है कि जो ज्ञानकरणजन्य है, जिसमें अति-व्याप्ति हो जाने के भय से 'अजन्यान्त' पद की आवश्यकता होगी।

समाधान—'ज्ञानकरणाजन्य' पद का लक्षण में यदि निवेश न किया गया तो अतीन्द्रिय अभाव की जो अनुमित्यात्मक प्रमा उसके करण रूप अनुमान में अनुपलब्धि लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि अभाव की अनुमिति में अनुमान असाधारण कारण है। इस अतिव्याप्ति के निरासार्थ 'ज्ञानकरणाजन्य' विशेषण का निवेश अवश्य करना चाहिये। अभावानुमिति, अनुभवव्याप्तिज्ञानरूप अनुमान से जन्य है अर्थात् उस अनुमिति में व्याप्तिज्ञान करण है। इसलिये वह ज्ञानकरणाजन्य नहीं है, अतः उक्त दोष नहीं आने पाता।

प्रश्न—अभाव की अनुमिति कौन सी है?

उत्तर—देवदत्तादि किसी व्यक्ति को दुखी देखकर हम १—'यह धर्मा-भाववान् है, २—क्योंकि यह दुखी है' इस प्रकार उसके धर्माभाव का अनु-मान करते हैं। यहां पर उसके धर्माभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि धर्मा-दि पदार्थों के अतीन्द्रिय होने से उनका अभाव भी अतीन्द्रिय ही होता है। यही अतीन्द्रियविषयक अनुमिति है। 'अनुमानादि०' यहां के आदि पद से आगम तथा अर्थापत्ति का ग्रहण करना चाहिये। 'चान्द्रायण से समस्त पापों का क्षय हो जाता है' इस आगम से ही समस्त पापों के क्षय (अभाव) का ज्ञान होता है। यह पापाभाव का अनुभव आगम-(शब्दप्रमाण)

जन्य है। इसी तरह 'द्व्यणुक सावयव है' यह वाक्य श्रवण होने पर वह परमाणु से भिन्न है यह ज्ञान अर्थापत्ति से होता है। 'ज्ञानकरणाजन्य' पद के निवेश न करनेपर उपर्युक्त दोनों स्थलों में अतिव्याप्ति हुई होती, (इनके करण भूत पदज्ञान और अनुपपत्तिज्ञान को भी अनुपलब्धि कहने का प्रसंग प्राप्त होता) अतः 'ज्ञानकरणाजन्य' पद आवश्यक है।

लक्षण में स्थित 'असाधारण' पद का प्रयोजन 'अदृष्टादि०' वाक्य से कहा गया है। प्रागभाव, अदृष्ट, काल आदि पदार्थ समस्त कार्यों में साधारण कारण माने गये हैं। 'इस कारण अभाव के अनुभव में भी अदृष्टादि कारण हैं। 'असाधारण कारण' न कहकर केवल 'अभावानुभवकारणम्' लक्षण करें तो अदृष्टादि साधारण कारणों को भी 'अनुपलब्धि' कहना होगा। अतः उसके निरसनार्थ लक्षण में 'असाधारण' पद का निवेश करना चाहिये। अभाव के प्रत्यक्ष में अदृष्टादि साधारण कारण होते हैं। केवल अनुपलब्धि ही उसमें असाधारण कारण है। अतः उक्त अतिव्याप्ति नहीं है।

'अभावानुभवासाधारणकारणम्' लक्षण में 'अनुभव' शब्द के स्थान पर 'ज्ञान' शब्द को रखकर 'अभावज्ञानासाधारणकारणम्' यदि लक्षण करें तो अभावस्मृति के कारणभूत संस्कार में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि अभाव के स्मृत्यात्मक ज्ञान में संस्कार, असाधारण कारण होते हैं 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यही स्मृति का लक्षण है। पूर्वानुभूत पदार्थ का पूर्वज्ञानसंस्कार से ही स्मरण होता है। अतः इस संस्कार में अतिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षण में ज्ञान पद का प्रयोग न कर 'अनुभव' शब्द का प्रयोग किया गया है।

घटादि पदार्थों का अभाव जैसे अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञात होता है वैसे ही अतीन्द्रिय धर्माधर्मादिकों का अभाव भी अनुपलब्धि से ही ज्ञात होता है, मानना चाहिये, क्योंकि उभयत्र अनुपलब्धि तो समान ही है तब 'ज्ञानकरणाजन्य' पद का निवेश करने का क्या प्रयोजन है ? इस आशय से शंका उपस्थित कर उसका समाधान भी करते हैं।

न चातीन्द्रियाभावानुमितिस्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यतां विशेषाभावादिति वाच्यम्। धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात्।

अर्थ—शंका—'अतीन्द्रिय पदार्थ के अभावानुमितिस्थल में भी अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से ही माना जाय, क्योंकि अतीन्द्रिय भावपदार्थ की अनुपलब्धि और अभाव की अनुपलब्धि में कोई विशेष नहीं है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि धर्माधर्म की अनुपलब्धि होने

पर भी उनके अभाव का निश्चय नहीं हो पाता। इसलिये 'योग्यानुपलब्धि' ही अभावग्राहक है, अर्थात् वही अभाव की ज्ञापिका है।

विवरण—शंका—आप अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोग्यानुपलब्धि (प्रतियोगी का ज्ञान न होना) को कारण बताते हैं। धर्मादिकों का भी प्रत्यक्षज्ञान न होने से उनके अभाव का ज्ञान, इस अनुपलब्धि प्रमाण से ही माना जाय। सर्वत्र अभाव प्रमा में केवल एक अनुपलब्धि को ही कारण मानने में लाघव है। ऐसी स्थिति में धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का अभाव अनुमानादि प्रमाणों से ज्ञात होता है—यह आप कैसे कह रहे हैं? जैसी घटादिकों की अनुपलब्धि वैसी ही धर्म-अधर्मादिकों की भी अनुपलब्धि है। इस रीति से अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा धर्मादिकों के अभाव का ज्ञान होता है यह स्वीकार करने पर लक्षण में 'ज्ञानकरणाजन्य' विशेषण देने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान—हम अभाव प्रमा में प्रतियोग्यनुपलब्धि को अनुपलब्धित्वेन रूपेण कारण नहीं मानते। अपितु योग्यानुपलब्धित्वेन रूपेण (योग्यानुपलब्धित्वधर्म से) अनुपलब्धि को अभावानुभव में कारण मानते हैं। अर्थात् जिस प्रतियोगी में प्रत्यक्षयोग्यता होती है ऐसी ही प्रतियोगी की अनुपलब्धि, उसके (प्रतियोगी के) अभाव की प्रमापक (प्रमाण, प्रमाजनक) होती है। धर्माधर्म की चक्षुरादि से अनुपलब्धि होती है (ज्ञान होता नहीं) परन्तु इतने ही से उनके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस अभाव के प्रतियोगी स्वरूप अतीन्द्रिय धर्माधर्मादि पदार्थों में प्रत्यक्ष योग्यता नहीं होती। इस कारण उनके अभावों का एवं उनका भी ज्ञान केवल अनुमानादि प्रमाणों से ही मानना चाहिये। इसीलिये अभाव की ग्राहक योग्यानुपलब्धि ही है—ऐसा हम कहते हैं।

ऐसी योग्यानुपलब्धि का होना तो असंभव ही है—इस आशय से वादी विकल्पपूर्वक प्रश्न करता है।

ननु केयं योग्यानुपलब्धिः ?। किं योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिरुत योग्याधिकरणे प्रतियोग्यनुपलब्धिः ?। नाद्यः, स्तम्भे पिशाचादिभेदस्याप्रत्यक्षत्वापत्तेः। नान्त्यः, आत्मनि धर्माधर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षतापत्तेः।

अर्थ—प्रश्न—यह योग्यानुपलब्धि क्या है? अर्थात् उसका स्वरूप क्या है। (१) योग्य-प्रतियोगी की अनुपलब्धि=ज्ञान न होना (इसे योग्यानुपलब्धि कहते हो), (२) अथवा योग्य = प्रत्यक्षयोग्य अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि (को योग्यानुपलब्धि कहते हो)।

इनमें से प्रथम पक्ष तो संभवनीय नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर स्तंभ में पिशाचादि के भेद की अप्रत्यक्षत्वापत्ति होगी (स्तंभ में 'यह पिशाच नहीं' इत्याकारक प्रत्यक्ष नहीं होगा)।

इसीतरह 'अधिकरण योग्य चाहिये' यह द्वितीय पक्ष भी संभवनीय नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। तस्मात् दोनों कल्प (पक्ष) संभवनीय न होने से योग्यानुपलब्धि का निरूपण नहीं किया जा सकता।

विवरण—इस ग्रन्थ के द्वारा केवल वादी की शंका का अनुवाद किया गया है। अनुपलब्धि में प्रत्यक्षयोग्यता चाहिये और ऐसी योग्यानुपलब्धि ही अभाव प्रत्यक्ष में कारण होती है। परन्तु इस योग्यानुपलब्धि का स्वरूप क्या है? अनुपलब्धि का अर्थ है ज्ञानाभाव। उस अभाव के बल पदार्थ में योग्यता क्या होगी। जिस पदार्थ का ज्ञान नहीं होता वह पदार्थ अनुपलब्धि का प्रतियोगी और प्रत्यक्षयोग्य होना चाहिये—यह आप को सम्मत है, या उस प्रतियोगी की जिस अधिकरण में प्रतीति होती है, वह अधिकरण प्रत्यक्ष योग्य होता है-यह सम्मत है? परन्तु ये दोनों पक्ष नहीं बन सकते। क्योंकि प्रतियोगी योग्य होना चाहिए—ऐसा यदि कहो अर्थात् 'योग्यस्य अनुपलब्धिः' ऐसा षष्ठी समास यदि किया जाय तो 'प्रत्यक्ष योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि' यह अर्थ होगा। परन्तु वह उचित नहीं। क्योंकि प्रतियोगी को सर्वत्र प्रत्यक्षा योग्य होना ही यदि मानें तो जिसका प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता ऐसे (प्रत्यक्षा-योग्य) पिशाच का भेद प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं होगा। किसी स्तंभ को देखने के पश्चात् प्रथमतः भ्रम से भासित हुए पिशाच की निवृत्ति होकर 'यह स्तंभ, पिशाच नहीं' इत्याकारक स्तंभ में पिशाच के भेद (अन्योन्याभाव) का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है—वह अनुपपन्न होगा। अर्थात् वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता है, कहना पड़ेगा। किन्तु ऐसा कहना तो अनुभव के विरुद्ध है। इस कारण योग्यता प्रतियोगी में होती है और उसकी अनुपलब्धि, अभाव-प्रत्यक्ष में कारण है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। अच्छा तो इस दोष के परिहारार्थ आप यदि ऐसा कहें कि प्रतियोगीप्रत्यक्ष रहे चाहे न रहे, केवल उस प्रतियोगी का अधिकरण (आधार प्रतियोगी जिसपर रहता है वह पदार्थ) प्रत्यक्ष योग्य होने पर तन्निष्ठपदार्थ के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, ऐसा सप्तमी तत्पुरुष (योग्ये अनुपलब्धिः) मान लें। जैसे—स्तंभ में 'यह पिशाच है' ऐसा ज्ञान होनेपर भी पिशाच प्रत्यक्ष योग्य नहीं होता, यह प्रसिद्ध ही है। किन्तु उस पिशाच का कल्पित अधिकरण जो स्तंभ है वह प्रत्यक्षयोग्य रहता है, इस कारण उसका यथार्थ ज्ञान हुआ, अर्थात्

यह पिशाच नहीं है, पिशाच भिन्न स्तंभ है इत्याकारक पिशाच भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। यह स्तंभ पिशाच से भिन्न है, पिशाच नहीं है—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसलिये अधिकरण में ही प्रत्यक्षयोग्यता का होना उचित है, और उसके कारण ही तन्निष्ठ पदार्थ के अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'योग्ये अधिकरणे अनुपलब्धिः' योग्य अधिकरण में प्रतियोगी की प्रतीति न होना इसप्रकार योग्यानुपलब्धि शब्द की व्युत्पत्ति मानकर अधिकरण की जो योग्यता, वही अनुपलब्धि की योग्यता, है यदि कहें तो भी ठीक नहीं। (प्रथम पक्ष में 'योग्यस्य अनुपलब्धिः = योग्यानुपलब्धिः, षष्ठीतत्पुरुष और दूसरे पक्ष में 'योग्ये अनुपलब्धिः = योग्यानुपलब्धिः' सप्तमीतत्पुरुष समास मानकर दोष देने का प्रयत्न किया है। प्रथम पक्ष में स्तंभ में पिशाच भेद अप्रत्यक्ष होने का प्रसंग आवेगा। अब वादी दूसरे पक्ष में भी दोष देता है) इस पक्ष में स्तंभ आदि में पिशाच के भेद प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति न होनेपर भी धर्माधर्मादि परोक्ष पदार्थों के अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इस तुम्हारे सिद्धान्त पर दोष आता है। क्योंकि उस अभाव के प्रतियोगीरूप धर्माधर्म प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, किन्तु उनका अधिकरणभूत आत्मा प्रत्यक्षयोग्य है। 'अहम्' इस रूप से उसका मानस प्रत्यक्ष होता है। किं बहुना वह साक्षात् अपरोक्ष है। इस कारण अधिकरण योग्यता का स्वीकार करने पर तन्निष्ठ धर्माधर्मों के अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि अभावप्रत्यक्ष में आवश्यक अधिकरणयोग्यता और धर्मादि की अनुपलब्धिरूप सामग्री वहां भी रहती है। परन्तु आप वैसा नहीं मानते। अतीन्द्रिय वस्तुओं के अभाव का ज्ञान अनुमान से ही होता है, अनुपलब्धि से नहीं—यह तुम्हारा मत योग्य है, क्योंकि जहां प्रतियोगी का ही प्रत्यक्ष नहीं होता वहां प्रतियोगी के अभाव का ज्ञान भी होना संभव नहीं। तस्मात् ये दोनों पक्ष संभवनीय नहीं हैं।

उपर्युक्त आक्षेप का गूढ़ आशय इस प्रकार है—

भेद का प्रत्यक्ष करने के लिये उसका अधिकरण, प्रत्यक्षयोग्य होना आवश्यक है और अत्यंताभाव के प्रत्यक्ष के लिये प्रतियोगी की प्रत्यक्षयोग्यता आवश्यक है। स्तंभ में पिशाच भेद का प्रत्यक्ष करने के लिये उसका अधिकरणरूप स्तंभ प्रत्यक्ष योग्य होने से स्तंभ और पिशाच के अन्योन्याभाव (भेद) का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। स्तंभ में स्थित जो पिशाच भेद है वह अन्योन्याभाव है। इस कारण अनुपलब्धि का प्रतियोगी जो पिशाच, वह प्रत्यक्ष योग्य हो चाहे न हो तथापि उसका अधिकरण स्तंभ, प्रत्यक्ष योग्य होने से उस अन्योन्याभाव (भेद) का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।

किन्तु वेदान्त मत में, आत्मा में धर्माधर्म का अत्यन्ताभाव रहता है।

इस कारण उसका अधिकरण प्रत्यक्ष हो चाहे न हो तथापि अनुपलब्धि का प्रतियोगी जो धर्माधर्म, उसमें प्रत्यक्षयोग्यता न होने से उसके अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुपलब्धि प्रमाण से हो नहीं सकता। इसलिये प्रतियोगी की योग्यता का पक्ष स्वीकार किया जाय तो उसका उपयोग, अत्यन्ताभाव प्रत्यक्ष में होता है। किन्तु अन्योन्याभाव प्रत्यक्ष स्थल में उसकी अव्याप्ति होती है और अधिकरणयोग्यता का पक्ष मान कर योग्यता का निरूपण करें तो अतीन्द्रिय पदार्थों के अत्यन्ताभाव में भी प्रत्यक्षत्वापत्ति होती है। इस रीति से अतिव्याप्ति होती है। एवंच योग्यता का निरूपण ही आप नहीं कर सकते।

इस आक्षेप का समाधान ग्रन्थकार स्वयं करते हैं—

इति चेत्। न। योग्या चासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणात्। अनुपलब्धेर्योग्यता च—तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वम्। यस्याभावो गृह्यते तस्य यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वे नाधिकरणे तर्कितेन प्रसञ्जनयोग्यमापादनयोग्यं यत्प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य तदनुपलब्धेर्योग्यत्वमित्यर्थः।

तथा हि, स्फीतालोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तदा घटोपलम्भः स्यादित्यापादनसम्भवात्तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः। अन्धकारे तु तादृशापादनासम्भवान्नानुपलब्धिगम्यता। अत एव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत्प्रत्यक्षतापत्त्या तदभावोऽनुपलब्धिगम्यः। आत्मनि धर्मादिसत्त्वेऽप्यस्यातीन्द्रियतया निरुक्तोपलम्भापादनाऽसम्भवाद् न धर्माद्यभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वम्।

अर्थ—ऐसा आक्षेप करोगे तो वह उचित न होगा। क्योंकि हमने 'योग्य जो अनुपलब्धि—वह योग्यानुपलब्धि' ऐसा कर्मधारय समास का आश्रय किया है।

तर्कित प्रतियोगी के सत्त्व (अस्तित्व) से प्राप्त हुआ प्रतियोगिकत्व ही अनुपलब्धि की योग्यता है, अर्थात् 'यदि यहां होता' इस रीति से तर्कित (जो), अभाव के प्रतियोगी का सत्त्व, उसके योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी प्रसंजित होता है—'तो वह उपलब्ध हुआ होता' इस रीति से प्राप्त होता है, इसी ज्ञान को ही योग्यता कहते हैं। जिसका अभाव ग्रहण

किया जाता है उसके प्रतियोगी के अधिकरण में कल्पित—(कदाचित् हुआ हो इस आकार में कल्पना किया हुआ) सत्त्व (अस्तित्व, सत्ता) के योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी रूप उपलंभ (उपलब्धि) (तो दिखाई देता इस ज्ञान के योग्य होना) ही अनुपलब्धि की योग्यता है। जैसे—स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर 'यहां यदि घट होता तो वह दिखाई देता' कह सकते हैं, अतः ऐसे स्पष्ट प्रकाश से युक्त भूतल पर घटाभाव का जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। किन्तु अन्धकार में 'घट होता तो दिखाई देता' ऐसे आपादन का संभव नहीं है। इसलिये वहां पर स्थित घटाभाव का ज्ञान, अनुपलब्धि से नहीं होता। इसी कारण पिशाच का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर भी 'स्तंभ में यदि वह होता तो उसका स्तंभ के समान ही प्रत्यक्ष हुआ होता' परन्तु वह होता नहीं, इसलिये स्तंभ में भी पिशाच का अभाव, अनुपलब्धिप्रमाणगम्य है। किन्तु 'आत्मा में धर्माधर्मादि-यदि होते तो दिखाई देते' ऐसा ज्ञानापादन (उसमें धर्माधर्मादि होने पर भी) नहीं हो सकता, इसलिये उन जैसे परोक्ष पदार्थों का अभाव, अनुपलब्धिप्रमाण-वेद्य नहीं है।

विवरण—'योग्यानुपलब्धि' में षष्ठी या सप्तमी तत्पुरुष समास मानने पर अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोष आते हैं-यह तुम्हारा आक्षेप है, परन्तु वह ठीक नहीं। क्योंकि हम उसमें षष्ठी, या सप्तमी समास नहीं मानते। हमने तो उसमें कर्मधारय समास (योग्य ऐसी जो अनुपलब्धि) माना है। इस कारण हमारे मत में उक्त दोष नहीं होपाता। क्योंकि उसका उपयोग, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव दोनों अभावों के प्रत्यक्षज्ञान में होता है।

अनुपलब्धि का अर्थ है ज्ञानाभाव। उस अभाव में योग्यता कैसी? जिसके न होनेसे 'योग्य जो अनुपलब्धि' यह अर्थ भी कैसे संभव हो सकेगा? ऐसा यदि कोई पूछे तो उत्तर देते हैं-(अभाव के—प्रतियोगी की तर्कितत्व से) तर्क से अनुपलब्धि के प्रतियोगी की उपलब्धि की प्राप्ति कर सकना ही अनुपलब्धि की योग्यता है। अनुपलंभ के सर्वत्र समान होने पर भी जिस अनुपलब्धि के प्रतियोगी की (उपलब्धि की) 'हुआ होता' तर्क से कल्पित सत्ता से 'तो दीखता' यह आपादन किया जा सकता। यही योग्यानुपलब्धि है। उस अनुपलब्धि से अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

तात्पर्य यह है कि-जिस अनुपलब्धि के विषय में 'अमुक पदार्थ यहां होता तो दिखाई देता, वह दीखता नहीं, अतः नहीं हैं ऐसा कहा जा सकता है। वही योग्यानुपलब्धि और वही अभाव प्रमामें छठा प्रमाण है।

जैसे—स्पष्ट प्रकाशवाले भूतलपर 'यहां घट होता तो दीखता, जब कि वह नहीं दीखता तो वह नहीं है' यह कह सकते हैं। इसलिये ऐसे भूतलपर जो घटाभाव का ज्ञान होता है वह अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है–यह मानना चाहिये।

इस उदाहरण में घटाभाव ग्राह्य है। घट उसका प्रतियोगी है। और उसके प्रतियोगीके 'घट होता' इत्याकारक तर्क से कल्पना किये हुए अस्तित्व से 'तो दीखता, किन्तु दीखता नहीं—अतः नहीं है' इसप्रकार की घटानुपलब्धि की प्रतियोगिनी जो घटोपलब्धि, उसका आपादन किया जा सकता है। इसलिये योग्य घट की अनुपलब्धि, छठे प्रमाण से ज्ञात होती है।

अंधकार में स्थित घटका भी ज्ञान नहीं होता। तथापि वह इस अनुपलब्धि प्रमाण से होता है–ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यहां 'घट होता' इस तर्कित प्रतियोगी के सत्त्व से 'तो दीखता' इसप्रकार अनुपलब्धिके प्रतियोगी का (घटोपलब्धिका) आपादन (घट होता तो दिखाई देता) ऐसा नहीं कह सकते। अंधकार में अनुपलब्धि के होने पर भी वह योग्य नहीं होती। इसीलिये उसके बलपर 'इस भूतलपर घटाभाव है' ऐसा भी निश्चित ज्ञान नहीं होता। कदाचित् 'यहां घटाभाव है' ऐसा निश्चित ज्ञान होने से घटाभाव का ज्ञान होनेपर भी उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। अतः उसमें अनुपलब्धि को कारण नहीं कह सकते। वह ज्ञान अनुमित्यादिरूप हो सकता है और उसमें अनुमानादि को कारण भी कह सकते हैं।

हमारे माने हुए योग्यानुपलब्धि के स्वरूप में आप के दिये हुए वैकल्पिक दोष भी नहीं हो सकते। तथाहि—'यह स्तंभ है, पिशाच नहीं' इसप्रकार से स्तंभमें पिशाच के भेद (अन्योन्याभाव) का प्रत्यक्षज्ञान होता है। यदि यहां पिशाच होता तो स्तंभ के समान दिखाई देता—ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस कारण लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'आत्मा में धर्मादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष होगा और उस कारण लक्षण की अतिव्याप्ति होगी' यह दूसरा आक्षेप भी कर्मधारय पक्ष में नहीं हो सकेगा। क्योंकि आत्मामें धर्माधर्मादि रहते हैं, ऐसा मान भी लें तथापि उनके अतीन्द्रिय (परोक्ष) होने के कारण 'यहां धर्माधर्म होते तो दीखते' यह नहीं कह सकते, क्योंकि उनमें इन्द्रियप्रत्यक्ष होने की योग्यता ही नहीं होती और योग्यानुपलब्धि के अभाव के कारण उनके अभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं होता। इसी कारण अतिव्याप्ति दोष नहीं हो पाता। 'होता तो दीखता' ऐसा जिसके विषयमें कह सकते हैं उस अनुपलब्धि को ही हम योग्यानुपलब्धि कहते हैं और वही अभावप्रत्यक्षमें कारण है। केवल

अनुपलब्धि, अभाव के प्रत्यक्ष में कारण नहीं है। क्योंकि उसमें योग्यता नहीं होती। इस कारण ऐसे प्रत्यक्षायोग्य पदार्थ के अभाव का ज्ञान, अनुमानादि से होता है। तस्मात् पनुपलब्धि का पूर्वोक्त लक्षण सर्वथा उचित है। इस रीति से पदार्थों के ज्ञानाभाव से योग्य पदार्थों के अभाव का प्रत्यक्ष होता है।

जिस इन्द्रिय से पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है—अतः अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार से नैयायिकों की शंका और उसका समाधान—

ननूक्तरीत्याऽधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वमनुमतं तत्र क्लृप्तेन्द्रियमेवाभावाकारवृत्तावपि करणम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानादिति चेत्। न, तत्प्रतियोग्यनुपलब्धेरपि अभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य कल्पनात्। इन्द्रियस्य चाभावेन समं सन्निकर्षाभावेनाभावग्रहाहेतुत्वात्। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धेः।

अर्थ—"पूर्वोक्त प्रकार से जहां अधिकरण और इन्द्रिय का संनिकर्ष होता है वहां अभाव, अनुपलब्धिगम्य होता है" यह तुम्हें संमत है। "किन्तु वहां क्लृप्त (निश्चित) इन्द्रिय ही अभावाकारवृत्ति के विषय में भी करण होता है, क्योंकि वहां इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान रहता है। 'इन्द्रिय होगा तो अभाव प्रत्यक्षज्ञान होता है और वह न हो तो नहीं होता' इन्द्रिय के इस अन्वयव्यतिरेक का अनुरोध अनुभूत होता है। ऐसा यदि कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि अभावप्रत्यक्ष के प्रतियोगी की उपलब्धि तो कल्पित है, अब तो केवल करणत्व की ही कल्पना करनी पड़ती है। 'तो फिर इन्द्रिय की ही कल्पना क्यों न की जाय?' कहें तो इन्द्रिय का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। इस कारण से अभावज्ञान में इन्द्रिय को हेतुत्व भी नहीं है। 'तब इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक की क्या गति है?' यदि पूछो तो अधिकरण ज्ञान से अन्वय व्यतिरेक उपक्षीण होते हैं (अन्वयव्यतिरेकादि अधिकरण का ज्ञान कराकर चरितार्थ हो जाते हैं) इसलिये वे अभाव-प्रत्यक्ष के विषय में अन्यथासिद्ध हैं।

विवरण—हमें जिस इन्द्रिय से पदार्थ का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उस पदार्थ के अभाव का भी ज्ञान होता है। नील घट में पीत रूप के

अभाव का जो ज्ञान होता है वह चक्षुरिन्द्रिय से ही होता है क्योंकि नील घट में पीतरूप है या नहीं, यह जानने के लिये नेत्र से ही देखना पड़ता है। चक्षुर्भिन्न किसी इद्रिय से रूप का या रूपाभाव का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। अतः इन्द्रिय का अधिकरण के साथ संनिकर्ष होने पर उस इन्द्रिय से ही तन्निष्ठ अभाव का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि 'यह भूतल घटाभाववत् है' इस प्रकार हमें जब भूतल का ज्ञान होता है, तब हमें भूतल के विशेषण रूप में घटाभाव भासित होता है। वहां पर भूतल के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग-सबन्ध होता है और भूतल के विशेषणरूप घटाभाव के साथ चक्षु का विशेषणता संबन्ध रहता है अर्थात् चक्षु का घटाभाव के साथ संयुक्त विशेषणता संबंध होता है तब प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार रूपाभाव का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेत-विशेषणता संबंध से, रूपत्वाभाव का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेत-समवेत-विशेषणता संबंध से, ककारादिशब्दों में खकारादिकों का अभाव का प्रत्यक्ष समवेत विशेषणता संबंध से, कत्व में खत्व के अभाव का प्रत्यक्ष-समवेतसमवेत विशेषणता सम्बन्ध से होता है। उसी प्रकार अनुपलब्धि के होने पर इन्द्रिय का अधिकरण के साथ संनिकर्ष यदि हो तो तन्निष्ठ अभाव का प्रत्यक्ष होता है—यह अन्वय है, और इन्द्रिय का अधिकरण के साथ संनिकर्ष न हो तो अनुपलब्धि के होने पर भी रूपादि के अभाव का चक्षू रहित घ्राणादिकों से प्रत्यक्ष न होना—यह व्यतिरेक है। इस अन्वयव्यतिरेक से भी अभाव प्रमा में करण इन्द्रिय ही सिद्ध होता है। तस्मात् जहां पर 'यदि घट होता तो दीखता' यह ज्ञान अनुपलब्धि-प्रमाण से होता है—ऐसा आप कहते हैं, वहाँ अधिकरण ज्ञान के साथ इन्द्रिय को ही क्लृप्तकरण मानना उचित है। क्योंकि 'घट होता तो दीखता' यह आपादन भी इन्द्रिय का अधिकरण के साथ संनिकर्ष हुए बिना हो नहीं सकता, अतः तुम अनुपलब्धिवादियों को भी इन्द्रियसंनिकर्ष का तो अवश्य स्वीकार करना ही पड़ता है। और इस कल्पना में लाघव भी है क्योंकि इन्द्रिय में विषयाकारवृत्तिजनकत्व कल्पित है और अनुपलब्धि कल्प्य है। इस कारण से उसमें अभावप्रत्यक्ष का करणत्व भी कल्प्य है। इसलिये जैसे अधिकरणाकार वृत्ति, चक्षुरादि इन्द्रियों से ही उत्पन्न होती है, वैसे ही अभावाकार वृत्ति को भी इन्द्रिय-जन्य ही मानना युक्त है। अतः अभाव प्रमा के लिये अनुपलब्धि प्रमाण का अभ्युपगम करने की कोई आवश्यकता नहीं—ऐसा नैयायिक कहते हैं।

'न' इत्यादि ग्रंथ से उपर्युक्त मत का निरसन करते हैं। भाव यह है कि—तुम नैयायिकों ने 'इन्द्रियों में अभाव प्रमापकत्व क्लृप्त है अनुपलब्धि में अभाव ग्राहकत्व कल्प्य है' जो कहा वह ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों के समान प्रतियोगी की अनुपलब्धि में अभावप्रत्यक्षहेतुत्व भी क्लृप्त ही है,

क्योंकि अधिकरण के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष के होने पर भी यदि वहां प्रतियोगी का ज्ञान (उपलब्धि) हो तो उसके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस कारण अनुपलब्धि यदि हो तो अभाव का प्रत्यक्ष होता है—यह अन्वय, और इन्द्रियसंनिकर्ष होते हुए भी अनुपलब्धि यदि न हो तो अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता—यह व्यतिरेक। यह अन्वयव्यतिरेक अनुपलब्धि में प्रमाण होने से इन्द्रियों के समान अनुपलब्धि में भी कारणत्व क्लृप्त है, कल्प्य नहीं। इस कारण कल्पना गौरवदोष हमारे पक्ष में नहीं आता, क्योंकि उस अनुपलब्धि में ही करणत्व होता है।

इन्द्रियाँ और अनुपलब्धि दोनों क्लृप्त होने पर भी उनमें से अनुपलब्धि में ही कारणत्व मानने में विनिगमक (एक पक्ष का ही आश्रय करने में युक्ति) क्या है? इसके विपरीत अभावप्रमा में इन्द्रियसंनिकर्ष ही कारण है—यह मानकर इन्द्रियों में ही कारणत्व क्यों न माना जाय? इस पक्ष में पृथक् छठे प्रमाण की कल्पना नहीं करनी पड़ती—यह लाघव ही विनिगमक होने से इन्द्रियों में ही करणत्व माना जाय—यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों में अभावप्रमा का कारणत्व ही असिद्ध होने से (कारणत्व का ही एक विशेष) करणत्व का भी असंभव है। जिसमें कारणत्व होगा उसी में करणत्व का संभव हो सकता है। परन्तु अभावप्रमा में इन्द्रियों की कारणता ही असिद्ध है। तथाहि—आप अभाव के साथ इन्द्रियों का 'संयुक्तविशेषणता' संनिकर्ष बताते हैं, किन्तु वास्तव में इन्द्रियों का अधिकरण से ही संबंध रहता है, अभाव से नहीं। आपने बताया हुआ 'इन्द्रिय-संबद्ध-विशेषणता' संबंध बन नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर परमाणुओं के साथ चक्षु का संयोगसंनिकर्ष होने से उस इन्द्रियसंबद्ध पृथ्वी परमाणुओं में जलत्वाभाव का भी प्रत्यक्ष होना आपके मत में मानना होगा। इस कारण अभावप्रमा का जनक विशेषणतासंबंध (संनिकर्ष) है, नहीं कहा जा सकता। अतः अभाव के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष नहीं बन सकता और अभावानुभव की इन्द्रियों में कारणता नहीं मानी जा सकती। तस्मात् अभावप्रमा में अनुपलब्धि ही प्रमाण है।

शंका—यदि इन्द्रियों से अभाव का अनुभव नहीं होता तो अधिकरण के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष होने पर ही भूतलनिष्ठ अभाव का प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं होता—इस अन्वयव्यतिरेक की क्या व्यवस्था होगी? आप ही का तो कहना है कि कार्यकारणभाव में निश्चायक अन्वयव्यतिरेक ही होते हैं। तब इस अन्वयव्यतिरेक से इन्द्रियां अभावप्रमा में जनक हैं क्यों नहीं कहते?।

समाधान—केवल अन्वयव्यतिरेक से ही कार्य-कारण-भाव का निश्चय

नहीं किया जाता। क्योंकि दण्डरूप होने पर घट होता है और उसके न होने पर नहीं होता—ऐसे अन्वयव्यतिरेक के भी संभव हो सकने से दण्ड के तुल्य दण्डरूप को भी (दण्ड का नील पीतादिरूप भी) घट के प्रति कारण मानना होगा। इसलिये आपको भी 'जो अनन्यथासिद्ध होता हुआ अन्वयव्यतिरेकशाली हो वही कारण होता है' यह कारण का स्वरूप मानना पड़ता है। (अन्वयव्यतिरेक के रहते हुए भी जो पदार्थ अन्यथासिद्ध हो अर्थात् कार्य-निष्पत्ति में यदि उस पदार्थ का वास्तविक उपयोग न हो तो उस पदार्थ को आप कार्य के प्रति कारण नहीं मानते हैं) इसी कारण घटरूप कार्य के प्रति दण्डरूप को कारणता सिद्ध नहीं होती। उसी प्रकार से हम कहते हैं कि अधिकरण के साथ इन्द्रियों का अन्वयव्यतिरेक होने पर भी अधिकरण के ज्ञान में ही इन्द्रियां असाधारण कारण (करण) होती हैं, इसलिये अभाव-प्रमा में वे इन्द्रियां अन्यथा सिद्ध हैं। क्योंकि हमारे उपर्युक्त कथनानुसार अभाव के साथ इन्द्रियों का विशेषणतादि कोई संबंध (संनिकर्ष) हो नहीं सकता। इस कारण इन्द्रियां अभाव के अधिकरणभूत भूतलादि का ज्ञान कराकर चरितार्थ हो जाती हैं। उनका अभावानुभव में कोई उपयोग नहीं। तस्मात् अभावप्रमा में इन्द्रियों को करणत्व न होने से ही वे अभाव-ग्राहक-प्रमाण नहीं है अपि तु प्रतियोगी की अनुपलब्धि को ही अभावप्रमापक छठा प्रमाण मानना उचित है।

इस प्रकार नैयायिकों के मत का निरसन करने पर नैयायिक, 'तुम्हारे मत के अनुसार अधिकरणज्ञान में इन्द्रिय को कारण मानने पर भी वही अभाव-ज्ञान में भी कारण हो सकता है' इस आशय से शंका उपस्थित करता है।

ननु भूतले घटा नेत्याद्यभावानुभवस्थले भूतलांशे प्रत्यक्षत्वमुभयसिद्धमिति तत्र वृत्तिनिर्गमनस्यावश्यकत्वेन भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत्तन्निष्ठघटाभावावच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्य प्रत्यक्षतैव सिद्धान्तेऽपि।

अर्थ—'भूतल पर घट नहीं है' इस अभावानुभव स्थल में भूतल का प्रत्यक्ष तो उभयवादिसिद्ध है। अतः वहां पर (भूतल पर) वृत्ति का निर्गमन तो अवश्य ही है। अतः भूतलावच्छिन्न चैतन्य के समान भूतलनिष्ठ अभावावच्छिन्न चैतन्य भी प्रमाता से अभिन्न होने के कारण सिद्धान्त में घटाभाव में भी प्रत्यक्षता है ही।

विवरण—वादी कहता है—'भूतले घटो नास्ति' इस अभाव के ज्ञान में आप का हमारा आप का विवाद रहने पर भी भूतल रूप अधिकरण के अंश में प्रत्यक्ष तो दोनों को सम्मत है ही। इस पर हमारा यह कहना है कि

तुम्हारे कथनानुसार विषय के प्रत्यक्ष से तात्पर्य यह है कि घटादि विषय का प्रमातृ चैतन्य के साथ अभेद रहना।

इस रीति से भूतल के प्रत्यक्ष में भूतलरूप विषय से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृ चैतन्य के साथ अभेद मानना आवश्यक है। इस प्रकार भूतलावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाता के साथ अभेद होता है। अर्थात् भूतलनिष्ठ जो घटाभाव, उससे अवच्छिन्न चैतन्य के साथ भी प्रमाता का अभेद होता है। इसलिये जैसे भूतल अंश में आप प्रत्यक्षात्मक ज्ञान मानते हैं वैसे ही घटाभाव ज्ञानांश में भी आपको प्रत्यक्षज्ञान ही मानना चाहिये। अर्थात् घटाभाव का ज्ञान भी प्रत्यक्षात्मक ही है—यह सिद्ध होता है। प्रत्यक्षज्ञान का करण तो प्रत्यक्ष ही होता है यह आपने पीछे प्रत्यक्ष परिच्छेद में बताया है। तब आप ही के मतानुसार घटाभावप्रत्यक्ष में कारण प्रत्यक्ष, (इन्द्रिय ही) क्या सिद्ध नहीं होता है? ऐसी स्थिति में अभावानुभव में कारण इन्द्रिय को न मानकर यह छठा अनुपलब्धि प्रमाण ही उसमें कारण कैसे कह रहे हैं?।

नैयायिकों के इस आक्षेप का उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं—

इति चेत्। सत्यम्। अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात्। न हि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणतानियतत्वमस्ति, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात्।

अर्थ—आप का कहना सत्य है। अभावप्रतीति प्रत्यक्ष होने पर भी उसमें करण अनुपलब्धिसंज्ञक पृथक् प्रमाण ही है (ऐसा हम कहते हैं) क्योंकि फलभूत (साध्यभूत) ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसका करण (साधन) प्रत्यक्ष ही हो-यह नियम नहीं। 'तू दसवां है' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न हुए ('मैं दसवां हूं') ज्ञान में प्रत्यक्षत्व होने पर भी उसका (ज्ञान का) कारण जो वाक्य है, वह प्रत्यक्षप्रमाण से भिन्न (शब्द रूप) प्रमाण है—ऐसा हमने माना है।

विवरण—'अनुपलब्धिजन्य अभावज्ञान प्रत्यक्षात्मक होना चाहिये' यह आप का कथन ठीक है। किन्तु अभावज्ञान के प्रत्यक्ष होने पर भी उसका करण 'प्रत्यक्षप्रमाण' नहीं हो सकता (इन्द्रिय नहीं हो सकता)। अपितु अनुपलब्धि ही अभाव की ज्ञापिका है। आप ने जो शंका की है वह 'साध्यप्रमाप्रत्यक्षात्मक होने पर उसका साधनभूत प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिए' इस नियम को मानकर की है। परन्तु फलभूत ज्ञानप्रमा 'यदि प्रत्यक्ष

हो तो प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिये–यह नियम नहीं हो सकता। क्योंकि कोई मूर्ख मनुष्य अपने को छोड़कर शेष नौ को गिने और अपना दसवाँ मित्र नष्ट हुआ—ऐसी कल्पना कर रोने लगे। ऐसी स्थिति में कहीं से दूसरा आदमी आकर कहे कि 'अरे, तेरा दसवाँ मित्र मरा नहीं किन्तु 'तू ही दसवाँ है' अपने को गृहीत कर (अपने समेत) गिनकर देखो तब तुम्हें विश्वास होगा। यहां पर उस आदमी को 'तू दसवाँ है' इस वाक्य से ही 'मैं दसवाँ हूँ' इस प्रकार दसवे का प्रत्यक्ष होता है। इक प्रमा के प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाणप्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नहीं किन्तु 'तू दसवाँ है' इस प्रकार उस आदमी का वाक्य (शब्द) ही है, अर्थात् यह प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षप्रमाण जन्य नहीं किन्तु शब्दजन्य है। इस कारण 'प्रमा के प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष होना चाहिये' इस नियम का भंग हो जाता है। इसीलिये हम कहते हैं कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण (साधन) प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नहीं। अपितु उक्त प्रकार से अनुपलब्धि ही अभावप्रत्यक्ष में करण है। अतः अभाव को प्रत्यक्ष मानकर भी हमारे मत में दोष नहीं है।

'प्रमा यदि प्रत्यक्षात्मक ही है तो उसके लिये दो प्रमाण क्यों मानते हो' वादी की इस आशय की शंका का अनुवाद कर उसका निरनास करते हैं—

फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणभेद इति चेत्। न। वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः। तथा च घटाद्यभावाकारवृत्तिर्नेन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेणासन्निकर्षात्। किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्या, इति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम्।

अर्थ—'फलों में वैजात्य (भिन्नता) के बिना रहे, उनके प्रमाणों में कैसे भेद होगा ! यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि वृत्ति में भिन्नता होने से ही प्रमाणों में भेद उपपन्न होता है। इसलिये घटाभावाकारवृत्ति, इन्द्रियजन्य नहीं है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय का घटाभावादि विषयों के साथ संनिकर्ष नहीं होता, अपितु घट की अनुपलब्धि (ज्ञान का अभाव) प्रमाण से ही वह (अभावाकारवृत्ति-) जन्य है। इसलिये अभावाकारवृत्ति का जनक अनुपलब्धिसंज्ञक पृथक् प्रमाण है।

विवरण—यदि अभावज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही है तो एक ही प्रत्यक्षप्रमा के लिये प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि दो प्रमाणों को क्यों मानना चाहिये। प्रत्यक्ष प्रमा की अपेक्षा अनुमित्यात्मक प्रमा भिन्न होने से उन प्रमाओं के साधक प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानने पडते हैं। अर्थात् प्रमाओं में भेद होने पर प्रमाणों में भी भेद होता है। घट प्रत्यक्ष और उसके अभाव के प्रत्यक्ष

में प्रत्यक्षरूपता समान होनेपर भी उनके ग्राहक प्रमाणों को भिन्न मानना योग्य नहीं। अतः 'प्रत्यक्ष प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्' यह नियम भी नहीं किया जा सकता। इसलिये अभाव प्रमामें प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना योग्य है तथा इस पक्षमें लाघव भी है।

इस पर ग्रंथकार उत्तर देते हैं—'प्रमाओं में भेद होने पर ही प्रमाणों में भेद होता है' यह नियम नहीं। अर्थात् प्रमाओं का भेद, प्रमाणों के भेद में प्रयोजक (कारण) नहीं होता। किन्तु वृत्तियों में भी भेद होने पर प्रमाणों में भेद हो सकता है। इसीलिये 'दशमस्त्वमसि' इस शब्द से प्रमा प्रत्यक्षात्मक ही होती है, तथापि उसका प्रमाण प्रत्यक्ष न होकर शब्द है, इस रीति से प्रमा में भेद न होने पर भी प्रमाणों में भेद हो जाता है—यह अनुभव होने से वृत्ति की भिन्नता ही प्रमाण के भेद में प्रयोजक (कारण) माननी चाहिये। इसलिये प्रत्यक्षता में भेद न होनेपर भी अभावाकारवृत्ति जनक प्रमाण अनुपलब्धि है और इतरविषयाकार वृत्तियों में इन्द्रिय ही प्रमाण है। यह हमारा मत है।

'अभावाकार वृत्ति और इतर विषयाकार वृत्ति में वैजात्य (भिन्नता) किस प्रकार है ? यह प्रश्न हो तो उत्तर इस प्रकार है—इतरविषयाकार-वृत्तियां इद्रिय जन्य होती हैं, वैसी अभावाकार वृत्ति नहीं होती—यही भिन्नता है। इन्द्रियों का अभाव के साथ संनिकर्ष नहीं होता। क्योंकि-इन्द्रियां अधिकरणों के साथ संबद्ध होकर भूतलादि अधिकरणाकार वृत्ति को उत्पन्न कर चरितार्थ हो जाती हैं। आपने स्वीकृत किया हुआ विशेषणतादि संनिकर्ष का तो संभव ही नहीं रहता, यह पीछे बता चुके हैं। अतः इन्द्रियों से अभावाकारवृत्ति के उत्पन्न न होने के कारण अभावाकार वृत्ति का जनक अनुपलब्धि प्रमाण पृथक् ही मानना पड़ता है।

घट होता तो दीखता, जब कि वह नहीं दीखता, अतः वह यहां नहीं है' इस रीति से घट की अनुपलब्धि से ही घटाभाव का ज्ञान होता है, अर्थात् अनुपलब्धि से ही अभावाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। तस्मात् फलभूत ज्ञान में भेद न होनेपर भी वृत्तियों में भेद होने से अभावाकार वृत्ति का जनक अनुपलब्धि प्रमाण पृथक् रूपसे स्वीकार करना ही चाहिये। इसपर वादी की शंका—

नन्वनुपलब्धिरूपमानान्तरपक्षेऽप्यभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे घट-वति घटाभावभ्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तौ तत्राप्यनिर्वचनीयघटा-भावोऽभ्युपगम्येत। न चेष्टापत्तिः, तस्य मायोपादानकत्वेऽभा-

त्वानुपपत्तेः, मायोपादानकत्वाभावे मायायाः सकलकार्योपादानत्वानुपपत्तिः ।

अर्थ—अनुपलब्धि को पृथक् रूप से प्रमाण माननेवाले के पक्ष में भी अभाव प्रतीति का प्रत्यक्ष होने से घटवद् भूतल पर जो घटाभाव (यहां घट नहीं है) का भ्रम होता है, उसमें भी प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है। तब आपको ऐसे अभाव भ्रम के स्थल में भी अनिर्वचनीय घटाभाव वहां उत्पन्न होता है, यह मानना पड़ेगा। उसे आप इष्ट (अभिमत) नहीं कह सकते। क्योंकि वह घटाभाव मायोपादनक है, अर्थात् 'उसका उपादान कारण माया है' ऐसा मानें तो उस अभाव में अभावत्व उपपन्न नहीं होगा। यदि ऐसा कहें कि वह मायोपादानक नहीं है तो 'माया समस्त कार्य का उपादान (कारण) है, इस तुम्हारे सिद्धान्त की अनुपपत्ति होती है।

विवरण—वादी कहता है—आपके कहने के अनुसार अनुपलब्धि को अभाव प्रमा का पृथक् प्रमाण हम मान लेते हैं, किन्तु इस पक्ष में भी अनेक दोष आते हैं। जैसे—जब कि आपके मत में भी घटाभावज्ञान, प्रत्यक्षात्मक ही है, तब मान लीजिये किसी व्यक्तिको भूतल पर घट के रहते हुए भी वह नहीं दिखाई दिया तो 'इस भूतलपर घट नहीं है' यह भ्रमात्मक जो घटाभाव ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्षात्मक ही कहना होगा, क्योंकि वह घटाभावज्ञान, अनुपलब्धिजन्य ही है। प्रत्यक्ष परिच्छेद में आपने यह सिद्ध किया है कि भ्रम का विषय भूत पदार्थ उस समय में अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है। वैसे ही इस भ्रम के विषयभूत घटाभाव को भी अनिर्वचनीय पैदा हुआ ही कहना होगा।

इस पर यदि कदाचित् आप कहें कि हम भी घटाभाव-भ्रम-स्थल में घटाभाव का अनिर्वचनीय उत्पन्न होना ही मानते हैं। अतः आपकी शंका हमारे लिये तो इष्टापत्ति है। परन्तु आप वैसा कह नहीं सकते हैं ; क्योंकि हम आप से (सिद्धान्ती से) ऐसा प्रश्न करते हैं कि उस अनिर्वचनीय घटाभाव का कारण (उपादान कारण) माया है या नहीं ? माया को आप घटाभाव में कारण नहीं कह सकते, क्योंकि माया तो भावरूप पदार्थ होने के कारण उससे 'घटाभाव' इस अभाव रूप कार्य की उत्पत्ति होना संभव नहीं। भावरूप पदार्थ को अभाव में कारण मानने पर असत्कार्यवाद प्राप्त होता है। इस दोष को दूर करने के लिये यदि माया को घटाभाव में कारण न मानें तो 'माया समस्त कार्य के प्रति उपादान है' इस सिद्धान्त का बाध होता है। ऐसी स्थिति में इस अनुपपत्ति का परिहार आप कैसे कर सकते हैं ? इस शंका का समाधान ग्रन्थकार कर रहे हैं—

इति चेत् । न । घटवति घटाभावभ्रमो न तत्कालोत्पन्न-घटाभावविषयकः, किन्तु भूतलरूपादौ विद्यमानो लौकिको घटा-भावो भूतले आरोप्यत इत्यन्यथाख्यातिरेव । आरोप्यसन्निक-र्षस्थले सर्वत्रान्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात् ।

अर्थ—ऐसा कहें तो वह उचित नहीं होगा क्योंकि 'घटवद् भूतल पर घटाभाव का जो भ्रम होता है, उसका, उस समय में उत्पन्न हुआ (अनिर्व-चनीय) घटाभाव विषय नहीं होता, किन्तु भूतल के रूप आदि में स्थित लौकिक (व्यावहारिक) घटाभाव, भूतल पर आरोपित किया जाता है, अतः वह अन्यथाख्याति ही है । क्योंकि जहां पर आरोप्य पदार्थ के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष होता है वहां पर अन्यथाख्याति को मान कर ही हम व्यवस्था करते हैं ।

विवरण—यदि हम अनिर्वचनीय घटाभाव का स्वीकार करते तो आपके दिये दोषों का हमारे पक्ष में संभव होता । परन्तु भूतल पर घट के रहते हुए भी 'यह भूतल घटाभाववत् है' इस भ्रम में अनिर्वचनीय एवं उस समय पैदा हुए घटाभाव को (अर्थात् प्रातिभासिक सत्तावाला) हम विषय नहीं मानते ।

आपने जो पीछे बताया है कि भ्रमस्थल में भ्रम का विषय प्रातिभासिक एवं तत्कालोत्पन्न घटाभाव ही रहता है' इसका तात्पर्य क्या होगा ? उत्तर देते हैं कि पहले प्रत्यक्षपरिच्छेद में ही हमने 'जहाँ जपापुष्प इन्द्रिय संनिकृष्ट होगा वहां स्फटिक में भासमान रक्तत्व प्रातिभासिक उत्पन्न नहीं होता, अपितु पुष्पगत लौहित्या ही स्फटिक में भासता है, यह मानकर ऐसे स्थल में अन्य-थाख्याति मानकर ही व्यवस्था लगानी चाहिये' बताया है । उसी प्रकार प्रकृत में भी भ्रम में भासमान जो घटाभाव, वह प्रातिभासिकसत्ताक उत्पन्न नहीं होता अपितु भूतल के रूप में जो घटाभाव है और जिसकी अनुपलब्धि-प्रमाण से 'इस भूतल के रूप में घट नहीं है' इत्याकारक प्रतीति होती है, उसी घटाभाव का भूतल में आरोप किया जाता है । अतः यह घटाभाव भ्रम अन्यथाख्याति ही है । क्योंकि यहां पर भी आरोप्य (भ्रम का विषय) जो घटाभाव, वह संनिकृष्ट ही है, और जहां आरोप्य पदार्थ हमें प्रत्यक्षतः ज्ञात होता है वहां अन्यथाख्याति मानने का ही हमारा सिद्धान्त है । अतः कोई दोष नहीं है । भूतलरूप धर्मी का भूतलत्व धर्म से ज्ञान न होकर उसका भूतल के रूप में वर्तमान घटाभाव रूप धर्म से 'यह भूतल घटाभाववत् है' इत्याकारक ज्ञान होना—यही अन्यथाख्याति है । इसलिये सिद्धान्त में उक्त दोष नहीं आ पाते । क्योंकि अन्यथाख्यातिपक्ष में घटाभाव प्रातिभासिक नहीं होता,

अपितु लौकिक (पारमार्थिक, व्यावहारिक) होता है । क्योंकि जहां आरोप्य-पदार्थ इन्द्रिय से असंनिकृष्ट होता है, वहीं पर प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति का हम स्वीकार करते हैं ।

शंका—अन्यथाख्याति में 'भ्रमविषयभूत पदार्थ इन्द्रिय-संनिकृष्ट होना चाहिये' आपने बताया है । परन्तु यहां घटाभाव रूप आरोप्य पदार्थ, इन्द्रिय के साथ संनिकृष्ट कहां है ? क्योंकि 'अभाव के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष नहीं होता' यह आपने अभी-अभी बताया है । इसी कारण तो अभावाकार वृत्ति की जनक अनुपलब्धि को प्रमाणत्वेन स्वीकार करना पड़ा है । तब यहां इन्द्रियसंनिकर्ष के न होने पर भी घटाभावभ्रम को आप अन्यथाख्याति कैसे कहते हैं ? अत प्रकृत में आप अन्यथाख्याति के द्वारा व्यवस्था नहीं लगा सकते । पूर्व समाधान की इस अरुचि से ही अब घटाभावभ्रमस्थल में घटाभाव की अनिर्वचनीय उत्पत्ति को मानकर ही परम समाधान बताते हैं ।

अस्तु वा प्रतियोगिमति तदभावभ्रमस्थले तदभावस्यानिर्वचनीयत्वम्, तथाऽपि तदुपादानं मायैव । न ह्युपादानोपादेययोरत्यन्तसाजात्यम्, तन्तुपटयोरपि तन्तुत्वपटत्वादिना वैजात्यात् । यत्किञ्चित्साजात्यस्य मायाया अनिर्वचनीयत्वस्य घटाभावस्य च मिथ्यात्वधर्मस्य विद्यमानत्वात् । अन्यथा व्यावहारिकघटाद्यभावं प्रति कथं मायोपादानमिति कुतो नाशङ्केथाः ? ।

अर्थ—अथवा प्रतियोगिमद् भूतल पर उसके (प्रतियोगी के) अभाव का जो भ्रम होता है, वहां पर उस अभाव को भले ही अनिर्वचनीयत्व रहे (वह अभाव अनिर्वचनीय भले ही हो) तथापि उसका उपादान कारण माया ही है । क्योंकि उपादानकारण और उपादेय (कार्य) का अत्यन्त साजात्य (सादृश्य) रहना चाहिये—यह कोई नियम नहीं है । क्योंकि तन्तु और पट ये कारण कार्यरूप पदार्थ भी तन्तुत्व और पटत्व धर्म से विजातीय ही हैं । यत्किंचित् (कुछ अंश में) (कार्य कारण का) सादृश्य यदि कहो तो मिथ्यात्व धर्म का सादृश्य, माया और अनिर्वचनीयघटाभाव में भी है । यह न माने तो माया को व्यावहारिक (लौकिक) घटाभाव का उपादानत्व कैसे ? यह शंका तुमने क्यों नहीं की ?

विवरण—सिद्धान्ती कहता है—'भ्रमस्थल में घटाभाव इन्द्रियसंनिकृष्ट न होने से अन्यथाख्याति नहीं मानी जा सकेगी' यह तुम्हारा कहना हो तो

हम भी यहां प्रतियोगिमत् (घटादिमत्) भूतल पर जो घटाभाव भासता है, उसे अन्यथाख्याति नहीं मानते, किन्तु शुक्तिरजत के तुल्य अनिर्वचनीय घटाभाव ही उस समय उत्पन्न होता है—कहते हैं और आप ने जो विकल्प किया था कि इस घटाभाव का उपादान माया है या नहीं ? उसमें हम प्रथम पक्ष का ही स्वीकार करते हैं अर्थात् उसका (अनिर्वचनीय घटाभाव का) उपादान माया ही है। अन्यथाख्याति के न मानने पर भी हमारे मत में दोष नहीं आता।

'माया को उपादान कारण मानने पर 'माया' संज्ञक भावरूप पदार्थ से 'अनिर्वचनीय घटाभाव' यह अभावरूप कार्य नहीं हो सकता। यह अनुपपत्तिरूप दोष इस पक्ष में आता है।' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि कारण, अपने सजातीय (अपने जैसा ही) कार्य को ही पैदा करता है, इसलिये कार्यकारण के सादृश्य की अपेक्षा रखनेवाले आपसे हम (सिद्धान्ती) प्रश्न करते हैं कि कार्य-कारण का अत्यंत साजात्य (एकजातित्व) होना चाहिये, या यत्किंचित् साजात्य होना चाहिये ? प्रथम पक्ष (अत्यन्त साजात्य) का तो संभव ही नहीं हो सकता। तन्तु और पट ये कारण और कार्यरूप पदार्थ, द्रव्यत्व या पृथ्वीत्व धर्म से तो सजातीय हो सकते हैं। परन्तु तन्तु में तन्तुत्व जाति रहती है, वह पट में नहीं, और पट में पटत्व जाति (धर्म) रहती है, वह तन्तु में नहीं। अतः कार्यकारण के साजात्य के प्रसिद्ध उदाहरण तन्तुपट में भिन्न धर्म के कारण विजातीयता प्राप्त होती है, इस कारण तन्तु और पट भी विजातीय होने से उनमें भी कार्यकारणभाव नहीं हो सकेगा। दूसरी बात यह भी है कि कार्यकारण अत्यंत सजातीय यदि हों तो उनका कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जायगा। तस्मात् अत्यंत साजात्य पक्ष सर्वथा अनुपपन्न है।

अब द्वितीय पक्ष (यत्किंचित्साजात्य कुछ अंशों में सादृश्य) को यदि आप स्वीकृत करें तो वह हमें भी इष्ट है।

तन्तु और पट में जैसे शुभ्रत्वादि सादृश्य होता है वैसे भावरूप 'माया' कारण का 'घटाभाव' इस अभावरूप कार्य से किसी प्रकार का सादृश्य नहीं बनता, तब प्रकृत में आप इनमें कार्यकारणभाव कैसे मानते हैं ? इस प्रश्न पर उत्तर यह है कि अनिर्वचनीय घटाभावरूप कार्य का और मायारूप कारण का 'मिथ्यात्व' यह समान (सजातीय) धर्म है। इसलिये 'मिथ्यात्व' धर्म से ही माया और घटाभाव में साजात्य है। अतः वे भावत्व और अभावत्व धर्म से विजातीय होने पर भी मिथ्यात्व धर्म से तो सजातीय हैं ही। इसलिये उनमें कार्यकारणभाव बन जाता है। अतः अनिर्वचनीय घटाभाव को मानकर उसका कारण 'माया' ही है।

अपितु लौकिक (पारमार्थिक, व्यावहारिक) होता है। क्योंकि जहां आरोप्य-पदार्थ इन्द्रिय से असंनिकृष्ट होता है, वहीं पर प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति का हम स्वीकार करते हैं।

शंका—अन्यथाख्याति में 'भ्रमविषयभूत पदार्थ इन्द्रिय-संनिकृष्ट होना चाहिये' आपने बताया है। परन्तु यहां घटाभाव रूप आरोप्य पदार्थ, इन्द्रिय के साथ संनिकृष्ट कहां है ? क्योंकि 'अभाव के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष नहीं होता' यह आपने अभी-अभी बताया है। इसी कारण तो अभावाकार वृत्ति की जनक अनुपलब्धि को प्रमाणत्वेन स्वीकार करना पड़ा है। तब यहां इन्द्रियसंनिकर्ष के न होने पर भी घटाभावभ्रम को आप अन्यथाख्याति कैसे कहते हैं ? अत प्रकृत में आप अन्यथाख्याति के द्वारा व्यवस्था नहीं लगा सकते। पूर्व समाधान की इस अरुचि से ही अब घटाभावभ्रमस्थल में घटाभाव की अनिर्वचनीय उत्पत्ति को मानकर ही परम समाधान बताते हैं।

अस्तु वा प्रतियोगिमति तदभावभ्रमस्थले तदभावस्यानिर्वचनीयत्वम्, तथाऽपि तदुपादानं मायैव। न ह्युपादानोपादेययोरत्यन्तसाजात्यम्, तन्तुपटयोरपि तन्तुत्वपटत्वादिना वैजात्यात्। यत्किञ्चित्साजात्यस्य मायाया अनिर्वचनीयत्वस्य घटाभावस्य च मिथ्यात्वधर्मस्य विद्यमानत्वात्। अन्यथा व्यावहारिकघटाद्यभावं प्रति कथं मायोपादानमिति कुतो नाशङ्केथाः ?।

अर्थ—अथवा प्रतियोगिमद् भूतल पर उसके (प्रतियोगी के) अभाव का जो भ्रम होता है, वहां पर उस अभाव को भले ही अनिर्वचनीयत्व रहे (वह अभाव अनिर्वचनीय भले ही हो) तथापि उसका उपादान कारण माया ही है। क्योंकि उपादानकारण और उपादेय (कार्य) का अत्यन्त साजात्य (सादृश्य) रहना चाहिये—यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि तन्तु और पट ये कारण कार्यरूप पदार्थ भी तन्तुत्व और पटत्व धर्म से विजातीय ही हैं। यत्किंचित् (कुछ अंश में) (कार्य कारण का) सादृश्य यदि कहो तो मिथ्यात्व धर्म का सादृश्य, माया और अनिर्वचनीयघटाभाव में भी है। यह न माने तो माया को व्यावहारिक (लौकिक) घटाभाव का उपादानत्व कैसे ? यह शंका तुमने क्यों नहीं की ?

विवरण—सिद्धान्ती कहता है—'भ्रमस्थल में घटाभाव इन्द्रियसंनिकृष्ट न होने से अन्यथाख्याति नहीं मानी जा सकेगी' यह तुम्हारा कहना हो तो

हम भी यहां प्रतियोगिमत् (घटादिमत्) भूतल पर जो घटाभाव भासता है, उसे अन्यथाख्याति नहीं मानते, किन्तु शुक्तिरजत के तुल्य अनिर्वचनीय घटाभाव ही उस समय उत्पन्न होता है—कहते हैं और आप ने जो विकल्प किया था कि इस घटाभाव का उपादान माया है या नहीं ? उसमें हम प्रथम पक्ष का ही स्वीकार करते हैं अर्थात् उसका (अनिर्वचनीय घटाभाव का) उपादान माया ही है। अन्यथाख्याति के न मानने पर भी हमारे मत में दोष नहीं आता।

'माया को उपादान कारण मानने पर 'माया' संज्ञक भावरूप पदार्थ से 'अनिर्वचनीय घटाभाव' यह अभावरूप कार्य नहीं हो सकता। यह अनुपपत्तिरूप दोष इस पक्ष में आता है।' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि कारण, अपने सजातीय (अपने जैसा ही) कार्य को ही पैदा करता है, इसलिये कार्यकारण के सादृश्य की अपेक्षा रखनेवाले आपसे हम (सिद्धान्ती) प्रश्न करते हैं कि कार्य-कारण का अत्यंत साजात्य (एकजातित्व) होना चाहिये, या यत्किंचित् साजात्य होना चाहिये ? प्रथम पक्ष (अत्यन्त साजात्य) का तो संभव ही नहीं हो सकता। तन्तु और पट ये कारण और कार्यरूप पदार्थ, द्रव्यत्व या पृथ्वीत्व धर्म से तो सजातीय हो सकते हैं। परन्तु तन्तु में तन्तुत्व जाति रहती है, वह पट में नहीं, और पट में पटत्व जाति (धर्म) रहती है, वह तन्तु में नहीं। अतः कार्यकारण के साजात्य के प्रसिद्ध उदाहरण तन्तुपट में भिन्न धर्म के कारण विजातीयता प्राप्त होती है, इस कारण तन्तु और पट भी विजातीय होने से उनमें भी कार्यकारणभाव नहीं हो सकेगा। दूसरी बात यह भी है कि कार्यकारण अत्यंत सजातीय यदि हों तो उनका कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जायगा। तस्मात् अत्यंत साजात्य पक्ष सर्वथा अनुपपन्न है।

अब द्वितीय पक्ष (यत्किंचित्साजात्य कुछ अंशों में सादृश्य) को यदि आप स्वीकृत करें तो वह हमें भी इष्ट है।

तन्तु और पट में जेसे शुभ्रत्वादि सादृश्य होता है वैसे भावरूप 'माया' कारण का 'घटाभाव' इस अभावरूप कार्य से किसी प्रकार का सादृश्य नहीं बनता, तब प्रकृत में आप इनमें कार्यकारणभाव कैसे मानते हैं ? इस प्रश्न पर उत्तर यह है कि अनिर्वचनीय घटाभावरूप कार्य का और मायारूप कारण का 'मिथ्यात्व' यह समान (सजातीय) धर्म है। इसलिये 'मिथ्यात्व' धर्म से ही माया और घटाभाव में साजात्य है। अतः वे भावत्व और अभावत्व धर्म से विजातीय होने पर भी मिथ्यात्व धर्म से तो सजातीय हैं ही। इसलिये उनमें कार्यकारणभाव बन जाता है। अतः अनिर्वचनीय घटाभाव को मानकर उसका कारण 'माया' ही है।

इस पर वादी की शंका और उसका समाधान—

न च विजातीययोरप्युपादानोपादेयभावे ब्रह्मैव जगदुपादानं स्यादिति वाच्यम् । प्रपञ्चविभ्रमाधिष्ठानत्वरूपेण तस्येष्टत्वात् । परिणामित्वरूपस्योपादानत्वस्य निरवयवे ब्रह्मण्यनुपपत्तेः । तथा-च प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया, न ब्रह्म इति सिद्धान्त इत्य-लमतिप्रसङ्गेन ।

अर्थ—विजातीय पदार्थों में भी यदि कार्यकारणभाव को आप स्वीकार करते हैं तो ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण मान लीजिये 'माया' को मानने की क्या आवश्यकता ? परन्तु यह शंका ठीक नहीं । क्योंकि प्रपञ्चरूप विभ्रम के अधिष्ठानत्व स्वरूप से ब्रह्म में जगदुपादानत्व हमें इष्ट ही है । (प्रपंच का परिणामि उपादानकारण ब्रह्म नहीं हो सकता) क्योंकि परिणा-मित्वरूप उपादानकारणत्व की निरवयव ब्रह्म में अनुपपत्ति है ; इसलिये प्रपंच का परिणामि उपादानकारण माया है, ब्रह्म नहीं—ऐसा वेदान्त सिद्धान्त है । अतः इस—अतिप्रसंग को अब समाप्त करते हैं ।

विवरण—विजातीय पदार्थों में कार्यकारणभाव के न बन सकने से चेतनब्रह्म, अचेतन जगत् का कारण नहीं होता—यह हम कहते हैं, परन्तु आप यदि विजातीय पदार्थों में भी यत्किंचित्साजात्य से—उपादानोपदेयभाव (कार्यकारणभाव) मानते हैं तो ब्रह्म को ही समस्त जगत् का उपादान कारण क्यों नहीं मानते ? माया को उपादान मानकर बीच में माया की निरर्थक कल्पना क्यों करते हैं ? यह पूर्वपक्षी का कहना है ।

'प्रपञ्च०' इत्यादि ग्रन्थ से सिद्धान्ती उत्तर देता है कि यह तो हमें इष्ट है कि 'ब्रह्म प्रपञ्च का उपादान कारण है,' पर वह परिणामि उपादान नहीं है, किन्तु प्रपञ्चभ्रमाधिष्ठान रूप विवर्तोपादान है । उपादान तीन प्रकार का होता है—आरंभि, परिणामि, विवर्ति । उनमें से 'तन्तु पट के आरंभोपादान है' ऐसा नैयायिक कहते हैं । दूध जैसे दही का कारण है—ऐसे कारण को परिणामि उपादान, सांख्य मानते हैं । और हम वेदान्तियों के मत में रज्जु जैसे सर्प-भ्रम का अधिष्ठान है अर्थात् अधिष्ठान के रूप में रज्जु सर्पभ्रम का उपादानकारण है--वह विवर्तोपादान कारण है । अतः सच्चिदानन्द ब्रह्म में उसकी सत्ता से भासमान जगद्रूपी मिथ्या-प्रपंच का ब्रह्म, अधिष्ठान है अर्थात् पिवर्तोपादान है ।

अब ब्रह्म के विवर्तोपादान होने पर भी कार्य के लिये आवश्यक परिणामि उपादानत्व ब्रह्म में नहीं संभव हो सकता, क्योंकि परिणाम (पूर्वरूप को

छोड़कर दूसरे रूप की प्राप्ति) सावयव वस्तु का ही हुआ करता है। अवयवों के उपचयापचय से ही (वृद्धि और ह्रास) परिणाम होता है। परन्तु ब्रह्म में अवयव नहीं हैं, इसलिये निरवयव ब्रह्म में अवयव विकृतिरूपी परिणाम संभव नहीं। इस कारण प्रपञ्च के परिणाम्युपादान के रूप में माया का (भावरूप अज्ञान का) स्वीकार अवश्य करना पड़ता है। एवं च ब्रह्म, प्रपंच का परिणामि उपादान नहीं, किन्तु माया ही उसका परिणामि उपादान है। तस्मात् हमारे मत में ब्रह्म में परिणाम्युपादान मानने का तथा माया की व्यर्थता आदि कोई दोष प्राप्त नहीं होते।

अभाव-भ्रम कैसे होता है? इस प्रासंगिक शंका के उठने से कार्य-कारण के सजातीय विजातीय भाव का निरूपण करना पड़ा। अब मुख्य अनुपलब्धि रूप प्रकृत विषय के प्रतिपादनार्थ ग्रन्थकार कहते हैं कि इस अतिप्रसंग की (प्रासंगिक विषय के निरूपणरूपी विषयान्तर की) चर्चा बहुत हुई। अब प्रकृत अनुपलब्धि प्रमाण का ही निरूपण करें।

इस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण वगैरे बताये। अब इस अनुपलब्धि के द्वारा जिसका प्रत्यक्ष होता है, उस प्रमेयभूत-अभाव का निरूपण करने के लिये अभाव के भेद बताते हैं।

स चाभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति। तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरुत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः, स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः।

अर्थ—वह अभाव चार प्रकार का है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। इनमें से मृत्पिण्डादि कारणों में घटरूप कार्य का उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव वह प्रागभाव है। वह 'भविष्यति' होगा—इत्याकारक प्रतीति का विषय होता है।

विवरण—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव—इस रीति से अनुपलब्धि प्रमाण के प्रमेयभूत अभाव के चार भेद होते हैं। उनमें से प्रागभाव का स्वरूप इस प्रकार है—प्राक् (कार्य उत्पन्न होने के पूर्व) उस कार्य का जो अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। जैसे—घटरूप कार्य उत्पन्न होने के पूर्व जो घटाभाव वह घट-प्रागभाव है। प्रागभाव, कार्य के उपादान कारण में रहता है। घटरूप कार्य का अभाव मृत्पिण्डरूप कारण में रहता है। क्योंकि प्रागभाव की प्रतीति 'भविष्यति' यहां कार्य होगा—इस प्रकार से मृत्पिण्ड में ही होती है। उस प्रतीति की उपपत्ति के लिये ही प्रागभाव का स्वीकार करना पड़ता है मृत्पिण्ड के अतिरिक्त तन्तु

आदि कारणों में 'यहां घट होगा' ऐसी प्रतीति नहीं होती, इसलिये घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड में ही रहता है—यह मानना होगा। इस प्रकार कार्य उत्पन्न होने से अव्यवहित पूर्वक्षण तक कार्य का कारण में जो अभाव प्रतीत होता है, वह प्रागभाव है।

अब प्रध्वंसाभाव का निरूपण करते हैं—

तत्रैव घटस्य मुद्गरपातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसाभावः। ध्वंसस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव। न चैवं घटोन्मज्जनापत्तिः, घटध्वंसध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिकध्वंसत्वात्। अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मकघटस्य विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः।

अर्थ—वहीं पर (मृत्पिण्ड में) घट का मुद्गरपात के अनन्तर जो अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव है। ध्वंस का भी (प्रध्वंसाभाव का भी) अपने अधिकरणभूत कपाल के नाश होने पर नाश होता ही है। इस प्रकार ध्वंस का ध्वंस मानने पर घट का ध्वंस नष्ट होने के कारण पुनः घट उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि घट-ध्वंस का जो ध्वंस (नाश) होता है वह घटप्रतियोगिक ही रहता है अर्थात् उसका प्रतियोगी घट ही होता है। अन्यथा प्रागभावध्वंस रूप जो घट, उसका विनाश होने पर पुनः घट का प्रागभाव उत्पन्न होता है—मानना पड़ेगा।

विवरण—कार्यनाश के अनन्तर जो उसका अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव है। प्रागभाव के समान ही प्रध्वंसाभाव का भी अधिकरण, कार्य का उपादानकारण ही होता है। जैसे—उसी—मिट्टी के घट पर एक मुद्गर मारने पर वह फूट जाता है अर्थात् उस मृत्तिका को जो घट का आकार प्राप्त हुआ था वह नष्ट होता है। घटादिकों के इस ध्वंस को ही प्रध्वंसाभाव कहते हैं। उसका आधार घट के उपादान कारण कपाल ही हैं। क्योंकि कपाल की ओर देखकर ही 'यह घट नष्ट हुआ' यह प्रतीति होती है। इसलिये इस प्रध्वंसाभाव का अधिकरण भी घट का उपादान कारण मृत्तिका ही है। 'घटो ध्वस्तः' ही प्रध्वंसाभाव की प्रतीति होती है। 'सादिरनन्तः प्रध्वंसः'—सादि (उत्पत्तिमान्) होता हुआ जो अनन्त (नाशरहित) अभाव—वह प्रध्वंसाभाव, ऐसा नैयायिकों का मत है अर्थात् वे कहते हैं कि प्रध्वंसाभाव का कभी नाश नहीं होता इसका निरसन 'ध्वंसस्यापि०' ग्रन्थ से किया जा रहा है। प्रध्वंसाभाव को विनाशरहित नहीं मान सकते। क्योंकि यह मानने पर प्रध्वंसाभाव एवं ब्रह्म ऐसे दो पदार्थ अविनाशी सिद्ध होंगे उससे द्वैतापत्ति होगी। इसलिये प्रध्वंसाभाव का जिस—मृत्तिकादि अधिकरण में 'ध्वस्तः' इत्याकारक प्रत्यय (बोध) होता है, उस मृत्तिकादि उपादान कारण का

नाश होने पर उसमें स्थित घटध्वंस का भी ध्वंस (नाश) मानना होगा। क्योंकि ध्वंस के अधिकरण (आधार) का ही नाश होने पर पर निराधार ध्वंस की स्थिति संभव नहीं। एवं कपालों के भी नाश होने पर वहां 'घटो ध्वस्तः' की प्रतीति भी नहीं होती। इस कारण ध्वंस के आधारभूत कपालों के नाश होने पर उस पर स्थित प्रध्वंस का भी ध्वंस मानना युक्त है।

शंका—ध्वंस का भी ध्वंस मानने पर पुनः घटोत्पत्ति का प्रसंग आवेगा। क्योंकि घटनाश (घटाभाव) का ध्वंस (अभाव) अर्थात् घटाभाव का अभाव घटस्वरूप ही होगा। जैसे—तेज के अभाव (तम) का अभाव अर्थात् तेज ही है, इसी तरह घटध्वंस या तब तक घट का अभाव था, परन्तु वह ध्वंस, कारण के नाश से नष्ट होता है, ऐसा कहने पर वही घट पुनः उत्पन्न होता है, यही कहना होगा।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि घट ध्वंस का जो ध्वंस होता है उसका प्रतियोगी घटध्वंस नहीं होता, किन्तु घट ही होता है। अर्थात् घटाभावरूप ध्वंस का जैसे घट प्रतियोगी होता है वैसे ही घटध्वंस के ध्वंस (अभाव) का भी वह प्रतियोगी होता है। इस कारण दूसरा अभाव, प्रथम अभाव के प्रतियोगी स्वरूप होता है—इस नियम के होने पर भी प्रकृत में अनुभवानुसार घटध्वंस के ध्वंस का प्रतियोगी घट को ही मानने पर यह आपत्ति नहीं आती। क्योंकि हम आप से यह पूछते हैं कि कार्य तो प्रागभावध्वंसरूप होता है। अर्थात् घटप्रागभाव ध्वंस ही घट है, यह आप मानते ही हैं। तब घटप्रागभावध्वंसरूप घट पदार्थ का ध्वंस होने पर पुनः घट का प्रागभाव उत्पन्न होता है—ऐसा क्यों नहीं मानते? और ऐसा मानने पर घट के नष्ट होते ही इन कपालों का घट होगा' ऐसी प्रागभाव की प्रतीति होनी चाहिये, परन्तु अनुभव तो ऐसा होता नहीं। इसलिये मूलध्वंस का जो प्रतियोगी होता है वही उस ध्वंस के ध्वंस का भी प्रतियोगी होता है—यह अनुभवानुसार मानना ही चाहिये। अर्थात् घट का मुद्गरपात के अनन्तर कपाल रूप ध्वंस होता है और उसका भी कपालनाश के अनन्तर जो ध्वंस होता है, वह घट का ही चूर्णरूप से ध्वंस है, इसी कारण घटध्वंस ध्वंसस्थल में भी 'घटो विनष्टः' घट नष्ट हुआ—यही प्रतीति होती है। इसी प्रकार प्रागभाव के ध्वंस रूप घट का जो नाश होता है, उसका भी प्रतियोगी प्रागभाव ही समझना चाहिये। इस कारण प्रागभाव की उत्पत्ति का प्रसंग भी नहीं आता। ध्वंस का ध्वंस मानने पर भी एक दूसरी आपत्ति आती है—इस प्रकार वादी की शंका और उसका समाधान अग्रिम ग्रन्थ से कहते हैं—

न चैवमपि यत्र ध्वंसाधिकरणं नित्यं तत्र कथं ध्वंसनाश

इति वाच्यम् । तादृशाधिकरणं यदि चैतन्यव्यतिरिक्तं तदा तस्य नित्यत्वमसिद्धम्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यताया वक्ष्यमाणत्वात् । यदि च ध्वंसाधिकरणं चैतन्यं तदाऽसिद्धिः, आरोपितप्रतियोगिकध्वंसस्याधिष्ठाने प्रतीयमानस्याधिष्ठानमात्रत्वात् । तदुक्तम्—

अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः, इति । एवं शुक्तिरूप्यविनाशोऽपीदमवच्छिन्नं चैतन्यमेव ।

अर्थ—ऐसा मानने पर भी जहां ध्वंस का अधिकरण नित्य होता है वहां उस ध्वंस का नाश कैसे होता है ? परन्तु यह शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि वैसा अधिकरण चैतन्य के व्यतिरिक्त (भिन्न) यदि हो तो उसमें नित्यत्व असिद्ध है । क्योंकि ब्रह्म से भिन्न समस्त जगत् में ब्रह्मज्ञान निवर्त्यत्व (ब्रह्मज्ञान-से निवृत्त होने की योग्यता) है, ऐसा आगे बतावेंगे। और वह ध्वंसाधिकरण यदि चैतन्य ही हो तो (उस ध्वंस में नित्यत्व की) असिद्धि है । क्योंकि जिसका (ध्वंस का) प्रतियोगी आरोपित (मिथ्या) होता है, ऐसे अधिष्ठान में प्रतीयमान ध्वंस, अधिष्ठानस्वरूप रहता है । इसीलिए अभियुक्तों का वचन है कि 'कल्पित वस्तु का नाश, अधिष्ठानावशेष (जिसमें केवल अधिष्ठान अवशिष्ट रहता है) रहता है' । इस प्रकार शुक्तिरूप्य का विनाश भी 'इदम्' वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही है ।

विवरण—ध्वंस का (प्रध्वंसाभाव का) जो अधिकरण कपाल के समान अनित्य होता है, उस अधिकरण का (कपाल का) ध्वंस होने पर तन्निष्ठ घटध्वंस का भी ध्वंस होता है । इस कारण घटादि पदार्थों का ध्वंस नित्य न होकर विनाशी होता है । इसलिये उस ध्वंस में नित्यत्व के प्राप्त न होने पर भी जिस ध्वंस का अधिकरण नित्य रहता है उसका ध्वंस=नाश नहीं होता । क्योंकि नित्य-अधिकरणस्थित ध्वंस का नाश कैसे हो सकेगा ?

उदाहरण—आकाश नित्य है, उस आकाश में होने वाला जो-अकाशकार्यभूत शब्द का ध्वंस, उसका नाश कैसे संभव होगा ? क्योंकि उसके अधिकरण भूत आकाश का कभी नाश ही नहीं होता । और प्रतियोगी के उपादानकारण का नाश होने पर उस ध्वंस का भी नाश आप बताते हैं । तो जब कि आकाश का नाश ही नहीं होता तो उस ध्वंस का भी नाश कैसे होगा ? इसलिये ऐसे शब्दादिकों के ध्वंस में अविनाशित्व ही आपको मानना चाहिए । तब ध्वंस और ब्रह्म दोनों नित्य पदार्थ सिद्ध होने से द्वैतापत्ति होती है । एवं ब्रह्म में

समस्त जगत् का लय (नाश) भी आप मानते हैं, तब अधिष्ठानभूत ब्रह्म-नित्य होने से तन्निष्ठ जगत् का ध्वंस भी नित्य ही होगा, जिससे प्रलयावस्था में ब्रह्म और जगत् का ध्वंस दो पदार्थ मानने होंगे। उस कारण 'एकमेवाद्वितीय' ब्रह्म के अद्वैत का बाध होता है इस आशय से वादी ने 'यत्र०' इत्यादि वाक्य से शंका कर कोटि की है। इस पर धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं—'जिस ध्वंस का अधिकरण नित्य होता है, तन्निष्ठ ध्वंस का नाश कैसे होगा' यह आप जिस अधिकरण को उद्देश कर कहते हैं वह ध्वंस का नित्य अधिष्ठान, चैतन्य से भिन्न विवक्षित है या चैतन्य रूप ब्रह्म ही जगत् के ध्वंस का आधार होने से 'जगत् के ध्वंस में नित्यत्व प्राप्त होगा' यह विवक्षित है ! इसमें प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता। क्योंकि एक चैतन्यस्वरूप ब्रह्म को छोड़ संसार के किसी भी पदार्थ में अविनाशित्व नहीं है। क्योंकि ब्रह्म में कल्पित जगत् की, ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति (बाध, नाश) होती है—यह हम विषय परिच्छेद में बतावेंगे। इस कारण आकाशनिष्ठ शब्दध्वंस में या 'अन्तरिक्ष घट का ध्वंस हुआ' इस रीति से आकाश में प्रतीयमान घटध्वंस में नित्यत्व प्राप्त होने की आपत्ति हमारे पक्ष में नहीं हो पाती।

अब द्वितीय पक्ष (चैतन्य ही ध्वंस का अधिकरण है) का स्वीकार करें तो 'जगत् के ध्वंस में नित्यत्वापत्ति होगी' यह कथन नहीं बन सकेगा। क्योंकि जिस ध्वंस का प्रतियोगी आरोपित (मिथ्या) होता है, ऐसा ध्वंस, जो कि अधिष्ठानरूप से भासित होता है, वह अधिष्ठानरूप ही होता है। उदाहरणार्थ—शुक्ति में 'यह रजत है' यह मिथ्या रजत का ज्ञान होता है। परन्तु वह ज्ञान, उस पदार्थ को भलीभांति देखने पर बाधित हो जाता है और 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार उसके विपरीत ज्ञान होता है, अर्थात् इस ज्ञान में पूर्वभासित रजत नष्ट हुआ—यह अनुभव होता है। यहां रजतध्वंस का प्रतियोगी जो रजत, वह मिथ्या होने से उसका नाश, अर्थात् उस रजत का अधिष्ठान 'इदम्' इस आकार से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही है। इसी प्रकार जगत् मिथ्या है और ब्रह्म उस जगदाकार भ्रम का अधिष्ठान है। उस ब्रह्म में जगत् का जो ध्वंस होता है, वह अधिष्ठानरूप (ब्रह्मरूप) होता है, पृथक् नहीं। क्योंकि चैतन्यात्मक ब्रह्म में चैतन्यात्मकता का अभाव भासित होना ही प्रपञ्चभान है। प्रपंचध्वंस के समय उस चैतन्यात्मकता के अभाव का अभाव होता है, इसी कारण चैतन्यात्मकता भासती है। अत एव सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि 'कल्पितवस्तु का नाश अधिष्ठानरूप होता है'। इस कारण चैतन्य में होनेवाले ध्वंस में भी नित्यत्व प्राप्त नहीं होता। इसी तरह रज्जु पर भासमान सर्प का ध्वंस, रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य ही समझना चाहिये। तस्मात् हमारे पक्ष में द्वैतापत्ति या उक्त दोष नहीं हो पाता।

अब क्रमशःप्राप्त अत्यन्ताभाव का निरूपण करते हैं—

यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः सोऽत्यन्ताभावः, यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः। सोऽपि घटादिवद् ध्वंसप्रतियोग्येव।

अर्थ—जिस अधिकरण में जिसका कालत्रय में भी (तीनों काल में) अभाव रहता है, उसे (अभाव को) अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे–वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है, वह भी घटादि के समान ध्वंस का प्रतियोगी ही होता है।

विवरण—जहां पर जिस वस्तु की तीनों काल में प्रतीति न होती हो, वहां उस वस्तु का अत्यन्ताभाव समझना चाहिये। यहां के 'सोऽत्यन्ताभावः' से पूर्व 'तत्र' पद का अध्याहार करना चाहिये, और 'सः' पद का 'तदीय' = उसका—अर्थ समझना चाहिये। तीनों काल में वर्तमान जो अभाव, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं।

नैयायिक अत्यन्ताभाव के उदाहरण में 'इह भूतले घटो नास्ति' = इस भूतल पर घट नहीं है; देते हैं, पर वह सर्वसम्मत न होने से निर्विवाद उदाहरण ग्रन्थकार ने बताया है। वायु में रूप किसी काल में भी नहीं होता, इसलिये वायु में जो रूप का अभाव वह अत्यन्ताभाव है। 'यहां अमुक नहीं' इस आकार में ही अत्यन्ताभाव की प्रतीति होती है। तार्किक अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं, उसका निरसन करने के लिये ग्रंथकार कहते हैं—घटादि पदार्थ जैसे ध्वंस के प्रतियोगी होते हैं (उनका ध्वंस होता है), वैसे ही अत्यन्ताभाव भी ध्वंसप्रतियोगी ही है। उसका भी प्रलयकाल में ध्वंस (नाश) होता ही है। इस कारण ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व अत्यन्ताभाव में नहीं होता। कुछ पुस्तकों में 'घटादिवत्' के स्थान में 'वियदादिवत्' पाठ है, वह उचित है। क्योंकि जिस प्रकार 'वियदादिक' (आकाशादिक) पदार्थ यावत् प्रपंचभावी हैं, किन्तु प्रलयकाल में नष्ट होते हैं, उसी प्रकार यह अत्यन्ताभाव भी जब तक जगत् है तब तक ही रहता है, और प्रलयावस्था में समस्त पदार्थों का ध्वंस होने पर उन पर अवलंबित होकर रहनेवाले अत्यन्ताभाव का नाश होता ही है। प्रलयकाल में ब्रह्मातिरिक्त सत्ता ही नहीं होती।

अन्योऽन्याभाव का स्वरूप बताते हैं—

इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योन्याभावः। अयमेव विभागो भेदः पृथक्त्वं चेति व्यवह्रियते। भेदातिरिक्तविभागादौ प्रमाणाभावात्। अयं चान्योन्याभावोऽधिकरणस्य सादित्वे सादिः,

यथा घटे पटभेदः । अधिकरणस्यानादित्वेऽनादिरेव, यथा जीवे ब्रह्मभेदः, ब्रह्मणि वा जीवभेदः । द्विविधोऽपि भेदो ध्वंसप्रतियोग्येव, अविद्याया निवृत्तौ तत्परतन्त्राणां निवृत्त्यवश्यम्भावात् ।

अर्थ—'यह, यह नहीं' ऐसी प्रतीति का विषय जो अभाव, वह अन्योन्याभाव है । विभाग, भेद, पृथक्त्व शब्दों से इसी का व्यवहार होता है । क्योंकि विभागादिकों को भेद से (अन्योऽन्याभाव से) पृथक् मानने में कोई प्रमाण नहीं है । यह अन्योन्याभाव, (उसका) अधिकरण यदि सादि (उत्पत्तिमत्) हो तो सादि (उत्पत्तिमान्) होता है । जैसे-घट में पट का भेद । परन्तु अधिकरण यदि अनादि हो तो वह भी अनादि ही होता है । जैसे—जीव में ब्रह्म का भेद, या ब्रह्म में जीव का भेद । यह दोनों प्रकार का भेद ध्वंस का प्रतियोगी (विनाशी) होता है । क्योंकि मूल अविद्या की निवृत्ति होने पर उसके अधीन रहनेवाले भेदों की निवृत्ति होना अवश्यंभावी है ।

विवरण—'यह घट पट नहीं है' इस रीति से घट में वर्तमान जो पटरूपता का अभाव वह अन्योन्याभाव है । यह ध्यान में रख कर ही 'तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक' जो अभाव, उसे अन्योन्याभाव, कहते हैं, यह अन्योन्याभाव का लक्षण किया गया है । अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता, घटादि अनेक प्रतियोगियों के संयोग, समवाय आदि अनेक संबंधों से अवच्छिन्न होती है । किन्तु अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता केवल तादात्म्य संबंधसे ही अवच्छिन्न रहती है । क्योंकि 'घट, पट नहीं है' इस स्थल में यह घट स्वरूपतः पट नहीं है, अर्थात् पट-भेद का प्रतियोगी जो पट, उसका स्वयं से (पट से) जैसा तादात्म्य (तद्रूपत्व) है, वैसा घट से नहीं—यही ज्ञान होता है । इस कारण तादात्म्य संबंध से अवच्छिन्न प्रतियोगितावाला अन्योन्याभाव माना गया है ।

अन्योन्याभाव, भेद, विभाग, पृथक्त्व—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं । नैयायिकों का कहना है कि विभाग और पृथक्त्व गुण हैं, और अन्योन्याभाव से भिन्न हैं । परन्तु यह उचित नहीं है । क्योंकि वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है । यहां ग्रंथकार का आशय यह है कि—'घट, पट से विभक्त है' और 'घट, पट से पृथक् है ये दोनों प्रतीतियां क्रमशः विभाग और पृथक्त्व की हैं—ऐसा तार्किक कहते हैं । किन्तु वास्तव में इन दोनों ज्ञानों में कोई वैलक्षण्य नहीं है । अतः वे दोनों वाक्य एक ही प्रतीति की बोधक हैं । जैसे—हस्त और कर—एक ही प्रतीति के पैदा करने वाले शब्दों में भेद होने पर भी उनका अर्थ एक ही रहता है वैसे ही विभाग और पृथक्त्व शब्दों के

अर्थ में भी एकता समझनी चाहिये। इसलिये विभाग और पृथक्त्व को परस्पर भिन्न एवं गुण नहीं कह सकते।

इसी प्रकार पृथक्त्व को भेद से (अन्योन्याभाव से) भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है। 'घट, पट से पृथक् है' यह पृथक्त्व की प्रतीति और 'यह घट, पट नहीं है' यह अन्योन्याभाव की प्रतीति—इन दोनों में केवल शब्दों की ही विलक्षणता है, उनके अर्थों में कुछ भी भेद नहीं है।

शंका—ऐसा मानने पर 'इदमस्मात् पृथक्' प्रयोग के समान 'इदंमिदं न' प्रतीति के स्थान में 'इदमस्मात् न' प्रयोग भी होने लगेगा।

उत्तर—यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि 'अन्यारादितरर्ते०' (पाणि० सू० २।३।२९) सूत्र के द्वारा 'अन्य' पद से अन्यार्थक 'पृथक्' इत्यादि पदों का भी ग्रहण किया होने से 'पृथक्' शब्द के योग में जैसे पंचमी का विधान किया गया है वैसे 'न' अव्यय के योग में पंचमी का विधान नहीं किया गया। इस कारण 'न' निपात के योग में 'अस्मात् न' ऐसा पंचमी का प्रसंग नहीं आता। अन्य, पृथक्, विभक्त, भिन्न आदि शब्दों में ही भेद है। वस्तुतः ये शब्द अन्योन्याभाव के ही बोधक हैं।

कुछ अन्योन्याभाव सादि (उत्पत्तिमान्) होते हैं और कुछ अनादि (उत्पत्तिरहित) होते हैं। जिस अन्योन्याभाव का अधिकरण उत्पत्तिशील होता है, वह अन्योन्याभाव उस अधिकरण की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न होता है। उदाहरण—पट भेद का (पटान्योन्याभाव का) अधिकरण घट, सादि (उत्पत्तिशील है, इसलिये घट उत्पन्न होते ही पट भेद भी उत्पन्न होता है। इस कारण यह भेद सादि है।

इसके विपरीत जिस अन्योन्याभाव का अधिकरण अनादि होता है वह अन्योन्याभाव भी अनादि (उत्पत्तिरहित) होता है। जैसे—जीव, ब्रह्म इत्यादि पदार्थ अनादि होते हैं। क्योंकि—

> 'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
> अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥'

(जीव, ईश्वर, शुद्धचैतन्य, जीवेश्वर-भेद, अविद्या = माया और उसका—चैतन्य के साथ संबन्ध—ये छः पदार्थ वेदान्त मत में अनादि माने गये हैं) यह वेदान्त सिद्धान्त है।

इस कारण जीव में 'जीव, ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार से प्रतीयमान ब्रह्म-भेद या ब्रह्म में भासमान 'ब्रह्म, जीवो न'—ब्रह्म, जीव नहीं है—यह जीवभेद, ये अनादि अन्योन्याभाव हैं। तथापि सादि और अनादि दोनों प्रकार के अन्योन्याभाव नित्य नहीं हैं, अपितु आकाशादि के समान विनाशी (ध्वंस

के प्रतियोगी ही) हैं। क्योंकि समस्त जगत् की मूलकारणभूत अविद्या की विद्या से निवृत्ति होने पर उसके कार्यभूत (उसके अधीन रहने वाले) समस्त भेदों की निवृत्ति होनी ही चाहिये। इस कारण 'नेह नानास्ति किंचन' और 'अहं ब्रह्मास्मि' जानने वाले विद्वान् की दृष्टि से—घट-पट-भेद या 'जीवेश्वर भेद' यह द्विविध भेद भी नहीं है। तस्मात् जीवेश्वर भेद के अनादि होने पर भी—आविद्यक होने से उसका नाश हो ही जाता है। इसलिये पहले जो जीवेश्वर भेद बताया था वह संसार दशा में ही समझना चाहिये।

अन्योन्याभाव के और भेदों को भी बताते हैं।

पुनरपि भेदो द्विविधः—सोपाधिको निरुपाधिकश्चेति। तत्रोपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वं सोपाधिकत्वं, तच्छून्यत्वं निरुपाधिकत्वम्। तत्राद्यो यथा—एकस्यैवाकाशस्य घटाद्युपाधिभेदेन भेदः। यथा वा एकस्यैव सूर्यस्य जलभाजनभेदेन भेदः। तथा च एकस्यैव ब्रह्मणोऽन्तःकरणभेदाद्भेदः। निरुपाधिकभेदा यथा घटे पटभेदः।

अर्थ—फिर भी भेद (अन्योन्याभाव) दो प्रकार का है। सोपाधिक और निरुपाधिक (उसके भेद हैं)। उन दोनों में से जिसकी सत्ता, उपाधि की सत्ता से व्याप्य होती है वह सोपाधिक भेद है। और वैसी सत्ता से रहित जो भेद वह निरुपाधिक भेद है। उनमें से प्रथम भेद का उदाहरण इस प्रकार है—एक ही आकाश का घटादि उपाधियों के भेद से जो (घटाकाश, मठाकाश नहीं है) भेद होता है वह, या एक ही सूर्य का पात्रों (कलशों) के भेद से जो भेद होता है वह सोपाधिक भेद है। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म का अन्तःकरण भेद से जो भेद होता है वह भी सोपाधिक भेद ही होता है। निरुपाधिक भेद का उदाहरण इस प्रकार है—घट में पट का भेद निरुपाधिक होता है।

विवरण—अन्योन्याभाव के सादि एवं अनादि जैसे भेद होते हैं वैसे ही सोपाधिक एवं निरुपाधिक दो प्रकार और भी हैं, जिसकी सत्ता उपाधिकी सत्ता से व्याप्य हो वह सोपाधिक भेद है अर्थात् जब तक उपाधि रहे तब तक जिसकी सत्ता हो—ऐसे अन्योन्याभाव को सोपाधिक कहते हैं। जैसे—आकाश एक ही हैं, उसमें वस्तुतः भेद नहीं है। तथापि उस 'आकाश का घटादि उपाधि के कारण भेद हो जाता है। जब तक घट, मठादि उपाधियां हैं तब तक 'जो घटाकाश है वह मठाकाश नहीं, जो मठाकाश है वह करकाकाश (कमण्डलु से अवच्छिन्न आकाश) नहीं इस रीति

से आकाश के भेद की प्रतीति होती है। परन्तु वास्तव में उपाधियों का विवेक कर यदि विचार किया जाय तो आकाश सर्वत्र एक ही है। घटाकाशादि व्यवहार केवल घटादि उपाधियों के भेद से होते हैं और घटादिउपाधियों के अधीन रहते हैं। अथवा सूर्य एक रहते हुए भी भिन्न-भिन्न जल-भाजनों में (जल के पात्रों में या वापी, कूप, तडागादि में) उसका प्रतिबिम्ब गिरने पर आकाशस्थ सूर्य, तडागस्थ सूर्य, आदि भेद होते हैं वे भी सब सोपाधिक ही है। ये भेद उपाधिभेद के कारण ही होते हैं। जब तक उपाधि की सत्ता होगी तभी तक इनकी सत्ता रहेगी। किन्तु वास्तव में एक आकाशस्थ सूर्य ही सत्य है। इस रीति से जहां पर आकाशादिकों के भेद की सत्ता है वहां घटादि उपाधियों की सत्ता है। घटादि उपाधियों के न रहने पर आकाश सूर्य आदि का भेद व्यवहार नहीं होता। इस कारण भेद और उपाधियों की सत्ता में व्याप्य-व्यापक-भाव रहता है। अर्थात भेद-सत्ता-व्याप्य और उपाधि-सत्ता उसकी व्यापक होती है। सोपाधिक भेद का वेदान्तोपयोगी उदाहरण इस प्रकार—वास्तव में ब्रह्म, अखण्डैकरस एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न अन्तःकरणरूप उपाधियों के कारण ब्रह्म में नाना जीव रूपसे भेद व्यवहार होता है। घटाकाश के समान अन्तःकरण से अवच्छिन्न हुए अथवा पात्रस्थ सूर्य-के समान भिन्न भिन्न अन्तः करणों में प्रतिबिंबित हुए चैतन्य को ही देवदत्त, यज्ञदत्त आदि संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं। किन्तु ये प्रयोग उपाधिसत्ता के अधीन होते हैं। ज्ञान के द्वारा इस अविद्या के निवृत्त होते ही (उपाधि का त्याग करते ही) शुद्ध चैतन्य-रूप ब्रह्म एकमेवाद्वितीय ही शेष रहता है।

जिस भेद में उपाधिसत्ता की अपेक्षा नहीं होती उसे निरुपाधिक भेद कहते हैं। जैसे घट, पट से स्वाभाविक ही भिन्न है। उनका भेद, उपाधि के अधीन नहीं है। इस कारण घट में विद्यमान पटभेद या पट में विद्यमान घट-मठादिकों का भेद, निरुपाधिक (उपाधिरहित) भेद हैं। इनका 'घटः पटो न' इस रीति से अनुभव होता है।

इस पर वादी की शंका और उसका समाधान—

न च ब्रह्मण्यपि प्रपञ्चभेदाभ्युपगमेऽद्वैतविरोधः। तात्त्विक-भेदादेरनभ्युपगमेन वियदादिवदद्वैताव्याघातकत्वात्। प्रपञ्चस्या-द्वैते ब्रह्मणि कल्पितत्वाङ्गीकारात्। तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किन्न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥

अर्थ—ब्रह्म में प्रपञ्च भेद का (संसारभेद का) यदि स्वीकार करें तो अद्वैत के साथ विरोध होगा। यह शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि—हमने तात्त्विक (पारमार्थिक) भेदादि पदार्थों का स्वीकार नहीं किया होने से आकाशादिकों के समान (वह भेद) अद्वैत का व्याघातक (विनाशक) नहीं होता। क्योंकि अद्वैत ब्रह्म में प्रपञ्च कल्पित है, यह हमारा सिद्धान्त है। इसीलिये सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि (ब्रह्म के) साधकत्व की कल्पना के विषय में (जगदुत्पादकत्व की कल्पना करने में) तुम्हारी यह अक्षमा (असहिष्णुता) क्यों? क्या तुम उस ब्रह्म में ही अज्ञानकल्पित संसार को नहीं देखते हो।

विवरण—उक्त प्रकार से चैतन्यरूप जीव और ब्रह्म का जो भेद है, वह अन्तःकरण और माया की उपाधि के कारण होते रहने से सोपाधिक है, और उस उपाधि की ब्रह्मज्ञान के द्वारा निवृत्ति होते ही उस भेद की भी निवृत्ति होगी। किन्तु जड प्रपञ्च और चेतन ब्रह्म का जो भेद है उसमें किसी प्रकार की कोई उपाधि नहीं है। इस कारण वह जड-चेतन भेद निरुपाधिक है, यही कहना चाहिये। और इस भेद के मानने पर प्रपञ्चभेद और ब्रह्म दो वस्तुओं की सिद्धि होने से द्वैतापत्ति हो जाती है अर्थात् तुम्हारे अद्वैत सिद्धान्त से विरोध होता है।

समाधान—ब्रह्म में प्रपंच का (संसाररूप समस्त जगत् का) भेद मानने पर भी हमारे मत में द्वैतापत्ति नहीं होती है। क्योंकि ब्रह्म में समस्त जगत् जैसे कल्पित है, वैसे ही उस प्रपंच का भेद भी तात्त्विक न होकर कल्पित (आरोपित) ही है। इस कारण आकाशादिकों के तुल्य ही यह भेद भी प्रलय तक ही रहनेवाला है। प्रलय की अवस्था में या ज्ञान से संसार-मिथ्यात्व का अनुभव होनेपर ब्रह्म, एकमेवाद्वितीय ही रहता है। वैसे ही इस प्रपंच के कल्पित होने के कारण ही रज्जु, या शुक्ति के समान अधिष्ठान भूत ब्रह्म के अद्वैत में कोई बाध नहीं हो पाता। क्योंकि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार रूप तीनों अवस्थाओं में अधिष्ठान ब्रह्म, रज्जु आदि के समान निर्विकार ही रहता है। इस कारण ऐसे हजारों कल्पित पदार्थों के अंगीकार से ब्रह्म के अद्वैत में कोई व्याघात (बाध) नहीं होता, क्योंकि कल्पित प्रपंच का भेद कभी तात्त्विक हो ही नहीं सकता।

अद्वैत ब्रह्म में प्रपञ्च के कल्पित होने में वार्तिककार सुरेश्वराचार्य की संमति बताते हैं—'ब्रह्म, जगत् का साधक (उत्पादक) है' ऐसी कल्पना करने में ही तुम्हें इतनी असूया क्यों होती है? यह तुम्हारी असहिष्णुता उचित नहीं है। क्योंकि ब्रह्म में ही यह प्रपञ्च, अज्ञान से कल्पित है, क्या यह तुम्हें प्रत्यक्ष दीखता नहीं है? और तुम्हें 'मिथ्याज्ञान से ही प्रपञ्च कल्पित है' यह समझता है तो उस भ्रम के अधिष्ठानभूत ब्रह्म को कारण मानने में ही तुम्हें

क्यों बुरा लग रहा है ? अर्थात् 'अज्ञानकल्पित संसार का अधिष्ठानभूत ब्रह्म कारण है' यह अवश्य स्वीकार करना ही होगा। सारांश यह है कि सुरेश्वराचार्य के इस वचन से भी संसार का अज्ञानकल्पितत्व सिद्ध होता है अतः आकाश आदि अनेक पदार्थों के मानने पर भी इन व्यावहारिक पदार्थों से पारमार्थिक ब्रह्म के अद्वैत में कोई बाधा नहीं होती।

शंका—मीमांसक तो अभाव पदार्थ को ही नहीं मानते तो आप अभाव का वर्णन कैसे कर रहे हैं ? भाट्ट, चार ही पदार्थ 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य' मानते हैं। और प्राभाकर द्रव्यादि छह, सादृश्य और शक्ति–ऐसे आठ पदार्थ मानते हैं। घटादिकों का अभाव तो भूतलादि अधिकरणों का एक विशेष परिणाम है। कदाचित् अभाव को मान भी लें तो उसे चतुर्विध मानना वेदान्त सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि नृसिंहाश्रम मुनि ने अद्वैतदीपिका नामक ग्रन्थ में प्रागभाव का खण्डन किया है। ऐसी स्थिति में आप अभाव को चतुर्विध कैसे बता रहे हैं ? यह शंका यदि कोई करे तो ग्रंथकार पूर्वाचार्यों की सम्मति बताते हैं।

अत एव विवरणेऽविद्यानुमाने प्रागभावव्यतिरिक्तविशेषणम्, तत्त्वप्रदीपिकायामविद्यालक्षणे भावत्वविशेषणं च सङ्गच्छते। एवं चतुर्विधाभावानां योग्यानुपलब्ध्या प्रतीतिः। तत्रानुपलब्धिर्मानान्तरम्।

अर्थ—इसीलिये (अभाव के चार प्रकार स्वीकार करने के कारण ही) विवरण में अविद्या के अनुमान में दिये हुए 'प्रागभावव्यतिरिक्त' विशेषण की और तत्त्वदीपिका में अविद्यालक्षण में निविष्ट किये हुए 'भावत्व' विशेषण की संगति लग जाती है। इस प्रकार इन चतुर्विध अभावों की योग्यानुपलब्धि के द्वारा प्रतीति होती है। (और इन अभावों की) प्रतीति में अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण है।

विवरण—श्रीमच्छंकराचार्य के शारीरक भाष्य के प्रथम चतुः सूत्री पर पद्मपादाचार्य की 'पंचपादिका' नाम की टीका है। उस पर प्रकाशात्म मुनि ने 'विवरण' नाम की टीका की है। इसी को 'अहंकारटीका' के नाम से पीछे ग्रन्थकार ने संबोधित किया है। उसमें अविद्या का (अज्ञान का) सद्भाव सिद्ध करने के लिये अनुमान बताया है। यथा—(१) 'विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त–स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भवितुमर्हति'—(२) अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात्, (३) अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्' इस अनुमान की साध्य कोटि में 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्त' यह विशेषण 'वस्त्वन्तर' में दिया है। इससेयह सिद्ध होता

है कि विवरणाचार्य को 'प्रागभाव' मान्य था। क्योंकि उन्हें यदि प्रागभाव मान्य न होता तो उस पर होनेवाली अतिप्रसक्ति (व्यभिचार) का वारण करने के लिये उन्हें 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्त' विशेषण देने की आवश्यकता न पड़ती। अतः अभाव की चतुर्विधता पूर्वाचार्य को भी सम्मत थी वह सिद्ध होता है। अभाव के चार प्रकार मानने पर ही उसका विशेषण सफल होता है। अतः अभाव चतुर्विध है।

इसी प्रकार 'अभाव' पदार्थ ही यदि वेदान्तियों को संम्मत न होता तो श्री चित्सुखाचार्य ने अपनी तत्त्वदीपिका में (चित्सुखी में) 'अनादिभाव—रूपत्वे सति ज्ञान निवर्त्यत्वमविद्यात्वम्'—अनादि भावरूप होकर जो ज्ञान से निवृत्त होने योग्य हो वह अविद्या। इस अविद्या के लक्षण में दिया हुआ 'भावत्व' विशेषण व्यर्थ हुआ होता। क्योंकि 'अभाव' नामक पदार्थ ही यदि न हो तो उस पर अतिव्याप्ति कैसी होती और उसके निरसनार्थ 'भावरूपत्व' विशेषण की भी गरज नहीं पड़ती। तस्मात् 'भविष्यति,' 'ध्वस्तः,' 'नास्ति' और 'न' इन प्रतीतियों की उपपत्ति लगाने के लिये 'अभाव' पृथक् पदार्थ है और वह प्रागभावादि भेद से चतुर्विध है। इन चारों अभावों की प्रतीति इन्द्रियादि (प्रत्यक्षादि) किसी भी प्रमाण से नहीं होती। इसलिये योग्यानुपलब्धि ही अभावग्राहक प्रमाण है। तस्मात् 'अनुपलब्धि' यह छठा पृथक् प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

इति षट् प्रमाणनिरूपणं समाप्तम्।

स्वतःप्रामाण्यवादः

इस रीति से छह प्रमाणों का निरूपण कर अब नैयायिकों के परतः प्रामाण्य का निरास करने के किये उक्त छह प्रमाणों से होनेवाले ज्ञान का प्रामाण्य (यथार्थता) स्वतोग्राह्य है, यह बताने के लिये ग्रंथकार कहते हैं—

एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। तथा हि स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यम्। तच्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं न त्वधिकं गुणमपेक्षते, प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावात्। नापि प्रत्यक्ष-प्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षः। रूपादिप्रत्यक्षे आत्मप्रत्यक्षे च तदभावात्, सत्यपि तस्मिन् पीतः शङ्ख इति प्रत्ययस्य भ्रमत्वाच्च।

अत एव न सल्लिङ्गपरामर्शादिकमप्यनुमित्यादिप्रमायां गुणः, असल्लिङ्गपरामर्शादिस्थलेऽपि विषयाबाधेन अनुमित्यादेः प्रमात्वात् ।

अर्थ—इस प्रकार प्रतिपादित प्रमाओं का (यथार्थ ज्ञान का) प्रामाण्य (प्रमात्व, सत्यता) स्वत एव = उस ज्ञान से ही उत्पन्न होता है और जाना जाता है। जो इस प्रकार है—स्मृति एवं अनुभव के लिये साधारण और संवादिप्रवृत्ति के लिये अनुकूल प्रमात्व, अर्थात् तद्वान् पदार्थ में तत्प्रकारक ज्ञान होना है और वह ज्ञानसामान्य की सामग्री का ही कार्य है, उसके लिये उसे अधिक गुण की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि समस्त प्रमाओं में अनुगत रहनेवाला कोई गुण नहीं है। यदि कहें कि 'प्रत्यक्ष प्रमा में भूयोवयवेन्द्रिय-संनिकर्ष गुण है' तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि रूप के प्रत्यक्ष में तथा आत्मा के प्रत्यक्ष में उसका (उस गुण का) अभाव रहता है और उस गुण के रहते हुए भी 'शंखः पीतः' शंख पीला है—ज्ञान भ्रमरूप ही होता है। इसीलिये सल्लिंगपरामर्शादिक भी अनुमित्यादि प्रमाओं में गुण नहीं कहे जा सकते, क्योंकि सल्लिंगपरामर्श जहां नहीं रहता वहां भी अनुमेय विषय का बाध न होने से अनुमित्यादि ज्ञानों में प्रमात्व ही रहता है।

विवरण—वेदान्त में प्रत्यक्षादि छह प्रमाण हैं। उन छह प्रमाणों से छह प्रकार की प्रमाएं (ज्ञान) होती हैं। ये प्रमाएं यथार्थ (वास्तविक = सत्य) हैं या अयथार्थ (अवास्तविक = असत्य) अर्थात् भ्रमरूप हैं ? इसे जानने का जो साधन है, उसके विषय में शास्त्रकारों का मतभेद है। नैयायिकों का कहना है कि—'प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः'—प्रमात्व (प्रमा का यथार्थत्व = सत्यत्व) स्वतोग्राह्य नहीं है अर्थात् उस ज्ञान की साधन सामग्री से ही उसका ग्रहण नहीं होता। क्योंकि ज्ञान की सत्यता या असत्यता चक्षुरादि से ही ज्ञात होती है कहा जाय तो मन्द प्रकाश में दीखनेवाले स्तंभ आदि के विषय में 'यह स्तंभ है या पुरुष है' इत्याकारक संशय तो अनुभव-सिद्ध है। इसलिये ज्ञान का प्रमाण्य स्वतः (ज्ञानग्राहक सामग्री से ही) ही ज्ञात नहीं होता। किन्तु उसका ग्राहक प्रमाण अनुमान है। अतः ज्ञान-प्रामाण्य, अनुमान रूप पर प्रमाण से ग्राह्य होने के कारण 'परतोग्राह्य' है। प्रामाण्यग्राहक अनुमान इस प्रकार है—दूर स्थित पदार्थ का 'यह जल है' इत्याकारक जो ज्ञान मुझे हुआ, वह प्रमा (यथार्थ = सत्य ज्ञान) है, क्योंकि वह संवादि का (सफल प्रवृत्ति का) जनक है, अर्थात् उस जल की ओर देखकर उसे पीने के लिये जो मेरी प्रवृत्ति हुई वह सफल हुई, (वहां मुझे पीने के लिये पानी मिलने से पूर्व हुआ ज्ञान, सफल प्रवृत्ति का जनक हुआ)

व्यतिरेक से भ्रम ज्ञान के समान। अर्थात् इसके पूर्व मुझे शुक्ति की जगह 'यह रजत है' यह ज्ञान हुआ था, वह ऐसा सफल प्रवृत्तिजनक नहीं हुआ था, क्योंकि समीप जाकर देखते ही हाथ में सीप आई, इसलिये वह विफल प्रवृत्ति का (विसंवादि प्रवृत्ति का) जनक हुआ तथा अप्रमारूप हुआ। परन्तु यह जल ज्ञान वैसा विफल प्रवृत्तिजनक नहीं हुआ। इस कारण यह प्रमारूप होना चाहिये, इस अनुमान प्रमाण से ही ज्ञान प्रामाण्य का निश्चय होता है।

इसी प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति के विषय में भी मतभेद है। नैयायिक कहते हैं कि 'प्रमाओं का प्रमाण्य परतः (गुण के कारण) उत्पन्न होता है, 'क्योंकि जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री' से उसका प्रमात्व (सत्यता) उत्पन्न होता है यह मानने पर भ्रमज्ञान को भी प्रमारूप मानना पड़ेगा।

प्रामाण्य के विषय में ऐसा विवाद होने से उसकी उत्पत्ति एवं ज्ञान के विषय में वेदान्ताभिमत सिद्धान्त 'एव मुक्तानां', इत्यादि प्रकरण से बताया गया है। 'प्रमाण' शब्द 'प्रमीयतेतत् प्रमाणम्' ऐसी भावेव्युत्पत्ति के द्वारा 'प्रमा' अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिये। धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं—प्रत्यक्ष अनुमिति आदि छहों प्रमाणों का प्रामाण्य स्वत एव (स्वयमेव) अर्थात् ज्ञान की सामग्री से ही उत्पन्न होता है और स्वत एव ज्ञात होता है।

यदि कोई पूछे कि नैयायिक के जागरित रहते प्रामाण्य के स्वतस्त्व का का सिद्धान्त आप कैसे कर रहे हैं?

अतः उक्त प्रश्न का समाधान करने के लिये प्रथम 'प्रामाण्य स्वत एव कैसे उत्पन्न होता है? बताते हैं। स्मृति एवं अनुभव दोनों के लिये साधारण अर्थात् स्मृति एवं अनुभव दोनों में व्याप्त रहनेवाले प्रामाण्य का लक्षण 'तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्व' है। लक्षण के 'तत्' पद से ज्ञान में विशेषण भूत धर्म का ग्रहण करना चाहिये। जैसे—'अयं घटः'—यह घट—इत्याकारक ज्ञान हमें हुआ। इस ज्ञान में 'घट' विशेष्य है, और उसका (घट का) ज्ञान 'घटत्व' धर्म से हो रहा है। इसलिये 'घटत्व' उस ज्ञान में विशेषण या प्रकार कहलाता है। अतः लक्षण के 'तत्' पद से 'घटत्व' धर्म का ग्रहण करना चाहिये। तब लक्षण का अर्थ यह हुआ कि 'घटत्ववान्' पदार्थ में 'यह घट' इत्याकारक घटत्व प्रकारक ज्ञान होना ही घट प्रमा का प्रामाण्य है। 'यह घट मुझे चाहिये' यह इच्छा भी घटत्ववान् घट में घटत्व-प्रकारक ही है। उसमें रहनेवाले प्रामाण्य में ज्ञान प्रामाण्य की—अतिव्याप्ति न हो जाय इसलिये लक्षण में 'ज्ञानत्व' पद दिया है। इच्छा में इच्छात्व रहता है, ज्ञानत्व नहीं। इस कारण अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है।

'तत्प्रकारकज्ञानत्व' इतना ही लक्षण यदि करें तो भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि शुक्तिका में होनेवाला 'यह रजत' इत्याकारक रजतज्ञान भी रजतत्व प्रकारक ही होता है। उसकी निवृत्ति के लिये 'तद्वति' पद का निवेश किया है। भ्रमज्ञान—रजतत्ववान् पदार्थ में नहीं होता, इसलिये दोष का निवारण हो जाता है। ज्ञान में इस प्रकार का प्रामाण्य होने पर ही उसकी इच्छा से प्रवृत्त हुए पुरुष की प्रवृत्ति (वहां जाना) संवादि (सफल) होती है। तस्मात् यह प्रामाण्य संवादि प्रवृत्ति के लिये अनुकूल है। यह प्रामाण्य स्वयं ही उत्पन्न होता है।

शंका—उस प्रामाण्य को अपना ही उत्पादक मानने पर अर्थात् स्वयं को ही स्वयं का जनक कहने से 'आत्माश्रय' दोष होता है। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य 'स्वयं ही उत्पन्न होता है', कैसे कह रहे हैं ?

समाधान—यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि 'स्वतः प्रामाण्य' में स्वतः का अर्थ 'स्वयं से' न होकर 'जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री से' है। इस कारण आत्माश्रय दोष नहीं आता। नैयायिक प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणतः (ज्ञानजनक सामग्री से, प्रामाण्यजनक सामग्री भिन्न है) मानते हैं। किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त ज्ञान में अनुगत रहनेवाला एक भी गुण नहीं है। इस पर नैयायिक कदाचित् कहे कि छहो प्रमाओं के प्रामाण्य का जनक किसी एक गुण के न रहने पर भी विशेष प्रमा का जनक विशेष गुण है ही।

उदाहरणार्थ—प्रत्यक्ष में 'भूयोऽवयवेन्द्रिय संनिकर्ष' रूप गुण (उपकारक) है अर्थात् जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है उसके बहुत से या ज्ञापक कतिपय अवयवों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का संनिकर्ष होने पर उस प्रत्यक्ष में प्रमात्व (प्रामाण्य = सचाई) उत्पन्न होता है। वैसे ही अनुमिति में 'सल्लिंग परामर्श' (यथार्थ = सत्य लिंग का परामर्श = ज्ञान) गुण है। हेतु यदि सत्य (वास्तविक) हो, और उसका पक्ष पर ज्ञान हो जाय तो अनुमिति में प्रामाण्य होता है। उपमिति के प्रामाण्य के लिये—'सादृश्यज्ञान' गुण की अपेक्षा होती है। शब्द प्रमा का प्रमाण्य, यथार्थ योग्यताज्ञान या यथार्थ तात्पर्यज्ञान रूप गुण से सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य के लिये ज्ञानसामान्य सामग्री के व्यतिरिक्त गुण की आवश्यकता नहीं होती कैसे कह रहे हैं ?

'नापि०' इत्यादि ग्रन्थ से इस शंका का समाधान कर नैयायिकों के स्वीकृत (माने हुए) गुणों में से किसी भी गुण का यहां संभव नहीं है, यह सिद्ध किया है। 'भूयोऽवयवेन्द्रिय संनिकर्ष' रूप गुण प्रत्यक्ष प्रमा का जनक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह व्यभिचारी है। 'रूप में अवयव नहीं होते'

यह तो आप भी मानते हैं। इस कारण निरवयव रूप आदि के पुष्कल (बहुत) अवयवों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का संनिकर्ष है, नहीं कहा जा सकता। तथापि रूप आदि का प्रत्यक्ष तो होता है और वह सत्य भी है। इस प्रकार प्रामाण्य ज्ञान भी होता है। उसी प्रकार निरवयव आत्मा में भी 'भूयोऽवयवेन्द्रिय संनिकर्ष' रूप गुण का होना संभव नहीं। तथापि आत्मा का मानस प्रत्यक्ष आप मानते हैं। यहां पर गुण के न होने पर भी प्रामाण्य रहता है इस कारण गुण का व्यतिरेक व्यभिचार होता है। क्योंकि जहां गुण नहीं वहां प्रामाण्य का भी न होना नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति को पीलिया हो जाता है उसे सब पदार्थ पीले दीखते हैं। शंख सफेद होता हुआ भी वह पीला है ऐसा उसे ज्ञान होता है। यहां पर शंख के पुष्कल (अधिक)—अवयवों के साथ उस पुरुष के इन्द्रियों का संनिकर्ष रूप गुण रहता है, किन्तु उस ज्ञान में प्रामाण्य पैदा नहीं होता। इस कारण 'जहाँ गुण हो वहां प्रामाण्य होता है' इस अन्वय व्याप्ति का भी व्यभिचार होता है। तस्मात् अन्वय व्यतिरेक व्यभिचार के कारण गुण को प्रामाण्य का जनक (कारण) नहीं मान सकते। इसीलिये प्रत्यक्ष प्रमा में 'भूयोऽवयवेन्द्रिय संनिकर्ष' रूप गुण का संभव नहीं है।

इसी रीति से अनुमित्यादि प्रमाओं में तुम्हारे माने हुए सल्लिंग परामर्शादि गुण भी उपपन्न नहीं हो पाते। क्योंकि कहीं-कहीं धूलि में ही 'यह धूम है' इत्याकारक ज्ञान होता है। वहां पर दैवगत्या यदि अग्नि हुआ तो असल्लिंग परामर्श के होते हुए भी अनुमिति प्रमात्मक ही होती है। ऐसे व्यतिरेक व्यभिचार से अनुमिति के प्रामाण्य में सल्लिंग परामर्श को गुण (उपकारक) नहीं माना जा सकता। 'आदि' पद से सादृश्य ज्ञान और योग्यता ज्ञान रूप गुण को भी उपमिति एवं शाब्द प्रमाओं के प्रामाण्य में व्यभिचारी समझना चाहिये। क्योंकि कभी-कभी सादृश्य भ्रम से भी यथार्थ उपमिति होती है, और विष्णु के अर्थ में हरि शब्द का उच्चारण होने पर भी भ्रम से उस शब्द का सिंह अर्थ है, ऐसा तात्पर्य भ्रम हो जाता है। इसलिये चारों प्रमाओं में अनुगत रहने वाले किसी एक गुण का तो संभव है ही नहीं, और न विशेष प्रमा के विशेष गुण का ही संभव है। तस्मात् प्रमाण्योत्पादन में, गुणादि सामग्री न होकर, ज्ञानजनक सामग्री ही उसकी जनक माननी चाहिये। इसलिये प्रामाण्य स्वत एव उत्पन्न होता है।

इस पर 'भ्रमज्ञान में भी आपके मत से प्रामाण्य प्राप्त होगा' इस आशय से नैयायिकों की शंका और उसका समाधान—

न चैवमप्रमाऽपि प्रमा स्यात्, ज्ञानसामान्यसामग्र्या अवि-

शेषादिति वाच्यम् । दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात् । न चैवं परतस्त्वमिति वाच्यम् । आगन्तुकभावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वात् ।

अर्थ—ऐसा (ज्ञानजनक सामग्री को ही प्रामाण्योत्पादक सामग्री) मान लें तो अप्रमा (भ्रमज्ञान) भी प्रमा (यथार्थ) ज्ञान कहलायगा । क्योंकि (वहां भी) ज्ञान सामान्य की सामग्री में विशेष नहीं होता ।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि (हमने) दोषाभाव का भी हेतुत्वेन (हेतुरूप से) अंगीकार किया है । 'यह कहने से परतस्त्व प्राप्त होता है' ऐसी शंका यदि कोई करे तो ठीक नहीं है । क्योंकि आगन्तुक भाव कारण की अपेक्षा रहने पर ही परतस्त्व प्राप्त होता है ।

विवरण—शंका—रजत का रजतरूप से ज्ञान होते समय इन्द्रियादि जो सामग्री ज्ञान की होती है, वही शुक्तिका में (सीप में) रजत भ्रम (चाँदी भ्रम) होते समय भी होती है । इस कारण 'जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रामाण्य होता है' यदि मानें तो भ्रम को भी प्रमा कहना होगा । रज्जु में हुआ सर्प ज्ञान भी सत्य मानना होगा । इसलिये उसके प्रामाण्य का कारण ज्ञानजनक सामग्री से भिन्न ही मानना चाहिये ।

समाधान—हमारे मत में अप्रमा में प्रमात्व नहीं आ पाता, क्योंकि प्रमा में जैसे अन्य साधन सामग्री की आवश्यकता होती है वैसे ही दोषाभावरूप सहकारिकारण की भी आवश्यकता होती है । क्योंकि दोष, तो सभी कार्यों में प्रतिबंधक होता है । और उस प्रतिबंधक का अभाव, सभी कार्यों में सहकारिकारण रहता है । उदाहरण—अग्नि कितना भी प्रज्वलित क्यों न हो, दाह्य वस्तु के साथ चन्द्रकान्त मणि का संयोग यदि हो तो वह जला नहीं पाता । क्योंकि वहां मणि प्रतिबन्धक रहता है, इसे आप भी स्वीकार करते ही हैं । इसलिये दोषाभावरूप कारण से युक्त जो ज्ञान की सामग्री उसके ही कारण प्रमात्मक ज्ञान होता है । सीप में जब रजत ज्ञान होता है, तब चक्षु में तिमिरादि कोई दोष पैदा हो जाने से समस्त कारणों में से दोषाभावरूप एक कारण अप्रमा में न होमे से प्रमारूप ज्ञान नहीं हो पाता । अतएव अप्रमा, प्रमारूप कभी भी नहीं हो सकती ।

शंका—ऐसा मानने पर आपके लिये अप-सिद्धान्त होगा । क्योंकि ज्ञानजनक सामग्री के अतिरिक्त दोषाभावरूप पर (दूसरे) कारण का स्वीकार करने से आपने हमारा परतस्त्व पक्ष ही स्वीकृत किया-सा होगा ।

समाधान—यह आक्षेप ठीक नहीं । क्योंकि आगन्तुक भावरूपकारण की, प्रमा में अपेक्षा करने पर ही परतस्त्व की प्राप्ति होगी । आप भी (नैया-

यिक भी) 'प्रमाया गुणजन्यत्वं उत्पत्तौ परतस्त्वम्' परतस्त्व का लक्षण यही करते हैं (गुण रूप आगन्तुक भाव कारण की अपेक्षा होने से ही परतः प्रमात्व उत्पन्न होता है) अतः दोषाभावरूप (अभावरूप) कारण की आवश्यकता मानने पर भी, प्रामाण्य में परतस्त्व, उसके कारण नहीं हो सकेगा। इस प्रकार आगन्तुक भावरूप कारण की अपेक्षा न करते हुए ज्ञान सामान्य ग्राहक सामग्री से ही उत्पन्न होना ही प्रामाण्य के स्वतस्त्व का निष्कृष्ट स्वरूप है। इसमें अदृष्ट आदि की व्यावृत्ति के लिये 'आगन्तुक' पद है। और दोषाभावरूप कारण से परतस्त्व की प्राप्ति न हो इसलिये 'भाव' पद दिया गया है। तस्मात् अभावरूप अन्य कारणों का स्वीकार करने पर भी परतस्त्व नहीं प्राप्त होता। अतः प्रामाण्य स्वतः एव उत्पन्न होता है।

इस प्रकार 'प्रामाण्य स्वत एव उत्पन्न होता है' इस प्रतिज्ञा की सिद्धि की। अब वह प्रामाण्य स्वतोग्राह्य कैसे है? यह सिद्ध कर नैयायिक के परतोग्राह्यत्व पक्ष का निरास करते हैं।

ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः। स्वतोग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं प्रामाण्यं गृह्यते।

अर्थ—और प्रामाण्य स्वत एव जाना जाता है। स्वतोग्राह्यत्व का अर्थ है कि 'दोष का अभाव रहते हुए यावत् (समस्त) स्वाश्रय का (प्रमा का) ग्रहण करनेवाली सामग्री के द्वारा ग्रहण किया जाना—(जानना)।' स्वाश्रय का अर्थ है वृत्तिज्ञान, उसका ग्राहक साक्षिज्ञान होता है। उसके द्वारा वृत्तिज्ञान के ग्रहण करते समय, वृत्तिज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य भी जाना जाता है।

विवरण—जिस प्रकार प्रमाण्य की उत्पत्ति (स्वतः ज्ञानग्राहक सामग्री से ही) होती है, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी स्वतः एव होता है और यही स्वतोग्राह्यत्व है। हमे विवक्षित स्वतोग्राह्यत्व की व्याख्या इस प्रकार है—यावत् स्वाश्रयग्राहक सामग्री के द्वारा जानना। इसका आशय यह है—प्रामाण्य या प्रमात्व प्रमा का धर्म है। जैसे पुस्तक का पुस्तकत्व धर्म पुस्तक में ही रहता है, वैसे ही प्रमात्व (प्रामाण्य) भी प्रमानिष्ठ (ज्ञाननिष्ठ) होता है। यह ज्ञान ब्रह्मज्ञान नहीं है, किन्तु वृत्तिज्ञान है। इस कारण स्व=प्रामाण्य, उसका आश्रय=आधार वृत्तिज्ञान ही होता है। इसलिये स्वाश्रय शब्द से प्रामाण्य का आश्रय जो घटादि आकार से परिणत हुई वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यरूप वृत्तिज्ञान, उसका ग्रहण करना चाहिये। उन समस्त वृत्तिज्ञानों का ग्राहक (ज्ञापक) साक्षिज्ञान ही है। इस कारण

साक्षिज्ञान ही स्वाश्रयग्राहक=वृत्तिज्ञानज्ञापक सामग्री है। इसी साक्षिज्ञान को नैयायिक अनुव्यवसाय कहते हैं, और यही प्रमातृचैतन्य है। इस प्रमातृचैतन्य के द्वारा वृत्तिज्ञानरूप प्रमा का जब ज्ञान होता है तभी तन्निष्ठ प्रमात्व का भो ज्ञान होता है। क्योंकि धर्मज्ञानपूर्वक ही धर्मी का (पदार्थका) ज्ञान होता है। इसलिये प्रमाण्य का स्वाश्रयग्राहक सामग्री से ही (स्वत एव) ज्ञान होता है, यह मानना चाहिये, और यही स्वतोग्राह्यत्व है।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षपरिच्छेद में प्रतिपादित वेदान्ताभिमत ज्ञानप्रत्यक्ष प्रक्रिया के अनुसार देखने से भी यही सिद्ध होता है। तथाहि—ज्ञानस्थल में वृत्त्युपहितचैतन्य और प्रमातृचैतन्य की एकता आवश्यक है। इस कारण प्रमातृचैतन्य में वृत्त्युपहितचैतन्य का भी एकीभाव हो ही जाता है। तब प्रमातृचैतन्य के द्वारा वृत्त्युपहितचैतन्य का ज्ञान यदि हो जाता है तो उस वृत्तिज्ञान में विद्यमाय 'तद्वतितत्प्रकारकत्व' रूप प्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता, कैसे कहा जा सकेगा? इसलिये वृत्त्युपहितचैतन्य का प्रमातृचैतन्य के साथ ऐक्य होने पर तन्निष्ठ प्रमाण्य का भी उसके साथ ऐक्य होना मानना ही होगा। तस्मात् प्रमाण्य स्वतोग्राह्य ही है। इसलिये प्रामाण्य का ज्ञान परतः (अनुमान से) होता है, यह नैयायिकों का कहना योग्य नहीं है।

परतः प्रामाण्यवादी नैयायिक अनुमान आदि को ज्ञानग्राहक सामग्री मानते हैं। उन अनुमान आदि की व्यावृत्ति करने के लिये लक्षण में 'यावत्' यह विशेषण स्वाश्रय में दिया है। अनुमान समस्त ज्ञानों का ग्राहक न होने से 'यावत्स्वाश्रय' पद से उसकी निवृत्ति हो जाती है।

अब स्वतोग्राह्यत्व की व्याख्या में दिये गये 'दोषाभाव' का पदकृत्य बताते है।

न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः, तत्र संशयानुरोधेन दोषस्यापि सत्वेन दोषाभावघटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रामाण्यस्यैवाग्रहात्।

यद्वा—यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्वयोग्यत्वं स्वतस्त्वम्। संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्तयोग्यतासत्त्वेऽपि दोषवशेनाग्रहाद् न संशयानुपपत्तिः।

अर्थ—इस रीति से प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने पर 'प्रामाण्य विषयक संशय की अनुपपत्ति होगी' कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि वहां पर (संशय स्थल में) संशय के अनुरोध से दोष के होने से प्रामाण्य का ही ग्रहण नहीं होता।

अथवा यावत् जो स्वाश्रय, उसका ग्राहक जो साक्षिज्ञान, उससे ग्राह्य (ज्ञात होने योग्य) होना ही स्वतोग्राह्य का लक्षण किया जाय। संशय-स्थल मे प्रामाण्य में उक्त योग्यता के होने पर भी दोष के कारण उसका ज्ञान नहीं होता। इस कारण संशय की अनुपपत्ति नहीं होती।

विवरण—नैयायिकों का पूर्वपक्ष—भ्रम और प्रमा दोनों स्थलों में वृत्तिज्ञान रहता है और उसका ग्राहक साक्षिचैतन्य सर्वत्र समान ही है। इस कारण कोई भी ज्ञान, साक्षिज्ञान के द्वारा प्रकाशित होते ही उसके प्रामाण्य का निश्चय होना चाहिये। तब 'यह ज्ञान सत्य है या असत्य' इत्याकारक संशय, ज्ञान प्रामाण्य के विषय में हो ही नहीं सकता। किन्तु संशय तो होता है, वह अनुभव सिद्ध है। ऐसी स्थिति में स्वतः प्रामाण्यवादी वेदान्तियों का पक्ष अनुपपन्न है।

समाधान—हमने स्वाश्रयग्राहक (वृत्तिज्ञानग्राहक) साक्षिचैतन्य को दोषाभाव में विशेषण किया है। जहां पर हमें संशय होता है, वहां अनभ्यास, अपाटव आदि दोष हुआ करते हैं। इस कारण दोषाभावरूप विशेषण से घटित स्वतोग्राह्यत्व का लक्षण उस स्थल में नहीं लागू हो सकता। अतः 'दोषाभाव से युक्त स्वाश्रयग्राहक सामग्री के द्वारा ग्राह्य होना'—यह स्वतोग्राह्यत्व का निष्कृष्ट लक्षण है।

अथवा 'दोषाभाव' विशेषण का भी लक्षण में समावेश करने की आवश्यकता नहीं है। 'स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वयोग्यत्व' ऐसा योग्यत्व घटित लक्षण करने पर संशय उत्पन्न हो सकेगा। तथाहि—ज्ञानग्राहकसामग्री के द्वारा (साक्षिज्ञान से) प्रामाण्य का ज्ञान हो या न हो किन्तु तादृश प्रामाण्य के बोध होने की योग्यता यदि हो तो वहां हम—स्वतोग्राह्यत्व मानते हैं। संशयस्थल में भी ऐसी स्वतोग्राह्यता रहती है। किन्तु अनभ्यासादि दोषों के कारण प्रामाण्य का निश्चय न होने से ज्ञान के विषय में (ज्ञान में) हमें संशय होता है।

उदाहरणार्थ—बीज में अंकुरोत्पत्ति की योग्यता रहती है, किन्तु पर्जन्य-आदि के अभाव में अंकुर उत्पन्न नहीं होता। वैसे ही संशयस्थल में प्रामाण्य-ग्रह होने की योग्यता तो रहती है किन्तु दोष उसमें प्रतिबन्धक होने से प्रामाण्य का निश्चय न होकर संशय उत्पन्न होता है। अतः 'दोषाभाव' विशेषण न देने पर भी योग्यत्व घटित स्वतोग्राह्यत्व का लक्षण युक्त है। और प्रामाण्य स्वतोग्राह्य ही है—यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध कर अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञान परतः होते हैं—इसे बताते हैं।

अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम्, प्रमाया-मप्यप्रामाण्यापत्तेः। किन्तु दोषप्रयोज्यम्। नाप्यप्रामाण्यं यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यम् अप्रामाण्यघटकतदभाववत्त्वादेर्वृत्तिज्ञा-नाऽनुपनीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यत्वात्। किन्तु विसंवा-दिप्रवृत्त्यादिलिङ्गकानुमित्यादिविषय इति परत एवाप्रामाण्य-मुत्पद्यते ज्ञायते चेति।

अर्थ—अप्रामाण्य, ज्ञानसामान्यसामग्री का कार्य नहीं है (स्वयं उत्पन्न नहीं होता)। क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमा में भी अप्रामाण्य प्राप्त होगा। अतः वह दोष-प्रयोज्य है (दोष का कार्य है)। वैसे ही अप्रामाण्य, यावत्स्वाश्रय ग्राहक साक्षिज्ञान से भी ग्राह्य (स्वतोग्राह्य) नहीं है। क्योंकि अप्रामाण्यालक्षण के (तदभाववत्वादि) घटकों की (अवयवों की) वृत्तिज्ञान से उपस्थिति नहीं होती। इस कारण साक्षिज्ञान के द्वारा उसका ग्रहण होना संभव नहीं। अप्रामाण्य तो विसंवादि (विफल प्रवृत्ति) आदि हेतुओं से होने वाली अनुमिति आदि ज्ञानों का विषय है। तस्मात् अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है और परतः ही ज्ञात होता है।

विवरण—ज्ञान प्रमाण्य के समान उसका अप्रामाण्य (अयथार्थत्व) स्वतः उत्पन्न नहीं होता। ज्ञान सामान्य सामग्री से ही उस ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है—कहने पर प्रमा में भी अप्रमात्व प्राप्त होगा। क्योंकि ज्ञानसामान्य की इन्द्रियादि सामग्री, भ्रम और प्रमा दोनों में समान है। साधन में यदि भेद न हो तो साध्य में भी भेद उत्पन्न नहीं होगा।

प्रश्न—तो अप्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर—ज्ञानसामान्यसामग्री-व्यतिरिक्त दोष ही अप्रामाण्य में जनक होते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों में मन्द प्रकाश आदि दोष हों तो ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है—यह अनुभव है। एतावता अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य भी नहीं है। 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानत्वम्'—वस्तुतः रजतत्वाभाववान् पदार्थ में रजतत्व-प्रकारक-ज्ञान होना ही अप्रामाण्य का लक्षण है। ऐसे अप्रामाण्य का ज्ञान, यावत् स्वाश्रयग्राहक-सामग्री से (साक्षिज्ञान से) नहीं होता। क्योंकि अप्रामाण्य लक्षण के 'तद-भाववत्व' रूप अवयव का वृत्ति के द्वारा ज्ञान न होने से उसे साक्षिभास्यत्व नहीं है। भ्रम स्थल में शुक्तिका आदि में रजताकार वृत्ति होती है। रजतत्वा-भावाकार वृत्ति नहीं होती। और जिसकी उपस्थिति वृत्ति से नहीं होती

उसका साक्षी से ज्ञान होना संभव नहीं। 'तदभावत्वादि' के 'आदि'पद से 'बाधितार्थ विषयज्ञानत्व' रूप अप्रामाण्य लक्षण के बाधितत्व का ग्रहण करना चाहिये। अतः अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः नहीं होता।

प्र०—तब अप्रामाण्य का ज्ञान किस कारण से होता है ?

उत्तर—'विसंवादि०' इत्यादि वाक्य से दिया गया है। विसंवादि (विफल प्रवृत्ति) आदि से होनेवाली अनुमिति आदि में पूर्व ज्ञान का अप्रामाण्य विषय रहता है। इस कारण अप्रामाण्य, अनुमानादि ग्राह्य है। वह अनुमान इस प्रकार है—'मुझे प्रथमतः हुआ रजत ज्ञान, अप्रमारूप होना चाहिये, क्योंकि वह विसंवादि प्रवृत्ति का जनक हुआ है, रज्जु में हुए पहले-सर्प ज्ञान के समान।' इस विषय में वेदान्ती और नैयायिकों का ऐकमत्य है।

"प्रवृत्यादि" यहां 'आदि' पद से स्वप्न में भासित हुए गजादिज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध करनेवाले 'निद्रादिदोष' आदि हेतुओं का ग्रहण करना चाहिये। 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार आप्त के कहे जाने पर भी रजतादि ज्ञान में मिथ्यात्व ज्ञात हो जाता है, इसलिये 'अनुमित्यादि' यहां आदि-शब्द से ऐसे शाब्द ज्ञान का स्वीकार करना चाहिये। इस कारण अप्रामाण्य, अनुमानादि परकारणजन्य होने से परतोग्राह्य ही है। स्वतोग्राह्य नहीं है। वह परतः ही उत्पन्न होता है और परतः ही ज्ञात होता है।

॥ अनुपलब्धि परिच्छेदः समाप्तः ॥

अथ विषयपरिच्छेदः ७

'ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते' ऐसी प्रतिज्ञा कर उनमें से प्रमाण का निरूपण यहां तक किया गया। अब ब्रह्मरूप प्रमेय (विषय) का निरूपण करने के लिये प्रारंभ करते हैं—

एवं निरूपितानां प्रमाणानां प्रामाण्यं द्विविधम्—व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वं पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वं चेति। तत्र ब्रह्मस्वरूपावगाहिप्रमाणव्यतिरिक्तानां सर्वप्रमाणानामाद्यं प्रामाण्यम्, तद्विषयाणां व्यवहारदशायां बाधाभावात्। द्वितीयं तु जीवब्रह्मैक्यपराणां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) इत्यादीनां 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-१) इत्यन्तानाम्। तद्विषयस्य जीवपरैक्यस्य कालत्रयाबाध्यत्वात्।

अर्थ—इस प्रकार निरूपित किये गये प्रमाणों का प्रामाण्य दो प्रकार का है १—व्यावहारिक तत्व का आवेदक (निवेदन करनेवाला) और २—पारमार्थिक वस्तु का आवेदन (ज्ञान) करानेवाला। उनमें से ब्रह्मस्वरूप के बोधक प्रमाण के अतिरिक्त (अन्य) प्रमाणों में प्रथम व्यावहारिक प्रामाण्य होता है। क्योंकि उनके विषय व्यवहारकाल में बाधित नहीं होते। परन्तु 'हे प्रियदर्शन श्वेतकेतो पहले यह सत् ही था' इत्यादि 'वह ब्रह्म तू ही है' एतदन्त वाक्यों में द्वितीय (पारमार्थिक) प्रामाण्य होता है। क्योंकि जीवब्रह्मैक्य रूप विषय तीनों काल में अबाध्य रहता है।

विवरण—'अबाधित विषयत्व'—विषय का बाधित न होना, यह प्रामाण्य का लक्षण है। ब्रह्मबोधक प्रमाण से भिन्न प्रमाणों के विषय व्यवहारदशा में ही अबाधित होते हैं। ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होने पर जगन्मिथ्यात्वज्ञान होने से उनका बाध होता है। इसलिये उनका प्रामाण्य (व्यवहार में जिनका बाध नहीं होता ऐसी वस्तुओं का बोधन करना—इस-स्वरूप का) व्यवहारिक ही रहता है। किन्तु इसके विपरीत 'सदेव सोम्य' इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादन किया हुआ जीवब्रह्मैक्य कभी भी बाधित नहीं होता। इस कारण ब्रह्मबोधक प्रमाणों में (पारमार्थिक अबाध्य वस्तु का बोधकत्वरूप) प्रामाण्य होने से ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादक वाक्य ही तत्वतः प्रमाण होते हैं।

अतः क्रम प्राप्त प्रमेय का निरूपण कर्तव्य होने पर व्यावहारिक विषयों का निरूपण, वेदान्तोपयोगी न होने से जीवब्रह्माभेद का ही निरूपण करना

चाहिये और वह 'तत्' और 'त्वम्' पदों के ज्ञानाधीन है। इसलिये प्रथम 'तत्' पदार्थ निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं।

तच्चैक्यं तत्त्वंपदार्थज्ञानाधीनज्ञानमिति प्रथमं तत्पदार्थो लक्षणप्रमाणाभ्यां निरूप्यते। तत्र लक्षणं द्विविधम्—स्वरूपलक्षणं तटस्थलक्षणं चेति। तत्र स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणम्, यथा सत्यादिकं ब्रह्मस्वरूपलक्षणम्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१) 'आनन्ददो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३-६) इति श्रुतेः।

अर्थ—और वह ऐक्य ज्ञान 'तत्' और 'त्वम्' पदों के ज्ञानाधीन होने से प्रथम 'तत्' पदके अर्थ का लक्षण एवं प्रमाणों से निरुपण किया जाता है। उनमें लक्षण, स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण भेद से दो प्रकार का होता है। इन दोनों में से स्वरूपभूत जो लक्षण उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। जैसे—'सत्यादि' ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है 'ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है' आनन्द ही ब्रह्म है, ऐसा उसने जाना' ये श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं।

विवरण—'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों के ज्ञान के बिना उनका अभेद भी ज्ञात नहीं होता। इन दो पदों में से 'तत्' प्रथम होने से उसका (तत् पद का) लक्षण प्रमाणादि प्रथम बताया है। ब्रह्म का लक्षण और प्रमाण भिन्न न होकर एक वाक्य ही है। इसलिये 'लक्षण प्रमाणाभ्यां' यहां द्विवचन से स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण बोधक दो वाक्यों का ग्रहण करना चाहिये। द्विविध लक्षणों में से स्वरूपभूत लक्षण और तटस्थ लक्षण बोधक दो वाक्यों का ग्रहण करना चाहिये। द्विविध लक्षणों में से स्वरूप भूत लक्षण को स्वरूप लक्षण कहते हैं—जैसे—लौहित्य, उष्णता, और प्रकाश दीपक का स्वरूप है। वैसे ही श्रुतिप्रतिपादित सत्-चित्-आनन्द, ब्रह्म का स्वरूप है और वही लक्षण होने से वह स्वरूप लक्षण कहलाता है।

शंका—'असाधारणधर्मो लक्षणम्'—लक्ष्य पदार्थ में विद्यमान असाधारण धर्म को ही लक्षण करते हैं। सत्यादि धर्म वैसा न होने से उसे लक्षण कैसे कहा जाय? इस आशय से वादी की शंका और उसका समाधान—

ननु स्वस्य स्ववृत्तित्वाभावे कथं लक्षणत्वमिति चेत्। न। स्वस्यैव स्वापेक्षया धर्मिधर्मभावकल्पनया लक्ष्यलक्षणत्वसम्भवात्। तदुक्तम्—'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः, अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते' इति।

अर्थ—स्वयं में स्ववृत्तित्व का अभाव होने से स्वयं का ही वह लक्षण कैसे हो सकेगा ? (उसमें लक्षणत्व कैसे संभव है) यह शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि स्वयं में ही स्व की अपेक्षा से की हुई धर्म-धर्मिभाव की कल्पना से लक्ष्यत्व और लक्षणत्व बन सकता है। इस विषय में (पद्मपादाचार्य की संमति दिखलाते हैं) इसीलिये कहा है कि आनन्द, विषयानुभव और नित्यत्व—ये धर्म हैं, क्योंकि वे चैतन्य से पृथक् न होने पर भी पृथक् से भासित होते हैं।

विवरण—शंका—स्वरूप को ही लक्षण मानने से लक्ष्य में ही लक्षणत्व प्राप्त होगा' (लक्ष्य ही लक्षण हो जायगा)। लक्षणभूत धर्म लक्ष्य में रहना चाहिये। सत्यादि धर्म तो स्वरूप ही हैं। इसलिये उस स्वरूप में स्ववृत्तित्व का होना संभव नहीं। ऐसी स्थिति में सत्यादि, ब्रह्म के लक्षण कैसे हो सकेंगे ?

समाधान—यह कोई नियम नहीं है कि लक्षण भूत धर्म लक्ष्य से पृथक् हो, स्वयं में भी विशिष्ट अपेक्षा से धर्मत्व एवं धर्मित्व की कल्पना कर लक्षणत्व एवं लक्ष्यत्व का होना संभव हो सकता है। अर्थात् एक ही ब्रह्म, सत्यत्व रूप काल्पनिक धर्म से लक्षण होता है और वही ब्रह्मत्वरूप धर्म से लक्ष्य होता है। इसीलिये तो पंचपादिका में आनन्द, ज्ञान और सत्यत्व—ये चैतन्य से भिन्न नहीं है तथापि भिन्न से प्रतीत होते हैं, इस कारण उन्हें ब्रह्म के धर्म कहा गया है।

अब तटस्थ लक्षण का स्वरूप बताकर ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कथन करते हैं—

तटस्थलक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति तद्व्यावर्तकं तदेव, यथा गन्धवत्वं पृथिवीलक्षणम्। महाप्रलये परमाणुषु उत्पत्तिकाले घटादिषु गन्धाभावात्। प्रकृते ब्रह्मणि च जगज्जन्मादिकारणत्वम्। अत्र जगत्पदेन कार्यजातं विवक्षितम्, कारणत्वं च कर्तृत्वमतोऽविद्यादौ नातिव्याप्तिः।

अर्थ—जो लक्षण लक्ष्य के यावत् काल पर्यन्त (जबतक लक्ष्य रहे तब तक) स्थिर न रहकर लक्ष्य का व्यावर्तक (अन्य पदार्थ से भेदक) हो उसे तटस्थल लक्षण कहते हैं। जैसे—गन्धवत्व, पृथ्वी का तटस्थ लक्षण है। क्योंकि महाप्रलय के समय परमाणुओं में और उत्पत्तिकाल में घटादिकों में गन्ध नहीं होता। प्रकृत प्रसंग में जगज्जन्मादिकारणत्व, ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। यहां 'जगत्' शब्द से यावत् कार्य विवक्षित हैं और 'कारणत्व' पद से कर्तृत्व अभिप्रेत है। इस कारण इस लक्षण की अविद्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—जब तक लक्ष्य स्थिर रहे तब तक उसमें न रहकर कुछ समय तक ही लक्ष्य में रह कर अन्य पदार्थों से उसको भिन्न करने वाले लक्षण को तटस्थ लक्षण कहते हैं। उदाहरण—पृथ्वी का तटस्थ लक्षण 'गन्ध' है, क्योंकि वह महाप्रलय के समय पृथ्वीपरमाणुओं में नहीं रहता, और न प्रथम उत्पत्तिक्षण में घटादिकार्यरूप पृथ्वी में ही—ऐसा नैयायिक मानते हैं। 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' उत्पन्न हुआ द्रव्य क्षण भर निर्गुण रहता है, यह उनका सिद्धान्त है। तथापि गंध गुण के कारण पृथ्वी, जलादि अन्य द्रव्यों से भिन्न है—ऐसा ज्ञान होता है। इसलिये गंध में तटस्थ लक्षण का समन्वय हो जाता है। ऐसे ही प्रकृत ब्रह्म में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयहेतुत्व भी सृष्ट्युत्पत्त्यादि काल में ही रहता है। प्रलय के पश्चात् जगत् के ही न होने से उसका कारणत्व भी उसमें नहीं रहता। तथापि जगत् का कारणत्व, ब्रह्मव्यतिरिक्त अन्य पदार्थों में संभव न होने से, वह ब्रह्म को अन्यों से व्यावृत्त (भिन्न) करता है। इसलिए जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

शंका—जगत् के जन्मादिकों की कारणता, माया में भी होने से यह लक्षण वहां भी अतिव्याप्त है। इस शंका को दूर करने के लिये 'कारणत्व' शब्द से कर्तृत्वरूप निमित्त कारण, हमें विवक्षित है। जड अविद्या (माया) में जगत् की उपादानकारणता ही है, कर्तृत्व नहीं है। इस कारण उसमें इस ब्रह्म लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। 'आदि' शब्द से अदृष्टादि का स्वीकार करना चाहिये।

प्रश्न—कर्तृत्व से क्या तात्पर्य है? और ब्रह्म में कर्तृत्व मानने पर उक्त अतिव्याप्ति का निरास कैसे होता है? ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—

कर्तृत्वं च तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। ईश्वरस्य तावदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानसद्भावे च 'यः सर्वज्ञः-सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' (मु० १-१-९) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशचिकीर्षासद्भावे 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। तादृशकृतौ च 'तन्मनोऽकुरुत' इत्यादिवाक्यम्।

अर्थ—उन-उन उपादान कारणों का अपरोक्षज्ञान, चिकीर्षा (करने की इच्छा) और कृति (प्रयत्न) का होना ही कर्तृत्व है। ईश्वर में उपादानविषयक अपरोक्षज्ञान के होने में 'जो अक्षरसंज्ञक ईश्वर सामान्यतः और विशेषतः भी सर्वज्ञ है और जिसका तप ज्ञानमय ही है, उससे यह हिरण्य-

गर्भाख्य ब्रह्म, नाम, रूप और व्रीहियवादिरूप अन्न उत्पन्न होता है' (मुं० १-१-९) श्रुति ही प्रमाण है। उसे वैसी (जगद्विषयक) चिकीर्षा के होने में 'मैं बहुत होऊं एवं प्रजा उत्पन्न करूं ऐसी इच्छा उसने (आत्माने) की' (तै० २-६) इत्यादि श्रुति प्रमाण है। और उसकी कृति के विषय में 'उस ब्रह्म ने मन को उत्पन्न किया' इत्यादि श्रुतिवाक्य (बृ० १-२-१) आधार है।

विवरण—जिसे कार्य के उपादानकारण का अपरोक्ष (प्रत्यक्षात्मक) ज्ञान हो और उस कार्य के करने की इच्छा तदनुकूल प्रयत्न भी जिसका हो उसे उस कार्य का कर्ता कहते हैं। जैसे—कुम्हार में घट की मृत्तिकारूप उपादान कारण का प्रत्यक्षज्ञान, घट उत्पन्न करने की इच्छा और दो कपालों का संयोग कराने वाला प्रयत्न भी रहता है, इसलिये वह घट का कर्ता है। उसी प्रकार प्रकृत ईश्वर में भी जगत् के उपादानकारण (माया) का ज्ञानादि होने से वह जगत् का कर्ता है। माया जड होने से उसमें ज्ञान आदिका संभव नहीं। इस कारण माया जगत् की कर्त्री नहीं है। अतः ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व रूप तटस्थलक्षण की उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती।

शंका—ब्रह्म में इस प्रकार के कर्तृत्व के होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—इसीलिये तो ग्रन्थकार ने क्रमशः उपादानविषयक ज्ञान, चिकीर्षा और कृति को बताया है। इस विषय में तीन श्रुतिवाक्यों को भी उद्धृत किया है। 'आदि' शब्द से 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६-४) आदि श्रुतियों को भी समझ लेना चाहिये। ज्ञान, इच्छा और कृति ये तीनों मिलकर ब्रह्म का एक लक्षण नहीं है, अपितु वे तीन लक्षण हैं, ऐसा ग्रन्थकार कहते हैं।

ज्ञानेच्छाकृतीनां मध्येऽन्यतमगर्भलक्षणत्रितयमिदं विवक्षितम्, अन्यथा व्यर्थविशेषणत्वापत्तेः। अत एव जन्मस्थितिध्वंसानामन्यतमस्यैव लक्षणे प्रवेशः। एवं च प्रकृते लक्षणानि नैव सम्पद्यन्ते। ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वे च—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३-१) इत्यादिश्रुतिर्मानम्।

अर्थ—ज्ञान, इच्छा और कृति—इनमें से कोई एक भी जिस के गर्भ में (भीतर) घटक हो, ऐसे तीन लक्षण (यहां) विवक्षित हैं। नहीं तो उन्हें व्यर्थ विशेषणत्व प्राप्त होगा (उनका विशेषण रूपसे रहना व्यर्थ होगा)। इसीलिये 'जन्म, स्थिति और भंग (नाश)—इनमें से भी एक-एक का ही लक्षण में प्रवेश समझना चाहिये। इस प्रकार प्रकृतमें (ब्रह्म के) नौ लक्षण

होते हैं। ब्रह्म में जगत् के जन्मादिकों की कारणता के विषय में 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए भूत जिसके कारण जीवित रहते हैं, और लय के समय जिसमें प्रवेश करते हैं (वह ब्रह्म है)' इत्यादि श्रुति प्रमाण है (तै० ३-१)।

विवरण—ऊपर बताये हुए ज्ञान, इच्छा, कृति में से प्रत्येक को लक्षण में निविष्ट कर 'जगदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानवत्व' 'जगच्चिकीर्षावत्व' और 'जगदुत्पादनानुकूलकृतिमत्व' इस प्रकार के तीन स्वतंत्र लक्षण ही यहां विवक्षित हैं। अन्यथा (समस्त विशेषण मिलकर ब्रह्म का यह एक ही लक्षण है—ऐसा मानने पर) लक्षणगत दो विशेषण व्यर्थ होंगे। क्योंकि उनसे किसी की भी व्यावृत्ति नहीं होती। एक विशेषण से ही ब्रह्मेतर पदार्थों का निषेध सिद्ध हो जाने से उतना ही निर्दुष्ट लक्षण हो जाता है। इसी प्रकार आरंभ में बताये हुए जन्मादिकारणत्व रूप लक्षण में भी जन्म, स्थिति और नाश में से एकैक का समावेश कर तीन लक्षण समझ लेने चाहिये। इस रीति से १—जगज्जन्मोपादानगोचरापरोक्षज्ञान, २—तज्जन्मगोचरचिकीर्षा, ३—जगज्जन्मानुकूलकृति, ४—स्थित्युपादानविषयकज्ञान, ५—स्थितीच्छा, ६—स्थितिप्रयत्न, ७—प्रलयोपादान, ८—प्रलयेच्छा, और ९—प्रलयप्रयत्न ये ब्रह्म के नौ लक्षण सिद्ध होते हैं। ब्रह्म में जगत् के जन्मादि की कारणता के विषय में 'यतो वा' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। 'आदि' पद से 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति का ग्रहण करना चाहिये।

'जन्म, स्थिति और नाश इन तीनों से उपादानकारणत्व की ही सिद्धि होती है। इसकारण उसमें निमित्तत्व तो नहीं बन पाता' इस अरुचि से लघुलक्षण बताते हैं।

यद्वा—निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्। उपादानत्वं च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम्, जगदाकारेण विपरिणममानमायाऽधिष्ठानत्वं वा। एतादृशमेवोपादानत्वमभिप्रेत्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सच्च त्यच्चाभवत्' (तै० २-६) बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मप्रपञ्चयोस्तादात्म्यव्यपदेशः। घटः सन्, घटो भाति, घट इष्ट इत्यादिलौकिकव्यपदेशोऽपि सच्चिदानन्दरूपब्रह्मैक्याध्यासात्।

अर्थ—अथवा 'समस्त जगत् का उपादानत्व' ही ब्रह्म का लक्षण है उपादानत्व का अर्थ है कि अध्यास (भ्रम) का अधिष्ठानत्व, अथवा जगत् के

आकार में (जगदाकारेण) परिणत हुई माया का अधिष्ठानत्व। ब्रह्म में रहनेवाली इसी उपादानकारणता के अभिप्राय से 'जो यह सब है वह आत्मा ही है' (नृसिंहोत्तरतापनीय), 'वही मूर्त और अमूर्त हुआ' (तै. २-६) 'मैं बहुत होऊं' (तै०) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म और प्रपंच के तादात्म्य का (ऐक्य का) उपदेश किया गया है। 'घट-भासित होता है' और 'घट इष्ट है' इत्यादि लौकिक व्यवहार भी सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म के ऐक्याध्यास से ही होता है।

विवरण—समस्त जगत् का उपादानकारणत्व (उपादान कारण होना) ही ब्रह्म का लक्षण है, समझ लीजिये। किन्तु चेतन ब्रह्म में जड-प्रपञ्च का उपादानकारणत्व कैसे संभव हो सकता है ? और यह उपादान-कारणत्व माया में भी होने से उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। ऐसी शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि उपादान शब्द से हमें जागद्रूप अध्यास (भ्रम) का अधिष्ठान (आधार) ही विवक्षित है। मिथ्या रजत के भ्रम का अधिष्ठान जैसे शुक्ति होती है वैसे ही ब्रह्म में भासमान मायाकल्पित प्रपञ्च का अधिष्ठान (विवर्तोपादान) ब्रह्म ही है। माया नहीं। इस कारण उक्त दोष नहीं है।

इसपर भी 'जिसका परिणाम होता है वही उपादान होता है' ऐसा यदि आपका आग्रह ही हो तो दूसरा कल्प (पक्ष) बताते हैं—जगदाकारेण (जगद्रूप से) परिणाम को प्राप्त होनेवाली (परिणत होनेवाली) माया का अधिष्ठानत्व ब्रह्म में होना—यही उसका उपादानत्व है। माया में परिणामि उपादानत्व होने पर भी स्वाधिष्ठान-ब्रह्म के बिना वह कुछ नहीं कर सकती। इस कारण ब्रह्म में ही ऐसा उपादानत्व संभव हो सकता है। अतः यह ब्रह्मलक्षण निर्दुष्ट है।

माया के जगदाकारपरिणामित्व के होने में 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। वैसे ही ब्रह्म और प्रपञ्च का ऐक्य प्रतिपादन करनेवाली उपर्युक्त श्रुतियां भी ब्रह्म के इस उपादानकारणत्व को मानकर ही प्रवृत्त हुई हैं। अन्यथा चेतनब्रह्म और जडजगत् दोनों में ऐक्य का संभव नहीं। किन्तु भ्रमाधिष्ठानत्व मानने से जिस प्रकार सर्प तो केवल भासित होता है, वस्तुतः रज्जु ही है। उसी प्रकार भासमान जगत् , परमार्थतः ब्रह्म ही है—यह उनमें अभेद उपपन्न हो जाता है। 'आदि' शब्द से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वचन विवक्षित हैं। इसी प्रकार 'घट सत् है' इत्यादि लौकिक व्यवहार भी (लोगों का अभेद व्यवहार भी) सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म में जगत् का अध्यास मानकर ही होता है। क्योंकि यहां पर भासमान घटसत्ता, वास्तव में ब्रह्मसत्ता ही है। इसी प्रकार 'घट भासित होता है' यहां

जो भास होता है, वह चैतन्यका ही होता है, और 'घट इष्ट है' वाक्य से जो इष्टत्व प्रतीत होता है वह भी ब्रह्म के आनन्दस्वरूप में अध्यास मानकर ही होता है।

इस पर शंका और उसका समाधान—

नन्वानन्दात्मकचिदध्यासाद् घटादेरिष्टत्वव्यवहारे दुःखस्यापि तत्राध्यासात्तत्रापि इष्टत्वव्यवहारापत्तिरिति चेत्। न। आरोपे सति निमित्तानुसरणं, न तु निमित्तमस्तीत्यारोप इत्यभ्युपगमेन दुःखादौ सच्चिदंशाध्यासेऽप्यानन्दांशाध्यासाभावात्। जगति नामरूपांशद्वयव्यवहारस्तु अविद्यापरिणामात्मकनामरूपसम्बन्धात्।

तदुक्तम्—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ इति॥

अर्थ—शंका—'आनन्दात्मक चैतन्य में अध्यास के कारण घटादिकों का 'घट इष्ट है' ऐसा इष्टत्व-व्यवहार होता है। ऐसा कहने से दुःख का भी उस आनन्दात्मक ब्रह्म में ही अध्यास होने के कारण उस विषय में भी (दुःख इष्ट है) इत्याकारक इष्टत्व व्यवहार होने लगेगा।' ऐसी शंका करें तो वह ठीक नहीं। क्योंकि 'आरोप हो तो उसके निमित्त की (कारण की) कल्पना करनी चाहिये। निमित्त है इसलिये आरोप की कल्पना नहीं करनी चाहिये' यह अभ्युपगम (नियम) होने से, दुःख में सत् और चित् दो अंशों का अध्यास होने पर भी आनन्दांश का अध्यास नहीं होता, संसार में 'नाम' और 'रूप' इन दो अंशों का जो व्यवहार होता है, वह अविद्या परिणामात्मक नाम, रूप के संबंध से होता है। इसीलिये कहा है कि, 'है—सत्ता, भासता है—ज्ञान, प्रिय—आनन्द, रूप और नाम—ये पांच अंश प्रत्येक पदार्थ में प्रतीत होते हैं। उनमें से प्रथम तीन—सत्, चित्, आनन्द ये ब्रह्म रूप हैं, और शेष दो अंश—नाम, रूप, जगद्रूप हैं।

विवरण—वादी कहता है कि आनन्दात्मक ब्रह्म में घटादि पदार्थों के अध्यस्त होने से उनकी 'घट मुझे इष्ट है' इत्याकारक इष्टत्वेन प्रतीति होना आप बताते हैं। तो इसी के अनुसार ब्रह्म में दुःख पदार्थ के भी अध्यस्त होने से वह भी 'दुःख मुझे इष्ट है' इस रूप से प्रतीत होना चाहिये। परन्तु ऐसा अनुभव तो किसी को नहीं है। इस कारण क्या ब्रह्म में दुःख का अध्यास न माना जाय?

सिद्धान्ती उत्तर देता है—'यदि आरोप प्रत्यक्ष सिद्ध हो तो उसके निमित्त की चिकित्सा करनी चाहिये। आरोप का निमित्त होने मात्र से ही आरोप की कल्पना नहीं की जाती' यह नियम है। अतः हम यह कल्पना करते हैं कि यस्मात् 'दुःख इष्ट है' ऐसी दुःख में इष्टत्व की प्रतीति नहीं होती, तस्मात् दुःख में केवल 'सत्' और 'चित्' इन दो अंशों का अध्यास होता है, आनन्दांश का नहीं। इस कारण उक्त दोष नहीं है। 'अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम्' यह विद्यारण्य ने भी कहा है।

शंका—ब्रह्म तो नाम रूप से रहित होने के कारण उसपर आरोपित घटादिकों के विषय में 'अयं घटः शुक्लः' ऐसा नाम-रूपात्मक व्यवहार कैसे होता है ? ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि जगत् में नाम-रूपात्मक व्यवहार अविद्या (माया) के परिणामात्मक नाम-रूप के संबंध से होता है। इसी कारण प्रत्येक पदार्थ में 'अस्ति, भाति' इत्यादि रूप से प्रतीयमान पांच अंशों में से पहिले तीन अंश ब्रह्मरूप हैं और शेष दो जगद्रूप (माया परिणामरूप) हैं—यह अभियुक्तों का कथन है।

इस रीति से तत् पदार्थ के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षणों का निरूपण करने से अब उससे जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसे प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

अथ जगतो जन्मक्रमो निरूप्यते—तत्र सर्गाद्यकाले परमेश्वरः सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्यहेतुप्राणिकर्मसहकृतोऽपरिमितानिरूपितशक्तिविशेषविशिष्टमायासहितः नामरूपात्मकनिखिलप्रपञ्चं प्रथमं बुद्धावाकलय्येदं करिष्यामीति सङ्कल्पयति 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६–२–३) इति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २–६) इत्यादिश्रुतेः। तत आकाशादीनि पञ्चभूतानि अपञ्चीकृतानि तन्मात्रपदप्रतिपाद्यानि उत्पद्यन्त। तत्राकाशस्य शब्दो गुणः। वायोस्तु शब्दस्पर्शौ। तेजसस्तु शब्दस्पर्शरूपाणि। अपां तु शब्दस्पर्शरूपरसाः। पृथिव्यास्तु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः।

अर्थ—अब जगत् की उत्पत्ति का क्रम निरूपण किया जाता है। घटादि-प्रपञ्च की उत्पत्ति के समय परमेश्वर उत्पाद्य प्रपंच की विचित्रता में कारण बननेवाले प्राणिकर्मों की सहायता से एवं अपरिमित, अनिर्वाच्य विशेष शक्ति रूप माया से युक्त होकर प्रथमतः नाम-रूपात्मक समस्त प्रपंच का बुद्धि से

आकलन करता है और 'यह उत्पन्न करूंगा' ऐसा संकल्प करता है। 'वह (ब्रह्म) मैं बहुत होऊं इस प्रकार ईक्षण करता हुआ' (छां. ६-२) 'मैं बहुत होऊं और प्रजा उत्पन्न करूं-ऐसी कामना उसने की' (तै. २-६) इत्यादि श्रुति इस विषय में प्रमाण है। तदनंतर आकाशादि अपंचीकृत पांच भूत उत्पन्न होते हैं। इन्ही को (पंच) तन्मात्राएं भी कहते हैं। उन भूतों में से आकाश का गुण, शब्द है। किन्तु वायु के शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। तेज के शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण हैं। जल के शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण हैं। पृथ्वी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पांच गुण हैं।

विवरण—सृष्टि करते समय प्रथमतः परमेश्वर समस्त प्रपंच के स्वरूप का 'यह ऐसा है' इस प्रकार से आकलन कर लेता है, उसके अनंतर 'मैं यह उत्पन्न करूंगा' ऐसा संकल्प करता है। वह सत्यसंकल्प होने से उसके संकल्प के अनुसार क्रमशः आकाशादि पांच सूक्ष्म भूत उत्पन्न होते हैं और वे क्रम से शब्दादि एक एक गुणों से अधिक रहते हैं। इन अपंचीकृत आकाशादिभूतों को ही 'शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र' ऐसी पौराणिक संज्ञाएं हैं। ईश्वर के संकल्पपूर्वक सृष्टि उत्पन्न करने के विषय में दो श्रुतियों का ऊपर उल्लेख कर ही चुके हैं। 'आदि' शब्द से 'आत्मा वा··स ऐक्षत' (एत.) आदि श्रुतियों का ग्रहण करना चाहिये। वैसे ही सृष्टि के आकाशादि क्रम से उत्पन्न होने के विषय में 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी' (तै. ३-१) इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति प्रसिद्ध ही है।

शंका—ईश्वर ही ब्रह्मादि स्थावरान्त जगत् का निर्माण करता है—यह मानने से इस विषम उत्पत्ति के कारण ईश्वर में विषमता, निर्दयता, आदि दोष प्राप्त होंगे—इस शंका का निरसन करने के लिये ईश्वर में, 'सृज्यमान०' विशेषण जोड़ा गया है। ईश्वर, पर्जन्य के समान सर्वसाधारणतया ही उत्पादक है। उन उन प्राणियों के विशेष गुण उनके पूर्व कर्मानुसार ही उत्पन्न होते हैं। अतः विषमता में कारण कर्म होते हैं। ईश्वर तो उनकी सहायता से उनके अनुसार केवल विभाग कर देता है, इस कारण उसमें उक्त दोष नहीं आ पाते।

यदि कोई कहे कि तुम्हारे मत में परमेश्वर कूटस्थ-निर्विकार है तब उसमें संकल्पादि कैसे हो सकेंगे ?

'अपरिमित' इत्यादि विशेषण से उक्त शंका का निरसन किया है। निरुपाधिक ब्रह्म में जगत् का स्रष्टृत्व (उत्पादकत्व) यद्यपि संभव नहीं हो सकता, तथापि अनादि, अनिर्वचनीय, अपरिमित शक्तिरूप अपनी माया की

उपाधि से जब ब्रह्म, युक्त हो जाता है तब उस सोपाधिक ब्रह्म (ईश्वर) में जगत्कर्तृत्व उपपन्न होता है। अतः उक्त शंका युक्त नहीं है।

अब नैयायिकों के 'शब्द आकाश का ही गुण है' मत का निरसन करते हैं।

न च शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम्, वाय्वादावपि तदुपलम्भात्। न चासौ भ्रमः, बाधकाभावात्।

अर्थ—शब्द को केवल आकाश का ही गुण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वायु आदि में भी उसकी प्रतीति होती है। इसे भ्रम भी नहीं कह सकते क्योंकि उस प्रतीति में कोई बाधक नहीं है।

विवरण—शब्द केवल आकाश का ही गुण है वायु आदि भूतों में 'शब्द' गुण नहीं होता—यह नैयायिक मानते हैं। परन्तु ग्रंथकार कहते हैं कि यह उचित नहीं है। क्योंकि आकाश में प्रतिध्वनिरूप शब्द की जैसी प्रतीति होती है, वैसी वायु, तेज, जल और पृथिवी में भी क्रम से 'बिस्स्' 'भुग् भुग्' 'बुल बुल' और 'कड कड' आदि शब्द सुनाई पड़ते हैं। अतः इस प्रतीति के अनुसार पांचों भूतों में शब्द को मानना चाहिये।

इस पर नैयायिक कहता है कि वायु आदि द्रव्यों में शब्द की प्रतीति भ्रम से होती है। जैसे—अग्नि की उष्णता जल में भासित होने से 'उष्णं जलम्' व्यवहार होता है, उसी तरह आकाशनिष्ठ शब्द ही वायु आदि में भासित होता है, और उसी की 'यह वायु का शब्द है' ऐसी भ्रान्ति होती है।

सिद्धान्ती कहता है कि यह ठीक नहीं, क्योंकि बाधज्ञान होने पर ही पूर्वज्ञान भ्रमरूप सिद्ध होता है। परन्तु वायु में प्रतीयमान शब्द प्रतीति का कभी बाध नहीं होता। इस कारण उसे भ्रम मानना उचित नहीं। किन्तु पृथ्वी का एक मात्र गन्ध ही गुण मानना चाहिये, क्योंकि जल आदि में जो गंध की प्रतीति होती है, वह अन्वयव्यतिरेक से पृथ्वी के संबंध से ही होती है—यह अनुभव सिद्ध है।

अब उपक्रमपूर्वक इन्द्रियादि-सृष्टि को बताते हैं—

इमानि भूतानि त्रिगुणमायाकार्याणि त्रिगुणानि। गुणास्सत्त्वरजस्तमांसि। एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः पृथक् पृथक् क्रमेण श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते। एतेभ्यः पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यो मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि जायन्ते। श्रोत्रादीनां पञ्चानां क्रमेण

दिग्वातार्कवरुणाश्विनोऽधिष्ठातृदेवताः । मन आदीनां चतुर्णां क्रमेण चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युता अधिष्ठातृदेवताः ।

अर्थ—ये (अपंचीकृत) भूत, त्रिगुणात्मक माया के कार्य होने से त्रिगुणात्मक रहते हैं । उनमें सत्वगुण से युक्त हुए पांच भूतों से व्यक्तिशः क्रम से श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका—ये पांच इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं । परन्तु आकाशादिकों के एकत्र हुए सात्विक अंश से मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त उत्पन्न होते हैं । श्रोत्रादि पांच इन्द्रियों की क्रमशः दिशा, वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमार—ये अधिष्ठातृदेवता हैं । मन आदि चारों के क्रम से चन्द्र, ब्रह्मदेव, शंकर और विष्णु—ये अधिष्ठातृदेवता हैं ।

विवरण—ये भूत, सत्वरजस्तमोगुणात्मिका माया से उत्पन्न होने के कारण त्रिगुणात्मक ही होते हैं । उनमें से प्रत्येक के सत्वांश से क्रमशः श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं । जैसे—आकाश के सात्विक अंश से श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न होता है इत्यादि । वैसे ही इन पांच भूतों के एकत्रित हुए सात्विकांश से मन इत्यादि अन्तःकरण-चतुष्टय उत्पन्न होता है । उनकी अधिष्ठतातृदेवता अर्थात् श्रवणादि इन्द्रियों में श्रवण आदि की शक्ति देकर उनपर अनुग्रह करने वाली दिशादि और चन्द्रादि देवताओं का मूल में ही निर्देश किया है ।

पंच कर्मेन्द्रियां और प्राणों की उत्पत्ति बताते हैं—

एतैरेव रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैर्यथाक्रमं वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि जायन्ते । तेषां च क्रमेण वह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युप्रजापतयोऽधिष्ठातृदेवताः । रजोगुणोपेतपञ्चभूतैरेव मिलितैः पञ्च वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्या जायन्ते । तत्र प्राग्गमनवान् वायुः, प्राणः नासादिस्थानवर्ती । अर्वाग्गमनवानपानः, पाय्वादिस्थानवर्ती । विष्वग्गतिमान् व्यानः, अखिलशरीरवर्ती । ऊर्द्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुरुदानः, कण्ठस्थानवर्ती । अशितपीतान्नादिसमीकरणकरः समानः, नाभिस्थानवर्ती ।

अर्थ—रजोगुण से युक्त हुए उन्हीं पांच भूतों से व्यक्तिशः क्रम से वाणी, हस्त, पाद, गुदद्वार और मूत्रेन्द्रिय—ये कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, और उनकी क्रमशः अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, विष्णु, मृत्यु और प्रजापति—ये अधिष्ठातृदेवताएं हैं । रजोगुण से युक्त हुए इन पांच भूतों से ही मिलकर प्राण, अपान,

व्यान, उदान और समान—संज्ञक पांच वायु उत्पन्न होते हैं। उनमें सर्वदा ऊर्ध्वगतिमान् वायु को 'प्राण' कहते हैं। और वह नासिकादिस्थान पर रहता है। वैसे ही अधस्ताद् गमन करने वाले वायु को 'अपान' कहते हैं, और वह गुदादिस्थान पर रहता है। शरीर में सर्वतः गमन करने वाले वायु को 'व्यान' कहते हैं, और वह समस्त शरीर में वास करता है। जो वायु ऊर्ध्वगामी होकर उत्क्रमण में (खाये हुए अन्न को उलट कर गिराने में और परलोक गमन में) कारण होता है, उसे "उदान कहते हैं। वह कण्ठ में रहता है। खाये हुए अन्न का या पीये हुए रस का समीकरण (समविभाग पाचन करने वाला) करने वाले वायु को 'समान' कहते हैं, वह (मुख्यतः) नाभिस्थानवृत्ति होता है।

विवरण—आकाश के रजोगुणात्मक अंश से वागिन्द्रिय उत्पन्न होती है। इसी क्रम से वायु आदि चार भूतों के प्रत्येक के पृथक् पृथक् रजोंश से हास्तादि चार कर्मेन्द्रियां होती हैं और उनकी अग्न्यादि, अधिष्ठातृ (अनुग्राहक) देवता होती हैं। इसी प्रकार पांच भूतों के एकत्रित रजोंश से प्राणादिसंज्ञक पांच वायु होते हैं। उनके लक्षण ऊपर बता चुके हैं। इस विषय में—

'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।

उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥ यह श्लोक प्रसिद्ध है। प्राण का स्थान बताते समय 'नासादि' यहां 'आदि' शब्द का प्रयोग इसीलिये किया है। तथापि प्राणादिकों के नासिकादिस्थान 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐत०) श्रुति से व्यक्त होते हैं।

अब स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति और पंचीकरण प्रकार दिखलाते हैं।

तैरेव तमोगुणोपेतैरपञ्चीकृतभूतैः पञ्चीकृतानि जायन्ते। 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६–३–३) इति श्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणार्थत्वात्।

पञ्चीकरणप्रकारश्चेत्थम्—आकाशमादौ द्विधा विभज्यतयोरेकं भागं पुनश्चतुर्द्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानां वाय्वादिषु चतुर्षु भूतेषु संयोजनम्। एवं वायुं द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनः चतुर्द्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानामाकाशादिषु संयोजनम्। एवं तेज आदीनामपि। तदेवमेकैकभूतस्यार्द्धं स्वांशात्मकमर्द्धान्तरं चतुर्विधभूतमयमिति पृथिव्यादिषु स्वांशाधिक्यात्पृथिव्यादिव्यवहारः। तदुक्तम्—

'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (ब्र० सू० २-४-२३) इति ।

अर्थ—तमोगुण से युक्त हुए उन्हीं अपंचीकृतभूतों से पंचीकृत भूत होते हैं। क्योंकि 'उन तीन देवताओं में से एक एक देवता को मैं त्रिवृत् त्रिवृत् करती हूँ' (छां० ६-३-३) इत्यादि त्रिवृत्करण श्रुति ही पंचीकरण की का उपलक्षण है। पंचीकरण का प्रकार इस प्रकार है—प्रथमतः आकाश के दो भाग करें, उनमें से एक भाग के पुनः चार भाग करें तब इन चार अंशों को (भागों को) क्रम से वायु आदि चार भूतों में मिला दे। इसी प्रकार वायु के प्रथमतः दो भाग कर उनमें से एक भाग के पुनः चार भाग करे, और उन्हें आकाशादि चार भूतों में मिला दे। इसी प्रकार तेज आदि भूतों का भी पंचीकरण समझ लेना चाहिए। इस रीति से एक एक भूत का अर्ध भाग स्वांशात्मक (उस भूत का अंशरूप) होता है और दूसरा अर्ध भाग चार भूतों के (अष्टम) अंशरूप होता है। तथापि पृथिव्यादि भूतों में स्वयं के अंश का ही आधिक्य होने से उनमें 'यह पृथिवी' इत्यादि व्यवहार (शब्द प्रयोग) होता है। इसी कारण कहा गया है कि 'पृथिवी आदियों में उन्हीं के अंश का वैशेष्य (आधिक्य) होने से 'पृथिवी' आदि व्यवहार होता है।

विवरण—अपंचीकृत भूतों के तमोगुणात्मक अंशों से पंचीकृत भूत (स्थूलभूत) होते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में यद्यपि त्रिवृत्करण ही बताया है तथापि वह पंचीकरण का भी उपलक्षक (संग्राहक) है। वहाँ तेज, आप्, और अन्न (पृथ्वी) इन तीन भूतों की ही उत्पत्ति कही गई है। इस कारण त्रिवृत्करण (तीनों का ही मेलन) बताया है। परन्तु उस पर से पाँच भूतों का ज्ञान होने के कारण उनके पंचीकरण करने में कोई विरोध नहीं है। मूल के उद्धृत ब्रह्मसूत्र में 'तद्वादः' पद की द्विरुक्ति अध्याय की समाप्ति दिखलाने के लिए है।

लिंग शरीर की उत्पत्ति दिखाते हैं—

पूर्वोक्तैरपञ्चीकृतैर्लिङ्गशरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायि मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रियपञ्चककर्मेन्द्रियपञ्चकप्राणादिपञ्चकसंयुक्तं जायते।

तदुक्तम्—

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥ १ ॥ इति।

तच्च द्विविधं—परमपरं च। तत्र परं हिरण्यगर्भलिङ्गशरी-

रम् , अपरमस्मदादिलिङ्गशरीरम् । तत्र हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरं महत्तत्त्वम् , अस्मदादिलिङ्गशरीरमहङ्कार इत्याख्यायते ।

अर्थ—पूर्वोक्त अपचीकृत (सूक्ष्म) भूतों के योग से ही परलोकगमनादि समस्त कार्यों का निर्वाहक (कर्तृ), मोक्ष तक स्थायी, लिंग शरीर उत्पन्न होता है । वह, (लिंग शरीर) मन, बुद्धि, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय और पंचप्राणों से युक्त रहता है । (उक्तार्थ में मैत्रेयोपनिषद् का प्रमाण देते हैं) इसी कारण यह वचन है—पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दस इन्द्रियों से युक्त हुआ एवं अपंचीकृत भूतों से बना हुआ सूक्ष्मशरीर, भोग का साधन है । वह लिंग शरीर, पर-अपर भेद से द्विविध है । उनमें हिरण्यगर्भ का लिंगशरीर पर (व्यापक) होता है और हमलोगों का लिंग शरीर अपर (अव्यापक)होता है । हिरण्यगर्भ के लिंग शरीर की 'महत्तत्त्व' संज्ञा है और हमारे लिंग शरीर को 'अहंकार' कहा जाता है ।

विवरण—शुद्ध आत्मा व्यापक एवं निष्क्रिय होने से उसका परलोक में गमन और वहाँ से पुनः आगमन होना संभव नहीं, और स्थूल देह तो यहीं भस्म हो जाता है । इस कारण परलोकगमन आदि की उपपत्ति लगाने के लिए मोक्ष तक स्थिर रहनेवाले सप्तदश-अवयवात्मक लिंग शरीर का अवश्य स्वीकार करना चाहिए । यहाँ जो पर एवं अपर संज्ञाएँ बताई गई हैं उन्हें समष्टि एवं व्यष्टि भी कहते हैं ।

एवं तमोगुणयुक्तेभ्यः पञ्चीकृतभूतेभ्यो भूम्यन्तरिक्षस्वर्महर्जनस्तपःसत्यात्मकस्योर्ध्वलोकसप्तकस्य अतलवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपातालाख्याधोलोकसप्तकस्य ब्रह्माण्डस्य जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाख्यचतुर्विधस्थूलशरीराणामुत्पत्तिः । तत्र जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि, मनुष्यपश्वादिशरीराणि । अण्डजानि अण्डेभ्यो जातानि, पक्षिपन्नगादिशरीराणि । स्वेदजानि स्वेदाज्जातानि, यूकामशकादीनि । उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि, वृक्षादीनि । वृक्षादीनामपि पापफलभोगायतनत्वेन शरीरत्वम् ।

अर्थ—इस प्रकार तमोगुणयुक्त पंचीकृत भूतों से भूमि, आकाश, स्वर्ग, मह, जन, तप और सत्य—इन सात ऊर्ध्व लोकों की और अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल—इन सात अधोलोकों की, ब्रह्माण्ड की एवं जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चतुर्विध स्थूल

शरीरों की उत्पत्ति होती है। उनमें जरायु से उत्पन्न हुए मनुष्य एवं पशु आदि के शरीर 'जरायुज' कहलाते हैं। अण्ड से उत्पन्न होनेवाले पत्ती-सर्प आदि के शरीर 'अण्डज' कहलाते हैं। घर्म (पसीना) से उत्पन्न होनेवाले जू, मक्खी आदि कीटकों के शरीर 'स्वेदज' कहलाते हैं। भूमि का भेद कर ऊपर आनेवाले वृक्षादि के शरीर को 'उद्भिज्ज' कहते हैं। वृक्षादि भी पापफल के भोग के स्थान होने से उन्हें भी शरीरत्व है।

विवरण—पंचीकृत भूतों से चतुर्दश भुवन, ब्रह्माण्ड एवं चतुर्विध प्राणि-शरीरों की उत्पत्ति होती है। वृक्षादिकों के भी शरीर होते हैं—यह कैसे ज्ञात हुआ? क्योंकि अन्य प्राणियों की तरह उनकी प्रवृत्ति या कहीं आना-जाना भी नहीं दीखता। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि वृक्ष आदिकों के भी शरीर होते हैं। क्योंकि 'आत्मनो भोगायतनं शरीरम्'—आत्मा के भोग के स्थान को 'शरीर' कहते हैं—यह शरीर का लक्षण है। वृक्षादिक भी पूर्वकृत पापकर्म के उपभोग लेने के स्थान हैं। 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः'—मनुष्य, शरीरजन्य कर्मदोषों से स्थावरयोनि को पाते हैं—इत्यादि स्मृति इस विषय में प्रमाण है। वैसे ही उनमें किये घाव भी भर जाते हैं। इत्यादि अनुभव से उनकी विशिष्ट योनि होना सिद्ध होता है।

आधुनिक प्राणिशरीर एवं घट-पटादि कार्य मनुष्यजन्य होते दीखते हैं। तब 'ईश्वर, समस्त जगत् का कर्ता है' यह वाद कैसे संभव हो सकता है?

उत्तर देते हैं—

तत्र परमेश्वरस्य पञ्चतन्मात्राद्युत्पत्तौ सप्तदशावयवोपेतलिङ्गशरीरोत्पत्तौ हिरण्यगर्भस्थूलशरीरोत्पत्तौ च साक्षात्कर्तृत्वम्। इतरनिखिलप्रपञ्चोत्पत्तौ हिरण्यगर्भादिद्वारा,—'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६–३–२) इति श्रुतेः। हिरण्यगर्भो नाम मूर्तित्रयादन्यः प्रथमो जीवः।

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥ १॥

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य' (यजु० १३–४ ऋ० सं० १०–१२०–१) इत्यादिश्रुतेः। एवं भूतभौतिकसृष्टिनिरूपिता।

अर्थ—इन समस्त कार्यों में से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति में एवं अवयवात्मक लिंग शरीर की उत्पत्ति में परमेश्वर को साक्षात् कर्तृत्व है इससे भिन्न समस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति हिरण्यगर्भ के द्वारा होती है। '(वह सदाख्य देवता) अब मैं इन तीन देवताओं में इस जीव से (आत्मरूप से) अनुप्रवेश कर नाम और रूप को व्यक्त करता हूँ—इस प्रकार ईक्षण करती हुई' यह श्रुति इस विषय में प्रमाण है (छां० ६–३–२)। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीन मूर्तियों से भिन्न हिरण्यगर्भसंज्ञक प्रथम जीव है। इस विषय में 'वही पहला शरीरी और वही 'पुरुष' कहा जाता है। वह प्राणिमात्र का आदिकर्ता ब्रह्मा प्रथम उत्पन्न हुआ' 'हिरण्यगर्भ भूतों से पूर्व उत्पन्न हुआ' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। इस रीति से भूत-भौतिक सृष्टि का निरूपण किया गया।

विवरण—पांच सूक्ष्म भूत, लिंग शरीर और हिरण्यगर्भाख्य आदिजीव की उत्पत्ति का परमेश्वर साक्षात् कर्ता है। उसके पश्चात् होनेवाली समस्त सृष्टि को हिरण्यगर्भ के द्वारा वह उत्पन्न करता है। यह उक्त श्रुति से ज्ञात होने के कारण उक्त दोष नहीं हो पाता। क्योंकि आधुनिक कर्म भी ईश्वरानुग्रह के विना नहीं होते। यह वेदान्त सिद्धान्त है। समस्त लिंग (सूक्ष्म) शरीरों के अभिमानी प्रथम जीव को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। इस विषय में श्रुतियों के अनेक आधार दिये गये हैं। आदि शब्द से 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (श्वे० ६–१८) इत्यादि श्रुतियों को समझना चाहिये।

इस प्रकार भूत एवं भूतकार्यों की उत्पत्ति बताकर ग्रन्थकार कहते हैं—

इदानीं प्रलयो निरूप्यते। प्रलयो नाम त्रैलोक्यनाशः, स च चतुर्विधः—नित्यः प्राकृतो नैमित्तिक आत्यन्तिकश्चेति। तत्र नित्यः—प्रलयः सुषुप्तिः, तस्याः सकलकार्यप्रलयरूपत्वात्। धर्माधर्मपूर्वसंस्काराणां च तदा कारणात्मनाऽवस्थानम्। तेन सुषुप्तोत्थितस्य न सुखदुःखाद्यनुभवानुपपत्तिः। न वा स्मरणानुपपत्तिः। न च सुषुप्तावन्तःकरणस्य विनाशे तदधीनप्राणादिक्रियाऽनुपपत्तिः। वस्तुतः श्वासाद्यभावेऽपि तदुपलब्धेः पुरुषान्तरविभ्रममात्रत्वात् सुप्तशरीरोपलम्भवत्।

अर्थ—अब प्रलय का निरूपण किया जाता है। प्रलय का अर्थ है—त्रैलोक्य का नाश। वह नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक और आत्यन्तिक भेद से चतुर्विध है। उनमें सुषुप्ति (निद्रा) नित्य प्रलय है क्योंकि वह समस्तकार्यप्रलयरूप होती है। और उस समय धर्म, अधर्म एवं पूर्व संस्कार कारण रूप से

रहते हैं। इस कारण निद्रा से उठे व्यक्ति के सुख-दुःखादिकों के अनुभव की अनुपपत्ति या स्मरण का असंभव नहीं हो पाता।

शंका—'निद्रा में अन्तःकरण का नाश होता है' यह माना जाय तो उसके (अन्तःकरण के) आधीन रहने वाले प्राणादिकों के क्रिया की अनुपपत्ति होगी—ऐसी शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि निद्रावस्था में वस्तुतः प्राण नहीं होते। किन्तु अन्य पुरुषों को जो उसकी प्रतीति होती है, वह निद्रित पुरुष के शरीर-प्रतीति के समान ही भ्रमरूप है।

विवरण—जगदुत्पत्ति का निरूपण करने के अनन्तर क्रमानुरूप जगत् की स्थिति का निरूपण करना था, परन्तु 'स्थिति' सर्वलोक-प्रसिद्ध होने से ग्रंथकार प्रलय का ही निरूपण प्रारंभ करते हैं। स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—इन तीनों लोकों के लय को ही 'प्रलय' कहते हैं। प्राकृत और आत्यन्तिक प्रलय में सभी कार्यों का नाश होता है। केवल त्रैलोक्य का ही नहीं होता, तथापि उसमें त्रैलोक्य का भी नाश हो ही जाने से प्राकृत-प्रलय लक्षण पर अव्याप्ति दोष नहीं हो पाता। कूर्मपुराण में प्रलय के नित्यादि चार भेद कहे गये हैं। उनमें नित्यप्रलय का अर्थ–है–निद्रा। क्योंकि निद्रा में समस्त कार्यों का लय होता है, यह अनुभवसिद्ध है। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' इत्यादि श्रुति भी यही बता रही है।

शंका—'निद्रावस्था में सबके साथ धर्म-अधर्म आदि का भी लय-होता है' तब जागृत हुए पुरुष को सुख-दुःखों का अनुभव कैसे हो सकेगा?' इस शंका का 'धर्माधर्म०' आदि हेतु से समाधान किया गया है। निद्रा में धर्म, अधर्म और पूर्वानुभवों के संस्कार का आत्यंतिक लय नहीं होता, किन्तु जैसे वृक्ष बीज में रहता है वैसे ही वे स्वकारण में (अविद्या में) स्थित रहते हैं, इसीसे निद्रित पुरुष जगता है। धर्माधर्मानुरूप क्रमशः सुख दुःख को भोगता है, और पूर्वसंस्कारों के जागृत होने पर उसे पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण भी होता है।

शंका—'निद्रा में समस्त कार्यों के साथ अन्तःकरण का भी लय होता है' यह मानने पर सुप्त पुरुष के श्वासोच्छ्वासादि क्रियाएं नहीं हो सकेंगी, क्योंकि समस्त व्यापार मन के अधीन होते हैं।

समाधान—वस्तुतः सुप्त पुरुष के श्वासोच्छ्वास आदि का भी लय ही होता है। क्योंकि सुप्त पुरुष को किसी प्रकार की कोई प्रतीति नहीं हुआ करती। किन्तु अन्य जागृत पुरुषों को उसके प्राणादि क्रिया की जो प्रतीति होती है, वह उस पुरुष के शरीर-प्रतीति के तुल्य ही भ्रम रूप है, अर्थात् जैसे निद्रा में पुरुष को 'यह मेरा शरीर' इत्याकारक शरीर का ज्ञान न होने से उसकी दृष्टि में शरीरादिकों का भी अभाव होने के कारण ही अन्य लोगों को

उसका शरीर दिखलाई पड़ने पर भी वह भ्रम ही है। इसी प्रकार उसमें रहने वाले श्वासोच्छ्वासादि का ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान ही है। निद्रा भी एक व्यक्ति का प्रलय होने से, एक पुरुष का प्रलय होने पर भी वह दूसरे को ज्ञात नहीं हो पाता। यह उत्तर ग्रन्थकार ने दृष्टिसृष्टिवाद को मान कर (दृष्टि = वस्तु का ज्ञान ही सृष्टि = उत्पत्ति) दिया है। इस कारण प्रत्यक्षादिविरोध नहीं होता।

इस पर वादी की शंका और उसका समाधान—

न चैवं सुप्तस्य परेतादविशेषः। सुप्तस्य हि लिङ्गशरीरं संस्कारात्मनाऽत्रैव वर्तते, परेतस्य तु लोकान्तरे इति वैलक्षण्यात्। यद्वा, अन्तःकरणस्य द्वे शक्ती—ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति। तत्र ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तःकरणस्य सुषुप्तौ विनाशः, न क्रियाशक्तिविशिष्टस्येति प्राणाद्यवस्थानमविरुद्धम्। 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कश्चन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, अथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति', (कौ० ३-२) 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इत्यादिश्रुतिरुक्तसुषुप्तौ मानम्।

अर्थ—यह मानने पर 'निद्रित मनुष्य में और मृत-मनुष्य में कोई अन्तर नहीं रहता।' यह शंका नहीं की जा सकती क्योंकि सुप्त मनुष्य का लिंग शरीर संस्कार रूप से यहीं रहता है। परन्तु मृत मनुष्य का लिङ्ग शरीर अन्य लोक (लोकान्तर) में रहता है। यह दोनों में अन्तर है। अथवा क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति के भेद से अन्तःकरण की दो शक्तियां होती हैं। उनमें से ज्ञानशक्तिविशिष्ट अन्तःकरण का ही निद्रावस्था में नाश होता है। क्रियाशक्तिविशिष्ट का नहीं। इस कारण निद्रा में प्राणादिकों का रहना विरुद्ध नहीं है। 'जिस अवस्था में पुरुष समस्त विशेष ज्ञानरहित होकर निद्रित रहता है तब किसी भी जाग्रद्वासनारूप पदार्थ को नहीं देखता, उस समय इस प्राण में ही (क्रियाशक्ति में ही) एकत्व को पाता है, तब इस प्राणोपाधिक आत्मा में वाणी समस्त नाम के साथ लय को प्राप्त होती है। (कौ. ३-३) 'हे सोम्य, वह उस समय सत् से सम्पन्न होता है। स्वयं को (आत्मा को) प्राप्त होता है। (छां. ६-८-१) इत्यादि श्रुतियां उक्त सुषुप्ति में प्रमाण हैं।

विवरण—शंका—'निद्रा में प्राण का भी अभाव रहता है।' यह कहने पर निद्रा और प्राणवियोगरूप मृत्यु, ये दोनों समान ही कहे जायेंगे।

समाधान—नहीं, क्योंकि सुप्त पुरुष का लिंगशरीर संस्कार रूप से यहीं (इस लोक में ही) रहता है, परन्तु मृत मनुष्य का लिंगशरीर स्वर्ग-नरकादि परलोक में रहता है—इस कारण उन दोनों में भेद है। तथापि व्यवहार में अबाधितरूप से होनेवाली श्वासोच्छ्वासादिप्रतीति को 'भ्रम' कैसे कहा जा सकेगा? और उसे भ्रमरूप कहा जाय तो प्रत्यक्षादिप्रमाण पर किसी का विश्वास ही नहीं होगा। इस प्रकार पूर्वसमाधान पर अरुचि होने से दूसरा समाधान 'यद्वा' इत्यादि ग्रंथ से कहा गया है।

अन्तःकरण की ज्ञान और क्रिया नाम की दो शक्तियां होती हैं। उनमें से ज्ञानशक्ति का निद्रावस्था में लय हो जाता है। क्रियाशक्ति का लय नहीं होता। इस कारण क्रियाशक्तिमत् अन्तःकरण उस समय रहता ही है और प्राणादिक्रिया भी स्वरूपतः रहती है। अतः उसकी प्रतीति होती है। परन्तु यह मानने में आधार क्या है? इसके उत्तर में श्रुतियों को आधार (प्रमाण) के रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न किञ्चन वेद'—'प्राज्ञ' आत्मा के साथ तादात्म्यको पाया हुआ यह जीव कुछ भी नहीं जानता। तस्मात् 'निद्रा' नित्य (दैनन्दिन) प्रलय है। अब क्रमप्राप्त प्राकृत प्रलय को बताते हैं—

प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकः सकलकार्यनाशः। यदा तु प्रागेवोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य कार्यब्रह्मणो ब्रह्माण्डाधिकारलक्षणप्रारब्धकर्मसमाप्तौ विदेहकैवल्यात्मिका परा मुक्तिः, तदा तल्लोकवासिनामप्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह विदेहकैवल्यम्।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति श्रुतेः।

अर्थ—प्राकृत प्रलय का अर्थ है कि कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ) के विनाश से होनेवाला समस्त कार्यों का नाश। जब जिसे पहले ही ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ हो ऐसे हिरण्यगर्भ को ब्रह्माण्ड पर अधिकार चलाना रूप फलवाले प्रारब्ध कर्म की समाप्ति होकर विदेहकैवल्य के साथ परम मोक्ष प्राप्त होता है, तब उस ब्रह्मलोक में रहनेवाले उपासकों को भी ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होकर उस हिरण्यगर्भ के साथ ही विदेहमुक्ति मिलती है। क्योंकि 'महाप्रलय के प्राप्त होने पर हिरण्यगर्भ के अन्त समय (उसके अधिकार की परिसमाप्ति होने पर) शुद्ध चित्त हुए ब्रह्मलोकनिवासी जिन्हे सम्यग्ज्ञान हुआ है वे सब मुक्त होनेवाले हिरण्यगर्भ के साथ परमपद में प्रवेश करते हैं' यह श्रुति है।

विवरण—हिरण्यगर्भाख्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अधिकारी प्रथम जीव अर्थात् ईश्वर, ब्रह्मापरोक्षज्ञानवान् होने से जीवन्मुक्त ही है। परन्तु सकल ब्रह्माण्डात्मक जगत् पर सत्ता चलाने का (उसका नियमन करने का) प्रारब्ध कर्म उसका अवशिष्ट होने से उसे तत्काल विदेहमुक्ति नहीं मिलती। अपितु उपासना के उत्कर्ष से उसे हिरण्यगर्भ का अधिकार मिल जाता है। अधिकारफलक उस प्रारब्ध कर्म का भोग से क्षय होने पर वह विदेहमुक्ति को पाता है अर्थात् ब्रह्मरूप होता है; उस समय जो समस्त कार्य का नाश होता है, वही प्राकृतप्रलय है। प्राकृतप्रलय के समय उपासना के बल से अर्चिरादि उत्तर मार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त हुए ब्रह्मलोक-निवासियों को भी वह हिरण्यगर्भ ज्ञानोपदेश करता है और इस रीति से उन्हे भी ब्रह्मसाक्षात्कार के होनेपर उसके साथ वे भी परम मुक्ति पाते हैं।

एवं स्वलोकवासिभिः सह कार्ये ब्रह्मणि मुच्यमाने तदधिष्ठितब्रह्माण्डतदन्तर्वर्तिनिखिललोकतदन्तर्वर्तिस्थावरादीनां भौतिकानां भूतानां च प्रकृतौ मायायां च लयः, न तु ब्रह्मणि, बाधरूपविनाशस्यैव ब्रह्मनिष्ठत्वात्। अतः प्राकृत इत्युच्यते।

अर्थ—इस रीति से स्वलोकनिवासी लोगों के साथ हिरण्यगर्भ के मुक्त होते समय, उससे अधिष्ठित ब्रह्माण्ड, तदन्तर्गत भूरादि समस्त लोक और वहां के स्थावरादि (चतुर्विध प्राणिजात) भूत कार्यों का एवं आकाशादि पंचभूतों का प्रकृति में (मूलकारणभूत माया में ही) लय होता है, ब्रह्म में नहीं। क्योंकि बाधरूप विनाश ही ब्रह्मनिष्ठ होता है (निवृत्तिरूप नहीं होता) इसी कारण (प्रकृति में लय होने के कारण ही) इस प्रलय को प्राकृत कहते हैं।

विवरण—ब्रह्माण्डादि समस्त कार्य का प्रकृति में (माया में ही) लय होने से उसे प्राकृतलय कहते हैं। ब्रह्मज्ञान से अविद्यानिवृत्ति होने पर समस्त जगत् का जो बाधरूप नाश होता है वही ब्रह्मनिष्ठ होता है। इससे भिन्न निवृत्तिरूप विनाश तन्निष्ठ नहीं होता। इस कारण प्राकृत प्रलय में लीन होनेवाले अन्य जीवों की मुक्ति का प्रश्न नहीं उठता।

अब तीसरे नैमित्तिक प्रलय को बताते हैं—

कार्यब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तकस्त्रैलोक्यमात्रप्रलयः नैमित्तिकप्रलयः। ब्रह्मणो दिवसश्चतुर्युगसहस्रपरिमितकालः, 'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इति वचनात्। प्रलयकालो दिवसकालपरिमितः, रात्रिकालस्य दिवसकालतुल्यत्वात्।

अर्थ—हिरण्यगर्भ का दिन (दिवस) समाप्त होने से होने वाले केवल त्रैलोक्य के लय को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। 'चतुर्युग-सहस्रन्तु ब्रह्मणो दिन-मुच्यते'—ब्रह्मा का दिन एक हजार चतुर्युग (चौकड़ी) का कहा जाता है—इस पुराणवचन के अनुसार एक हजार चतुर्युगात्मक काल के पूर्ण होने पर ब्रह्मा का दिन पूर्ण होता है। प्रलयकाल भी दिन के परिमाण के तुल्य ही होता है, क्योंकि रात्रिकाल भी दिनकाल के बराबर ही होता है।

विवरण—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि-इन चार युगों को चतुर्युग कहते हैं। ऐसे हजार चतुर्युगों के बीतने में जितना काल लगता है, उतने समय में ब्रह्मदेव (हिरण्यगर्भ) का एक दिन होता है और उतने ही समय की रात्रि प्रारंभ हो जाती है। उस समय वह सोता है, इस कारण केवल भू, भुवर्, और स्वर् (स्वर्ग) इन तीन लोकों का नाश होता है। निद्रा निमित्त से होनेवाला यही नैमित्तिक प्रलय है।

प्राकृत प्रलय और नैमित्तिक प्रलय में प्रमाण बताते हैं—

प्राकृतप्रलये नैमित्तिकप्रलये च पुराणवचनानि।

द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्प्यन्ते प्रलयाय हि॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।

इति वचनं प्राकृतप्रलये मानम्।

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्॥

इति वचनं नैमित्तिकप्रलये मानम्।

अर्थ—प्राकृत प्रलय और नैमित्तिक प्रलय के विषय में पुराणवचन इस प्रकार हैं—'ब्रह्मा के शतवर्षात्मक आयुष्य के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध दो परार्धों के अतिक्रान्त होनेपर परम पद पर रहनेवाले ब्रह्मा का प्रलय होता है, उस समय महदादि सात प्रकृतियों का प्रलय होता है। हे राजन्! जिसमें समस्त कार्य लीन होते हैं वह, यह प्राकृत प्रलय है' यह वचन प्राकृत प्रलय में प्रमाण है। 'जिसमें विश्वस्रष्टा शेष रूप आसन पर सबको आत्मसात् (स्वयं में लीन) कर सोता है वह नैमित्तिक प्रलय है। यह वचन नैमित्तिक प्रलय के सद्भाव में प्रमाण है।

अब आत्यन्तिक प्रलय बताते हैं—

तुरीयप्रलयस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तकः सर्वमोक्षः। स चैकजीववादे युगपदेव, नानाजीववादे तु क्रमेण। 'सर्व एकी-

भवन्ति' इत्यादिश्रुतेः। तत्राद्यास्त्रयोऽपि लयाः कर्मोपरति-निमित्ताः, तुरीयस्तु ज्ञानोदयनिमित्तो लयो ज्ञानेन सहैवेति विशेषः। एवं चतुर्विधप्रलयो निरूपितः।

अर्थ—परब्रह्म के साक्षात्कार से होनेवाला सर्वमोक्ष, चतुर्थ (आत्यन्तिक) प्रलय है। 'एकजीववाद' पक्ष में वह एकदम ही (युगपदेव) होता है, किन्तु 'नानाजीववाद' पक्ष में क्रम से होता है। क्योंकि 'सब एक होते हैं' यह श्रुति है। (अब तक बताये गये चार प्रलयों में से) पहले तीनों प्रलय कर्म के उपरम से होते हैं। किन्तु यह चौथा प्रलय, ज्ञानोत्पत्ति से होता है, इसमें अज्ञानसहित कर्मों का उपरम होता है, यह इसमें विशेष है। इस रीति से चार प्रकार के प्रलयों का निरूपण हुआ।

विवरण—तत्त्वज्ञान होनेपर अविद्या और उसके समस्त कार्यों का प्रलय होता है। यह चौथा प्रलय है, इसी को 'सर्वमोक्ष' भी कहते हैं। समस्त जीवों को एक मानने पर एक जीव के मुक्त होते ही समस्त जीवों को एकदम मुक्त होना चाहिये। क्योंकि एकजीववादियों के मत में 'अविद्योपाधिक चैतन्य' ही 'जीव' होने से और उस अविद्या के एक होने से 'जीव' एक है। ऐसी स्थिति में एक जीव को तत्त्वज्ञान होते ही समस्त जीवों को एकदम तत्त्वज्ञान हो ही जाना चाहिये। और समस्त जीवों का एकदम प्रलय हो जाना चाहिये। परन्तु इस मत के अनुयायी बहुत न होने से और शुक-नारदादिकों के मुक्त हो जाने पर भी अन्य लोगों को मुक्ति नहीं मिली—यह दिखलाई देने से ग्रन्थकार ने अनेकवादिसम्मत 'नानाजीव' वाद का उल्लेख किया है। इस मत में 'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही जीव' है, और अन्तःकरण अनेक हैं। अतः चैतन्य के एक होनेपर भी चैतन्योपाधि के अनेक होने से जीव भिन्न हैं। इस कारण चैत्रव्यक्ति को तत्त्वज्ञान होने के कारण उसके मुक्त होनेपर भी मैत्रव्यक्ति का मुक्त होना संभव नहीं। एक की मुक्ति से सब मुक्त नहीं होंगे। प्रथम कहे हुए तीन प्रकारों में किसी विशेष कारण से हुई कर्म की उपरति से प्रलय होता है। किन्तु इस ज्ञाननिमित्तक प्रलय में समस्त कर्म और उनके मूलकारण अविद्या का प्रलय होता है। इसरीति से तत्त्वज्ञान के कारण अविद्या का उच्छेद होने से बीजनिवृत्ति हो जाने से पुनरावृत्ति, न होना ही इस प्रलय में विशेष है।

अब प्रलय के क्रम को बताते हैं—

तस्येदानीं क्रमो निरूप्यते—

भूतानां भौतिकानां च न कारणलयक्रमेण लयः। कारण-

लयसमये कार्याणामाश्रयान्तराभावेनावस्थानानुपपत्तेः। किन्तु सृष्टिक्रमविपरीतक्रमेण तत्तत्कार्यनाशे तत्तज्जनकादृष्टनाशस्यैव प्रयोजकतया उपादाननाशस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा न्यायमते महाप्रलये पृथिवीपरमाणुगतरूपरसादेरविनाशापत्तेः।

अर्थ—अब उस प्रलय के क्रम का निरूपण करते हैं। भूत और उनसे उत्पन्न पदार्थों के लय का क्रम, कारण से कार्य की ओर नहीं होता। क्योंकि कारणलय के समय कार्य का अन्य आश्रय न रहने से उसकी स्थिति नहीं बन सकती। अतः जिस क्रम से सृष्टि उत्पन्न होती है उसके विपरीत क्रम से लय होता है। किसी भी कार्य के नाश में उसके जनकभूत अदृष्ट का नाश ही प्रयोजक होता है। उस कार्य के उपादान कारण का नाश प्रयोजन नहीं होता। अन्यथा न्यायमत के तुल्य महाप्रलय के होने पर भी पृथ्वीपरमाणुओं में विद्यमान रूपरसादि गुणों के नाश न होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

विवरण—भूतों की उत्पत्ति का क्रम जैसा श्रुति में बताया है 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः'—ऐसे ही लय का भी क्रम होना चाहिये। वह क्रम, उत्पत्तिक्रम से विपरीत होता है। कार्य कारण में लीन होता है। और वह कारण, जिस कारण का कार्य होगा उस कारण में लीन होता है। जैसे पृथ्वी, जल में लीन होती है, जल अग्नि में लीन होता है इत्यादि। परन्तु नैयायिकों का मत, इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि प्रथम कारण का लय (नाश) होता है पश्चात् कार्य का। उस पर वेदान्ती का उत्तर है कि प्रथम कारण का लय होने पर कार्य निराधार रहेगा। मृत्तिका का लय यदि प्रथम हो जाय, तो मृत्तिकाविकाररूपघट, किसके आश्रय से रहेगा? इसलिये कार्यका लय कारण में होता है, यही क्रम मानना चाहिये। ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' ऐसा सिद्धान्त सूत्र है। जिस क्रम से सीढ़ी पर चढ़ते हैं उसके ठीक विपरीत क्रम से उतरते हैं। घट, शराव आदि पदार्थ लय होते समय मृत्तिका के स्वरूप को पाते हैं और हिम इत्यादि जल की स्थिति में हो जाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी, जल से उत्पन्न हुई है अतः उसका लय जल में होता है यह प्रलयक्रम जानना चाहिये।

वेदान्तियों के मत में कार्य के नाश में उसके (कार्य के) उपादान कारण का नाश प्रयोजक (कारण) न होकर उस कार्य के उत्पन्न होने में जो अदृष्ट (अपूर्व) कारणीभूत हुआ है उसका नाश ही उसमें प्रयोजक (कारण, हेतु) है।

नैयायिकों के मत के अनुसार उपादान कारण का नाश, कार्य के नाश

में कारण मानें तो महाप्रलय के समय पृथ्वी के परमाणुओं में विद्यमान रूप, रस, गन्ध आदि गुणों का नाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि नैयायिकों के मत में परमाणु नित्य होते हैं, उनका नाश न होने से तद्‌गत गुणों का भी नाश नहीं, और उनका नाश नहीं हुआ तो महाप्रलय कैसा ?। इसलिये रूपादिकों के जनक अदृष्ट विशेष का नाश होने पर समवायिकारण के रहते भी रूपादिकों का नाश होता है—यही मानना चाहिये। अर्थात् कारणलय क्रम से प्रलय को न मानकर कार्यालयक्रम से ही मानना चाहिये।

तथा च पृथिव्या अप्सु, अपां तेजसि, तेजसो वायौ, वायोराकाशे, आकाशस्य जीवाहङ्कारे, तस्य हिरण्यगर्भाहङ्कारे, तस्य चाविद्यायामित्येवंरूपाः प्रलयाः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते ॥ १ ॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् ! निष्कले संप्रलीयते ॥ २ ॥ इति।

एवंविधप्रलयकारणत्वं तत्पदार्थस्य ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणम्।

अर्थ—इस रीति से पृथ्वी का लय जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का जीवाहंकार में, जीवाहंकार का हिरण्यगर्भाहंकार में और उसका अविद्या में प्रलयक्रम समझना चाहिये। विष्णुपुराण में ऐसा कहा है कि 'हे देवर्षे ! जगत् की आधारभूत पृथ्वी, जल में लीन होती है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में और आकाश अव्यक्त में, और अव्यक्त निष्कल पुरुष में लीन होता है।" ('तत्वमसि'—महावाक्य के 'तत्' पद का अर्थ जो ब्रह्म, उसका 'ऐसे प्रलय का कारण होना' तटस्थलक्षण है।

विवरण—स्थूल भूतों की उत्पत्ति, जीवाहंकार से तो कहीं बताई नहीं गइ। अपंचीकृत भूतों से पञ्चीकरण होने पर स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति बताई गई है। ऐसी स्थिति में उनका जीवाहंकार में लय होना कैसे बताया जा रहा है ?

समाधान—अपंचीकृत भूतों के कतिपय अंशों से लिंग शरीर के अवयव उत्पन्नकर अवशिष्ट अंशों का पंचीकरण कर स्थूल भूतों को उत्पन्न किया गया है। इस कारण स्थूल भूतों के लय के समय लिंगशरीरावयवान्तर्गत अपञ्चीकृत भूतों के अतिरिक्त अन्य अपञ्चीकृतभूतों का अस्तित्व न रहने से महाभूतों का

जीवलिंग शरीर में (जीवाहंकार में) विलय बताया गया है। (मूल में जीवाहंकार शब्द जीवलिंग शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है)

जीवलिंगशरीर, हिरण्यगर्भलिंगशरीर से उत्पन्न होने के कारण उसका लय, हिरण्यगर्भाहंकार में बताया गया है। और उसका अविद्या में लय बताया है। क्योंकि अविद्या, मूलोपादान है अतः उपलक्षण से अविद्या का परमात्मा में शक्तिरूप से लय होना समझना चाहिये।

यहां तक सविस्तर निरूपण किये गये प्रलयपदार्थ से घटित ब्रह्मशब्द के तटस्थलक्षण को बताया गया।

अब ब्रह्म के 'जगत्कारण' रूप लक्षण पर होने वाले एक दोष का निरसन करते हैं।

ननु वेदान्तैर्ब्रह्मणि जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्यमाने सति सप्रपञ्चं ब्रह्म स्यादन्यथा सृष्टिवाक्यानामप्रामाण्यापत्तेरिति चेत्। न। न हि सृष्टिवाक्यानां सृष्टौ तात्पर्यं किन्तु अद्वितीये ब्रह्मण्येव।

अर्थ—वेदान्तवाक्यों के द्वारा ब्रह्म को 'जगत्कारण' बताये जानेपर ब्रह्म को प्रपञ्च युक्त मानना पड़ेगा। यदि ऐसा न मानें तो वेदान्त में पढ़े गये सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों को अप्रमाण कहना होगा। उत्तर में कहते हैं—नहीं, वेदान्त के सृष्टिप्रतिपादक वाक्यों का सृष्टि के कथन में तात्पर्य न होकर ब्रह्म के अद्वय प्रतिपादन में तात्पर्य है।

विवरण—'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले च प्रलीयते'—अव्यक्त, निष्कल पुरुष में विलीन होता है—इससे जगत् साक्षात् या परंपरा से परमात्मा में विलीन होता है। इस स्मृति से ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहना होगा। तब मृत्तिका के जैसे घट-शरावादि प्रपञ्च, वैसे ही जगत् को ब्रह्म का प्रपञ्च कहना होगा। क्योंकि ब्रह्म 'प्रपंचसहवर्तमान होने से प्रपंच, ब्रह्मपदवाच्य होगा। और ऐसा न मानने पर वेदान्त में (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः) बताये गये सृष्टिवाक्यों की क्या गति होगी ? अर्थात् वे अप्रमाण होंगे। इसपर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि वेदान्त के सृष्टिवाक्यों का उद्देश सृष्टिप्रतिपादन में नहीं है, अपितु 'ब्रह्म, अद्वितीय है'—यह बताने में है। इसी बात को अग्रिम ग्रंथ से कहते हैं—

तत्प्रतिपत्तौ कथं सृष्टेरुपयोगः ?। इत्थम्—यदि सृष्टिमनुपन्यस्य निषेधो ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य प्रतिपाद्येत, तदा ब्रह्मणि निषिद्धस्य प्रपञ्चस्य वायौ प्रतिषिद्धस्य रूपस्येव ब्रह्मणोऽन्यत्रा-

वस्थानशङ्कायां न निर्विचिकित्समद्वितीयत्वं प्रतिपादितं स्यात्। ततः सृष्टिवाक्याद् ब्रह्मोपादेयत्वज्ञाने सत्युपादानं विना कार्यस्यान्यत्र सद्भावशङ्कायां निरस्तायां नेतिनेतीत्यादीनां ब्रह्मण्यपि तस्यासत्त्वोपपादने प्रपञ्चस्य तुच्छत्वावगमे निरस्ताखिलद्वैतविभ्रममखण्डं सच्चिदानन्दैकरसं ब्रह्म सिद्ध्यतीति परम्परया सृष्टिवाक्यानामप्यद्वितीये ब्रह्मण्येव तात्पर्यम्।

अर्थ—सृष्टि का (सृष्टिप्रतिपादक वाक्यों का) ब्रह्मज्ञान करादेने में उपयोग कैसे होता है ? (उत्तर)—इसरीति से उपयोग होता है—सृष्टि का उपन्यास न कर प्रपंच का ब्रह्म में यदि निषेध कहें तो उस निषिद्ध प्रपंच की ब्रह्म से अन्यत्र स्थिति की आशंका हो सकती है, जैसे—वायु में रूप का निषेध करने पर, उससे अन्यत्र रूप की स्थिति की आशंका होती है। तब असन्दिग्ध अद्वैत नहीं बता पाये—कहा जायगा। अतः सृष्टिवाक्यों से 'जगत, ब्रह्मोपादानक है' यह ज्ञान होने पर 'उपादान के विना कार्य का अन्यत्र रहना असंभव है'—इस प्रकार आशंका का निरास हो जाता है। 'नेति-नेति' वाक्य से ब्रह्म में ही प्रपंच का असत्व बताये जानेपर प्रपञ्च की तुच्छता का ज्ञान होता है। और समस्तद्वैत, विभ्रमरहित, अखण्ड, सच्चिदानन्दघन एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है। इसरीति से सृष्टिवाक्यों का पर्याय से अद्वितीय ब्रह्म में ही पर्यवसान होता है।

विवरण—सृष्टि का प्रस्ताव न कर ब्रह्म में प्रपंच का अभाव यदि कहा होता तो प्रपंच का कारण अन्य कोई होना चाहिये—यह आशंका होना स्वाभाविक है। उससे ब्रह्म के अद्वितीयत्व में बाध होता है। इसलिये सृष्टिवाक्यों से प्रपंच की उत्पत्ति, ब्रह्म से बताकर उसका निराकरण किया है। और इस रीति से एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्म की सिद्धि की गई है। इस कारण सृष्टिवाक्यों का वाच्यार्थ ग्रहण न कर 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—जिसमें शब्द का तात्पर्य हो वही उस शब्द का अर्थ है—इस उक्ति के अनुसार सृष्टिवाक्यों का यथाश्रुत अर्थ ग्रहण न कर तात्पर्यार्थ का ग्रहण करना चाहिये। जैसे 'विषं भुंक्ष्व' वाक्य का वाच्यार्थ 'विष भक्षण कर' है। परन्तु वह उद्दिष्ट न होकर 'शत्रुगृह में भोजन करने की अपेक्षा विष खाना अच्छा' इस न्याय से इस वाक्य का तात्पर्यार्थ 'शत्रुगृह में भोजन मत करो' यही लेना पड़ता है। अतः सृष्टिवाक्यों का वाच्यार्थ ग्रहण न कर ब्रह्माद्वितीयत्वप्रतिपादक तात्पर्यार्थ ग्रहण करने पर सृष्टिवाक्य अप्रमाण नहीं होते।

शंका—सृष्टिवाक्यों से अद्वितीय ब्रह्म का बोध होने पर भी असन्दिग्ध

अद्वितीय ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि वेदान्त के "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः (छा० ६-७-८) आदि वाक्यों में सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। यह आशंका कर ग्रंथकार कहते हैं—

उपासनाप्रकरणपठितसगुणब्रह्मवाक्यानां चोपासनाविध्यपेक्षितगुणारोपमात्रपरत्वं, न गुणपरत्वम्। निर्गुणप्रकरणपठितानां सगुणवाक्यानां तु निषेधवाक्यापेक्षितनिषेध्यसम्पादकत्वेन विनियोग इति न किञ्चिदपि वाक्यमद्वितीयब्रह्मप्रतिपादनेन विरुध्यते।

अर्थ—उपासना के प्रकरण में आये हुए सगुणब्रह्मप्रतिपादक वाक्यों का तात्पर्य, उपासनाविधि में अपेक्षित गुणों का केवल आरोप करने के लिये होता है। ब्रह्म में उन गुणों का अस्तित्व प्रतिपादन में नहीं। निर्गुण ब्रह्म प्रकरण में आये हुए सगुणब्रह्मप्रतिपादकवाक्यों का उपयोग, निषेधबाक्यों में निषेध के उपयोगी (निषेध के लिये इष्ट) गुणों की केवल उपस्थिति करादेना मात्र है। इस रीति से कोई भी वाक्य अद्वितीयब्रह्मप्रतिपादन में विरुद्ध नहीं है।

विवरण—सृष्टिप्रतिपादक वाक्यों के होने पर भी ब्रह्म के अद्वैत होने में किस प्रकार बाध नहीं है—यह बता चुके। अब सगुणब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादक वाक्यों के होनेपर भी ब्रह्म के निःशङ्क अद्वितीयत्व होने में किस प्रकार बाध नहीं होता, सो बताते हैं।

ब्रह्मोपासना के प्रकरण में उपासना के दो प्रकार बताये गये हैं। एक सगुणब्रह्मोपासना और दूसरी निर्गुणब्रह्मोपासना। उनमें से प्रथम उपासना में (उपासना में) अपेक्षित गुणों का आरोप करने भर के लिये सगुणब्रह्मवाक्यों का उपयोग है, और दूसरी उपासना में सगुणब्रह्मप्रतिपादकवाक्यों का उपयोग केवल 'नेति नेति' (यह, ब्रह्म नहीं, यह, ब्रह्म नहीं) निषेध के लिये अपेक्षित पदार्थों का संग्रह करना मात्र है। इस रीति से सगुणवाक्यों की गति लगाने पर ब्रह्म का निःशंक अद्वितीयत्व सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार द्विविध लक्षणों से (स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण) जो लक्ष्य बताया जाता है, उसे बताते हैं—

तदेवं स्वरूपतटस्थलक्षणलक्षितं तत्पदवाच्यमीश्वरचैतन्यं मायाप्रतिबिम्बितमिति केचित्। तेषामयमाशयः—जीवपरमेश्वरसाधारणं चैतन्यमात्रं बिम्बम्, तस्यैव बिम्बस्याविद्यात्मिकायां मायायां प्रतिबिम्बमीश्वरचैतन्यमन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीवचै-

तन्यम्। 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति श्रुतेः। एतन्मते जलाशयगतशरावगतसूर्यप्रतिबिम्बयोरिव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः। अविद्यात्मकोपाधेर्व्यापकतया तदुपाधिकेश्वरस्यापि व्यापकत्वम्। अन्तःकरणस्य परिच्छिन्नतया तदुपाधिकजीवस्यापि परिच्छिन्नत्वम्।

अर्थ—इस रीति से स्वरूपलक्षण एवं तटस्थलक्षण—इन दो लक्षणों से लक्षित और 'तत्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद से वाच्य जो ईश्वर चैतन्य, वही माया में प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य है—यह मत, कतिपय वेदान्तियों का है। इनका आशय यह है—जीव एवं परमेश्वर दोनों के लिये जो साधारण (उभय साधारण) चैतन्य, वह तो बिम्ब है, और इस बिम्ब का अविद्यात्मक माया में जो प्रतिबिम्ब गिरता है, वह है ईश्वरचैतन्य (ईश्वर है)। एवं अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य जीवचैतन्य (जीव) है। इस विषय में 'जीव' कार्योपाधि हैं, और 'ईश्वर' कारणोपाधि है' श्रुति प्रमाण है! (अन्तःकरण, माया का कार्य है और वही जीव की उपाधि होने से उसे (जीव को) 'कार्योपाधि' कहा गया है, एवं माया, जगत्कारण है, और वही ईश्वर की उपाधि होने से ईश्वर को 'कारणोपाधि' कहा है) इस मत के अनुसार एक ही सूर्य के भिन्न भिन्न प्रतिबिम्बों के समान जीव और ईश्वर में भेद है। अविद्यात्मक उपाधि के व्यापक होने से तदुपाधिक ईश्वर भी व्यापक और अन्तःकरण के परिच्छिन्न (अव्यापक=व्याप्य) होने से तदुपाधिक जीव भी परिच्छिन्न कहा जाता है।

विवरण—इस परिच्छेद के आरंभ में जीवब्रह्मैक्यरूप पारमार्थिकतत्व का ज्ञान, तत्त्वं पदार्थ के ज्ञानाधीन होने से तत् पदार्थ के निरूपण का आरंभ किया, प्रसंगवश लक्षण और उसके प्रकार (भेद) का भी विवेचन हुआ। अब ग्रंथकार द्विविध लक्षणों से लक्षित और 'तत्' पद के वाच्य ईश्वर चैतन्य को बता रहे हैं। इस ईश्वरस्वरूपविषयकवाद को वेदान्त में 'प्रतिबिम्बवाद' कहते हैं, जो कि पंचदशी में अच्छा समझाया गया है। इस मत में माया में प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य ही ईश्वर है। ईश्वरस्वरूपगतचैतन्य और जीवस्वरूपगतचैतन्य दोनों एक ही हैं। किन्तु माया में उसका (चैतन्य का) गिरा हुआ प्रतिबिम्ब ईश्वर, और अन्तःकरण में गिरा हुआ प्रतिबिम्ब जीव, कहलाता है। एक ही सूर्य के भिन्न भिन्न स्थलों में गिरे प्रतिबिम्ब जैसे अनेक होते हैं वैसे ही ईश्वर और जीव परस्पर भिन्न होते हैं। इतना ही नहीं, अपितु जीव भी परस्पर भिन्न हैं। ईश्वर की उपाधि माया के व्यापक होने से ईश्वरस्वरूप अर्थात् व्यापक होता है और जीव की उपाधि परिच्छिन्न होने से

जीवस्वरूप परिच्छिन्न होता है। इस मत के अनुसार जीव की अनेकता सिद्ध होती है। इस मत में दोष दिखलाकर ग्रन्थकार दूसरा मत बताते हैं।

एतन्मतेऽविद्याकृतदोषा जीव इव परमेश्वरेऽपि स्युरुपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वादित्यस्वरसाद् बिम्बात्मकमीश्वरचैतन्यमित्यपरे। तेषामयमाशयः—एकमेव चैतन्यं बिम्बत्वाक्रान्तमीश्वरचैतन्यं प्रतिबिम्बत्वाक्रान्तं जीवचैतन्यम्। बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनोपाधिश्चैकजीववादे अविद्या, अनेकजीववादे तु अन्तःकरणान्येव। अविद्यान्तःकरणरूपोपाधिप्रयुक्तो जीवपरभेदः। उपाधिकृतदोषाश्च प्रतिबिम्बे जीव एव वर्तन्ते, न तु बिम्बे परमेश्वरे। उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। एतन्मते च गगनसूर्यस्य जलादौ भासमानप्रतिबिम्बसूर्यस्येव जीवपरयोर्भेदः।

अर्थ—इस मत में (ईश्वर, मायाप्रतिबिम्बित चैतन्य है) जीव के तुल्य ईश्वर में भी अविद्या के कारण दोष हो सकते हैं। क्योंकि उपाधिरूप अविद्या भी प्रतिबिम्ब की कोटि में ही है। इस अरुचि से कुछ वेदान्ती (मायाप्रतिबिम्बितचैतन्य को ईश्वरस्वरूप न मान कर) बिम्बरूप चैतन्य को ही ईश्वर मानते हैं। इनका आशय यह है—एक ही चैतन्य बिम्बरूप से ईश्वर, और प्रतिबिम्बरूप से जीव कहा जाता है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब की कल्पना होने में 'एकजीववाद' पक्ष में 'अविद्या' रूप उपाधि, और 'अनेकजीववाद' पक्ष में 'अन्तःकरण' उपाधि है।

जीव और ईश्वर में भेद, अविद्या (एकजीववाद पक्ष में) और अन्तःकरण (अनेकजीववाद पक्ष में) रूप उपाधि से होता है। उपाधि से उत्पन्न होने वाले दोष प्रतिबिम्बभूत जीव में ही रहते हैं। बिम्बभूत परमेश्वर में नहीं हो पाते। क्योंकि उपाधि, प्रतिबिम्बपक्ष में अन्तर्भूत होती है। इस मत के अनुसार आकाश के सूर्य और जल में भासमान प्रतिबिम्बभूत सूर्य के भेद के समान जीव और ईश्वर में भेद है।

विवरण—पूर्व मत में मायाप्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वरस्वरूप मानने से माया के दोष (अविद्यादोष) ईश्वर में होना संभव हैं उन्हें दूर करने के लिये बिम्बभूतचैतन्य को ही ईश्वरस्वरूप मानना चाहिये। प्रतिबिम्ब में उपाधि का अन्तर्भाव होने से उसके दोष बिम्बवादी के मत में ईश्वर में संभव नहीं हो सकते। किन्तु जीव, उपाधि प्रतिबिम्बित होता है। इसमें पुनः दो पक्ष हैं। 'समस्तजीव एक ही हैं'—ऐसा मानने वाले एकजीववादी, और जीव परस्पर

भिन्न हैं—ऐसा मानने वाले अनेकजीववादी। 'जीव एक है' यह मानने पर एक उपाधि माननी होती है और वह है अविद्या। 'जीव अनेक हैं'—यह मानने पर उपाधि अनेक माननी होती है, और वह भिन्न भिन्न अन्तःकरण हैं। इस मत में दोषाश्रय केवल जीव ही हो सकता है क्योंकि वह प्रतिबिम्ब-भूत है और उपाधि, प्रतिबिम्बपक्षान्तर्भूत है। आकाशस्थ सूर्य और जलाशयगत सूर्य में जैसे भेद है वैसे ही जीव और परमेश्वर में भेद होता है।

इस दूसरे मत में पूर्वोक्त दोष न होने पर भी अन्यदोष की आशंका कर उसका निराकरण करते हैं।

ननु ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणप्रदेश इव बिम्बचैतन्यस्य परमेश्वरस्य जीवप्रदेशेऽभावात्तस्य सर्वान्तर्यामित्वं न स्यादिति चेत्। न। साभ्रनक्षत्रस्य आकाशस्य जलादौ प्रतिबिम्बितत्वे बिम्बभूतमहाकाशस्यापि जलादिप्रदेशसम्बन्धदर्शनेन परिच्छिन्न-बिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशासम्बन्धित्वेऽप्यपरिच्छिन्नब्रह्मबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशसम्बन्धाविरोधात्।

अर्थ—शंका—ग्रीवा पर (कण्ठ पर) स्थित मुखका दर्पण अभाव जैसे रहता है (दर्पण में केवल उसका प्रतिबिम्बमात्र रहता है) वैसे ही (ईश्वर को यदि बिम्बरूप मानें) बिम्बभूतचैतन्यस्वरूपपरमेश्वर का जीव प्रदेश में अभाव होने से ईश्वर का सर्वान्तर्यामित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा।

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। अभ्र (मेघ) नक्षत्र सहित आकाश का जल में प्रतिबिम्ब पड़ने पर बिम्बभूतमहाकाश का भी जल प्रदेश के साथ सम्बन्ध जैसे दीखता है वैसे ही परिच्छिन्नबिम्ब का प्रतिबिम्ब प्रदेश के साथ संबन्ध न होने पर भी अपरिच्छिन्न ब्रह्मबिम्ब का प्रतिबिम्ब देश के साथ संबन्ध हो सकने में कोई विरोध नहीं है।

विवरण—पूर्वपक्षी के कहने का आशय यह है—बिम्बचैतन्य को 'परमेश्वर' एवं प्रतिबिम्बचैतन्य को 'जीव' कहने पर बिम्ब का प्रतिबिम्ब के साथ साक्षात् संबंध नहीं वैसे ही ईश्वर का जीव के साथ साक्षात् संबंध नहीं हो सकेगा तब ईश्वर का 'सर्वनियन्तृत्व' सिद्ध न होगा।

इस पर सिद्धान्ती का उत्तर यह है—हम अभ्रनक्षत्रों के सहित आकाश के उदाहरण से देखें। ऐसे आकाश का, जल में गिरे प्रतिबिम्ब के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी बिम्बभूतमहाकाश के एक होने से, जिस जलादि प्रदेश में उसका प्रतिबिम्ब गिरा है तदवच्छिन्न प्रदेश के साथ भी उसका सम्बन्ध रहता ही है। वैसे ही परिच्छिन्न बिम्बस्वरूप परमेश्वर का, प्रतिबिम्ब-

स्वरूप जीव के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी अपरिच्छिन्न ब्रह्मबिम्ब का सब के साथ अर्थात् प्रतिबिम्बरूप जीव के साथ भी संबन्ध है ही। इस कारण ईश्वर के सर्वान्तर्यामित्व में कोई हानि नहीं हो पाती।

अब सिद्धान्ती ने उदाहरण में दिये दृष्टान्त पर दोष की आशंका कर उसका परिहार करते हैं—

न च रूपहीनस्य ब्रह्मणो न प्रतिबिम्बसम्भवः, रूपवत एव तथात्वदर्शनादिति वाच्यम्। नीरूपस्यापि रूपस्य प्रतिबिम्बदर्शनात्। न च नीरूपस्य द्रव्यस्य प्रतिबिम्बाभावनियमः आत्मनो द्रव्यत्वाभावस्योक्तत्वात्।

'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (ब्र० वि० १२) 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपा भिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्' इत्यादिवाक्येन ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावानुमानस्य बाधितत्वाच्च। तदेवं तत्पदार्थो निरूपितः।

अर्थ—ब्रह्म, रूपरहित है। और रूपहीन का प्रतिबिम्ब गिरना संभव नहीं, क्योंकि रूपवान् पदार्थ का प्रतिबिम्ब गिरता देखा जाता है—ऐसी शंका नहीं की जा सकती। क्योंकि रूप में अपना स्वयं का पृथक् रूप न रहने पर भी उसका प्रतिबिम्ब गिरता देखा जाता है। इसके अतिरिक्त 'रूपरहित' द्रव्य के प्रतिबिम्ब का अभाव रहता है' (प्रतिबिम्ब नहीं गिरता)—यह नियम भी नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि आत्मा में द्रव्यत्व का अभाव (आत्मा द्रव्य नहीं है) हम पहले ही बता चुके हैं। इसके अतिरिक्त "(निरुपाधिक) एकरूप आत्मा (अन्तःकरणोपाधियों से) जलस्थचन्द्र के समान अनेक प्रकार से दीखता है" "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानथो भिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा"—जिस प्रकार ज्योतिःस्वरूप सूर्य भिन्न विभिन्न जलों में अनेक प्रकार से दीखता है, यह अज आत्मदेव भिन्न भिन्न क्षेत्रों में (अंतःकरणों में) उपाधियों से भिन्न होता है—इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्मप्रतिबिम्बाभावसाधक अनुमान, बाधित हो जाते हैं। इस प्रकार 'तत्' पदार्थ का निरूपण हुआ।

विवरण—'जीव' को चित्प्रतिबिम्ब मानने पर यह दोष आता है कि 'चित्' (ब्रह्म) यदि रूपरहित है तो उसका प्रतिबिम्ब कैसे? क्योंकि रूपवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब देखने में आता है। इसपर सिद्धान्ती का यह उत्तर

है कि 'रूप' गुण स्वयं रूपरहित है। क्योंकि 'रूप' पर 'रूप' नहीं रहता 'गुणे गुणानङ्गीकारात्।' तथापि रूप का प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है। तब नीरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब में कोई बाधा नहीं हो सकती। अथवा यदि पूर्वपक्षी यह व्याप्ति माने कि 'जो द्रव्य रूपवान् हो उसीका प्रतिबिम्ब होता है' तथापि हमें कोई हानि नहीं है। क्योंकि हम (वेदान्ती) 'आत्मा' को द्रव्य नहीं मानते। 'रूपरहित आकाश द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता'—यह मानने पर भी 'रूपरहित और अद्रव्य ब्रह्म का रूपवत् प्रतिबिम्ब मानने में कोई आपत्ति नहीं है। ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का अभाव सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किये सभी अनुमानों का श्रुतियों से बाध हो जाता है। इस रीति से 'तत्वमसि' महावाक्यस्थ 'तत्' पदार्थ का विवेचन किया गया है।

अब 'त्वम्' पदार्थ के विवेचनार्थ ग्रंथकार जीवसंबंधी भिन्न-भिन्न वादों को बता रहे हैं।

इदानीं त्वं पदार्थो निरूप्यते।

एकजीववादेऽविद्याप्रतिबिम्बो जीवः, अनेकजीववादे अन्तः-करणप्रतिबिम्बः।

अब 'त्वम्' पदार्थ का निरूपण किया जाता है ('त्वम्' पदार्थ ही जीव है) 'एकजीववादपक्ष' में अविद्या में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव है।

अनेकजीववादपक्ष में अन्तःकरण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव है।

स च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपावस्थात्रयवान्। तत्र जाग्रद्दशा नामेन्द्रियजन्यज्ञानावस्था। अवस्थान्तरे इन्द्रियाभावान्नाति-व्याप्तिः। इन्द्रियजन्यज्ञानं चान्तःकरणवृत्तिः। स्वरूपज्ञानस्या-नादित्वात्।

अर्थ—उस जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाएं होती हैं। (जाग्रदवस्थाकी व्याख्या) जाग्रत् दशा का अर्थ है कि जिसमें इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है—वह अवस्था। अन्य अवस्थाओं में इन्द्रियों के न होने से (इन्द्रियव्यापार न होने से) उस पर इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। इन्द्रियजन्य ज्ञान का अर्थ है अन्तःकरणवृत्ति। स्वरूपज्ञान अनादि होने से (अन्तःकरणवृत्ति को ही ज्ञान कहना पड़ता) है।

विवरण—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के भेद से जीव की तीन अवस्थाएं होती हैं। उनमें से पहली अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा बाह्यवस्तु का ज्ञान होता है। अन्य दो अवस्थाओं में इन्द्रियव्यापार न हो सकने से जाग्रदवस्था का यह लक्षण अन्य दो अवस्थाओं में अतिव्याप्त नहीं होता। इन्द्रियजन्य ज्ञान का

स्वरूप यह है—अन्तःकरणवृत्ति (अन्तःकरण की तत्तत्पदार्थ के आकार के तुल्य होनेवाली स्थिति) यहां पर अन्तःकरणवृत्ति में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग गौणतया किया है। अब यहां यह शंका हो सकती है कि जीव के ज्ञानस्वरूप में ही 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? उसके उत्तर में यह कहा जाता है कि चैतन्य रूप अनादि होने से अजन्य है, और इन्द्रियजन्यज्ञान तो उत्पत्तिविनाशशालि होता है। यदि स्वरूपज्ञान को ही इन्द्रियजन्यज्ञान कहा जाय तो वह अनादि अनन्त होने से जाग्रदवस्था में खण्ड ही न पड़ा होता। अतः यह सब अनुभवविरुद्ध होने से अन्तःकरण-वृत्ति को ही इन्द्रियजन्यज्ञान कहा गया है।

अब अन्तःकरणवृत्ति को क्यों माना गया है यह बताने के लिये तद्विषयक मतमतान्तरों का प्रस्ताव करते हैं—

सा चान्तःकरणवृत्तिरावरणाभिभवार्थेत्येकं मतम्। तथा हि—अविद्योपहितचैतन्यस्य जीवत्वपक्षे घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य जीवरूपतया जीवस्य सर्वदा घटादिभानप्रसक्तौ घटाद्यवच्छिन्न-चैतन्यावरकाज्ञानं मूलाविद्यापरतन्त्रमवस्थापदवाच्यमभ्युपगन्तव्यम्। एवं सति घटादेर्न सर्वदा भानप्रसङ्गः, अनावृतचैतन्य-सम्बन्धस्यैव भानप्रयोजकत्वात्। तस्य चावरणस्य सदातनत्वे कदाचिदपि घटभानं न स्यादिति तद्भङ्गे वक्तव्ये, तद्भङ्गजनकं न चैतन्यमात्रम्। तद्भासकस्य तदनिवर्तकत्वात्। नापि वृत्त्युपहितचैतन्यम्, परोक्षस्थलेऽपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति परोक्ष-वृत्तवृत्तिविशेषस्य, तदुपहितचैतन्यस्य वाऽऽवरणभङ्गजनकत्व-मित्यावरणाभिभवार्था वृत्तिरित्युच्यते।

अर्थ—यह अन्तःकरणवृत्ति (विषयगत) आवरण दूर करने के लिये है—ऐसा एक मत है। इस मत में घटादि-अधिष्ठान में विद्यमान चैतन्य भी जीवगतचैतन्य होने से जीवको सदैव घटादिज्ञान होने का प्रसंग आवेगा। अतः घटादिकों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य को आवृत करनेवाला एक अज्ञान, जो मूलाविद्यापर अवलम्बित रहता है और अवस्था शब्द से कहा जाता है, मानना पड़ता है। जिससे घटादिकों की सदैव उपलब्धि होने का प्रसंग नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि अनावृत चैतन्य का संबन्ध ही ज्ञान के होने में प्रयोजक हेतु होगा। अब इस आवरण को नित्य माने तो घटादिकों की उपलब्धि कभी नहीं होगी। एतदर्थ उसका भंग कहना होगा। किन्तु केवल चैतन्य को

उसका भञ्जक नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि जो चैतन्य उस आवरण का भासक है उसीसे उसकी निवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि परोक्षस्थल में भी (उस आवरण की) निवृत्ति होने लगेगी। इसलिये परोक्षवृत्ति से पृथक् जो विशेषवृत्ति, या तदुपहित चैतन्य ही आवरणभंग करनेवाला है। अतः वृत्ति को आवरण-नाशक कहा गया है।

विवरण—आत्मा का स्वरूपभूतज्ञान नित्य सिद्ध है और उसीसे यदि समस्त विषयों का ज्ञान (प्रकाशित होना) होना संभव है तो अन्तःकरण की वृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है? इस शंका के निवारणार्थ सिद्धान्ती उसका प्रयोजन बताता है। इस प्रयोजन के विषय में दो मत हैं उनमें प्रथम मत 'सा चान्तःकरणवृत्तिः' इत्यादि वाक्यों से बताया गया है। उसका आशय यह है—किसी वस्तु का आवरण, अविद्याशक्तिविशेषकृत होता है, जैसे घटज्ञान होने से पूर्व वह घट अज्ञात-अज्ञानावृत रहता है। इस आवरण के कारण घट भासमान नहीं होता। इस आवरण का भंग (नाश) करना ही अन्तःकरणवृत्ति का प्रयोजन है। सिद्धान्ती इसी को अधिक स्पष्ट करता है—अविद्योपहितचैतन्य को जीव मानने के पक्ष में—घटादिकों में विद्यमान चैतन्य और जीवगत चैतन्य दोनों के एक ही होने से जीव को घट का भान (ज्ञान) सदैव होता रहेगा, परन्तु वह न तो इष्ट है और न अनुभवसिद्ध ही है। इसलिये घट और जीवगतचैतन्य दोनों के बीच में अपवारक पदार्थ मानना होगा, वही आवरक अज्ञान है, अर्थात् इस अज्ञान का मूलाविद्यापर अवलम्बित होना भी मानना होगा जिससे घटादिकों की सदैव उपलब्धि नहीं हो सकेगी। यह आवरक अज्ञान यदि सदैव बना रहा तो घटादिकों की कभी उपलब्धि ही न होगी। एतदर्थ उसके भंग करनेवाले (विनाशक) पदार्थ की आवश्यकता होती है। उससे जिन घटादिकों के आवरक अज्ञान का भंग हुआ होगा उन घटादिकों की ही उपलब्धि होगी, अन्य की नहीं। वह पदार्थ केवल चैतन्य तो हो नहीं सकता। क्योंकि वह चैतन्य यदि अज्ञान का भासक हो तो उसी से उसकी निवृत्ति न हो सकेगी। वैसे ही केवल (अविशेषित) वृत्त्युपहित चैतन्य से भी उसका नाश न हो सकेगा। क्योंकि परोक्षस्थल में भी (घटादिकों के स्मरण अथवा अनुमिति के समय) वृत्त्युपहित चैतन्य से आवरकअज्ञान की निवृत्ति होने लगेगी। इसलिये परोक्षव्यावृत्त (स्मरण आदि से भिन्न) वृत्तिविशेष अथवा उस उपाधिसे युक्त चैतन्य ही आवरण का भंग करता है—यह मानना पड़ता है। यह माननेपर अन्तःकरणवृत्ति का प्रयोजन अज्ञाना-वरणभङ्ग है, यह सिद्ध होता है।

अब वृत्ति के प्रयोजन के विषय में दूसरा मत बताते हैं—

सम्बन्धार्था वृत्तिरित्यपरं मतम्। तत्राप्यविद्योपाधिकोऽपरि-

रिच्छिन्नो जीवः। स च घटादिप्रदेशे विद्यमानोऽपि घटाद्याकारापरोक्षवृत्तिविरहदशायां न घटादिकमवभासयति, घटादिना तस्य सम्बन्धाभावात्। तदाकारवृतिदशायां तु भासयति, तदा सम्बन्धसत्त्वात्।

अर्थ—(चैतन्य) सम्बन्ध के लिये वृत्ति होती है—ऐसा दूसरा मत है। इस मत में अविद्यारूप उपाधिसे युक्त जीव अपरिच्छिन्न होता है। वह (अपरिच्छिन्नस्वरूप होने से) घटादिप्रदेश में विद्यमान रहने पर भी जिस समय घटादिकों के आकार के अनुसार अपरोक्ष वृत्तिका अभाव रहता है (जिस समय घट का प्रत्यक्षात्मकज्ञान नहीं हो रहा है) उस समय घटादिकों का भासन (ज्ञान) नहीं करता है। क्योंकि घटादिकों का और उसका संबंध नहीं है। जिस समय वृत्ति तदाकार होती है, उस समय घटादिकों का भासन करता है। क्योंकि उस समय (वृत्तिका चैतन्य के साथ) सम्बन्ध रहता है।

विवरण—जीव चैतन्य के अपरिच्छिन्न होने से उसका और विषय का संबंध तो नित्य ही रहता है, तब समस्त विषयों की उपस्थिति (ज्ञान) जीव को सदैव होती रहेगी। परन्तु ऐसा किसी को अनुभव तो है नहीं। अतः जीवगत चैतन्य और विषय दोनों के संबंध को अपनेद्वारा संपादन कराने के लिये अन्तःकरण वृत्ति की आवश्यकता है। यदि घटाकार अपरोक्षवृत्ति न हो तो घट ज्ञान नहीं होगा और घटाकार वृत्ति के होने पर (वृत्तिका) चैतन्य के साथ संबन्ध हो जाने से घटज्ञान होने लगता है।

इस मत पर शंका और उसका निरसन—

नन्वविद्योपाधिकस्यापरिच्छिन्नास्यजीवस्य स्वत एव समस्तवस्तुसम्बद्धस्य वृत्तिविरहदशायां सम्बन्धाभावाभिधानमसङ्गतम्। असङ्गत्वदृष्ट्या सम्बन्धाभावाभिधाने वृत्त्यनन्तरमपि सम्बन्धो न स्यादति चेत्। उच्यते। न हि वृत्तिविरहदशायां जीवस्य घटादिना सह सम्बन्धसामान्यं निषेधामः; किं तर्हि, घटादिभानप्रयोजकं सम्बन्धविशेषम्। स च सम्बन्धविशेषो विषयस्य जीवचैतन्यस्य च व्यङ्ग्यव्यञ्जकतालक्षणः कादाचित्कः तत्तदाकारवृत्तिनिबन्धनः।

अर्थ—शंका—अविद्योपाधिक अपरिच्छिन्नचैतन्यस्वरूपजीवका समस्त—वस्तुओं के साथ सबन्ध स्वतःसिद्ध ही है तब वृत्ति के अभाव में उनके साथ

सबन्ध के न होने का कथन उचित नहीं है। (आत्मा असंग है) इस श्रुति के आधार पर संबन्ध का अभाव कहें तो वृत्ति के होने पर भी (विषयों से) संबन्ध न होगा, क्योंकि आत्मा का असंगत्व तो सदैव है।

समाधान—वृत्ति के अभाव में जीवका घटादि विषयों के साथ साधारण संबंध का हम निषेध नहीं कर रहे हैं, किन्तु घटादिकों के ज्ञान होने में तत्प्रयोजक विशेष संबंध का हम निषेध कर रहे हैं। यह संबन्धविशेष व्यङ्ग्य (अभिव्यक्त होनेवाला) जीवचैतन्य और व्यंजक (अभिव्यक्त करनेवाला) विषय, दोनों का है, और वह तात्कालिक एवं तत्तदाकारघटादिवृत्ति पर निर्भर होता है।

विवरण—जीव को घटाज्ञान होने के लिये घट और जीवचैतन्य का संबन्ध अपेक्षित है, तदर्थ वृत्ति की आवश्यकता होती है। यह एक मत है। इस पर पूर्व पक्षी पूछता है कि जीवचैतन्य यदि सर्वगत (परिच्छेद रहित) है तो संबंधाभाव कैसे होगा? इस पर कदाचित् आप (असंगो नहि सज्जते) श्रुति को देखकर उसका किसी से भी संबन्ध नहीं होता, तब तो घटाकार-वृत्ति के उत्पन्न होने पर भी जीवचैतन्य का और घटका संबन्ध न होगा, क्योंकि चैतन्य सदैव असंग ही रहता है।

इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है कि जीवचैतन्य और घट के सामान्य सम्बन्ध को हम मना नहीं कर रहे हैं, किन्तु घटज्ञान के लिये अपेक्षित व्यङ्ग्यव्यञ्जकताभावलक्षण तात्कालिक संबन्ध सदैव नहीं होता। वह तो घटाकार वृत्ति उत्पन्न होते ही अस्तित्व में आता है और जीव को घट का ज्ञान होता है। (घटाकारवृत्तिके समय तदुपहितजीवचैतन्य व्यङ्ग्य, और तद्विषय घटादि, व्यंजक होता है)।

ग्रन्थकार इसी मत को और अधिक स्पष्ट कर दिखाते हैं।

तथा हि तैजसमन्तःकरणं स्वच्छद्रव्यत्वात् स्वत एव जीवचैतन्याभिव्यञ्जनसमर्थम्, घटादिकं तु न तथा, अस्वच्छद्रव्यत्वात्। स्वाकारवृत्तिसंयोगदशायां तु वृत्त्यभिभूतजाड्य-धर्मकतया वृत्त्युत्पादितचैतन्याभिव्यञ्जनयोग्यताश्रयतया च वृत्त्युत्थानानन्तरं चैतन्यमभिव्यनक्ति।

अर्थ—तैजस अन्तः करण, एक निर्मल द्रव्य होने से, वह स्वयं ही जीव चैतन्य को प्रकाशित करने में समर्थ रहता है, किन्तु घटादिक (जड़ होने से) वैसे (समर्थ) नहीं होते, क्योंकि वे अस्वच्छ द्रव्य हैं, तथापि घटाद्याकारवृत्ति का संयोग जब घटादिकों से होता है उस समय तद्गत जडत्व का वृत्ति से

निरास होता है और वृत्ति से उत्पन्न होने वाली चैतन्याभिव्यंजन की योग्यता, घटादिकों में रहती है। अतः वृत्ति का उदय होनेपर घटादि विषय चैतन्य को अभिव्यक्त करते हैं।

विवरण—अन्तःकरण के स्वच्छ द्रव्य होने से वह जीव चैतन्य को अनायास ही प्रकाशित करता है, किन्तु घटादिक जड़ हैं, इस कारण वे वैसा नहीं कर सकते। घटाकारवृत्ति का घट के साथ संयोग होनेपर वृत्ति के द्वारा पहले तो घटादि में विद्यमान जाड्यका अभिभव (नाश) होता है, और घट में चैतन्य प्रकाशित करने की योग्यता आती है। इस रीति से योग्यता के आनेपर घटादिक, जीव-चैतन्य को प्रकाशित करते हैं और जीव को घट ज्ञान होता है।

इस मत में अभियुक्तों की संमति बताते हैं—

तदुक्तं विवरणे—अन्तःकरणं हि स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिण्यपि घटादौ चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयतीति। दृष्टं चास्वच्छ-द्रव्यस्यापि स्वच्छद्रव्यसंबन्धदशायां प्रतिबिम्बग्राहित्वम्। यथा कुड्यादेर्जलादिसंयोगदशायां मुखादिप्रतिबिम्बग्राहिता। घटादेर-भिव्यञ्जकत्वं च तत्प्रतिबिम्बग्राहित्वम्, चैतन्याभिव्यक्तत्वं च तत्र प्रतिबिम्बितत्वम्।

अर्थ—'विवरण' नामक ग्रन्थ में ऐसा बताया है—'जिसप्रकार अन्तःकरण स्वयं में चैतन्य की अभिव्यक्ति की योग्यता को पैदा करता है, वैसे ही स्वयं से संबद्ध होनेवाले घटादिकों में भी वैसी ही योग्यता को उत्पन्न करता है।' और अस्वच्छ द्रव्य, स्वच्छ द्रव्यों के साथ संयोग को प्राप्त होने पर उनका प्रतिबिम्बग्राहक होना सर्वानुभव सिद्ध है। जैसे—भीत आदि का जल आदि से संयोग होनेपर उनमें मुख आदि के प्रतिबिम्बग्रहण करने की योग्यता आती है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना ही घटादिकों का अभिव्यंजकत्व है। और घट में प्रतिबिम्बित होना ही चैतन्य का अभिव्यक्तत्व है।

विवरण—इस मत की पुष्टि में ग्रंथकार ने 'विवरण'कर्ता के वाक्य को उद्धृत किया है। जिस प्रकार अन्तःकरण में चैतन्याभिव्यंजकत्व होता है वैसे ही वह घटादिकों में भी होता है।' लौकिक अनुभव भी इसी प्रकार है—भीत साक्षात् प्रतिबिम्बग्राहिणी नहीं होती, किन्तु उसपर जल के पड़ने पर प्रतिबिम्बग्राहिणी बन जाती है।

घटादिकों को चैतन्याभिव्यञ्जक बताया है, इसका अर्थ यह है कि वे चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं।

एवं विषयाभिव्यञ्जकत्वसिद्ध्यर्थमेव वृत्तेरपरोक्षस्थले बहिर्निर्गमनाङ्गीकारः। परोक्षस्थले तु वह्न्यादेर्वृत्तिसंसर्गाभावेन चैतन्यानभिव्यञ्जकतया न वह्न्यादेरपरोक्षत्वम्। एतन्मते च विषयाणामपरोक्षत्वं चैतन्याभिव्यञ्जकत्वमिति द्रष्टव्यम्। एवं जीवस्याऽपरिच्छिन्नत्वेऽपि वृत्तेः सम्बन्धार्थत्वं निरूपितम्।

अर्थ—ऐसे अभिव्यंजकत्व की सिद्धि के लिये ही अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) स्थल में वृत्ति का बाहर जाना (इस मत में) माना गया है। परोक्ष स्थल में (अप्रत्यक्ष स्थल में) वृत्ति के संबन्ध का अभाव होने से वहां चैतन्याभिव्यक्ति नहीं होती, और उसके न होने से वह्नि आदि का अपरोक्षत्व (प्रत्यक्ष) नहीं होता। इस मत में चैतन्याभिव्यञ्जकत्व ही विषय का प्रत्यक्ष है। इस प्रकार जीव को अपरिच्छिन्न मानने पर भी वृत्ति का सम्बंधार्थ होना बताया गया।

विवरण—प्रत्यक्षज्ञान के समय घटादिकों से सम्बद्ध होने के लिये वृत्ति, बाहर जाती है और तत्स्थ (विषयगत) जाड्य का नाश कर घटादिकों में चैतन्याभिव्यक्ति करने का सामर्थ्य पैदा कर देती है। इस रीति से घटादिक जब चैतन्य प्रतिबिम्ब ग्रहण करते हैं तब प्रमाता को घटादिकों का प्रत्यक्ष होता है। इस मत के अनुसार यह प्रत्यक्ष की प्रक्रिया है। अन्यत्र वृत्ति का बाहर निकलना यदि नहीं होता तो अर्थात् ही उसका किसी विषय के साथ संबन्ध नहीं होता, तस्मात् उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता। पीछे अपरोक्षत्व की (प्रत्यक्ष की) व्याख्या—'विषयस्य प्रमातृ-चैतन्या भिन्नत्वम्" की थी। वह इस मत में ठीक नहीं बैठती। अतः इस मत के अनुसार घटादिकों में चैतन्य प्रतिबिम्ब ग्राहित्व होना ही विषयों का प्रत्यक्ष है,—यह बताया गया।

इस प्रकार अपरिच्छिन्न जीव पक्ष में वृत्ति, संबंधार्थ कैसे होती है, बताया गया। अब वही परिच्छिन्न जीव पक्ष में कैसी होती है, बताते हैं।

इदानीं परिच्छिन्नत्वपक्षे सम्बन्धार्थकत्वं निरूप्यते।

तथा हि—अन्तःकरणोपाधिको जीवः। तस्य न घटाद्युपादानता, घटादिदेशासम्बन्धात्। किन्तु ब्रह्मैव घटाद्युपादानम्। तस्य मायोपहितस्य सकलघटाद्यन्वयित्वात्। अत एव ब्रह्मणः सर्वज्ञता। तथा च जीवस्य घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदमन्तरेण

घटाद्यवभासासम्भवे प्राप्ते, तदवभासाय घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदसिद्ध्यर्थं घटाद्याकारा वृत्तिरिष्यते।

अर्थ— अब परिच्छिन्न जीवपक्ष में (वृत्ति के) संबंध की अपेक्षा को बताते हैं। वह इस प्रकार है—(इस मत में) जीव, अन्तःकरणोपाधिक है। (अतःकरण के परिच्छिन्न-होने से जीव-चैतन्य भी परिच्छिन्न है) वह घटादिकों का उपादान नहीं है, क्योंकि उसका घटादिकों के प्रदेश के साथ संबन्ध नहीं है अतः ब्रह्म ही घटादिकों का उपादान है। वह मायोयाधिक होकर समस्त घटादिकों के साथ अन्वित होता है (उनमें अनुगत है)—इसी कारण ब्रह्म सर्वज्ञ कहा जाता है। इस रीति से घटादिकों के अधिष्ठान भूत ब्रह्मचैतन्य का और जीव का अभेद हुए विना घटादिकों के अवभास का असंभव प्राप्त होने पर उस अवभास के लिए घटादिकों के अधिष्ठानभूत ब्रह्मचैतन्य के अभेद सिद्ध्यर्थ घटाकार वृत्ति को मानना पड़ता है।

विवरण—जीव की अन्तःकरण रूप उपाधि के परिच्छिन्न होने से जीवचैतन्य भी परिच्छिन्न ही है। इस कारण बाह्य विषयों के अधिष्ठानभूत चैतन्य का और उसका अभेद होना संभव नहीं और अभेद हुए विना बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होगा। तस्मात् जीवचैतन्य और विषयाधिष्ठान चैतन्य का अभेद सिद्ध होने के लिए घटाद्याकार वृत्ति माननी चाहिये। यह इस मत का आशय है।

इस पर एक शंका और उसका निरसन—

ननु वृत्त्यापि कथं प्रमातृचैतन्यविषयचैतन्ययोरभेदः सम्पाद्यते, घटान्तःकरणरूपोपाधिभेदेन तदवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदासंभवादिति चेत्। न। वृत्तेर्वहिर्निर्देशगमनाङ्गीकारेण वृत्त्यन्तःकरणविषयाणामेकदेशस्थत्वेन तदुपधेयभेदाभावस्योक्तत्वात्। एवमपरोक्षस्थले वृत्तेर्मतभेदेन विनियोग उपपादितः।

अर्थ—वृत्ति के द्वारा भी प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य दोनों में अभेद कैसे संभव होता है ? घट और अन्तःकरण इन दोनों उपाधियों के भिन्न होने से तदवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होना असंभवहै—परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि 'वृत्ति बाहर जाती है' इस पक्ष का स्वीकार करने के कारण वृत्ति, अन्तःकरण और विषय—ये सब एक देशस्थ होते हैं—और (उपाधियों के एक देशस्थ होने पर) उनके उपधेयों (तदवच्छिन्न चैतन्य) का अभेद होता है—यह पहले ही बता चुके हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के समय भिन्न भिन्न मतों के अनुसार वृत्ति का क्या उपयोग है—यह बताया।

विवरण—ऊपर कहे हुए के अनुसार घट के अवभास के लिए घटाकार वृत्ति के मानने पर भी जीवचैतन्य और घटावच्छिन्न चैतन्य दोनों में अभेद कैसे होगा—यह पूर्वपक्षी पूछ रहा है। परन्तु पहले बताई हुई प्रत्यक्ष प्रक्रिया को पूर्वपक्षी भूल गया है, अतः उसी की स्मृति पुनः सिद्धान्ती करा रहा है। इस रीति से प्रत्यक्ष ज्ञान के समय वृत्ति का उपयोग, परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न जीव पक्षों में स्पष्ट किया गया और यहीं पर जग्रद्दशा का भी विवेचन समाप्त हुआ।

अब स्वप्नावस्था का प्रारंभ करते हैं—

इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्त्यवस्था स्वप्नावस्था। जाग्रदवस्थाव्यावृत्त्यर्थम् इन्द्रियाजन्येति। अविद्यावृत्तिमत्यां सुषुप्तौ अतिव्याप्तिवारणायान्तःकरणेति।

अर्थ—इन्द्रियों से अजन्य एवं विषयगोचर, अपरोक्ष अन्तःकरण वृत्ति को स्वप्नावस्था कहते हैं। लक्षण में 'इन्द्रियाजन्य' पद जाग्रदवस्था की व्यावृत्ति करने के लिए है। अविद्यावृत्ति वाली सुषुप्ति अवस्था पर अतिव्याप्ति न हो, इसलिये 'अन्तःकरण' पद दिया है।

विवरण—जिस अवस्था में इन्द्रियों के व्यापार उपरत होते हैं—ऐसा जो प्रातिभासिक विषय गोचर (कल्पित गजाद्यधिष्ठानाकार) अपरोक्ष अन्तःकरणावस्था विशेष—यही स्वप्नावस्था है। जाग्रदवस्था में अन्तःकरणवृत्ति इन्द्रियों के व्यापार पर निर्भर रहती है। अतः 'इन्द्रियाजन्य' पद से जग्रदवस्था की व्यावृत्ति होती है। 'सुषुप्ति' यह केवल अविद्यावृत्ति होने से और इसमें अन्तःकरण का व्यापार न होने से 'अन्तःकरण वृत्ति' पद से सुषुप्ति की व्यावृत्ति हो जाती है।

अब सुषुप्ति का लक्षण बताते हैं—

सुषुप्तिर्नामाविद्यागोचराविद्यावृत्त्यवस्था। जाग्रत्स्वप्नयोरविद्याकारवृत्तेरन्तःकरणवृतित्वान्न तत्रातिव्याप्तिः।

अर्थ—अविद्या विषयक अविद्या की वृत्ति को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। जग्रदवस्था और स्वप्नावस्था में जो अविद्याकारवृत्ति होती है, वह अन्तःकरण की वृत्ति है (अविद्या की नहीं) अतः इस लक्षण की उन दो अवस्थाओं पर अतिव्याप्ति नहीं होती।

विवरण—सुषुप्ति अवस्था में अविद्यावृत्ति का अविद्या (अज्ञान) ही विषय है, स्वप्न में और जाग्रदवस्था में 'मुझे घट ज्ञान नहीं हो रहा है' यह वृत्ति, अविद्याविषयक होने पर भी वह अन्तःकरणवृत्ति है, अविद्या की नहीं है। इस कारण सुषुप्ति का लक्षण, इन दो अवस्थाओं में अतिव्याप्त नहीं होता।

मरण और मूर्च्छा अवस्थाओं का विवेचन—

अत्र केचिन्मरणमूर्च्छयोरवस्थान्तरत्वमाहुः । अपरे तु सुषुप्तावेव तयोरन्तर्भावमाहुः ।

तत्र तयोरवस्थात्रयान्तर्भावबहिर्भावयोस्त्वं पदार्थनिरूपणे उपयोगाभावान्न तत्र प्रयत्यते ।

अर्थ—इस संबंध में कुछ लोग—मरण और मूर्च्छा, इन दो अवस्थाओं को पृथक् ही मानते हैं। और कुछ लोग इन दोनों का सुषुप्ति में अन्तर्भाव मानते हैं। (हमारे मत से) इस विषय में इन दो अवस्थाओं का तीनों में अन्तर्भाव करना अथवा बहिर्भाव करना आदि के विचार का 'त्वं' पदार्थ निरूपण में उपयोग न होने से उस विषय में हम प्रयत्न नहीं करते।

अब जीव के संबन्ध में प्रारंभ किया हुआ विवेचन आगे चलाते हैं।

तस्य च मायोपाध्यपेक्षयैकत्वम्, अन्तःकरणोपाध्यपेक्षया च नानात्वं व्यवह्रियते । एतेन जीवस्याणुत्वं प्रत्युक्तम् । 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्टः' (श्वे० ५-८) इत्यादौ जीवस्य बुद्धिशब्दवाच्यान्तःकरणपरिमाणोपाधिकपरमाणुत्वश्रवणात् ।

अर्थ—उस जीव को मायोपाधिक मानने पर एक, और अन्तःकरणोपाधिक मानने पर (अन्तःकरण के नाना होने से) अनेक—ऐसा व्यवहार होता है। (इसी की अनुक्रम से एक जीववाद और अनेक जीववाद—संज्ञायें हैं) इस प्रकार (जीव को विभु बताने से) जीव के अणुत्व का खण्डन हुआ। 'स्वयं के गुण से (अपरिच्छिन्नत्व धर्म से) अवर (जिससे वर = महान् कोई नहीं) आत्मा, बुद्धि के गुणों से (अन्तःकरण के सूक्ष्मत्व धर्म से) आरे (नेमि) के अग्र के समान दीखता है' इत्यादि श्रुति में जीव, बुद्धिशब्दवाच्य अन्तःकरणपरिमाणोपाधि के कारण परमाणु-बताया गया है।

विवरण—जीव के परिमाण के सम्बन्ध में तीन वाद हो सकते हैं एक—अणुपरिमाणवाद, दूसरा—मध्यम परिमाणवाद, और तीसरा—विभुपरिमाणवाद। सिद्धान्ती के मत में जीव, विभुपरिमाण है। अन्यत्र श्रुति में कहीं-कहीं जीवको अणुपरिमाण भी बताया है। जैसे—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते' ॥ इस श्रुति में जीव को अतीव सूक्ष्म प्रमाण बताया है। किन्तु सिद्धान्ती के मत से यह परिमाण जीव की उपाधिरुप बुद्धि के परिमाण से बताया गया है।

स च जीवः स्वयंप्रकाशः। स्वप्नावस्थामधिकृत्य 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः (बृ० ४-३-८) इति श्रुतेः। अनुभव-रूपश्च 'प्रज्ञानघनः' (मा० ५) इत्यादिश्रुतेः। अनुभवामीति व्यवहारस्तु वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यमादायोपपद्यते।

एवं त्वपदार्थो निरूपितः।

अर्थ—और वह जीव स्वयं प्रकाश है। स्वप्नावस्थाको उद्देश्य कर 'इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं प्रकाश—होता है।' ऐसी बृहदारण्यक श्रुति है। (इसी तरह) वह अनुभव रुप है। क्योंकि 'वह प्रज्ञानघन-विज्ञानमूर्ति है'। ऐसी माण्डूक्य श्रुति है। 'मैं अनुभव करता हूँ' यह व्यवहार वृत्ति में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य को स्वीकार करके ही उपपन्न होता है। इस प्रकार से 'त्वम्' पदार्थ का निरुपण हुआ।

विवरण—आत्मा को स्वप्रकाश, और ज्ञानस्वरुप यहां बताया है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा ज्ञानस्वरुप (अनुभवस्वरुप) है तो 'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा अनुभवाश्रय रुप व्यवहार कैसे होता है? इसका उत्तर सिद्धान्ती यह देता है कि अन्तःकरण में चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने पर 'मैं अनुभव करता हूँ' यह औपचारिक व्यवहार होता है। (वृत्ति में ज्ञान का उपचार किया जाता है)

अधुना तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं महावाक्यप्रतिपाद्यमभिधीयते।

अर्थ—अब महावाक्य के प्रतिपाद्यभूत 'तत् और त्वम्' दोनों का ऐक्य बताया जाता है।

इस सम्बन्ध में एक शंका और उसका निरसन—

ननु नाहमीश्वर इत्यादिप्रत्यक्षेण, किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्व-विरुद्धधर्माश्रयत्वादिलिङ्गेन, द्वासुपर्णेत्यादिश्रुत्या, द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ (भ० १५-१६)

इत्यादिस्मृत्या च जीवपरभेदस्यावगतत्वेन तत्त्वमस्यादि-वाक्यमादित्यो यूपो, यजमानः प्रस्तर इत्यादिवाक्यवद् उपच-रितार्थमेवेति चेत्। न। भेदप्रत्यक्षस्य सम्भावितकरणदोषस्या-सम्भावितदोषवेदजन्यज्ञानेन बाध्यमानत्वात्। अन्यथा चन्द्र-गताधिकपरिमाणग्राहिज्योतिःशास्त्रस्य चन्द्रप्रादेशग्राहिप्रत्यक्षेण

बाधापत्तेः। पाकरक्ते घटे रक्तोऽयं न श्याम इति वत्सविशेषणे हीति न्यायेन जीवपरभेदग्राहिप्रत्यक्षस्य विशेषणीभूतधर्मभेद-विषयत्वाच्च।

अर्थ—१-'मैं ईश्वर नहीं'—इस (जीव) प्रत्यक्ष से, तथा २-किं चिन्ज्ञत्व और सर्वज्ञत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्म के (जीव और परमेश्वर) आश्रय होने से, इसी प्रकार ३-'दो पक्षी' इत्यादि श्रुति से तथा ४-'इस-लोक में दो पुरुष हैं। एक क्षर और दूसरा अक्षर, उनमें से समस्तभूतः क्षर पुरुष हैं, और कूटस्थ, अक्षर पुरूष हैं' इत्यादि भगवद्‌गीता–जैसी स्मृति से जीवात्मा और परमात्मा में भेद का ज्ञान होने से तत्त्वमस्यादि वाक्य का अभेदज्ञापक अर्थ, 'यूप, आदित्य है' 'प्रस्तर, यजमान है' आदि वाक्यों के अर्थ के समान औपचारिक है—यह शंका करना ठीक नहीं होगा।

जीवात्मा और परमात्मा के भेद प्रत्यक्ष में, इन्द्रियजन्य ज्ञान का वेदजन्य ज्ञान से बाध हो जाता है। इन्द्रियों में दोषों की संभावना होने से और वेदों में दोष की संभावना भी न होने से तदुत्पन्न ज्ञान से इन्द्रियजन्य ज्ञान का बाध होता है। अन्यथा (प्रत्यक्ष से वेदजन्य ज्ञान का बाध मानें तो) जो ज्योतिःशास्त्र चन्द्रमा का प्रमाण बहुत अधिक बताता है, उसका 'चन्द्रमा प्रादेशमात्र है' बतानेवाले प्रत्यक्ष से बाध होने लगेगा। इसके अतिरिक्त जीवात्मा परमात्मा के भेददर्शक प्रत्यक्ष का विषय, विशेषणस्वरूप धर्म का भेद होता है। और वह पाक से घट के रक्त होने पर 'यह रक्त है श्याम नहीं है' इस वाक्य के अन्तर्गत 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्ये बाधे' इस न्याय से होता है। (न्याय का अर्थ यह है कि विशेषण सहित विशेष्य के विषय में विधिनिषेध यदि कहें हों एवं विशेष्य में यदि उस विशेषण का बाध हुआ हो तो वे विधिनिषेध विशेषण के लिये समझे जाते हैं। उदाहरणार्थ—रक्तघट है, श्यामघट नहीं ऐसा निषेध करने पर, श्यामघट अस्तित्व में न होने से इस निषेध का विषय श्यामगुण तक ही है। इसी तरह जीवात्मा और परमात्मा—ये भिन्न हैं—यह जो प्रत्यक्ष होता है उसका विषय, जिस धर्म के कारण ये परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं उन विशेषणीभूत धर्मों का भेद है। जीवात्मा परमात्मा का भेद, उस प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।)

विवरण—यहां पूर्वपक्षी का कहना है कि जीव और परमात्मा का ऐक्य होना असंभव है, इसमें अनेक प्रमाण उसने दिखाये हैं, उनमें सबसे प्रबल प्रमाण प्रत्यक्ष है। उस प्रत्यक्ष के अनुसार 'मैं ईश्वर नहीं हूं' 'मैं दुखी हूं' 'मैं संसारी हूँ' ऐसी हमें साक्षात् प्रतीति होती रहती है। इसके अतिरिक्त यदि जीव अज्ञानी है तो ईश्वर सर्वज्ञ है—जीव और परमेश्वर इन विरुद्ध धर्मों के

आश्रय होने से उनकी एकता होना संभव नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु वेदान्तियों को अत्यन्त अभीप्सित श्रुति प्रमाण भी जीव परमात्मा के भेद को ही बताता है। जैसे—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इत्यादि (मुं० ३-१) इस श्रुति में जीवके संसारफलानुभव को तथा ईश्वर के असंसारित्व को स्पष्ट बताया है। आदि पद से 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इत्यादि काठकोपनिषद् श्रुति का भी ग्रहण करना चाहिये। उसी तरह भगवद्-गीता के उपर्युक्त श्लोक के आगे ही 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' कहा है। तस्मात् प्रत्यक्ष, अनुमान, श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणों से ज्ञायमान जीवात्मा और परमात्मा के भेद को केवल 'तत्त्वमसि' वाक्य से असत्य सिद्ध करना संभव नहीं। अतः इस वाक्य का अर्थ गौण (औपचारिक) ही समझना चाहिये। जैसे वेद में यूप के आदित्य न होने पर भी 'यूप आदित्य है' ऐसा बताने पर उसे हम, जैसे गौण (औपचारिक केवल स्तुति के लिये) कहा हुआ समझते हैं, वैसे ही जीव और परमात्मा की एकता (ऐक्य) 'तत्त्वमसि' वाक्य में औपचारिक बताई गई है समझना चाहिये।

इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है—वेद के 'तत्त्वमसि' महावाक्य से ज्ञात होनेवाले जीवात्मपरमात्मैक्य का भेद प्रत्यक्ष से बाध होना संभव नहीं। जिन इन्द्रियों की या अन्तःकरण की सहायता से प्रत्यक्ष होता है, उनमें अपाटवादि-दोषों का होना असंभव नहीं और वेदजन्य ज्ञान में वैसे दोषों का होना संभव नहीं। शास्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष के बाध को न माना जाय तो "सार्धानिषट् सहस्राणि योजनानि विवस्वतः। विष्कंभो मण्डलस्येन्दोः सहाशीत्या चतुः शतम् ॥' (सूर्य. सि.) ज्योतिःशास्त्र में बताये गये इस चन्द्र परिमाण का, चन्द्र को प्रादेश मात्र दिखानेवाले प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होने का प्रसंग प्राप्त होगा। तस्मात् प्रत्यक्ष से, शास्त्र से होनेवाले ज्ञान का बाध मानना उचित नहीं है। तब 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' इस भेद प्रत्यक्ष की गति कैसी लगेगी ? इस पर उत्तर देते हैं कि उस ज्ञान का (प्रत्यक्ष का) विषय तो जीवात्मा परमात्मा के विशेषणी भूत सोपाधिकत्व और निरुपाधिकत्व धर्मों के भेद को दिखाना मात्र है। ग्रंथकारने यहाँ पर सविशेषणन्याय, दृष्टान्त के लिये दिखाया है। उसका अर्थ यह है कि विशेषणयुक्त विशेष्य के विषय में किये जाने वाले विधिनिषेधों का विशेष्य में बाध होने पर वे विशेष्य में लागू न होकर विशेषण में लगते हैं। जैसे—पकाने से पहले श्याम घट, पकाने पर रक्तवर्ण हुआ देख 'अयं 'घट' न श्यामः' प्रतीति होती है। इस वाक्य में 'अयम्' पदार्थ जो 'घट' उसमें श्याम पदार्थ—श्याम गुण विशिष्ट घट का भेद बताया है। परन्तु वह भेद—'यह पहला ही घट है' इस प्रत्यभिज्ञा से बाधित होता है। तस्मात् इस वाक्य का विषय श्यामगुणोतरत्व रक्तत्व है।

वैसेही 'नाहमीश्वरः' इस वाक्य में अहम् पदार्थ अन्तः करणोपहित चैतन्य और ईश्वर पदार्थ निरुपाधिक चैतन्य के भेद के विषय का 'तत्त्वमसि' महावाक्य से बाध होने पर 'सविशेषण' न्याय से निरुपाधिक धर्मेतरत्व अर्थात् सोपाधिकत्व का दिखाना ही है। इसरीति से प्रत्यक्ष अनुभव की संगति लगाई जा सकती है।

अब पूर्व पक्षी के बताये हुए अनुमान की व्यवस्था लगाते हैं।

अत एव नानुमानमपि प्रमाणम्, आगमबाधात्, मेरुपाषाणमयत्वानुमानवत्।

अर्थ—इसीलिये अनुमान को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि आगम के साथ उसका विरोध होता है। जैसे—'मेरुपर्वत पाषाण मय है' इस अनुमान के समान।

विवरण—प्रत्यक्ष के समान ही अनुमान से भी जीवात्म-परमात्म भेद का साधन नहीं किया जा सकता। क्योंकि उसका वेद से (तत्त्वमस्यादि-वाक्य से) विरोध होता है। जैसे—'मेरुपर्वत पाषाणमय है, विन्ध्यपर्वत के समान यह अनुमान 'सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुः—पर्वतराज मेरु सर्वतः सुवर्णमय है—इस आगम के साथ विरोध होने से त्याज्य है, उसी तरह उपर्युक्त अनुमान (किंचिज्ज्ञत्व, सर्वज्ञत्वादि हेतुओं से बताया हुआ) त्याज्य है।

अब पूर्व पक्षी के बताये गये आगम प्रमाण की व्यवस्था लगाते हैं।

नाप्यागमान्तरविरोधः। तत्परातत्परवाक्ययोः तत्पर-वाक्यस्य बलवत्वेन लोकसिद्धभेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाक्यापेक्षया उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्त्वमस्यादि-वाक्यस्य प्रबलत्वात्।

अर्थ—और न अन्य आगमों के साथ ही जीवात्म परमात्मैक्य का विरोध होता है। क्योंकि तत्परवाक्य और अतत्पर वाक्यों में से तत्पर वाक्य हमेशा प्रबल होता है। इस कारण लोक प्रसिद्ध जीवात्म परमात्म भेद का अनुवाद करने वाले 'द्वासुपर्णा' आदि वाक्यों की अपेक्षा उपक्रमोपसंहार आदि से ज्ञात होने वाले अद्वैत तात्पर्य से युक्त जो तत्त्वमस्यादि वाक्य, वह अधिक प्रबल है।

विवरण—पूर्वपक्षी का कथन था कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का 'द्वा सुपर्णा' आदि मुण्डक श्रुति से विरोध होता है। उसपर सिद्धान्ती का कहना है कि वेद में कतिपयवाक्य तत्पर (वाच्यार्थ प्रधान) होते हैं तो कतिपय वाक्य अतत्पर (वाच्यार्थ गौण, अन्य प्रयोजनार्थ) भी होते हैं। उनमें तत्पर वाक्य बलवान् होते हैं। और अतत्पर वाक्यों का अर्थ उनसे

मिलता जुलता करना होता है। वही न्याय 'द्वा सुपर्णा' श्रुतिवाक्य में लगाना होता है। प्रस्तुत वाक्य लोकप्रसिद्ध भेद का अनुवादक है। 'तत्त्वमसि' वाक्य जिस प्रकरण में आया है उसका आरंभ (उपक्रम) और समाप्ति (उपसंहार) तथा अन्य गमक लिंगों को देखने पर उनका तात्पर्य अद्वैत प्रतिपादन करने में ही स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिये यह वाक्य 'द्वा सुपर्णा' आदि वाक्यों से अधिक प्रबल है। इस प्रकार भेद वादी आगम, अभेदवादी आगम की अपेक्षा दुर्बल ही मानना चाहिये।

अब जीव और परमात्मा विरुद्ध धर्माश्रय है—यह पूर्वपक्षी का कहना था, वह कैसे उपयन्त होता है, सो बताते हैं—

न च जीवपरैक्ये विरुद्धधर्माश्रयत्वानुपपत्तिः। शीतस्यैव जलस्यौपाधिकौष्ण्याश्रयत्ववत् स्वभावतो निर्गुणस्यैव जीवस्यान्तःकरणाद्युपाधिककर्तृत्वाद्याश्रयत्वप्रतिभासोपपत्तेः। यदि च जलादौ औष्ण्यमारोपितं तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्।

अर्थ—जीव और परमात्मा का ऐक्य मानने पर विरुद्धधर्म के आश्रय की उपपत्ति नहीं लगती, सो बात नहीं। जैसे शीतल जल, उपाधि के योग से उष्णता का आश्रय होता है, वैसे ही स्वभावतः निर्गुण जीव अन्तः करणादिक उपाधि के द्वारा कर्तृत्वादिकों का आश्रय होता है—यह अनुभव सभी को है। अब जल आदि में अग्नि धर्म उष्णता का आरोप हुआ है कहें तो प्रकृत में भी (जीव में भी) वह तुल्य है। अर्थात् कर्तृत्वादि जीव पर आरोपित ही है।

विवरण—पूर्वपक्षीने किंचिज्ज्ञत्व, सर्वज्ञत्व आदि धर्म परस्पर विरुद्ध हैं। तब जीवात्मा और परमात्मा में अद्वैत मानने पर उनके आश्रयत्व की किस तरह लगाओगे ? पूछा था। उसके उत्तर में सिद्धान्ती कहता है कि जीव में किञ्चिज्ज्ञत्व, कर्तृत्व आदि धर्म, जीव की उपाधि भूत अन्तः करण के कारण प्रतीत होते हैं। अग्नि की उष्णता जैसे जलमें प्रतीत होती है।

अब इस कर्तृत्व के आरोप के विषय में एक शंका और उसका निरसन—

न च सिद्धान्ते कर्तृत्वस्य क्वचिदप्यभावादारोप्यप्रमाहितसंस्काराभावे कथमारोप इति वाच्यम्। लाघवेनारोप्यविषयसंस्कारत्वेनैव तस्य हेतुत्वात्।

अर्थ—सिद्धान्ती के मत से आत्मा में किसी भी अवस्था में कर्तृत्व के न होने से आरोप्य (कर्तृत्व) के प्रमात्मक ज्ञानजन्य संस्कार के अभाव में आरोप होना कैसे संभव है ? परन्तु यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि हम आरोप्य के प्रमात्मक ज्ञान से उत्पन्न होने वाले संस्कार को आरोप में कारण नहीं

मानते, अपितु लाघवात् आरोप्य विषयक संस्कार को ही उस आरोप में कारण मानते हैं।

विवरण—जीव पर कर्तृत्व के आरोप के विषय में शंका उठाने वाले का आशय यह है कि आरोप का ज्ञान आरोप्य विषयक प्रमात्मक ज्ञान जन्य संस्कार से होता है। अर्थात् आरोप करने के लिए प्रथमतः उस आरोप के विषय (कर्तृत्वादि) का वास्तविक ज्ञान होना चाहिये, तब उस ज्ञान का संस्कार बुद्धि पर होगा, तदनन्तर उस संस्कार के अनुसार आरोप किया जाता है।

किन्तु वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म भिन्न यावत् पदार्थों के अवास्तविक होने से आत्मा में या अन्तःकरण में उभयत्र कर्तृत्व तो अवास्तविक ही है। ऐसी स्थिति में कर्तृत्व का प्रमात्मक ज्ञान होना कैसे संभव है ? और जब प्रमात्मक ज्ञान होना ही असंभव है, तब तत्संकार जन्य कर्तृत्व का आत्मा पर आरोप कैसे हो सकेगा ? आरोप्य जो अन्तःकरण कर्तृत्व, उसके मिथ्या होने से उसका अनुभव अप्रमात्मक ही होगा। अतः ऐसे अप्रमात्मक ज्ञान के संकार से आरोपसिद्धि नहीं हो सकती।

समाधान—सिद्धान्ती उत्तर देता है—हम आरोप्य विषयक प्रमात्मक-ज्ञान जन्य संस्कार को आरोप के प्रति कारण न मान कर, आरोप्य विषयक संस्कार को ही कारण मानते हैं, क्योंकि ऐसा मानने में लाघव है। तात्पर्य यह है—कर्तृत्व का प्रमात्मक ज्ञान होने पर तज्जन्य संस्कार को कर्तृत्वारोप में कारण मानने की अपेक्षा साक्षात् कर्तृत्वविषयक संस्कार को ही हम कर्तृत्वाध्यास में कारण मानते हैं। अर्थात् इस समय के कर्तृत्वारोप में पूर्व प्रतीत कर्तृत्वादि संस्कार कारण होते हैं, और पूर्व प्रतीत कर्तृत्वादिसंस्कार में तत्पूर्व-प्रतीत कर्तृत्वादिसंस्कार कारण होते हैं।

इस पर पूर्वपक्षी फिर पूछता है—

न च प्राथमिकारोपे का गतिः, कर्तृत्वाद्यध्यासप्रवाहस्यानादित्वात्।

अर्थ—अध्यास में पूर्व पूर्व संस्कार को कारण मानने पर प्रथम (पहिला) अध्यास (आरोप) कैसे सिद्ध होगा ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि कर्तृत्वादिकों के अध्यास का प्रवाह अनादि है।

विवरण—इस समय के आरोप्य विषयक संस्कार के प्रति पूर्व आरोप्य विषयक संस्कार कारण हैं, और उनके प्रति तत्पूर्व कारण होते हैं, ऐसी परंपरा मानने पर भी सर्व प्रथम आरोप कैसे हुआ यह समझ में नहीं आता। इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है कि जीव के संबन्ध में कर्तृत्वादिकों के अध्यास की परंपरा बीजाङ्कुर न्याय से अनादि है।

अस्तु। किन्तु विरुद्ध धर्मवाले जीव और ईश्वर की एकता कैसे उपपन्न होती है ? ऐसी शंका उठाकर कहते हैं।

तत्र तत्त्वंपदवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यायोगेऽपिलक्ष्यस्वरूपयोरैक्यमुपपादितमेव। अत एव तत्प्रतिपादकतत्वमस्यादिवाक्यानामखंडार्थत्वम्, सोऽयमित्यादिवाक्यवत्। न च कार्यपराणामेव प्रामाण्यम्, चैत्र पुत्रस्ते जात इत्यादौ सिद्धेऽपि सङ्गतिग्रहात्।

अर्थ—वहां पर (तत्त्वमसि महावाक्य में) तत् और त्वम् इन दो पदों के जो वाच्यार्थ हैं (जीव और परमात्मा) वे तत्तद्गुण विशिष्ट होने से उनमें एकता (ऐक्य) होना उचित न होने पर भी उनके जो लक्ष्यार्थ (जीव चैतन्य और परमात्मचैतन्य) हैं उनकी एकता तो हम बता ही चुके हैं। इस कारण अभेद प्रतिपादक तत्त्वमस्यादि वाक्य अखण्डार्थ हैं। वही यह (देवदत्त) इस वाक्यार्थ के तुल्य (मीमांसकों के मतानुसार केवल) कार्यपर (कर्मपर) वाक्यों में ही प्रमाण्य न होकर 'चैत्र० तुम्हें पुत्र हुआ' आदि वाक्यों के समान सिद्ध वस्तु का अनुवाद करने वाले वाक्य भी संगत होते हैं अर्थात् उनके सुनने पर उनके परिणाम से उनका प्रामाण्य व्यक्त होता है।

विवरण—शंका—तत्त्वमसि आदि महाकाव्यों का अभेदात्मक तात्पर्य सिद्ध होने पर भी वस्तु को-अन्यथा करने की शक्ति वाक्यों में नहीं होती, तब अन्तःकरणोपहित चैतन्य और निरूपाधिक चैतन्य में अभेद कैसे हो सकेगा ? 'यह घट, पट है' ऐसा सौबार श्रुति के कहने पर भी घटपटैक्य करने का सामर्थ्य 'यह घट, पट है' इस वाक्य में नहीं है। अतः तत्त्वमस्यादि वाक्यों को औपचारिक अर्थ से लगाकर भेदग्राही प्रमाणों का ही प्राबल्य मानकर तत् और त्वम् में भेद मानना ही उचित होगा। तस्मात् आप तत् त्वम् पदार्थों की एकता को महावाक्य का प्रतिपाद्य कैसे बता रहे हैं ?

समाधान—हम तत् और त्वम् पदों के वाच्यार्थ जो ईश्वर और जीव हैं उनकी एकता नहीं बता रहे हैं किन्तु दोनों का जो विशेषणानवच्छिन्न लक्ष्यस्वरूप चैतन्य, वह एक स्वरूप (अखण्ड) है, बता रहे है। जब कि तत् और त्वम् पदों के विशेषणानवच्छिन्न अर्थों में ऐक्य है, तब तो तत्प्रतिपादक वाक्यों में भी अखण्डार्थत्व (संसर्गानवगाहि यथार्थज्ञानजनकत्व) सिद्ध है—यह बता चुके हैं। 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्यों में जिस प्रकार तत्कालावच्छिन्न और एतत्कालावच्छिन्न विशेषणों का त्याग कर देवदत्त मात्र का ऐक्य बताया जाता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य का ऐक्यावगाही अर्थ समझना चाहिये।

इस पर मीमांसकों की एक शंका—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्' वेद कर्मप्रधान होने से अकर्मपरक वाक्य अनर्थक हैं—यह पूर्वपक्षकर 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' विधायक वाक्यों के साथ पढ़े गये ऐसे वाक्य विधेय की स्तुति के लिये होते हैं इस वचन से ये वेद भाग कर्म परविध्युपकारक होते हैं अर्थात् परंपरया प्रमाण होते हैं—ऐसा मीमांसकों ने सिद्धान्त किया है। 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य, किसी प्रकार की विधि को नहीं बता रहा है, अतः उसमें प्रामाण्य कैसे होगा?

समाधान—सिद्ध अर्थ का अनुवाद करनेवाले वाक्यों का भी संगतिग्रह (अन्वयबोध) होता है। जैसे—'चैत्र पुत्रस्तेजातः' इस वाक्य के सुनने पर श्रोता के (चैत्र के) मुख की प्रसन्नता को देखकर हर्ष का अनुमान किया जाता है। वह हर्ष, पुत्रोत्पत्ति ज्ञान जन्य है—यह ज्ञान बाधित विषय न होने से (प्रमारूप होने से) मैत्रोच्चारित वाक्यान्वयबोधमूलक है, अतः उस वाक्य में प्रमाजनकत्व होने के कारण प्रामाण्य मानना ही होगा। वही स्थिति तत्त्वमसि महावाक्य की है। इस महावाक्य के श्रवणमनन निदिध्यासन से दुःखनिवृत्ति (मोक्षप्राप्ति) होने के कारण इस महावाक्य का प्रामाण्य अकुतोबाध है। मीमांसकों का सिद्धान्त कर्मकाण्ड तक के लिये ही है, ज्ञानकण्ड के लिये नहीं।

अब विषय परिच्छेद का उपसंहार करते हैं—

एवं सर्वप्रमाणाविरुद्धं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रतिपाद्यं जीवपरैक्यं वेदान्तशास्त्रस्य विषय इति सिद्धम्।

इति श्रीवेदान्तपरिभाषायां विषयपरिच्छेदः॥ ७॥

अर्थ—इस रीति से समस्त प्रमाणों के अविरुद्ध, श्रुति, स्मृति, इतिहास, और पुराणों के द्वारा प्रतिपादित जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य, वेदान्तशास्त्र का विषय है—यह सिद्ध हुआ।

विवरण—उपर्युक्त रीति से प्रत्यक्षादिप्रमाणों के अविरुद्ध एवं 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' (ईश. उ. ७) इत्यादि श्रुतियों से, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (भ. गी. १३-२) इत्यादि स्मृतियों से, 'सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यशुद्धचिदात्मने। प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः॥'

इत्यादि इतिहास ग्रंथों से, और—'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशयात्यन्तिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेद मसन्तं कः करिष्यति॥' इत्यादिपुराणवचनों से प्रतिपादित जीवब्रह्मैक्य ही वेदान्तशास्त्र का विषय सिद्ध होता है।

इति विषयपरिच्छेदः समाप्तः

अथ प्रयोजनपरिच्छेदः

अब वेदान्तशास्त्र के प्रयोजन निरुपण की प्रतिज्ञा कर प्रयोजन का निरूपण करते हैं।

इदानीं प्रयोजनं निरूप्यते। यदवगतं सत्स्ववृत्तितयेष्यते तत्प्रयोजनम्। तच्चद्विविधम्—मुख्यं गौणं चेति। तत्र सुखदुःखाभावौ मुख्यं प्रयोजनम्। तदन्यतरसाधनं गौणं प्रयोजनम्। सुखं च द्विविधम्—सातिशयं निरतिशयं चेति। तत्र सातिशयं सुखं विषयानुषङ्गजनितान्तःकरणवृत्तितारतम्यकृतानन्दलेशाविर्भावविशेषः।

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४-३-२) इत्यादिश्रुतेः। निरतिशयं सुखं च ब्रह्मैव। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३-६) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३-१८) इति श्रुतेः।

अर्थ—अब (हम) प्रयोजन का निरूपण करते हैं। जिसके जान लेने पर स्ववृत्ति होने की (अपने से उसका सम्बन्ध हो) इच्छा होती है, उसे प्रयोजन कहते हैं। वह दो प्रकार का है—मुख्य और गौण। उनमें मुख्य प्रयोजन सुख और दुःखाभाव हैं। इनमें से किसी एक की प्राप्ति होना गौण प्रयोजन है। सुख भी दो प्रकार का है—एक सातिशय सुख, दूसरा निरतिशय सुख। उनमें से सातिशय सुख का अर्थ है कि विषय के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाली अन्तःकरणवृत्ति में न्यूनाधिक आनन्दांश का प्रकट होना। 'इसी आनन्दांश पर अन्य प्राणी जीवित रहते हैं। (बृ. आ.)। ब्रह्म ही निरतिशय सुख है। 'आनन्द ही ब्रह्म है ऐसा उसने जाना' 'यह ब्रह्म, विज्ञान और आनन्द है' ये श्रुतियां इस विषय में प्रमाण हैं।

विवरण—जीव ब्रह्मैक्य, वेदान्तशास्त्र का विषय है—यह पीछे बता चुके हैं। उसके प्रयोजन की आकांक्षा होनेपर ग्रन्थकार प्रयोजन की व्याख्या कर उसका निरूपण करते हैं। जिसके ज्ञात होनेपर उसकी प्राप्ति की इच्छा हो वह प्रयोजन होता है। मुख्य और गौण भेद से वह दो प्रकार का है। मुख्य प्रयोजन ऊपर बता चुके हैं। सुख के साधन (यागादि) अथवा दुःखपरिहारसाधन (प्रायश्चित्तादि) गौण प्रयोजन हैं। मुख्यप्रयोजनरूप सुख के भी दो

प्रकार हैं। एक सातिशय और दूसरा निरतिशय। व्यावहारिक वस्तुओं से होनेवाला सातिशय कहा जाता है। विषयों के स्पर्श से पैदा हुई अन्तःकरण वृत्ति में आत्मानन्द का अंश आविर्भूत होता है, उसी को सातिशय सुख कहते हैं। क्योंकि विषयजन्य सुख में न्यूनाधिक्य रहता है। किन्तु निरतिशय सुख में (ब्रह्मप्राप्ति से होनेवाले सुख में) तरतम भाव नहीं होता। इसीलिये उसे निरतिशय कहते हैं।

अब मोक्षस्वरूप बताते हैं--

आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० १-१-३) इत्यादिश्रुतेः। न तु लोकान्तरावाप्तिः, तज्जन्यवैषयिकानन्दो वा मोक्षः। तस्य कृतकत्वेनानित्यत्वे मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तेः।

अर्थ—आनन्दात्मक ब्रह्मप्राप्ति और (समस्त) शोकनिवृत्ति ही मोक्ष है। 'ब्रह्म को जान लेने पर ब्रह्म ही होता है' 'आत्मवेत्ता शोक (सागर) को पार करता है' इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। लोकान्तर प्राप्ति का नाम मोक्ष नहीं है। या उनमें प्राप्त होनेवाले वैषयिक आनन्द को भी मोक्ष नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह कृत्रिम होने से अनित्य है। इस कारण मुक्त जीव को भी पुनः संसारावृत्ति प्राप्त होगी।

विवरण--मोक्ष का स्वरूप निरतिशय सुखात्मक ब्रह्मप्राप्ति कहा गया है। परन्तु ब्रह्मज्ञान के होने पर भी एवं कर्म के क्षीण होने पर भी प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं हो पाता, वह ज्ञानी को सतत भोग देता ही रहता है। एवं च ब्रह्मज्ञान होते ही विदेह मुक्ति नहीं मिलती। देह संबन्ध रहता ही है और देह संबंध के होने पर (देहबद्धता के कारण) दुःखप्राप्ति का होना भी अनिवार्य है, ऐसी दुःखसंभिन्नता के रहने पर ब्रह्मप्राप्ति के आनन्द में निरतिशयत्व का होना कैसे संभव हो सकता है? देहपात होनेपर ही निरतिशय आनन्द प्राप्ति होती है यह कहना उचित होगा। इसी भाव को मन में रख मोक्ष के स्वरूप वर्णन में 'शोक निवृत्ति' पद दिया गया है। क्योंकि तत्वसाक्षात्कार होने पर अविद्या की निवृत्ति होती है और अविद्या से शुक्ति में भासमान रजतत्व की 'यह शुक्तिका है' इत्याकारक ज्ञान से जैसे निवृत्ति होती है, वैसे ही दुःखित्व की निवृत्ति होती है, अर्थात् दुःखितत्व, शरीर का धर्म है—ऐसा निश्चय हो जाता है।

लोकान्तर गमन अथवा वहां के विषयानुभव से मिलनेवाला आनन्द, मोक्ष

नहीं है। ये दोनों कृतक होने से अनित्य हैं। और मोक्ष नित्य होने से भी उन्हें मोक्ष नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त मोक्षस्वरूप पर एक शंका और उसका निरसन--

ननु त्वन्मतेऽप्यानन्दावाप्ते रनर्थनिवृत्तेश्च सादित्वे तुल्यो दोषः, अनादित्वे मोक्षमुद्दिश्य श्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति चेत्। न। सिद्धस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्य मोक्षस्यासिद्धत्वभ्रमेण तत्साधने प्रवृत्त्युपपत्तेः। अनर्थनिवृत्तिरप्यधिष्ठानभूतब्रह्मस्वरूपतया सिद्धैव। लोकेऽपि प्राप्तप्राप्तिपरिहृतपरिहारयोः प्रयोजनत्वं दृष्टमेव। यथा हस्तगतविस्मृतसुवर्णादौ 'तव हस्ते सुवर्णम्' इत्याप्तोपदेशादप्राप्तमिव प्राप्नोति। यथा वा वलयितचरणायां रज्जौ सर्पत्वभ्रमवतो 'नायं सर्प' इत्याप्तवाक्यात् परिहृतस्यैव सर्पस्य परिहारः। एवं प्राप्तस्याप्यानन्दस्य प्राप्तिः, परिहृतस्याप्यनर्थस्य निवृत्तिः मोक्षः प्रयोजनम्।

अर्थ—आपके मत में भी आनन्दप्राप्ति और अनर्थनिवृत्ति का आरंभ होने से (आरंभवान् पदार्थ अन्तवान् होता है, इस न्याय से) दोष तो समान है। (आपका मोक्ष भी अनित्य है)। इस पर यदि आप मोक्ष को अनादि (मोक्ष तो सिद्ध ही है) मानें तो, उसके उद्देश से श्रवण-मननादि में लोगों की प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी। (मोक्ष यदि सिद्ध है तो श्रवण मनन का उपयोग क्या?) परन्तु यह शंका योग्य नहीं है। क्योंकि सिद्ध ब्रह्म स्वरूप जो मोक्ष है, वह असिद्ध (अप्राप्त) है—इस भ्रम से उसे साध्य करने के लिये की गई प्रवृत्ति उचित है। अनर्थनिवृत्ति भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मस्वरूप होने से सिद्ध है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—लौकिक व्यवहार में भी प्राप्त वस्तु की प्राप्ति अथवा निषिद्ध वस्तु का ही निवारण, प्रयोजन समझा जाता है। जैसे हाथ में रहने पर भी विस्मृत हुआ सुवर्ण कङ्कण, 'तुम्हारे हाथ में ही सुवर्ण है' इस आप्तोपदेश से, अपने पास होते हुए भी सुवर्ण को अभी उपलब्ध हुआ मानते हैं। अथवा पैर में वेष्टित डोरी को ही भ्रम से सर्प समझे हुए व्यक्ति से 'यह सर्प नहीं है' इस प्रकार किसी आप्त के द्वारा कहे जाने पर न होते हुए सर्प का ही परिहार होता है—ऐसा माना जाता है। इसी प्रकार प्राप्त आनन्द की ही प्राप्ति और परिहृत अनर्थ की ही निवृत्ति रूप मोक्ष ही, इस वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन है।

विवरण—यहाँ पर पूर्वपक्षी ने वेदान्तियों से पूछा है कि आपके मत में मोक्ष, सादि है, या अनादि? यदि सादि हो तो 'जो आदिमान् हो वह अन्तवान् अवश्य होता है' इस न्याय से मोक्ष अनित्य सिद्ध होगा। और यदि उसे अनादि बताओ तो श्रवणादि में इतना प्रयत्न क्यों? इस पर वेदान्ती ने उत्तर दिया है कि हमारे मत से मोक्ष, अनादि है। किन्तु हमें उसकी विस्मृति हो जाने से श्रवणादि साधनों के द्वारा उसकी स्मृति करवानी है। इसलिये श्रवणादि साधन, व्यर्थ नहीं हैं।

अब ग्रंथकार मोक्ष का साधन बताते हैं—

स च ज्ञानैकसाध्यः 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३–८) इति श्रुतेः, अज्ञाननिवृत्ते-र्ज्ञानैकसाध्यत्वनियमाच्च।

अर्थ—वह मोक्ष, ज्ञान से ही साध्य है। क्योंकि 'उसी को जानकर (मनुष्य) मृत्यु से पार हो जाता है। उसके पार जानेका दूसरा मार्ग नहीं है' यह श्रुति है। और 'ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है' यह नियम है।

विवरण—मोक्ष का साधन केवल ज्ञान ही है। कर्म, उपासना आदि नहीं। इस विषय में ग्रंथकार ने श्रुतियों एवं युक्तियों को बताया है।

अब उस ज्ञान के विषय को बताते हैं—

तच्च ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम्। 'अभयं वै जनकप्राप्तोऽसि' (बृ० ४–२–४) 'तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १–४–१०) इति श्रुतेः। 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्' इति नारदीयवचनाच्च।

अर्थ—उस ज्ञान का विषय ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य है। 'हे जनक! तू अभय (ब्रह्म) को प्राप्त हो गया है' 'वह (ब्रह्म) स्वयं को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझने लगा।' आदि श्रुतियाँ इस विषय में हैं। और 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से होने वाला ज्ञान मोक्ष का साधन है' यह नारदीय स्मृति इस विषय में प्रमाण है।

तच्च ज्ञानमपरोक्षरूपम्। परोक्षत्वेऽपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वा-नुपपत्तेः।

अर्थ—और वह ज्ञान अपरोक्षरूप है। क्योंकि वह यदि परोक्ष होता तो उससे अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति नहीं होगी।

विवरण—जीवात्मा की व्यावहारिक दशा अपरोक्ष होने से इस भ्रम की निवृत्ति, अपरोक्ष ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हुए बिना नहीं होगी। इसलिए इस ज्ञान को वेदान्ती अपरोक्ष मानते हैं।

अब इस ज्ञान की उत्पत्ति किससे होती है?—

तच्चापरोक्षज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यादिति केचित्। मनन-निदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणादेवेत्यपरे।

अर्थ—यह (ब्रह्मात्मैक्यगोचर) अपरोक्ष ज्ञान वाक्य से उत्पन्न होता है—ऐसा कुछ वेदान्ती (पद्मपादादि) मानते हैं। और कुछ (वाचस्पतिमिश्रादि) मनन एवं निदिध्यासन से सुसंस्कृत हुए अन्तःकरण से ही उत्पन्न होता है—मानते हैं।

उपर्युक्त दो मतों में से प्रथम मत का प्रस्ताव करते हैं—

तत्र पूर्वाचार्याणामयमाशयः—संविदापरोक्ष्यं न करण-विशेषोत्पत्तिनिबन्धनम्, किन्तु प्रमेयविशेषनिबन्धनमित्युपपा-दितम्। तथा च ब्रह्मणः प्रमातृजीवाभिन्नतया तद्गोचरं शब्द-जन्यज्ञानमप्यपरोक्षम्। अत एव प्रतर्दनाधिकरणे प्रतर्दनं प्रति 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व' (कौ० ३-२) इतीन्द्रप्रोक्तवाक्ये प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते सति मामु-पास्वेत्यस्मच्छब्दानुपपत्तिमाशङ्क्य तदुत्तरत्वेन प्रवृत्ते 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० सू० १-१-३१) इत्यत्र सूत्रे शास्त्रीया दृष्टिः शास्त्रदृष्टिरिति तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमहं ब्रह्मेति ज्ञानं दृष्टिशब्देनोक्तमिति।

अर्थ—इस संबंध में पूर्वाचार्यों के कहने का आशय यह है कि ज्ञान की अपरोक्षता कारणविशेष से (इन्द्रिय से) होनेवाली उत्पत्ति पर निर्भर नहीं रहती, (ज्ञान का प्रत्यक्षत्व केवल वह इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण नहीं है) किन्तु प्रमेयगत विशेष पर निर्भर रहता है यह बता चुके हैं। तदनुसार ब्रह्म, प्रमाता (जीव) से भिन्न न होने के कारण तद्गोचर शब्दजन्यज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है। इसीलिये प्रतर्दनाधिकरण में (ब्र. सू. १-१-२८-३१) "मैं प्राण एवं प्रज्ञात्मा हूँ, मेरी उपासना आयुः अमृत भावना से करो"—प्रतर्दन से कहे गये इस इन्द्रवाक्य में प्राण के शब्दब्रह्मपर होने का निश्चय हो नेपर 'मामुपास्स्व'—मेरी उपासना कर—यहां 'मैं' शब्द की उपपत्ति ठीक न लग सकने

की आशंका कर उसके समाधानार्थ प्रवृत्त हुए 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेव-वत्' (ब्र० सू० १-१-३१) किन्तु शास्त्रदृष्टि से वामदेव के समान यह उपदेश है—सूत्र में जो शास्त्रीय (शास्त्रोत्पन्न) दृष्टिवह शास्त्रदृष्टि, वाक्य में 'तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न होनेवाला 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान, दृष्टि शब्द से कहा गया है।

विवरण—वाक्य से सदैव परोक्षज्ञान होता है। अतः उससे अपरोक्षज्ञान होना कैसे संभव है? इस बात को पूर्वाचार्यों (पद्मपादादि) के मतानुसार ग्रंथकार बता रहे हैं। ज्ञान के परोक्षत्व या अपरोक्षत्व का होना केवल अन्तः-करण और इन्द्रिय पर ही निर्भर नहीं है। किन्तु ज्ञेय विषय के संनिहित होने पर ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व निर्भर है। ज्ञेय विषय के समीप होने पर बाहर निकली हुई अन्तःकरणवृत्ति के द्वारा उसके संबंध होनेपर वृत्ति चैतन्य और विषयचैतन्य दोनों में ऐक्य होकर उस विषय का प्रत्यक्षज्ञान होता है। 'तत्त्वमसि' वाक्य से होनेवाले शब्दज्ञान का विषय जो ब्रह्म, वह प्रमातृचैतन्य से अभिन्न होने के कारण सदैव ही सन्निहित है। इस कारण शब्द से होने-वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) मानने में कोई भी हानि नहीं है। ग्रंथकार ने इस मत में प्रमाणरूप से ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथमपाद के प्रतर्दना-धिकरण को उपस्थित किया है। वह प्रतर्दनाख्यायिका इस प्रकार है—दैवो-दासि प्रतर्दन इन्द्रलोक में गया। वहां इन्द्र ने उसे एक वर दिया। किन्तु प्रतर्दन ने कहा कि तुम ही मनुष्य के लिये जो अत्यंत हितकर समझो उस वर को मुझे दो। तब वहां पर इन्द्र ने उसे ब्रह्मज्ञान बताया। उसमें इन्द्र कहता है—'मैं प्रज्ञात्मा (प्राण) हूँ, मेरी उपासना करो' यहां 'प्राण' शब्द के अर्थ में पूर्वपक्षी ने शंका की है कि प्राण शब्द का अर्थ प्राणवायु इत्यादि ग्रहण करना चाहिये। उस पर सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के मत का खण्डन कर प्राण शब्द का अर्थ 'परब्रह्म' ही समझना चाहिये, यह सिद्ध किया। बताने वाले मुझ इन्द्र की उपासना करो अर्थात् ब्रह्म की उपासना करो, इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य समझकर कह रहा है। जैसे गर्भ में रहते हुए ही वामदेव को मैं मनु था, सूर्य था, इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान हुआ, वैसे ही इन्द्र, शास्त्रीय दृष्टि से (शास्त्र से उपलब्ध हुई दृष्टि से) साक्षात् अपनी और ब्रह्म की अभेदता दर्शित कर रहा है। इस कारण 'तत्त्वमसि' महावाक्य से होनेवाला 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान अपरोक्ष ही है, उसका निर्देश प्रत्यक्षवाची दृष्टि शब्द से ब्रह्मसूत्र के 'शास्त्रदृष्ट्या' आदि सूत्र में किया है।

अब वाचस्पति मिश्र का आशय व्यक्त करते हैं—

अन्येषां त्वयमाशयः—करणविशेषनिबन्धनमेव ज्ञानानां

प्रत्यक्षत्वम्, न विषयविशेषनिबन्धनम्। एकस्मिन्नेव सूक्ष्मवस्तुनि पटुकरणापटुकरणयोः प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वव्यवहारदर्शनात्। तथा च संवित्साक्षात्त्वे इन्द्रियजन्यत्वस्यैव प्रयोजकतया न शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वम्।

अर्थ—दूसरे वेदान्तियों का आशय यह है—ज्ञान का प्रत्यक्षत्व इन्द्रियगत विशेष पर ही अवलंबित होता है। विषयविशेष पर नहीं। एक ही सूक्ष्म वस्तु का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षज्ञान क्रमशः इन्द्रिय के सामर्थ्य पर अवलंबित रहता है। इस रीति से ज्ञान के अपरोक्षत्व में इन्द्रियजन्यत्व ही प्रयोजक हेतु होने से वाक्य से होनेवाला ज्ञान अपरोक्ष नहीं है।

विवरण—इस मत में तत्त्वमस्यादि वाक्य से होनेवाले ज्ञान को परोक्ष माना है। प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय पर ही निर्भर रहता है। क्योंकि एक ही सूक्ष्मवस्तु का ज्ञान, इन्द्रिय के सूक्ष्मग्राही न होने पर नहीं होता और इन्द्रिय के सूक्ष्मग्राही होने पर उसी सूक्ष्मवस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिये प्रत्यक्ष को इन्द्रियजन्य ही मानना चाहिये अतः शब्द से होनेवाला ज्ञान, परोक्ष ही होता है।

तब ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन क्या है? क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों से तो वह अगम्य है।

ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि मनननिदिध्यासनसंस्कृतं मन एव करणम् 'मनसैवानुद्रष्टव्यः' इत्यादिश्रुतेः। मनोऽगम्यत्वश्रुतिश्चासंस्कृतमनोविषया।

अर्थ—ब्रह्म साक्षात्कार में भी मनननिदिध्यासनादि से सुसंस्कृत हुआ मन ही साधन है। 'मन से ही इसका दर्शन करना चाहिये' आदि श्रुति है। यह ब्रह्म, मन के लिये अगोचर है—यह श्रुति, असंस्कृत मन के सम्बन्ध में समझनी चाहिये।

विवरण—यदि इन्द्रियों से ब्रह्मज्ञान नहीं होता, तो वह कैसे संभव हो सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि मनन और निदिध्यासन से सुसंस्कृत हुए मन की सहायता से ब्रह्मज्ञान होता है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' जहां से मनसहित वाणी निवृत्त होती है—(तै. उ. २-४-१) इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म को मन से अगम्य बताती हैं, किन्तु उसका अर्थ 'ब्रह्म, असंस्कृत मन से अगम्य है' समझना चाहिये।

'ब्रह्म, उपनिषन्मात्रगम्य है' इस श्रुति से इस मत का विरोध होगा—ऐसी शंका कर कहते हैं—

न चैवं ब्रह्मण औपनिषदत्वानुपपत्तिः, अस्मदुक्तमनसो वेद-जन्यज्ञानानन्तरमेव प्रवृत्ततया वेदोपजीवित्वात्। वेदानुपजीविमानान्तरगम्यत्वस्यैव वेदगम्यत्वविरोधित्वात्।

अर्थ—किन्तु इस रीति से 'ब्रह्म औपनिषद (उपनिषन्मात्रगम्य) है' इसकी संगति नहीं लग सकेगी—ऐसी आशंका नहीं—करनी चाहिये। क्योंकि वेद से उत्पन्न हुए ज्ञान के अनंतर ही हमारा मन (ब्रह्मज्ञान के लिये) प्रवृत्त होने से वह वेदोपजीवि (वेद पर अवलंबित) है। यदि कोई पदार्थ, वेद पर अवलम्बित न रहनेवाले अन्य प्रमाणों से गम्य हो तभी उसका वेदगम्यत्व से विरोध होगा, अन्यथा नहीं।

विवरण—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' उस उपनिषद्गम्य पुरुष के संबन्ध में मैं तुम्हें पूछता हूँ, (बृ. ३-९-२६) इस श्रुति से पुरुष (ब्रह्म) उपनिषन्मात्रगम्य प्रतीत होता है, किन्तु ऊपर तो ब्रह्म को संस्कृत मनोगम्य बताया गया है, अतः उसका इस श्रुति से विरोध है—यह आशंका होती है। परन्तु हमारा मन भी प्रथमतः वेद से ब्रह्म के अस्तित्व का ज्ञान होने पर, ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये प्रवृत्त होता है। अतः पर्याय से ब्रह्म, उपनिषन्मात्रगम्य ही हुआ। उपनिषन्मात्रगम्यत्व (वेद मात्र ज्ञेयत्व) के साथ विरोध तब होगा जबकि ब्रह्म, अनुमानादि अन्य प्रमाणों से ज्ञात होकर पश्चात् मन की तदर्थ प्रवृत्ति हो। हम तो परोक्ष ब्रह्मज्ञान केवल वेदवाक्य से ही मानते हैं अतः विरोध नहीं है।

तथापि 'शास्त्रदृष्टि'सूत्र में श्रुतिवाक्य से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष बताया गया है, अतः विरोध है ही—ऐसी शंका करके कहते हैं।

शास्त्रदृष्टिसूत्रमपि ब्रह्मविषयमानसप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोजकत्वादुपपद्यते। तदुक्तम्—

अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परः॥ इति।

अर्थ—'शास्त्रदृष्टि'सूत्र भी उपपन्न हो जाता है। क्योंकि ब्रह्मविषयक मानसिक प्रत्यक्ष (सुसंस्कृत मन के द्वारा ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान) शास्त्र-प्रयुक्त (शास्त्रमूलक) ही है। इस विषय में सर्वश्रेष्ठ वाचस्पतिमिश्र की सम्मति इस प्रकार है—'शास्त्र के अर्थ का ध्यान करने से होने वाली प्रमा (ज्ञान) को "अपि संराधने" सूत्र से शास्त्रदृष्टि समझना चाहिये।

विवरण—दूसरे मत के अनुसार 'शास्त्रदृष्टि' सूत्र की उपपत्ति कैसे लगानी चाहिये, सो बताते हैं। 'शास्त्रदृष्टि' शब्द से मानसिक (मन से होने

वाले) ज्ञान को ब्रह्म का प्रत्यक्ष ही समझे। क्योंकि वह प्रत्यक्ष शास्त्रप्रयोज्य है। इस विषय में कल्पतरुकार अमलानन्द सरस्वती का श्लोक ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है। उनके कहने का आशय यह है कि शास्त्रार्थ के ध्यान करने से उत्पन्न हुए ज्ञान को ही 'शास्त्रदृष्टि' कहते हैं। 'अपि संराधने' सूत्र में श्रुति की 'प्रत्यक्ष' संज्ञा है। और स्मृति की 'अनुमान' संज्ञा है। अतः श्रुति-स्मृति से होने वाले ज्ञान को ही 'शास्त्रदृष्टि' (शास्त्र से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान) कहते हैं—यह वाचस्पतिमिश्र का मत है।

ऐसे ज्ञान का साधन बताते हैं—

तच्च ज्ञानं पापक्षयात्। स च कर्मानुष्ठानादिति परम्परया कर्मणां विनियोगः। अत एव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४-४--२२) इत्यादिश्रुतिः, 'कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्यादिस्मृतिश्च सङ्गच्छते।

अर्थ—वह ज्ञान पापक्षय से होता है। और वह पापक्षय कर्मानुष्ठान से होता है। इस रीति से परंपरया कर्मों का (ज्ञानप्राप्ति की ओर) विनियोग होता है। इसीलिये 'उस प्रकार के इस (आत्मा) को वेद का अनुवचन (वेदाध्ययन), यज्ञ, दान, तप, युक्त आहार कर ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति एवं 'कर्मों से कषाय (रागद्वेषादि) का पाचन होने पर ज्ञान की प्रवृत्ति होती है' इत्यादि स्मृति की भी संगति लग जाती है।

विवरण—कर्म से पापक्षय होता है और पापक्षय होने पर ज्ञान होता है—इस प्रकार से कर्मों का ज्ञानप्राप्ति में उपयोग है।

जिस प्रकार कर्म का तत्त्वज्ञान में उपयोग होता है उसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन का भी उपयोग बताते हैं—

एवं श्रवणमनननिदिध्यासनान्यपि ज्ञानसाधनानि। मैत्रेयी-ब्राह्मणे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २-४-४) इति दर्शन-मनूद्य तत्साधनत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २-४-४) इति श्रवणमनननिदिध्यासनानां विधानात्।

अर्थ—इसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन भी ज्ञान में साधन है। मैत्रेयी ब्राह्मण में (बृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य और उनकी ब्रह्म-वादिनी दूसरी पत्नी मैत्रेयी के संवाद प्रकरण में) 'इस आत्मा का दर्शन

करना चाहिये'—इस प्रकार आत्मदर्शन को उद्देश्य कर 'इसका श्रवण करे, निदिध्यासन करे' इस वाक्य में श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विधान किया है।

श्रवणादिकों की व्याख्या करते हैं—

तत्र श्रवणं नाम वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया। मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तरविरोधशङ्कायां तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मज्ञानजनको मानसो व्यापारः। निदिध्यासनं नाम अनादिदुर्वासनया विषयेष्वाकृष्यमाणचित्तस्य विषयेभ्योऽपकृष्यात्मविषयकस्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः।

अर्थ—उनमें से श्रवण का अर्थ है—अद्वितीय ब्रह्म में विद्यमान वेदान्ततात्पर्य के निश्चयार्थ मानसिक क्रिया। मनन का अर्थ है—शब्द (श्रुति) से अर्थनिश्चय होने पर अन्य प्रमाणों से उसके विरोध की शंका होने पर उसके निराकरण के उपयोग में आनेवाला, तर्कात्मक ज्ञान को पैदा करने वाला मानसिक व्यापार। निदिध्यासन का अर्थ है—अनादि दुर्वासनाओं से विषय की ओर आकर्षित होनेवाले चित्त को विषय से खींचकर (निवृत्त कर) आत्मा में स्थिर करने के अनुकूल मानसिक व्यापार।

विवरण—वेदान्त का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में है—ऐसा निश्चय करने की मन की प्रवृत्ति को ही श्रवण कहते हैं। किन्तु इस अद्वैत का व्यावहारिक अनुभव के साथ विरोध होने पर द्वैत आविद्यक है और परमार्थतः अद्वैत ही है, तुरीयावस्था में त्रिपुटी का लय हो जाता है—इत्यादि तर्क करके विरोध दूर करना ही मनन का प्रयोजन है। विषयों में इधर उधर भटकने वाले चित्त को अपने वश कर आत्मा में स्थिर करना, निदिध्यासन का कार्य है। निरन्तर दर्शन की इच्छा को निदिध्यासन कहते हैं। यहां पर निदिध्यासन शब्द से निध्यानेच्छा का कार्य बताया गया है। वह कार्य यही है कि ध्यान में स्थिरता संपादन करने के लिये पुनः पुनः चिन्तन।

अब इन साधनों में से साक्षात्कार का प्रधान साधन एक ही है, या तीनों सम समान साधन हैं–इसका विचार करते हैं—

तत्र निदिध्यासनं ब्रह्मसाक्षात्कारे साक्षात्कारम्। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १-३) इत्यादिश्रुतेः। निदिध्यासने च मननं हेतुः, अकृतमननस्यार्थ-

दार्ढ्याभावेन तद्विषये निदिध्यासनायोगात्। मनने च श्रवणं हेतुः, श्रवणाभावे तात्पर्यानिश्चयेन शाब्दज्ञानाभावेन श्रुतार्थविषयकयुक्तत्वायुक्तत्वनिश्चयानुकूलमननायोगात्। एतानि त्रीण्यपि ज्ञानोत्पत्तौ कारणानीति केचिदाचार्या ऊचिरे।

अर्थ—तीनों में से निदिध्यासन, ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात् कारण होता है। 'उन ऋषियों ने ध्यान योग की सहायता से देवता की अपने गुणों से गूढ हुई शक्ति को देखा' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। निदिध्यासन में मनन हेतु है। जिसने मनन न किया हो ऐसे मनुष्य को वस्तु की दृढता नहीं हो पाती। इस कारण उस विषय में निदिध्यासन की अयोग्यता रहती है। और मनन में श्रवण हेतु होता है। श्रवण के अभाव में शब्दज्ञान का अभाव होने से तात्पर्य निश्चय नहीं हो पाता। इस कारण श्रुत विषय की योग्यता या अयोग्यता के निश्चयार्थ ऐसे मनन की अयोग्यता रहती है। ज्ञानोत्पत्ति में तीनों कारण हैं—यह भी कुछ आचार्यों का मत है।

विवरण—श्रवण, मनन, निदिध्यासन क्रमशः ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण होते हैं। उनमें निदिध्यासन साक्षात् (अनन्तर) कारण होता है। ये सब एक एक पर अवलंबित होने से तीनों साक्षात् तथा परंपरया ज्ञानोत्पत्ति में साधन होते हैं—ऐसा आचार्य वाचस्पति मिश्र आदि का मत है यह बात ग्रन्थकार ने 'केचित्' पद से सूचित की है।

इस संबंध में अन्य आचार्यों का मत बताते हैं—

अपरे तु श्रवणं प्रधानम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु श्रवणात्पराचीनयोरपि श्रवणफलब्रह्मदर्शननिर्वर्तकतया आरादुपकारकाङ्गत्वमित्याहुः। तदप्यङ्गत्वं न तार्तीयशेषत्वरूपम्। यस्य श्रुत्याद्यन्यतमप्रमाणगम्यस्य प्रकृते श्रुत्याद्यन्यतमाभावेऽसम्भवात्।

अर्थ—किन्तु अन्य कतिपय वेदान्ती श्रवण को ही प्रधान मानते हैं। और मनन एवं निदिध्यासन, श्रवण के पश्चात् होते हैं तथापि श्रवण के फलस्वरूप ब्रह्मदर्शन के निष्पादक होने से उन्हें आरादुपकारक अंग (संनिहित उपकारक अंग) माना जाता है। तथापि यह अंगत्व (मीमांसादर्शन के) तृतीयाध्याय में बताया हुआ शेषत्व रूप नहीं है। क्योंकि वह अंगत्व श्रुत्यादि (श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या) किसी प्रमाण से गम्य रहता है, किन्तु प्रकृत में श्रुति आदि किसी प्रमाण के न होने से वैसे शेषत्व का यहां संभव नहीं है।

विवरण—यहां पर 'अपरे' शब्द से विवरणाचार्य के मत का प्रस्ताव किया है। विवरणाचार्य श्रवण को ब्रह्म-दर्शन में प्रधान कारण मानते हैं और मनन एवं निदिध्यासन को उसका अंगभूत साधन मानते हैं। इस अंगभूतत्व को ग्रंथकार ने स्पष्ट किया है। अंगत्व (शेषत्व) शब्द मीमांसकों का पारिभाषिक है। मीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय में शेषत्व का लक्षण बताया है। उससे प्राधान्य या अंगत्व का निर्णय किया जाता है। शेषत्व की व्याख्या 'शेषः परार्थत्वात्' (मी० सू० ३-१-२) की गई है—दूसरे के उपयोग में आना ही शेषत्व है। क्या इस रीति से मनन और निदिध्यासन, श्रवण के शेष हैं? इस प्रश्न पर-वेदान्तियों का उत्तर इस प्रकार है—मनन और निदिध्यासन समीप रहकर श्रवण फल की प्राप्ति में यद्यपि उपकारक होते हैं, तथापि मीमांसकों का बताया हुआ तृतीयाध्यायगत शेषलक्षण यहां घटित नहीं होता, क्योंकि मीमांसकों के यहां शेषत्व का निश्चय श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या से होता है। इनमें से कोई प्रमाण यहां नहीं है अतः मीमांसक संमत शेषत्व को मनन, निदिध्यासन में नहीं लगाया जा सकता।

अब अंगबोधक षट् प्रमाणों में से यहां एक भी ज्ञात नहीं होता—इस बात को क्रम से दिखाते हैं—

तथा हि, 'व्रीहिभिर्यजेत' 'दध्ना जुहोति' इत्यादाविव मननिदिध्यासनयोरङ्गत्वे न काचित्तृतीया श्रुतिरस्ति। नापि 'वर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादिमन्त्राणां बर्हिः खण्डनप्रकाशन-सामर्थ्यवत् किञ्चिल्लिङ्गमस्ति। नापि प्रदेशान्तरपठितप्रवर्ग्यस्याग्निष्टोमे प्रवृणक्तीति वाक्यवच्छ्रवणानुवादेन मननिदिध्यासन-योर्विनियोजकं किञ्चिद्वाक्यमस्ति। नापि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्यावगतफलसाधनताकदर्शपूर्णमास-प्रकरणे प्रयाजादीनामिव फलसाधनत्वेनावगतस्य श्रवणस्य प्रकरणे मननिदिध्यासनयोराम्नानम्।

अर्थ—वह इस प्रकार है—'व्रीहि से याग करे' 'दही से हवन करता है' इत्यादि श्रुतियों के समान मनन निदिध्यासन में अंगत्व बोधन कराने वाली तृतीया श्रुति नहीं है। उसी तरह 'देवता के आसन के लिये, हे दर्भ! तेरा छेदन करता हूं' इत्यादि मंत्रों में जैसे दर्भच्छेदन बोधन कराने का सामर्थ्य है वैसा अर्थप्रकाशनसामर्थ्य (लिंग) मनन निदिध्यासन के बारे में नहीं

दिखाई पड़ता। उसी तरह अन्यत्र बताये प्रवर्ग्य का 'प्रवृणक्ति' वाक्य अग्निष्टोम में है। इसलिये अग्निष्टोम प्रवर्ग्य का अंग है—इस प्रकार जैसे उसका विनियोग किया जा सकता है, वैसे श्रवण का अनुवाद कर मनन निदिध्यासन का विनियोग बताने वाला एक भी वाक्य नहीं है। वैसे ही 'स्वर्गेच्छु पुरुष दर्शपूर्णमास याग करे' इस वाक्य से ज्ञात होनेवाले फल का साधनभूत दर्शपूर्णमासप्रकरणगत प्रयाजों की श्रुति के समान फलसाधक (साक्षात्कारसाधन) श्रवण के प्रकरण में मनन निदिध्यासन का श्रवण नहीं है।

विवरण—'श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (मी० सू० ३-३-१४) इस सूत्र से ज्ञात होता है कि इन छह प्रमाणों का प्रामाण्य उत्तरोत्तर कम होता जाता है। अर्थात् उत्तर प्रमाण की अपेक्षा पूर्व प्रमाण अधिक बलवान् रहता है। इसलिये ग्रंथकार ने प्रथम श्रुति से प्रारंभ किया है। विवरणाचार्य का दृष्टिकोण यह है कि मनन एवं निदिध्यासन को हम श्रवण के अंग मानते हैं, परन्तु वह अंगत्व मीमांसा के तृतीय अध्याय के शेषलक्षण से युक्त नहीं है। शेषत्व की सिद्धि के लिये श्रुत्यादि षट्प्रमाणों में से किसी प्रमाण की अपेक्षा होती है। परन्तु यहां पर श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या में से किसी का भी संभव नहीं है।

इस पर पूर्वपक्षी शंका करता है कि प्रकरण प्रमाण के द्वारा मनन एवं निदिध्यासन, श्रवण में अंग हो सकते हैं।

ननु द्रष्टव्य इति दर्शनानुवादेन श्रवणे विहिते सति फलवत्तया श्रवणप्रकरणे तत्सन्निधावाम्नातयोर्मनननिदिध्यासनयोः प्रयाजन्यायेन प्रकरणादेवाङ्गतेति चेत्। न। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' इत्यादिश्रुत्यन्तरे ध्यानस्य दर्शनसाधनत्वेनावगतस्याङ्गाकाङ्क्षायां प्रयाजन्यायेन श्रवणमननयोरेवाङ्गतापत्तेः।

अर्थ—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इस श्रुति से दर्शन का अनुवाद कर श्रवण का विधान करने पर और उसके फलवान् होने से (क्योंकि श्रवण का फल आत्मदर्शन है) श्रवण प्रकरण में उसके सन्निध ही बताये गये मनन निदिध्यासन को प्रयाजन्याय से अर्थात् प्रकरण प्रमाण से अङ्गत्व है—ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं। क्योंकि 'उन्होंने ध्यान योग से देखा' आदि अन्य श्रुति में दर्शन का साधन ध्यान है—यह प्रतीत होने पर उसके अङ्ग कौन कौन हैं ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर प्रयाजन्याय से श्रवण और मनन में ही अङ्गत्व मानना पड़ेगा।

विवरण—मनन और निदिध्यासन में अङ्गत्व बोधन करानेवाली श्रवण प्रकरण में श्रुति नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी ने आक्षेप किया कि दर्शन के उद्देश से श्रवण का विधान किया है और उसके समीप ही यदि मनन, निदिध्यासन कहे गये हैं तो प्रयाजन्याय से (प्रयाजादिकों का स्वतंत्र फल न होने से जैसे वे फलवान् दर्शपूर्णमास के अङ्ग होते हैं) फलवान् कर्मरूप श्रवण के वे अङ्ग हो जाते हैं। इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है—'ते ध्यानयोगानुगताः' इत्यादि श्रुति में आत्मदर्शन का साधन ध्यान बताया गया है। उसके अङ्गों की आकांक्षा उत्पन्न होने पर प्रयाजन्याय से ही श्रवण, मननादि अङ्ग होने लगेंगे। अर्थात् मनन निदिध्यासनादि श्रवण क्रिया में अङ्ग हैं या ध्यान में अङ्ग हैं—यह निर्णय करने के लिये (विनिगमन करने के लिये) प्रयाजन्याय से अङ्गाङ्गिभाव निश्चित नहीं किया जा सकता।

अब षट्प्रमाणों में से क्रम और संख्या के संबंध में बताते हैं—

क्रमसमाख्ये च दूरनिरस्ते।

अर्थ—क्रम (स्थान) और समाख्या तो दूर ही रहीं।

विवरण—क्रम का अर्थ है समानदेशता और समाख्या (यौगिक शब्द) का प्रकृत में संभव ही नहीं।

अब प्रयाज के सम्बन्ध में अङ्गत्व विचार क्यों किया ? यह बताकर दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य बताते हैं—

किञ्च प्रयाजादावङ्गत्वविचारः सप्रयोजनः। पूर्वपक्षे विकृतिषु न प्रयाजाद्यनुष्ठानम्, सिद्धान्ते तु तत्रापि तदनुष्ठानमिति। प्रकृते तु श्रवणं न कस्यचित्प्रकृतिः, येन मनननिदिध्यासनयोस्तत्राप्यनुष्ठानमङ्गत्वविचारफलं भवेत्। तस्मान्न तार्तीयशेषत्वं मनननिदिध्यासनयोः।

अर्थ—इसके अतिरिक्त प्रयाजादि के सम्बन्ध में (प्रयाज, दर्शपूर्णमास में अङ्ग है या नहीं) विचार करने का प्रयोजन यह है कि यहां पूर्वपक्षी का कहना है—दर्शपूर्णमास की विकृति में (विकृतियागों में) प्रयाज के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं। किन्तु सिद्धान्ती के मत से विकृतियाग में भी प्रयाजादि का अनुष्ठान आवश्यक है। प्रकृत में श्रवण किसी कर्म की प्रकृति तो नहीं है, जिस कारण मनन निदिध्यासन का श्रवण की विकृति में भी अनुष्ठान अवश्य होना ही चाहिये, इस तरह अंगत्व विचार फलप्रद होगा। अतः तृतीयाध्याय का शेषलक्षण (अंगलक्षण) मनन निदिध्यासन में नहीं लग सकता।

विवरण—प्रयाजादिक दर्शपूर्णमास में अंग हैं या नहीं इस विचार का प्रयोजन यह है कि यदि प्रयाजादिक दर्शपूर्णमास में अंग हों तो दर्शपूर्णमास की विकृति में उनका अनुष्ठान करना ही होगा, और यदि अंग न हों तो विकृति में उनके अनुष्ठान की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार श्रवण की विकृति का कहीं उल्लेख न होने से श्रवण-मनन के अंगांगिभाव के विचार करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

तब मनन-निदिध्यासन का श्रवण के साथ कैसा संबन्ध है, सो बताते हैं—

किन्तु यथा घटादिकार्ये मृत्पिण्डादीनां प्रधानकारणता, चक्रादीनां सहकारिकारणतेति प्राधान्याप्राधान्यव्यपदेशः, तथा श्रवणमनननिदिध्यासनानामपीति मन्तव्यम्।

अर्थ—परन्तु जिस प्रकार घटादिकार्य की उत्पत्ति में मिट्टी के गोले की प्रधान कारणता रहती है और चक्र-चीवरादि में सहकारिकारणता होती है, वैसे ही श्रवणमनननिदिध्यासन में प्रधान कारणता और सहकारि कारणता (अप्रधानकारणता) होती है।

विवरण—आत्मदर्शन में श्रवण, प्रधान कारण है और मनन निदिध्यासन, सहकारिकारण हैं।

इसमें विवरणाचार्य की संमति प्रदर्शित करते हैं—

सूचितं चैतद्विवरणाचार्यैः—'शक्तितात्पर्यविशिष्टशब्दावधारणं प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानेन कारणं भवति, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्। मनननिदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणतासंस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्यते इति फलं प्रत्यव्यवहितकरणस्य विशिष्टशब्दावधारणस्य व्यवहिते मनननिदिध्यासने तदङ्गेऽङ्गीक्रियते' इति।

अर्थ—विवरणाचार्य ने यह सूचित किया है कि 'शक्ति एवं तात्पर्य से विशिष्ट शब्दज्ञान, प्रमेय (ब्रह्मात्मैक्यरूपवाक्यार्थ) के ज्ञान में साक्षात् कारण होता है। क्योंकि प्रमाण, प्रमेय के ज्ञान में साक्षात् कारण होता है। परन्तु मनन, निदिध्यासन चित्त की प्रत्यगात्मप्रवण संस्कारों से निष्पन्न हुई ब्रह्मैकाग्रवृत्ति को कराकर ब्रह्मानुभव में कारण होते हैं। अतः फल (ब्रह्मात्मैक्यरूप वाक्यार्थज्ञान) में साक्षात्कारणभूत, शक्ति एवं तात्पर्य से विशिष्ट जो शब्दज्ञान,

उसमें मनन-निदिध्यासन साक्षात्करण न होने से अंगरूप से स्वीकृत किये जाते हैं।'

विवरण—ब्रह्मात्मैक्यरूपवाक्यार्थज्ञान में शक्ति तथा तात्पर्य से विशिष्ट शब्दज्ञान की अपेक्षा होती है, जिससे साक्षात् प्रमेयज्ञान होता है, मनन और निदिध्यासन, शब्द की अपेक्षा पराचीन (अप्रधान) कारण हैं, इसलिये उनका श्रवणाङ्गत्वेन स्वीकार करना चाहिये—ऐसा विवरणाचार्य के कहने का आशय है।

अब श्रवण में किसे अधिकार है ?

श्रवणादिषु च मुमुक्षूणामधिकारः, काम्ये कर्मणि फलकामस्याधिकारित्वात्। मुमुक्षायां च नित्यानित्यवस्तुविवेकस्येहामुत्रार्थफलभोगविरागस्य शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धानां च विनियोगः।

अर्थ—श्रवणादिकों में अधिकार मुमुक्षुओं को ही होता है। क्योंकि काम्य कर्म में जो फलेप्सु हो उसे ही अधिकार होता है। नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इहलोक एवं परलोक के पदार्थों के फलोपभोग में विरक्ति, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा आदि का विनियोग (उपयोग) मुमुक्षा में (मुक्त होने की इच्छा में) होता है। अर्थात् उपर्युक्त बातें मुमुक्षोपकारक होती हैं।

विवरण—श्रवण आदि में सभी का अधिकार क्यों न माना जाय ? इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है—जिसे जिस फल की कामना हो उसी को तत्फलजनक (काम्य) कर्म में अधिकार होता है। जिसे मोक्षरूपफल अभीप्सित हो (जो मुमुक्षु हो) उसी का श्रवण में अधिकार होता है। अब सभी को मोक्षकामना क्यों नहीं होती ? इसके उत्तर में यह बताया जाता है कि ऊपर कही हुई एवं मोक्षकामना में उपकारक नित्यानित्यवस्तुविवेकादि बातें सर्वसाधारण में उपलब्ध नहीं होतीं।

शमादिकों के लक्षण बताते हैं—

अन्तरिन्द्रियनिग्रहः शमः। बहिरिन्द्रियनिग्रहो दमः। विक्षेपाभाव उपरतिः। शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनं तितिक्षा। चित्तैकाग्र्यं समाधानम्। गुरुवेदान्तवाक्ये विश्वासः श्रद्धा।

अर्थ—अन्तःकरण की (वेदान्त प्रतिपादित पदार्थ से अतिरिक्त अन्यत्र) संसर्ग निवृत्ति को शम कहते हैं। बाह्य इन्द्रियों के निग्रह को दम कहते हैं। (आन्तर या बाह्य इन्द्रियों की) अन्य विषयों में वृत्ति के उदय होने को

विक्षेप कहते हैं, और वैसा न होने देने को उपरति कहते हैं। शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन करने को तितिक्षा कहते हैं। चित्त की एकाग्रता ही समाधान (सम्यक् आधान रखना) है। गुरुवचन एवं वेदान्तशास्त्रवचनों पर विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

अब उपरति शब्द के अर्थ में दो पक्षों को बताते हैं—

अत्रोपरमशब्देन संन्यासोऽभिधीयते, तथा च संन्यासिनामेव श्रवणाधिकार इति केचित्। अपरे तु उपरमशब्दस्य संन्यासवाचकत्वाभावाद्विक्षेपाभावमात्रस्य गृहस्थेष्वपि सम्भवात्, जनकादेरपि ब्रह्म विचारस्य श्रूयमाणत्वात्सर्वाश्रमसाधारणं श्रवणादिविधानमित्याहुः।

अर्थ—कुछ वेदान्तियों का मत है कि उपरम शब्द से संन्यास का बोधन किया जाता है, अतः श्रवण में केवल संन्यासियों को ही अधिकार है। दूसरे कुछ वेदान्तियों का मत है कि उपरमशब्द संन्यास का वाचक नहीं है किन्तु विक्षेपाभाव का वाचक है। और विक्षेपाभाव का होना तो गृहस्थों में संभव होने से एवं जनकादिक गृहस्थाश्रमी लोगों ने भी ब्रह्मविचार किया है—ऐसा श्रुत होने से श्रवण आदि में सब आश्रमियों को अधिकार है।

विवरण—यहां 'अपरे' पद से वाचस्पति मिश्र आदि वेदान्तियों का ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है।

शंका—सगुणोपासना से भी मोक्षफल प्राप्त होता है—इसमें 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' छान्दोग्य-श्रुति प्रमाण है। तब श्रवण से प्राप्त हुआ तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन क्यों बताया जाता है? इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—

सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्यद्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः। तदुक्तम्—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥ १॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥ २॥ इति।

अर्थ—सगुणोपासना भी चित्तैकाग्र्य के द्वारा निर्विशेष (निर्गुण) ब्रह्म-साक्षात्कार में कारण होती है। कल्पतरुकार ने कहा है कि 'निर्विशेष ब्रह्म

का साक्षात्कार करने में जो लोग असमर्थ हैं। उन मन्द (बुद्धिहीन) लोगों के लिये श्रुति ने सविशेष ब्रह्म का निरूपण बड़ी अनुकम्पा (दया) से किया है। सगुण ब्रह्म के अभ्यास के द्वारा चित्त के वश होने पर उपाधि-कल्पना से रहित वही निर्विशेष ब्रह्म साक्षात् प्रकट होता है'।

विवरण—ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत किये हुए कल्पतरु टीका के श्लोक 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १-१-२०) सूत्र के व्याख्यान में हैं।

जिन सगुणोपासकों को इस लोक में श्रवणादिकों के अभाव से साक्षात्कार नहीं हुआ, उन लोगों को कौन सी गति मिलती है ? इसका उत्तर देते हैं—

सगुणोपासकानां चार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगतानां तत्रैव श्रवणादुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह मोक्षः।

अर्थ—सगुणब्रह्मोपासक जो अर्चिरादिमार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, उन्हें वहीं पर (ब्रह्मलोक में ही) श्रवणादिद्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होता है, और वे ब्रह्मदेव के साथ मोक्ष पाते हैं।

अब कर्म करनेवालों की गति बताते हैं—

कर्मिणां तु धूमादिमार्गेण पितृलोकगतानामुपभोगेन कर्मक्षये सति पूर्वकृतसुकृतदुष्कृतानुसारेण ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु पुनरुत्पत्तिः। तथा च श्रुतिः—

'रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते, कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते' (छा० ५-१०-१) इति।

प्रतिषिद्धानुष्ठायिनां तु रौरवादिनरकविशेषेषु तत्तत्पापोपचिततीव्रदुःखमनुभूय श्वशूकरादितिर्यग्योनिषु स्थावरादिषु चोत्पत्तिरित्यलं प्रसङ्गादागतप्रपञ्चेनेति।

अर्थ—कर्म करनेवालों को धूमादिमार्ग से पितृलोक में जाकर कर्मफलों का उपभोग लेने के पश्चात् कर्मक्षय होने पर पूर्वपुण्यानुरूप ब्रह्मादिस्थावरान्त-पदार्थों में पुनर्जन्म प्राप्त होता है। इसी को छान्दोग्यश्रुति बता रही है—

"रमणीय आचरणवाले लोगों को रमणीय योनि प्राप्त होती है और पापाचारी लोगों को पापयोनि प्राप्त होती है"

प्रतिषिद्ध कर्मों के आचरण करनेवालों को रौरवादिक नरकों में तत्तत् पापानुरूप तीव्र दुःखों का अनुभव होने पर कुत्ता सुअर आदि प्राणियोनि में अथवास्थावर शरीर में जन्म मिलता है। अस्तु, प्रसंगप्राप्त विचार को अब समाप्त किया जाता है।

विवरण—कर्म दो प्रकार का, एक शास्त्रविहित और दूसरा शास्त्र-प्रतिषिद्ध। शास्त्रविहित कर्म करनेवालों का पितृलोकादि में गमन, वहां सुकृतोपभोग, पश्चात् पूर्वकर्मानुसार योनिप्राप्ति, शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म करनेवालों को नरकगत तीव्रदुःखानुभव, पश्चात् दुष्टयोनिप्राप्ति—इस प्रकार से गति, बताई है।

किन्तु निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कार करनेवालों के लिये गति नहीं होती सो बताते हैं—

निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतस्तु न लोकान्तरगमनम्, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति श्रुतेः। किन्तु यावत्प्रारब्धकर्मक्षयं सुखदुःखे अनुभूय पश्चादपवृज्यते।

अर्थ—जिसे निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ है वह जीव कहीं भी अन्य लोक में नहीं जाता, 'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते (ऊपर नहीं जाते) यह श्रुति प्रमाण है। प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने तक सुखदुःखानुभव लेकर वह मुक्त होता है।

अब निर्गुण तत्त्वसाक्षात्कार करनेवाले मनुष्यों के प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं, यह तो श्रुति स्मृति विरुद्ध है—ऐसी शंका कर उसका समाधान बताते हैं—

ननु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मु० ३-८) इत्यादिश्रुत्या। 'ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (भ० गी० ४-३७) इत्यादिस्मृत्या च ज्ञानस्य सकल-कर्मक्षयहेतुत्वनिश्चये सति प्रारब्धकर्मावस्थानमनुपपन्नमिति चेत्। न। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६-१४-२) इत्यादिश्रुत्या 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इत्यादि-स्मृत्या चोत्पादितकार्यकर्मव्यतिरिक्तानां सञ्चितकर्मणामेव ज्ञान-विनाशित्वावगमात्।

अर्थ—'उस परावर (ब्रह्म) का दर्शन होने पर इसके (जीव के) सब कर्मों का क्षय होता है' इस श्रुति में और 'ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्मसात् करता है' इस स्मृति में ज्ञान को समस्त कर्मक्षयकारक निश्चित किया होने से प्रारब्धकर्म शेष रहते हैं यह मानना अनुपपन्न है—ऐसा कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि 'जबतक उसका देहपात नहीं होता तभी तक विलम्ब है, देहपात होते ही वह सत्सम्पन्न हो जाता है' इत्यादि श्रुति से और 'अभुक्त कर्म का क्षय नहीं होता' इस स्मृति के देखने से प्रतीत होता है कि जिस कर्म ने अपना कार्य उत्पन्न किया है ऐसे कर्म के अतिरिक्त समस्त सञ्चित कर्मों का ज्ञान से नाश होता है।

विवरण—जिन कर्मों के फलोन्मुख होने से जीव को प्रकृत जन्म प्राप्त हुआ और उस जन्म में ब्रह्मज्ञान हुआ वे कर्म, दग्ध नहीं होते, तद्व्यतिरिक्त अन्य समस्त कर्मों का ब्रह्मज्ञान से नाश होता है—यह ग्रन्थकार का आशय है।

सञ्चित कर्मों के प्रकार और उनका वर्गीकरण बताते हैं—

सञ्चितं द्विविधम्—सुकृतं दुष्कृतं चेति। तथा च श्रुतिः—'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति।

अर्थ—सञ्चित कर्म दो प्रकार का है—पुण्य और पाप, इस विषय में श्रुति इस प्रकार है—"उसके (ब्रह्मज्ञानी के) पुत्र को धनादि हिस्सा मिलता है, मित्रों को उसके सत्कृत्य (पुण्य) और शत्रुओं को पापकृत्य (पाप) मिलते हैं।

विवरण—संचित कर्मों में से ज्ञानी के मित्रों को सुकृत और उसके शत्रुओं को (निन्दकों को) पाप मिलता है—इस प्रकार से ज्ञानी के संचित का वर्गीकरण है।

इस पर तार्किक शंका करता है—

ननु ब्रह्मज्ञानान्मूलाज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यप्रारब्धकर्मणोऽपि निवृत्तिः, कथं ज्ञानिनो देहधारणमुपपद्यते ? इति चेत्। न। अप्रतिबद्धज्ञानस्यैवाज्ञाननिवर्तकतया प्रारब्धकर्मरूपप्रतिबन्धकदशायामज्ञाननिवृत्तेरनङ्गीकारात्।

अर्थ—(शंका) ब्रह्मज्ञान से मूलभूत अज्ञान की निवृत्ति होने पर उस अज्ञान के कार्यरूप प्रारब्धकर्म की भी निवृत्ति होनी चाहिये। तब ज्ञानी सदेह कैसे रह सकता है ? अर्थात् देहधारक कर्म कैसे अस्तित्व में रह सकेगा ? उसका देहपात ही होना चाहिये।

(समाधान) नहीं। जो ज्ञान अप्रतिबद्धफलक (ज्ञानफल जो मोक्ष, उसे अवश्य देनेवाला) होता है, वही अज्ञान निवर्तक होने से जब तक प्रारब्धकर्मरूप प्रतिबन्ध रहता है। तबतक उस अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती इस पक्ष का हम स्वीकार करते हैं।

विवरण—मोक्ष को ज्ञान का फल मानने पर उससे अज्ञान निवृत्ति होनी ही चाहिये—इस पक्ष का स्वीकार करना चाहिये। तथापि इस प्रकार निवृत्ति होकर भी ज्ञान क्षण में ही देह पात नहीं होता इसकारण मोक्ष को ज्ञान का ऐकान्तिक फल नहीं कह सकते केवल संचितकर्म और तत्कारणीभूत अज्ञान की निवृत्ति होने से नष्ट होते हैं। इसलिये प्रवृत्तफल वाले कर्म (प्रारब्धकर्म) को ज्ञानफल का प्रतिबन्धक माना है। अथापि वे एकान्त प्रतिबन्धक नहीं हैं। क्योंकि प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर या देहपात के अनन्तर ज्ञानी को अन्यत्र कहीं गति नहीं है। इस प्रकार से ज्ञान में एकान्तफलप्रदत्व या प्रारब्ध कर्म में एकान्त प्रतिबन्धकत्व वेदान्त ने माना नहीं हैं।

इस पर पुनः एक शंका—

नन्वेवमपि तत्त्वज्ञानादेकस्य मुक्तौ सर्वमुक्तिः स्यात्, अविद्याया एकत्वेन तन्निवृत्तौ क्वचिदपि संसारायोगादिति चेत्। न। इष्टापत्तेरित्येके। अपरे त्वेतद्दोषपरिहाराय 'इन्द्रो मायाभिः' इति बहुवचनश्रुत्यनुगृहीतमविद्यानानात्वमङ्गीकर्तव्यमित्याहुः।

अर्थ—इस रीति से भी (प्रारब्ध कर्म के क्षय के अनन्तर समस्त अज्ञान की निवृत्ति होने पर मुक्ति के मिलने से) एक को मोक्ष प्राप्ति होने पर सभी को मुक्ति प्राप्त होगी। अविद्या (अज्ञान) के एक होने से उसकी निवृत्ति होने पर कहीं पर भी संसार का रहना अनुचित होगा। परन्तु एक पक्ष ऐसा भी है जो इसे इष्टापत्ति बतलाता है। (क्योंकि शुक नारदादिकों के मुक्त होने पर हम भी मुक्त होते हों तो यह पक्ष हमें इष्ट ही है) किन्तु अन्य लोग इस दोष का परिमार्जन करने के लिये 'इन्द्र मायाओं से अनेक रूपों को धारण करता है' इस श्रुति में 'मायाभिः' बहुवचनान्त पद से अविद्या का बहुत्व स्वीकार किया जाय—ऐसा बताते हैं।

विवरण—इस शंका की जड़ (तह) में एक जीववाद और नाना जीववाद हैं। एक जीववाद के स्वीकार करने पर एक की मुक्ति होने से सब की मुक्ति होनी चाहिये, किन्तु शुक नारदादिकों के मुक्त होने पर भी हम बन्धन में ही हैं—यह अनुभव सिद्ध होने से ग्रन्थकार ने नाना जीववाद को बताया है। ऊपर उदाहृत श्रुति में 'मायाभिः' इस बहुवचनान्त पद के होने से ईश्वर की नानाविध (अनेक) अविद्याएं मानी जाती हैं। जिसकी अविद्या निवृत्ति होगी वही मुक्त होगा। इस कारण एक जीववाद पक्ष में होनेवाली अनवस्था अब नहीं होगी।

किन्तु नाना अविद्या के मानने में गौरव होने से लाघवार्थ तीसरा पक्ष बताया जाता है--

अन्ये त्वेकैवाविद्या, तया एवाविद्याया जीवभेदेन ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तयो नाना। तथा च यस्य ब्रह्मज्ञानं तस्य ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तिविशिष्टाविद्यानाशः, न त्वन्यं प्रति ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तिविशिष्टाविद्यानाश इत्यभ्युपगमाद् नैकमुक्तौ सर्वमुक्तिः।

अर्थ—किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि अविद्या तो एक ही है, किन्तु उस अविद्या की भिन्न-भिन्न जीवों में ब्रह्मस्वरूप को आवृत करनेवाली नाना शक्तियों को स्वीकार करना चाहिये। यह मानने से जिसे ब्रह्मज्ञान होगा, केवल उसके ही ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तिविशिष्ट अविद्या का नाश होगा। अन्य के नहीं। ऐसा मानने पर एक की मुक्ति होने से सब की मुक्ति का अतिप्रसंग नहीं होगा।

विवरण—इस मत में अविद्या तो एक ही है केवल उसकी नाना शक्तियां स्वीकृत की गई हैं--इतना ही लाघव हुआ है। ग्रन्थकार ने इसी मत में अपनी सम्मति प्रदर्शित की है—

अत एव 'यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिकाणाम्' (ब्र० सू० ३-३-३२) इत्यस्मिन्नधिकरणेऽधिकारिपुरुषाणामुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामिन्द्रादीनां देहधारणानुपपत्तिमाशङ्क्याधिकारापादकप्रारब्धकर्मसमाप्त्यनन्तरं विदेहकैवल्यमिति सिद्धान्तितम्।

अर्थ—इसीलिये 'यावदधिकारं' इस अधिकरण में जिन्हें तत्त्वज्ञान हुआ है ऐसे, भिन्न-भिन्न लोकपालनादि अधिकार पर आरूढ हुए पुरुषों को इन्द्रादिकों का देह धारण करना संभव नहीं—ऐसी आशंका कर तत्तद् अधिकार को प्राप्त करादेनेवाले प्रारब्ध कर्म की परिसमाप्ति के अनन्तर उन्हें विदेह कैवल्य प्राप्त होता है—यह सिद्धान्त किया है।

विवरण—ऊपर दिये गये इन्द्रादि के उदाहरण से दो बातें सिद्ध होती हैं।

१—अज्ञान निवर्तक तत्त्वसाक्षात्कार के होने पर भी प्रारब्ध कर्म के क्षय होने तक विदेह मुक्ति नहीं मिलती।

२—जिस जीव की आवरण शक्ति का नाश होगा उस जीव की अविद्या का नाश होगा और केवल उसे ही मुक्ति मिलेगी, अन्य को नहीं।

यह सिद्धान्त किसने किया है सो बताते हैं—

तदुक्तमाचार्यवाचस्पतिमिश्रैः—

उपासनादिसंसिद्धितोषितेश्वरचोदितम्।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति।

अर्थ—आचार्य वाचस्पति मिश्र ने यह कहा है कि उपासना आदि की पूर्ण सिद्धि से सन्तुष्ट हुए ईश्वर के द्वारा निर्दिष्ट किये अधिकार को समाप्त कर वे ब्रह्मज्ञानी परम पद में प्रवेश पाते हैं।

इसी मत की समीचीनता बताते हैं :—

एतच्चैकमुक्तौ सर्वमुक्तिरिति पक्षे नोपपद्यते। तस्मादेकाविद्यापक्षेऽपि प्रतिजीवमावरणभेदोपगमेन व्यवस्थोपपादनीया।

अर्थ—और यह (अपना अपना अधिकार समाप्त कर परमपद में प्रवेश पाना) 'एक के मुक्त होनेपर सब मुक्त होते हैं' इस मत में संघटित नहीं हो पाता। इसलिये अविद्या एक ही है-यह मानने पर भी प्रत्येक जीव में उसकी आवरण शक्ति का भेद मानकर जीवों की मुक्ति की व्यवस्था लगानी चाहिये।

विवरण—इससे ग्रन्थकार को एक जीववाद पक्ष अभीष्ट नहीं है—यह स्पष्ट है।

अब प्रकृत प्रयोजनपरिच्छेद का उपसंहार करते हैं :—

तदेवं ब्रह्मज्ञानान्मोक्षः, स चानर्थनिवृत्तिर्निरतिशयब्रह्मानन्दावाप्तिश्चेति सिद्धं प्रयोजनम् ।

इति श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रदीक्षितविरचितायां वेदान्तपरिभाषायामष्टमः परिच्छेदः समाप्तः ॥ ८ ॥

अर्थ—तस्मात् इस रीति से ब्रह्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है और वह मोक्ष अर्थात् शोक मोह जरा मरण इत्यादिक अनर्थों की निवृत्ति एवं तारतम्यरहित ब्रह्मानन्द की प्राप्ति, होना ही वेदान्त का प्रयोजन है—यह सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रदीक्षितविरचित वेदान्तपरिभाषा नामक (वेदान्त प्रकरण) ग्रंथ का आठवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ।

कृपाकणमवाप्यैव येषां व्याख्या मया कृता ।
ताँस्तातचरणान् मूर्ध्ना नन्नमीति गजाननः ॥

कणेहत्य प्रयत्नोऽस्य सरलीकरणे कृतः ।
शिष्यक्षेत्रं समासाद्य गुरौ गुरु फलिष्यति ॥

इति मुसलगाँवकरोपनामकश्रीगजाननशास्त्रिविरचिता सविवरण-'प्रकाश' व्याख्या समाप्ता ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः